आधुनिक राजनीतिक संविधान

[MODERN POLITICAL CONSTITUTIONS]

उनके इतिहास एवं वर्तमान रूप के तुलनात्मक अध्ययन की भूमिका

लेखक

सी० एफ० स्ट्रॉंग, ओ बी. ई., एम ए पी-एच. डी



गयाप्रसाद एण्ड सन्स, आगरा

हिन्दी मे . द्वितीय बार 1969

Translation of C F Strong

MODERN POLITICAL CONSTITUTIONS

अनुवादक

वी० के० पाडे, बी ए , एल एल बी

अनुवाद-संशोधक

डॉ० ब्र० न० मेहता, एम ए , पी-एच डी

अध्यक्ष, इतिहास एव राज्य विज्ञान विभाग, बलवन्त राजपूत कॉलेज, आगरा



दी एजुकेशनल प्रेस, आगरा–3 से मुद्रित एव
गयाप्रसाद एण्ड सन्स, बाके विलास, आगरा से प्रकाशित।

प्रस्तावना

यह पुस्तक ऐतिहासिक अध्ययन की विशिष्ट शाखा के रूप में सांविधानिक राजनीति का अध्ययन प्रारम्भ करने वाले व्यक्तियों की आवश्यकता, अर्थात् एक उपयुक्त प्रारम्भिक पाठ्य पुस्तक की आवश्यकता की पूर्ति करने के निमित्त लिखी गयी थी। राज्य विज्ञान के प्रारम्भिक अध्ययन की कठिनाइयों का अनावश्यक घबराहट के बिना सामना करने में विद्यार्थियों की सहायता करना अनेक वर्षों से मेरा सुखद कार्य रहा है। उनके साथ मुझे जो अनुभव हुआ है उसका आंशिक परिणाम इस पुस्तक के रूप में प्रकट हुआ है और यदि मैं इस पुस्तक को किसी को समर्पित करूँगा तो वे मेरे विद्यार्थी ही होंगे जिन्होंने कक्षाओं में मेरे भाषणों के प्रति अपनी अनवरत साधना से इस कठिन किन्तु आकर्षक विषय को तैयार और प्रस्तुत करने के भारी परिश्रम को हलका कर दिया।

राज्य विज्ञान एवं सांविधानिक इतिहास के पूर्वकालीन महान् दिग्गजों—सर्वश्री डायसी, मेटलैण्ड, सिजविक, लावेल, ब्राइस आदि—के प्रति तो मैं आभारी हूँ ही और जो महानुभाव उनकी श्रेष्ठ कृतियों से परिचित हैं वे इस बात को भली भाँति समझ सकते हैं। किन्तु मेरी यह पुस्तक उपर्युक्त ग्रंथकारों की कृतियों का कोई संक्षिप्त संस्करण नहीं, बल्कि एक मौलिक, पठनीय तथा बोधगम्य रूप में विषय को प्रस्तुत करने का प्रयत्न है, जैसा कि प्रत्येक ग्रंथकार कर सकता है। इस पुस्तक की रचना केवल इसी दृष्टि से नहीं की गई है कि यह शिक्षकों से पढ़ने वाले छात्रों को ही लाभ पहुँचा सके, बल्कि इस दृष्टि से भी कि यह अन्य विद्यार्थियों और सामान्य पाठकों के लिए भी लाभकारी हो सके। मुझे आशा है कि प्रत्येक अध्याय के अन्त में दी गयी विशिष्ट एवं अधिक अध्ययन के लिए पुस्तकों की सूचियाँ और निबन्धों के विषय और भी अधिक अनुसंधान एवं चिन्तन को प्रोत्साहित करेंगे।

इस पुस्तक के प्रथम प्रकाशन को तीस वर्ष से अधिक हो चुके हैं। इस काल में सांविधानिक राज्यों की आन्तरिक संरचना और दूसरे राज्यों के साथ उनके सम्बन्धों को नियन्त्रित करने वाले उपकरणों में अनेक परिवर्तन हो चुके हैं। इन परिवर्तनों के कारण विषय-वस्तु के पुनरीक्षण का तथा उसे अद्यतन बनाने का काम *अत्यन्त कठिन हो गया है। यह ऐसा कार्य है जिसे बारम्बार करना आवश्यक है।* इस कठिन कार्य को पूरा करने की बात तो दूर, मैं उसकी कल्पना भी शायद ही

करता यदि मुझे यह ज्ञात न हुआ होता कि विगत काल में यह पुस्तक अपने मूल रूप में अनेक व्यक्तियों को उपयोगी सिद्ध हुई है और भविष्य में भी यह अपने नये रूप में अन्य व्यक्तियों के लिए उसी प्रकार लाभप्रद होगी। इस पुस्तक के छठे और सातवें संस्करण की तैयारी करने में पुस्तक का बहुत सा अंश दुबारा लिखा है और उसमें ऐसी बहुत सी नई सामग्री का भी समावेश किया है जिसका सम्बन्ध उन व्यापक सांविधानिक आन्दोलनों से है जो द्वितीय विश्व-युद्ध के बाद से जोर पकड़ रहे हैं। विशेष अध्ययन के लिए दी हुई पुस्तकों की सूचियों में से मैंने बहुत सी निकाल दी हैं और पिछले वर्षों में प्रकाशित पुस्तकों में से कुछ नई पुस्तकों के नाम जोड़ दिये हैं।

इस पुस्तक की कमजोरियों और कमियों की जिम्मेदारी तो पूरी मुझ पर है, किन्तु मैं अपने उन मित्रों और सहयोगियों को धन्यवाद दिये बिना नहीं रह सकता, जिन्होंने इसके विभिन्न संस्करणों की तैयारी में मुझे सहायता दी। स्वर्गीय प्रोफेसर एफ सी जे हर्नशा, स्वर्गीय श्री फिलिप गदाला, और स्वर्गीय प्रोफेसर एच जे लास्की का, जिन्होंने इस पुस्तक की रचना के प्रारम्भ में अपने अनुपम ज्ञान और अनुभव से स्वेच्छापूर्वक मेरी सहायता की, प्रोफेसर हरमेन फाइनर का, जिन्होंने द्वितीय संस्करण की भूमिका को पढ़ा और उसकी आलोचना की, पश्चिमी आस्ट्रेलिया के विश्वविद्यालय के विधि विभाग के अध्यक्ष प्रोफेसर एफ आर बीसले का, जिन्होंने आस्ट्रेलिया के संविधान के प्रवर्तन पर मेरा पथ-प्रदर्शन किया, श्री जे हेम्पडन जेक्सन का, जिन्होंने फिनलैंड से सम्बन्धित कई बातों पर मुझे सही जानकारी दी, न्यूयॉर्क यूनिवर्सिटी हाई स्कूल में तुलनात्मक विधि के प्राध्यापक श्री जॉन जी लेक्सा का, जिन्होंने अनेक संविधानों के मूल पाठ पर विस्तृत टिप्पणियाँ मुझे भेजी, यूनाइटेड स्टेट्स इन्फॉर्मेशन सर्विस के अधिकारियों, ब्रिटिश राष्ट्र मण्डल के देशों के उच्चायुक्तों, लन्दन स्थित अनेक विदेशी दूतावासों के सांस्कृतिक सहचारियों (Attaches) जिन्होंने मुझे बहुत सी ऐसी दस्तावेजी सामग्री दी जो अन्यथा कठिनाई से ही प्राप्त होती, टॉटनहेम स्थित पब्लिक लाइब्रेरियों के डाइरेक्टर श्री ए डब्ल्यू मेक्क्लेलन केन्सिंग्टन के मुख्य लाइब्रेरियन श्री एस सी हॉलिडे तथा उनके सहयोगियों का, जिन्होंने पुस्तकें देकर उदारतापूर्वक मेरी सहायता की, अपने प्रकाशकों का, जिन्होंने सदैव सौजन्यता प्रकट की और मुझे प्रोत्साहन दिया और अन्त में अपनी धर्मपत्नी का, जो कि मेरी तीव्रतम और अत्यन्त उपयोगी आलोचिका रही है, मैं विशेष रूप से आभारी हूँ।

लन्दन, दिसम्बर, 1965 —सी एफ स्ट्रांग

विषय-सूची

प्रथम खण्ड

ऐतिहासिक उपागम

अध्याय 1

अध्याय 2

द्वितीय खण्ड

तुलनात्मक सविधानी राजनीति

अध्याय 3

अध्याय 10

अध्याय 11

अध्याय 12

अध्याय 13

तृतीय खण्ड

राष्ट्रीयता और अतर्राष्ट्रीयता

कुछ अन्य विषय

अध्याय 14

प्रथम खण्ड

वैज्ञानिक एवं ऐतिहासिक विवेचन

1

राजनीतिक संविधानवाद का अर्थ

1 विषय-प्रवेश

राजनीतिक सविधानो का अध्ययन राज्य विज्ञान अथवा राज्य के विज्ञान का एक अग है। राजनीतिक समुदायो के गठन और शासन का विज्ञान होने के नाते राज्य-विज्ञान एक विशेष दृष्टिकोण से समाज का अध्ययन है और इसी कारण अन्य सामाजिक विज्ञानो से उसका घनिष्ठ सम्बन्ध है। सामाजिक विज्ञानो को निम्नलिखित वर्गो मे विभक्त किया जा सकता है

1 समाजशास्त्र, जो मानव-सवास के सभ्य और असभ्य सभी स्वरूपा का अध्ययन है।
2 अर्थशास्त्र, जो मनुष्य के भौतिक कल्याण का विज्ञान है।
3 नीतिशास्त्र, जिसमे यह विवेचना की जाती है कि मनुष्य का आचरण कैसा होना चाहिए और वैसा क्यो होना चाहिए।
4 सामाजिक मनोविज्ञान, जो सामाजिक सम्बन्धो मे मानव-प्राणी के व्यवहार का विज्ञान है।

राज्य-विज्ञान इन सभी से कुछ-न-कुछ ग्रहण करता है। उसका सम्बन्ध एक विशिष्ट प्रकार के मानव सवास से है, इसलिए आशिक रूप मे समाजशास्त्र का उसमे समावेश है, राज्य के सदस्यो के भौतिक हितो से सम्बन्ध रखने के कारण आशिक रूप मे अर्थशास्त्र उसके अतर्गत है, चूकि राज्य के कार्य के नैतिक आधार और प्रभाव से वह सम्बन्धित है, अत आशिक रूप मे नीतिशास्त्र का भी उससे सम्बन्ध है, और व्यक्तियो के, चाहे वे शासक हो या शासित, मस्तिष्को की क्रियाओ से सम्बन्ध रखने के नाते वह आशिक रूप मे मनोविज्ञान से भी सबद्ध है।

किन्तु यह सब होते हुए भी राज्य विज्ञान स्पष्टत एक पृथक् विज्ञान है जिसकी अपनी सामग्री और अपने आधार-तथ्य हैं। ये राज्यो के इतिहास और उनके वर्तमान रूपो मे मिलते है। राज्य वैज्ञानिक का सम्बन्ध राज्य की उत्पत्ति और विकास, उसके स्वरूप और सगठन, उसके प्रयोजन और कृत्यो से तथा राज्य के सिद्धात और उसके सम्भाव्य रूपो से है। राजनीतिक सविधानो के विद्यार्थी का इस विषय के इन सभी पहलुओ से कुछ सीमा तक सम्बन्ध रहता है। उसकी

अभिरुचि मुख्य रूप से उन संस्थाओं में है जिनका राज्य अपनी शांति और प्रगति के लिए निर्माण करता है और जिनके बिना राज्य अपना अस्तित्व उसी प्रकार कायम नहीं रख सकता जिस प्रकार राज्य के बिना समाज अपना अस्तित्व कायम नहीं रख सकता। अतएव, यहाँ हम अपने विषय को उन चार भागों में विभाजित कर सकते हैं जिनको हमने अभी समष्टि रूप में राज्य विज्ञान का अंग बताया है। उन्हें हम संक्षेप में ऐतिहासिक, वर्णनात्मक, प्रयोगात्मक और सैद्धांतिक कह सकते हैं।

हम कुछ आधुनिक राज्यों को लेंगे और उनकी संस्थाओं का अध्ययन करेंगे, जो समष्टि रूप में संविधान कहलाती है। अध्ययन की जिस पद्धति का हम अनुकरण करेंगे वह साधारणतया तुलनात्मक पद्धति कही जाती है, अर्थात् जिन संविधानों का अध्ययन करना है उनके इतिहास और वर्तमान रूप से उत्पन्न होने वाली कुछ समानताओं और विभिन्नताओं के आधार पर हम उनके वर्गीकरण का प्रयास करेंगे। किंतु ऐसा करने से पूर्व दो बातें आवश्यक है—जिन मुख्य शब्दों का हमको प्रयोग करना होगा उनकी परिभाषा करना और राजनीतिक संविधानवाद के सामान्य इतिहास की रूपरेखा प्रस्तुत करना।

2 समाज

राज्य के किसी भी पहलू का अध्ययन समाज की परिभाषा से प्रारम्भ होना चाहिए, क्योंकि राजनीतिक रूप से संगठित समाज ही राज्य है। समाज को मानव प्राणियों की कोई संस्था कहकर परिभाषित किया जा सकता है। उदाहरण के रूप में यदि अंगरेजों या फ्रांसीसियों जैसे लोगों में देखा जाय तो पता चलेगा कि उनमें स्त्रियों एवं पुरुषों के बीच सम्बन्धों की एक विशाल व्यवस्था है, जिसके फलस्वरूप वे सामाजिक दृष्टि से ऐसे समूहों में विभक्त हैं जो उनके राजनीतिक समूहों से किसी भी तरह मेल नहीं खाते। कभी-कभी, समूह राज्य से बहुत छोटा होता है और ऐसा बहुधा होता है, किंतु अक्सर वह राजनीतिक सीमा को पार कर आगे निकल जाता है, वाणिज्यिक सम्बन्धों में यह स्थिति विशेष रूप से पाई जाती है।

यह कहा जा सकता है कि सामाजिक, न कि राजनीतिक, दृष्टि से किसी भी समाज के सदस्यों के सवाम की मूल इकाइयाँ तीन होती हैं। इनमें से सर्वप्रथम 'परिवार' नामक वह संस्था है जिसमें मनुष्य पैदा होते हैं। दूसरी इकाई सवाम का वह रूप है जिसमें सम्मिलित होने के लिए लोग आर्थिक हित अथवा सामाजिक उपयोगिता जैसे किसी प्रबल प्रलोभन से बाध्य होते हैं, उदाहरणार्थ, श्रमिक संघ या व्यावसायिक संस्था। तीसरी इकाई को ऐच्छिक संस्था कहा जा सकता है, जैसे कोई क्लब अथवा (कम-से-कम आधुनिक परिस्थितियों में) चर्च अथवा

धार्मिक समुदाय। यद्यपि यह सत्य है कि इस प्रकार की संस्थाओं में सक्रिय रूप से हस्तक्षेप करने के लिए राज्य सामान्यतया अपनी शक्ति का प्रयोग नहीं करता, फिर भी वास्तविकता यह है कि सामाजिक स्वास्थ्य अथवा राजनीतिक औचित्य की दृष्टि से वह शक्ति का प्रयोग कर सकता है और कभी-कभी ऐसा करने के लिए मजबूर भी हो जाता है। जहाँ एक ओर उपर्युक्त प्रकार के समुदाय राज्य के कामों को प्रभावित और निरूपित करने में महत्त्वपूर्ण भाग लेते हैं, वहाँ दूसरी ओर यह भी सत्य है कि उनमें से बहुत से उन बातों के बिना जीवित नहीं रह सकते जिनका प्रवर्तन राज्य-रूपी साधन पर ही निर्भर है, जैसे विवाह-सम्बन्धी विधियाँ, सम्पत्तिसम्बन्धी अधिकार, संविदासम्बन्धी विधियाँ आदि।

3 राज्य

किन्तु यह सब होते हुए भी राज्य को परिवारों का समूह मात्र अथवा व्यावसायिक संगठनों का समुच्चय अथवा जिन ऐच्छिक समुदायों को वह विद्यमान रहने देता है उनके विरोधी हितों को संतुलित रखने वाला मध्यस्थ मात्र ही नहीं कहा जा सकता। समुचित रूप से संगठित राजनीतिक समुदाय में राज्य समाज के लिए होता है न कि समाज राज्य के लिए, किन्तु सामाजिक दृष्टि से लोग कितने ही उन्नत क्यों न हों, फिर भी परिवारों, क्लबों, धार्मिक समुदायों, श्रमिक संघों आदि से निर्मित जिस समाज का वे निर्माण करते हैं, उस पर यह भरोसा नहीं किया जा सकता कि वह शक्ति के बिना, जो कि अंतिम निर्णायक होती है, अपने को कायम रख सकेगा।

सभी समुदाय अपने संचालन के लिए नियम-विनियम बनाते हैं। जब समुदाय का रूप राजनीतिक होता है तब ये नियम विधि (कानून) कहलाते हैं, जिनका निर्माण करने की सत्ता राज्य का विशेषाधिकार होती है, किसी अन्य समुदाय की नहीं। इस प्रकार, प्रोफेसर मेकाइवर के कथनानुसार "राज्य सामाजिक व्यवस्था के पोषण एवं विकास की आधारभूत संस्था है और इस प्रयोजन के निमित्त उसकी केन्द्रीय संस्था को समाज की संयुक्त शक्ति प्राप्त रहती है।" किंतु इस परिभाषा के अन्तर्गत चलवासी या पशुचारी समाज भी आ सकता है जिसमें कुल पिता अथवा परिवार का मुखिया एकता का सूत्र होता है और वह एक तरह से शासन की शक्तियों का प्रयोग भी करता है। लेकिन ऐसे समाज के पास प्रदेश नहीं होता जो वास्तविक राजनीतिक संगठन के लिए अनिवार्य है। इस पर प्रोफेसर हैदरिंगटन ने भी बल दिया है। उनके अनुसार "राज्य वह संस्था अथवा संस्थाओं का कुलक (set) है जो जीवन के कतिपय प्रारम्भिक समान प्रयोजनों एवं परिस्थितियों को सुनिश्चित करने के उद्देश्य से किसी स्पष्टरूपेण निरूपित प्रादेशिक क्षेत्र के निवासियों को एक सत्ता के अधीन

सगठित करता है।" किन्तु उपर्युक्त प्रथम परिभाषा मे वर्णित 'समाज की सयुक्त शक्ति' और द्वितीय परिभाषा मे उल्लिखित 'एक सत्ता' का क्या अर्थ है ? यह विधि (कानून) के निर्माण की शक्ति या प्राधिकार है। अब हम वुड्रो विल्सन द्वारा की गई परिभाषा पर पहुँच गए है जो इस प्रकार है "एक निश्चित प्रदेश के भीतर विधि के निमित्त सगठित लोग ही राज्य हैं।"

4 विधि और रूढ़ि

अत, अन्य प्रकार के समुदायो से भिन्न राज्य का मूल तत्व उसके सदस्यो द्वारा विधि का पालन है। चकि, राज्य, शासक और शासितो मे विभक्त, एक प्रादेशिक समाज है, अत, हम विधि की यह परिभाषा उद्धृत कर सकते हैं कि 'विधि उन नियमो या सामान्य निकाय है, जो किसी राजनीतिक समाज के शासको द्वारा उस समाज के सदस्यो को सम्बाधित किए जाते है और जिनका साधारणतया पालन किया जाता है," अथवा "विधि कुछ निश्चित प्रकार के कार्यों को करने का या करने से विरत रहने का आदेश है, जो किसी निश्चित व्यक्ति या व्यक्तियो के निकाय द्वारा, निकाय के रूप मे कार्य करते हुए, दिया जाता है और जिसमे स्पष्ट या लक्षित रूप मे यह घोषणा होती है कि आदेश का उल्लघन करने वाले व्यक्तियो को दडित किया जाएगा, यह पहले से ही मान लिया जाता है कि दड की घोषणा करने वाले व्यक्ति या निकाय मे दड देने की शक्ति है और उसका अभिप्राय भी ऐसा ही है।"

विधि के पीछे बल सदा से ही सामाजिक बल रहा है। किन्तु सामाजिक बल अपने-आप मे केवल रूढि ही है। जहाँ कही भी कोई समाज विद्यमान है, भले ही वह कैसी ही प्राथमिक अवस्था मे हो, वहाँ सामाजिक कार्यकलाप के लिए रूढियो का विकास अवश्य होगा। अनेकानेक रूढियाँ बन जाती हैं और वे एक प्रकार की अलिखित सहिता का रूप धारण कर लेती है, जिनके अनुकूल आचरण पैतृक या धार्मिक सत्ता अथवा सम्बद्ध समुदाय के लोकमत जैसे किसी दबाव के कारण होता है। इनमे से कुछ रूढियो की सार्वजनिक कल्याण के लिए इतनी व्यापक उपयोगिता होती है कि उनका सार्वजनिक रूप मे पालन कराने के लिए केवल सामाजिक सत्ता या लोकमत जैसे दबाव से कही अधिक शक्तिशाली दबाव की आवश्यकता होती है। ऐसी अवस्था मे ये रूढियाँ सामाजिक न रहकर राजनीतिक—वास्तव मे विधियाँ—बन जाती हैं, जिनका पालन सगठित शासन द्वारा कराया जाता है।

यह हुई विधि जो, चाहे वह किसी भी तरीके से स्थापित हो, राज्य द्वारा समुचित-रूपेण गठित न्यायालयो मे प्रवर्तित की जाती है। इसके निम्न-लिखित स्रोत हो सकते हैं —(1) रूढि—अर्थात् अलिखित विधि जो निरतर

प्रयोग से प्रवर्त्तनीय हो जाती है, (2) पहले के न्यायाधीशों के लिखित निर्णय—अर्थात् वह जिसे कभी-कभी निर्णय विधि (Case-law), न्यायाधीश-निर्मित विधि अथवा लोक विधि (Common-law) कहा जाता है, (3) सविधि—अर्थात् राज्य के विधानमडल या ससद् के अधिनियम।

5 प्रभुत्व

हमने ऊपर कहा है कि अन्य समुदायो की तुलना मे राज्य का विशेष गुण विधियाँ बनाने और उनको दमन के ऐसे सब साधनों द्वारा, जिन्हे वह प्रयुक्त करना चाहे, प्रवर्तित करने की शक्ति है। यह शक्ति 'प्रभुत्व' कहलाती है। यह एक बहुत ही विवादास्पद शब्द है और इसके विषय मे हमे आगे बहुत-कुछ कहना है। यहाँ पर इसे इसके दुहरे—आतरिक और बाह्य—पहलू मे परिभाषित कर देना पर्याप्त होगा। आन्तरिक दृष्टि से प्रभुत्व का तात्पर्य राज्य मे एक व्यक्ति या व्यक्तियो के निकाय की, उसके क्षेत्राधिकार के अन्दर व्यक्तियो या व्यक्तियो के समुदायो पर सर्वोच्चता है। बाह्य रूप से प्रभुत्व का अर्थ है अन्य सब राज्यो के सम्बन्ध मे एक राज्य की पूर्ण स्वतत्रता। व्युत्पत्ति की दृष्टि से 'प्रभुत्व' शब्द का अर्थ केवल प्रधानता है, किन्तु राज्य के सम्बन्ध मे प्रयुक्त करने पर इसका अर्थ एक विशिष्ट प्रकार की प्रधानता होता है अर्थात् ऐसी प्रधानता जिसमे विधि-प्रचालन अर्थात् विधि-निर्माण की शक्ति उपलक्षित है। किसी भी राज्य मे प्रभुत्व-शक्ति कहाँ स्थित है, इस बात का पता लगाने के लिए यह आवश्यक है कि जिन तीन रूपो मे इस शब्द का प्रयोग होता है उनमे विभेद कर लिया जाय। इसका तात्पर्य हो सकता है—(1) राज्य का नामधारी प्रमुख; जैसे यूनाइटेड किंगडम मे महारानी, (2) वैध प्रभु—अर्थात् वह व्यक्ति या वे व्यक्ति जो देश की विधि के अनुसार विधि-निर्माण-कार्य करते हैं और शासन का सचालन करते है, जैसे यूनाइटेड किंगडम मे ससद् सहित महारानी, (3) राजनीतिक या सविधानी प्रभु—अर्थात् व्यक्तियों का वह निकाय जिसमे शक्ति अन्तत निवास करती है; जिसे कभी-कभी 'सामूहिक प्रभु' कहा जाता है और जिसका निवास आधुनिक सविधानी राज्य मे निर्वाचक-मडल अथवा मतदात्री जनता मे होता है। अभी हमारा सम्बन्ध प्रभुत्व के इन पहलुओं मे से केवल दूसरे पहलू से है, यद्यपि तीसरे पहलू का कार्य, जैसा कि हम बाद मे देखेंगे, आधुनिक राज्य मे अत्यधिक महत्त्वपूर्ण होता है।

जेम्स ब्राइस ने एक अंगरेज के विषय मे लिखते हुए किसी भी राज्य मे प्रभु का पता लगाने की प्रक्रिया का एक उत्तम उदाहरण दिया है। उसने लिखा है: "एक नगरपालिका मे किसी गृहस्वामी से 'सडक-कर' की माँग की जाती है। वह उसका कारण पूछताहै। उसका ध्यान 'कर' आरोपित करने वाली नगर-परिषद्

के प्रस्ताव की ओर आकर्षित किया जाता है। इसके पश्चात् वह पूछता है कि परिषद् को कर लगाने का क्या अधिकार है ? उत्तर में संसद् के उस अधिनियम का उल्लेख किया जाता है जिससे परिषद् को उसकी शक्तियाँ प्राप्त होती हैं। यदि वह गृहस्वामी अपनी जिज्ञासा को और आगे बढ़ाना चाहता है और पूछता है कि इन शक्तियों को प्रदान करने का संसद् को क्या अधिकार है, तो कर-संग्राहक यही उत्तर दे सकता है कि यह बात सर्वविदित है कि इंगलैंड में संसद् विधि बनाती है और विधि के अनुसार कोई भी अन्य सत्ता संसद् की इच्छा की अभिव्यक्ति का अतिक्रमण या उसमें किसी प्रकार का हस्तक्षेप नहीं कर सकती। सभी अन्य सत्ताओं से संसद् सर्वोच्च है, अथवा, दूसरे शब्दों में, संसद् ही प्रभु है।"

बाद में हम देखेंगे कि प्रभुत्व का पता लगाना इतना आसान नहीं है जितना कि उपर्युक्त उदाहरण में दिखाई देता है। किन्तु यदि हम यह याद रखें कि राज्य में व्यक्तियों के जिस निकाय के आदेशों का अभ्यस्त रूप से पालन किया जाता है—और इसमें राज्य के सशस्त्र बल का नियंत्रण भी उपलक्षित है—वह निकाय ही प्रभुसत्ता है, तो हमें अगली परिभाषा की ओर अग्रसर होने में किसी कमी का अनुभव नहीं होगा।

6. शासन

विधियों का निर्माण करने और उन्हें प्रवर्तित करने के लिए राज्य के पास एक सर्वोच्च सत्ता होनी चाहिए। यह सत्ता 'शासन' कहलाती है। शासन राज्य का यंत्र है, उसके बिना राज्य का अस्तित्व नहीं रह सकता, क्योंकि "शासन, अन्तिम विश्लेषण में, संगठित बल है।" अतएव शासन "वह संस्था है जिसमें ··· प्रभुसत्ता के प्रयोग का अधिकार निहित है।' जब हम, उदाहरणार्थ ग्रेट ब्रिटेन में मन्त्रिमंडल को शासन कहते हैं, साधारण बोलचाल की भाषा में शासन का जो अर्थ हम ग्रहण करते हैं, व्यापक दृष्टि से शासन का अर्थ उससे बहुत बड़ा है। व्यापक अर्थ में शासन पर राज्य की भीतरी और बाहरी शान्ति एवं सुरक्षा बनाए रखने का भार रहता है। इसलिए उसके पास सबसे पहले सैनिक शक्ति अर्थात् सशस्त्र बल का नियंत्रण, दूसरे, विधान-शक्ति, अर्थात् विधि-निर्माण के साधन, तीसरे, वित्तीय शक्ति अर्थात् राज्य की रक्षा करने के और उस विधि को, जिसका वह राज्य की ओर से निर्माण करता है, प्रवर्तित करने के व्यय को पूरा करने के हेतु जनता से पर्याप्त धन वसूल करने की सामर्थ्य होनी चाहिए। संक्षेप में, उसके पास विधान शक्ति, कार्यकारी शक्तियाँ तथा न्यायिक शक्ति होनी चाहिए। इन्हें हम शासन के तीन विभाग कह सकते हैं।

7 विधानमडल

शासन के जिन तीन विभागा का अभी हमने वर्णन किया है व सब आधुनिक राज्य मे प्रभुत्व शक्ति के प्रयोग मे भाग लेते है। उनका एक-दूसरे से सदा ही घनिष्ठ सबध रहता है, किन्ही राज्यो म अधिक और किन्ही मे कम, किन्तु फिर भी वे सभी राज्या मे पृथक् होते है। विधानमडल शासन का वह विभाग है, जिसका सबध विधि के निर्माण से है जहा तक कि विधि के लिए साविधिक बल आवश्यक है। तर्क की दृष्टि से, विधि को क्रियान्वित करने मे पहले उसका निर्माण होता है। अत, प्रथम दृष्टि मे विधानमडल कार्य-पालिका स, जो विधि को कार्यान्वित करती है अथवा न्यायपालिका मे जो उसका उल्लघन करने वाला को दण्ड देती है, कही अधिक महत्त्वपूर्ण है। किन्तु सदा ही ऐसा नहीं होता, क्योकि, जैसा कि *हम बाद मे देखेंगे, विधानमडल की अन्य दोना विभागा पर नियत्रण रखने की शक्तियाँ विभिन्न प्रकार की होती है। फिर भी हम उस अमरीकन अधिकारी से सहमत हो सकते है जिसने विधान-कार्य को प्रत्यक स्वतत्र* शासन मे एक महान् और सर्वोपरि शक्ति कहा है।

आधुनिक सविधानी राज्यो मे विधान शक्ति ससद के हाथा मे होती है। इसके साधारणतया दो सदन होते है जिनमे से एक या दोनो ही जनता द्वारा निर्वाचित किए जा सकते हैं। अत, आधुनिक राज्य मे विधानमडल के गठन से निर्वाचक-समूह के स्वरूप का, जिसे हम राजनीतिक प्रभु कह चुके है, घनिष्ठ सबध होता है। आधुनिक समाज दिन-प्रतिदिन अधिकाधिक जटिल होता जा रहा है और उसके फलस्वरूप विधि-निर्मात्री सत्ता मे वह सामाजिक कल्याण के हेतु अधिकाधिक माग करता है। ज्यो-ज्यो यह जटिलता बढती जाती है, त्यो-त्यो उसी अनुपात मे विधानमडल के कृत्यो मे भी वृद्धि होती जाती है। सभी राज्या मे विधानमडल के कार्य पर समाज का स्वरूप ही अप्रत्यक्ष रूप से यह दबाव डालता है, कुछ राज्यो म एक सजीव निर्वाचन-प्रणाली के द्वारा अधिक प्रत्यक्ष रूप मे ऐसा होता है तथा कुछ राज्यो मे विधि निर्माण का उपक्रमण करने की अथवा ससद् द्वारा विधि पारित किए जाने के पश्चात उसे अनुमोदित या अननुमोदित करने की जनता की सविधानी शक्तियो द्वारा और भी अधिक प्रत्यक्ष रूप से दबाव पडता है। जैसा *कि हम बाद मे देखेंगे,* आधुनिक विधानमडलो की ये विभिन्नताएँ वर्तमान राज्या के वर्गीकरण के लिए *एक महत्त्वपूर्ण आधार* प्रस्तुत करती हैं।

8 कार्यपालिका

'कार्यपालिका' शब्द का प्रयोग प्राय बडे अनिश्चित ढग से किया जाता है।

कभी-कभी उसका केवल मुख्य मत्री अथवा प्रमुख (उदाहरणार्थ, सयुक्तराज्य के राष्ट्रपति) से तात्पर्य होता है, कभी-कभी सैनिक और असैनिक सभी प्रकार के लाक सेवको को उसके अन्तर्गत शामिल कर लिया जाता है, जिस अर्थ को प्रकट करन के लिए 'प्रशासन' शब्द अधिक उपयुक्त है। यहाँ 'कार्यपालिका' शब्द से हमारा तात्पर्य शासन के प्रमुख और उसके मत्रियो से है, जिन्हे साधारणतया 'मत्रिमडल' कहा जाता है। दूसरे शब्दो मे, कार्यपालिका से हमारा तात्पर्य राज्य मे उस निकाय से है जिसे सविधान विधानमडल की स्वीकृति प्राप्त विधि को कार्यान्वित करने की सत्ता प्रदान करता है। यद्यपि प्राविधिक दृष्टि से यह सच है कि नीति का उप क्रमण विधानमडल करता है, किन्तु व्यावहारिक रूप मे आजकल हाता यह है कि पहले उसके अधिकाश का निरूपण कार्यपालिकाकरती है और तब उसे विधानमडल क अनुमोदन क लिए उसके समक्ष प्रस्तुत करती है।

किसी भी राज्य के लिए ऐसा निकाय अनिवार्य है किन्तु आधुनिक राज्य क सबध म यह बात विशेष रूप से लागू होती है, क्योकि वह एक विशाल राष्ट्रीय समुदाय हाता है और इसीलिए यह आवश्यक है कि उसके मुख्य मत्रियो के पास व्यापक शक्तियाँ हो। विधानमडल और कार्यपालिका के गठन म बडा अतर सख्या का है। विधानमडल एक बडा निकाय है और कार्यपालिका (जिस अर्थ मे हम यहाँ उसका प्रयोग कर रहे हैं) छोटा। ऐसा होना आवश्यक भी है क्योकि विधानमडल विचार-विमर्श करने वाली सभा है जिसका कार्य सार्वजनिक विषयो पर वाद विवाद करना है, और कार्यपालिका विभागो के सचिवीय प्रधानो का निकाय है जिसका कार्य तत्परता और दृढता के साथ काम करना है। कही-कही, जैसा कि हम बाद मे देखेंगे, कार्यपालिका पर विधानमडल का नियत्रण होता है, अन्यत्र वह उससे पृथक् होती है और यह अतर हमारे वर्गीकरण का एक मुख्य आधार है।

9 न्यायपालिका

न्यायपालिका शासन का वह विभाग है जिसका सम्बन्ध विधि का उल्लघन करने वालो को दण्डित करन से है, विधि विधानमडल द्वारा पारित सविधियो के रूप मे हा सकती है अथवा वह विधानमडल की इच्छा से विद्यमान हो सकती है। जैसा एक अधिकारी न कहा है, न्यायपालिका का कर्तव्य "वैयक्तिक मामलो मे विद्यमान विधि के प्रयोग का विनिश्चय करना है।" ऐसी न्यायिक शक्ति शासन का मूल तत्त्व है जो, जैसा कि हम पहले कह चुके हैं, स्वभाव से ही दमनकारी होता है। न्यायपालिका सदा ही न्यायाधीशो का एक निकाय होना है, जो केन्द्र मे और राज्य के दूर-दूर के क्षेत्रो मे वैयक्तिक या सामूहिक रूप म काम करते हैं। न्यायाधीशो की शक्तियाँ अलग-अलग राज्यो मे अलग-अलग

तरह की होती हैं। कुछ राज्यो मे, जैसे ब्रिटेन मे, न्यायाधीश विधानमडल द्वारा पारित किसी भी विधि को लागू करने के लिए बाध्य होते है, चाहे ऐसी विधि न्यायालयों के पिछले निर्णया को समाप्त ही क्यो न कर दे, वास्तव मे नई विधि पिछले निर्णयो को समाप्त करने के लिए ही पारित की जाती है। अन्य कुछ राज्यो मे, जैसे सयुक्त राज्य मे *न्यायाधीशों का सर्वोच्च न्यायालय किसी भी* विधि को किन्हीं मामला मे लागू करने से इस आधार पर इनकार कर सकता है कि उस विधि का निर्माण सांविधानिक दृष्टि से विधानमडल की शक्ति के बाहर है और इस प्रकार वह विधानमडल के अधिनियमो को रद्द कर सकता है।

अधिकतर राज्यो मे शासन का न्याय-विभाग न्यूनाधिक मात्रा मे एक सृजनात्मक शक्ति होती है जो सर्वत्र, विशेषकर आग्ल-सैक्सन देशा मे, उस विधिनिकाय मे, जिसके अधीन आधुनिक समुदाय शासित होते है, अपने कार्य के सिलसिले मे महत्त्वपूर्ण तत्त्वो का विकास करती रहती है। विधि, सभी स्थानों मे, विशेषज्ञों का क्षेत्र है *और इसी कारण साधारणतया न्यायाधीशा का पदावधि की* सुनिश्चितता और शासन के अन्य दोनों विभागों के हस्तक्षेप से स्वतन्त्रता उपलब्ध होती है। यह उनके लिए बडा मूल्यवान अधिकार और समाज के लिए वास्तव मे *अत्यधिक महत्त्व की बात है। इसके साथ ही कार्यपालिका के पास भी* कुछ न्यायिक शक्तियाँ रहती है, जिनका मुख्य रूप से क्षमादान और प्रविलम्बन अर्थात् प्राणदण्ड के स्थगन तथा सशस्त्र सेनाओ और सामान्यतया असैनिक सेवाओ मे अनुशासन के प्रवर्त्तन से सबध होता है, यद्यपि ये कार्य अन्तत विधानमडल के नियत्रणाधीन होते है, जो कि इन सेवाओ के पोषण के लिए धन के अनुदान अथवा निषेध की अपनी शक्ति द्वारा नियत्रण करता है।

10 संविधान

शासन के इन तीनो विभागो के गठन एव पारस्परिक सबध के भेदो से ही राज्यो मे अतर होता है। आधुनिक सविधानी राज्य, जिससे अब आगे हमारा सबध रहेगा, ऐसा राज्य है जिसने शासन के इन तीन कार्यों के परिपालन के लिए नियमो एव रूढियो के एक स्वीकृत निकाय का विकास किया है। जेम्स ब्राइस ने सविधान की परिभाषा इस प्रकार की है—सविधान ' विधि से और उसके द्वारा सगठित राजनीतिक समाज का एक ढाँचा है अर्थात् ऐसा समाज जिसमे विधि ने *निश्चित अधिकारो और स्वीकृत कृत्यो वाली स्थायी सस्थाओ की स्थापना की* है।" सविधान को उन सिद्धातो का सकलन भी कहा जा सकता है, जिनके अनुसार शासन की शक्तियो, शासितो के अधिकारो और इन दोनो के बीच सबधो का समायोजन किया जाता है। सविधान विचारपूर्वक लिखित रचना हो सकती है, वह किसी एक दस्तावेज मे हो सकता है, जो स्वय समय और प्रगति की माँग के

अनुसार परिवर्तित और संशोधित किया जाता है, या वह पृथक् विधियों का एक संग्रह भी हो सकता है, जिन्हें संविधान की विधियों के रूप में विशेष सत्ता प्रदान की गई हो, अथवा हो सकता है कि संविधान के आधार एक या दो मूल विधियों में निश्चित कर दिए गए हों और शेष संविधान अपनी सत्ता के लिए प्रथा (Custom) के बल पर निर्भर हो।

यह सच है, जैसा कि आइवर जेनिंग्स अपनी 'केबिनेट गवर्नमेंट' नामक पुस्तक में कहता है कि, 'विधियों और रूढ़ियों (Conventions) के बीच का अंतर वास्तव में मौलिक महत्त्व का अन्तर नहीं है, क्योंकि संविधान कितना ही पूर्णरूपेण लिखित क्यों न हो, उसके संशोधन के लिए किए गए प्रत्यक्ष उपायों के अतिरिक्त रूढ़ियों और प्रथाओं का विकास धीरे धीरे उसके रूप में निश्चय ही परिवर्तन कर देगा। इसके अतिरिक्त, जैसा कि जेनिंग्स ने आगे लिखा है, संविधान आवश्यक रूप में मौन सम्मति पर आधारित रहता है चाहे वह जनमत-संग्रह (Referendum) द्वारा या मौन अनुमोदन द्वारा स्थापित हो अथवा बल द्वारा ही स्थापित क्यों न हो। यदि संगठित जनमत उसे अनिष्टकर समझता है तो वह निश्चय ही उलट दिया जाएगा, और यदि, जैसा कि उपर्युक्त लेखक आगे कहता है, लुई नेपालियन, मुसोलिनी या हिटलर जैसा कोई व्यक्ति यह समझता है कि वह लोगों को परिवर्तन के प्रति सम्मति प्रकट करने के लिए बाध्य कर सकता है या फुसला सकता है तो वह उसे उलटने में इस कारण नहीं हिचकिचायगा कि उसका विधि के रूप में अधिनियमन किया गया है। किन्तु संविधान का स्वरूप कैसा भी हो, वास्तविक संविधान में निम्नलिखित बातें स्पष्ट रूप से अंकित होंगी पहली, विभिन्न अभिकरण (Agencies) किस प्रकार संगठित किए गए हैं, दूसरी, इन अभिकरणों को क्या शक्ति दी गई है, और तीसरी, ऐसी शक्ति का प्रयोग किस रीति से किया जाना है। जिस प्रकार मानव-शरीर का विभिन्न अवयव युक्त गठन होता है, जिनकी क्रियाएँ शरीर की स्वस्थ दशा में सामंजस्यपूर्ण होती हैं और शरीर के स्वस्थ न होने पर अ-सामंजस्यपूर्ण, ठीक उसी प्रकार यह कहा जा सकता है कि राज्य या राजनीतिक निकाय का उस समय एक संविधान होता है जब कि उसके अवयव और उनके कृत्य निश्चितरूपेण सुव्यवस्थित होते हैं और किसी निरंकुश शासक की सनक जैसी किसी बात के अधीन नहीं होते। संक्षेप में, संविधान का उद्देश्य शासन के मनमाने कार्यों को सीमित करना, शासितों के अधिकारों को सुनिश्चित करना, और प्रभुसत्ता के कार्यों की मर्यादा का निरूपण करना है।

11 राष्ट्रीय लोकतंत्रात्मक राज्य

उपर्युक्त बातों से हमें सांविधानिक राज्य को पहचानने में सहायता मिलेगी।

राजनीतिक संविधानवाद की जड़ें पाश्चात्य संसार के इतिहास की गहराई में जमी हुई है, और जिस रूप में राज्य को आज हम जानते है उसके विकास में कुछ स्थानों में सांविधानिक सिद्धान्तों का अभ्युदय केन्द्रीय संयोजक शक्ति के रूप में राष्ट्रवाद के उदय अथवा सामाजिक राजनीतिक कार्यक्रम के रूप में लोकतंत्र के प्रादुर्भाव से बहुत पूर्व ही हो गया था। फिर भी यह निश्चित है कि आधुनिक संविधानी राज्य की पृष्ठभूमि राष्ट्रीय और प्रवृत्ति लोकतन्त्रीय है। राजनीतिक शब्दावली में राष्ट्रीयता शब्द की परिभाषा करना सबसे कठिन है, किंतु हम *निश्चिन्तता से यह कह सकते है कि आधुनिक रूप में राष्ट्रीयता समान अतीत वाले* और समान भविष्य की कामना रखने वाले लोगों की मिलकर कार्य करने की भावना है जो अपने-आपको राजनीतिक रूप में संगठित करने के लिए प्रयास करती है। संविधानी राज्य के विकास में यह हो सकता है कि राष्ट्रीय एकता की यह भावना प्रारम्भ में समाज के सदस्यों की व्यक्तिगत स्वतन्त्रता की प्राप्ति की अपेक्षा समूह की स्वतन्त्रता की स्थापना के लिए प्रयत्नशील हो, किन्तु अन्ततः वह जनता के अधिकारों की प्राप्ति के निमित्त चालक शक्ति का सृजन करती है।

'लोकतंत्र' शब्द भी विभिन्न प्रकार से प्रयुक्त किया जाता है, कभी उसका मतलब शासन के रूप से होता है और कभी उसका प्रयोग समाज की अवस्था-विशेष को व्यक्त करने के लिए किया जाता है। किन्तु समकालीन संसार में जिस प्रकार राष्ट्रीयता अनिवार्यतः राजनीतिक लोकतन्त्र का आधार बन गई है उसी प्रकार लोकतन्त्रात्मक राजनीतिक संगठन सामाजिक प्रगति का साधन बन गया है। यहाँ पर हमारा विषय राजनीतिक लोकतन्त्र है, जिसका आशय यह है कि शासन शासितों की सम्मति पर आधारित होगा अर्थात् जनता की सम्मति *या असम्मति निर्वाचनों, सभामंचों, समाचारपत्रों आदि साधनों द्वारा वास्तविक* रूप में अभिव्यक्त हो सकेगी। अतएव, इस अर्थ में लोकतन्त्र से हमारा तात्पर्य ऐसी शासन-प्रणाली से है जिसमें राजनीतिक समुदाय के वयस्क सदस्यों की बहुसंख्या एक ऐसी प्रतिनिधित्व-प्रणाली के द्वारा भाग लेती है जिससे यह सुनिश्चित हो जाता है कि शासन अपने कार्यों के लिए अन्ततः *उस बहुसंख्या के प्रति* उत्तरदायी होगा। दूसरे शब्दों में, समकालीन संविधानी राज्य लोकतन्त्रात्मक प्रतिनिधित्व की ऐसी प्रणाली पर आधारित होना चाहिए जिससे जनता की *प्रभुता सुनिश्चित हो जाती है।*

यह परिभाषा अभिनव सत्तावादी या समग्रवादी राज्यों को, चाहे उनका रूप फासिस्ट हो या मार्क्सिस्ट, कहाँ तक लागू होती है, यह विवादास्पद विषय है। कम से कम इतना कहा जा सकता है कि समकालीन संसार में इस प्रकार के प्रत्येक राज्य की पृष्ठभूमि राष्ट्रीय है, यद्यपि मार्क्सिस्ट विचारधारा का, जो साम्यवादियों के राजनीतिक संगठन को अनुप्राणित करती है, उद्देश्य अन्तर्राष्ट्रीय है। इसके

अतिरिक्त उनमें से प्रत्येक का एक प्रकाशित दस्तावेजी संविधान है जिससे उनके राजनीतिक व्यवहार का सही-सही परिचय मिल भी सकता है या नहीं भी मिल सकता है। साम्यवादी संविधानों में उनके शासन के स्वरूप को लोग गणतंत्र (पीपुल्स डेमोक्रेसी), लोक-गणराज्य (पीपुल्स रिपब्लिक) और प्रजातंत्रीय गणराज्य (डेमोक्रेटिक रिपब्लिक) आदि नामों द्वारा वर्णन किया जाता है। एक उदारवादी को यह शब्दों का दुरुपयोग मालूम हो सकता है। फिर भी सत्य बात तो यह है कि विश्व की वर्तमान स्थिति में तुलनात्मक राजनीति के किसी भी अध्ययन में, यदि वह अध्ययन यथार्थवादी होता है, इन संविधानों की उपेक्षा नहीं की जा सकती। क्योंकि उनको प्रेरित करने वाले सिद्धान्तों के विषय में हमारे विचार कैसे भी क्यों न हों, वे सिद्धान्त प्राचीन पाश्चात्य परम्परा के संविधानवाद को अनुप्राणित करने वाली धारणाओं के लिए, जिनकी उत्पत्ति एवं जिनके विकास का हम अब संक्षिप्त रूप में वर्णन करेंगे, एक निर्मम चुनौती है।

2

संविधानी राज्य की उत्पत्ति और उसका विकास

1 विषय-प्रवेश

सविधानी राज्य का अभ्युदय सारत एक ऐतिहासिक प्रक्रिया है और इस विषय के विद्यार्थी को अपनी मुख्य सामग्री इतिहास मे मिलेगी। यह सामग्री स्वय सस्थाओं के अपने इतिहास मे ही नही बल्कि राजनीतिक विचारो के इतिहास मे भी मिलती है, जिन्होने इन सस्थाओं के विकास को प्रोत्साहित किया है, अथवा जो स्वय भी उनके विकास से स्फूर्ति प्राप्त करते रहे हैं, क्योंकि जो अभिप्रेत था, उस पर विचार करना प्राय उतना ही महत्वपूर्ण होता है, जितना कि जैसा वास्तव मे हुआ, उस पर विचार करना। यह बात उन सस्थाओ के बारे मे और भी *अधिक लागू होती है जिनका अब हम अध्ययन कर रहे हैं और जिनका आज के* हमारे ही युग मे सस्कार और पुन सस्कार हो रहा है। भूतकाल मे ही नही, बल्कि वर्तमान मे भी विद्यमान शासनपद्धति का उसके सुधार की दृष्टि से विवेचन *अथवा विद्यमान सगठन का उसकी परिभाषा की दृष्टि से विश्लेषण ही अधिकाश* राजनीतिक दर्शन का आधार बनता है।

हमने सविधान की यह परिभाषा की है कि वह विधि से और उसके द्वारा *सगठित राजनीतिक समाज का एक ढाँचा है*, जिसमे विधि ने *निश्चित अधिकारो* और स्वीकृत कृत्यो वाली स्थायी सस्थाओ की स्थापना की है, और सविधानी राज्य हमारी परिभाषा के अनुसार वह राज्य है जिसमे शासन की शक्तियो, शासितो के अधिकारो और इन दोनो के बीच मे सबधो का समायोजन किया जाता है। इस प्रकार का राज्य एक साथ ही अत्यन्त प्राचीन और अत्यन्त नवीन है। यह उतना ही प्राचीन है जितना कि पुरातन यूनान और उतना ही नवीन है जितनी कि बीसवी शताब्दी। इसका प्राचीनतम रूप, जिसका हमारे पास लिखित प्रमाण है, यूनानियो और रोमनो के प्राचीन ससार मे पाया जाता है, किन्तु वह आज के रूप से बहुत भिन्न था। आधुनिक सविधानवाद, जैसा कि हमने कहा है, राष्ट्रवाद और प्रतिनिधिक लोकतत्र के दोहरे आधार से विकसित हुआ है। किन्तु सापेक्ष दृष्टि से राष्ट्रवाद हाल ही की उत्पत्ति है। राष्ट्रीय सविधानी राज्य प्राचीन विश्व की भूमि मे उत्पन्न नही हो सकता था। व्याव-

हार्गिक राजनीतिक कार्यक्रम के रूप में राष्ट्रवाद का विकास राज्य के उस ढाँचे के भीतर हुआ है जिसका योरोप में पन्द्रहवीं शताब्दी में आविर्भाव हुआ। योरोप की आधुनिक राज्य प्रणाली का आरम्भ परिवर्तन के उस महान् युग में हुआ, जिसे हम पुनरुत्थान (Renaissance) कहते हैं। साहित्य, कला, विज्ञान, सामुद्रिक नियाकलाप और राजनीति के क्षेत्र में हुई क्रान्तियों के महत्त्व को समझने का सर्वोत्तम उपाय यह है कि हम राज्य पर उनके प्रभावों का अध्ययन करें। यहाँ 'पुनरुत्थान' शब्द की व्युत्पत्ति से हमें अधिक सहायता नहीं मिलेगी, क्योंकि इस युग में विद्या के क्षेत्र में तो प्राचीन आदर्शों का पुनर्जन्म हुआ, किन्तु राजनीति के क्षेत्र में ऐसा बहुत कम हुआ। इस क्षेत्र में तो बहुत बड़े अर्थ में प्राचीन की मृत्यु और नवीन का जन्म हुआ। उस समय वास्तव में जिसका आविर्भाव हुआ वह था बाह्य प्रभुता का सिद्धान्त जिससे तात्कालिक और दूरस्थ भूतकाल से सम्बन्ध विच्छेद हो गया जिसका बहुत ही गम्भीर राजनीतिक महत्त्व है, जैसा कि हम अब देखेंगे।

2 यूनानी संविधानवाद

यह सत्य है कि राजनीतिक पृथक्त्व यूनानी जीवन का एक विशिष्ट लक्षण रहा है। वास्तव में स्वायत्तता अथवा समूह-स्वातंत्र्य के सिद्धान्त के प्रति यूनानियों की धार्मिकप्राय श्रद्धा ने ही अन्त में उन्हें डुबो दिया। किन्तु उन्हें नगर-राज्य का यही ज्ञान था जिसका क्षेत्रफल सामान्यतया ब्रिटेन के आज के एक जिले से अधिक नहीं था और जनसंख्या ब्रिटेन के आधुनिक नगर से कम ही थी। यूनानियों का संपूर्ण राजनीतिक दृष्टिकोण इसी तथ्य से निर्धारित होता था, यहाँ तक कि यूनान ने जिन मेधावी राजनीतिक दार्शनिकों को जन्म दिया, वे भी राज्य की इस सकल्पना से आगे नहीं जा सके। अरस्तू ने आदर्श राज्य की भौगोलिक सीमा निश्चित करते हुए यह विचार अवश्य प्रकट किया कि राज्य का क्षेत्र इतना बड़ा होना चाहिए कि वह आर्थिक दृष्टि से आत्मनिर्भर हो सके और इतना छोटा होना चाहिए कि उसके समस्त नागरिक एक स्थान पर इकट्ठे हो सकें।

नागरिक के बारे में इस प्रकार की कल्पना से यह अनुमान किया जा सकता है कि हमारे आधुनिक संविधानवाद के दूसरे सिद्धान्त—लोकतन्त्र—की धारणा यूनानियों से कितनी भिन्न थी। हमारे राष्ट्र-राज्य ने तो अपने लोकतन्त्र के विकास में प्रतिनिधित्व के सिद्धान्त को अनिवार्यतः जन्म दिया, किन्तु यूनानी ऐसे सिद्धान्त को बिलकुल ही नहीं जानते थे। यूनानी नागरिक वास्तव में और स्वयं एक सैनिक, न्यायाधीश और शासक-सभा का सदस्य सभी कुछ था। स्पष्ट है कि प्रदेश और संख्या को सीमित किए बिना, जैसा कि यूनानी नगर-राज्य में उपलक्षित था, नागरिक के कृत्यों का इस प्रकार का व्यक्तिगत पालन असम्भव था। इसके अनि-

लिक्न इस व्यक्तिगत सेवा के साथ एक और संस्था अर्थात् दासता पूर्वकल्पित थी, जिसे आधुनिक सभ्यता की आत्मा कभी भी स्वीकार नही कर सकती। प्राचीन यूनानी एक सक्रिय नागरिक होने के लिए स्वतंत्र था, क्योंकि सामान्यतया जीवन के साधनों का उत्पादन दासो के द्वारा किया जाता था जो कि नागरिकता की परिधि के बाहर थे।

यूनानी के लिए राज्य ही उसकी सम्पूर्ण सवास-योजना थी। वह ऐसा नगर था जिसमे उसकी भौतिक और आध्यात्मिक सभी आवश्यकताओं की पूर्ति होती थी। अरस्तू ने जब 'राज्य' शब्द का प्रयोग किया, तो उसमे उसने उन सब बातो को सम्मिलित कर लिया जिन्हे हम राज्य, समाज, आर्थिक सगठन और यहाँ तक कि धर्म आदि शब्दो के द्वारा व्यक्त करते हैं। उसके लिए राज्य एक आध्यात्मिक बधन था न कि शासनीय यंत्र मात्र। अरस्तू ने कहा है कि राज्य जीवन को सम्भव बनाने के लिए ही नही बल्कि जीवन को सुन्दर बनाने के लिए है। अफलातून और अरस्तू जैसे यूनानी दार्शनिको के लिए व्यक्ति और राज्य मे कोई विरोध नही था। इसके विपरीत, उनके विचार मे व्यक्ति के सर्वोत्तम लक्ष्यो की प्राप्ति के लिए राज्य ही उसका एकमात्र साधन था और उनकी दृष्टि मे व्यक्ति उस समय तक अच्छा व्यक्ति नही बन सकता था जब तक कि वह अच्छा नागरिक भी न हो।

ऐसे विचारको के लिए अच्छी नागरिकता की कसौटी विधियो अर्थात् संविधान का पालन करना था। विधि एक निश्चित सार्वलौकिक कल्याण का प्रतीक मानी जाती थी, जो वैयक्तिक स्वेच्छाचार के विरुद्ध रक्षा-कवच के समान थी। अपने आदर्श सविधानो का प्रतिपादन करने मे अफलातून और अरस्तू दोनो ने राजनीतिक शिक्षा के महत्त्व पर जोर दिया, क्योंकि शिक्षित नागरिकता के द्वारा ही राज्य को अराजकता से बचाया जा सकता है। अफलातून और अरस्तू दोनो के विचार मे एथेंस मे लोकतंत्र के अनियंत्रित विकास से ही अराजकता पैदा हुई, और एथेन्स की स्वतन्त्रता ने पतित होकर जिस उच्छृंखलता का रूप धारण कर लिया था उसकी आलोचना ने ही राजनीतिक दर्शन के सर्वोत्कृष्ट ग्रंथो—अफलातून के 'रिपब्लिक' और अरस्तू के 'पोलिटिक्स'—के लिए अवसर प्रदान किया। अफलातून का हल था उसकी 'रिपब्लिक' मे वर्णित राजनीतिक मनीषियो का अभिजाततंत्र, जिससे आशय था ऐसे सरक्षको का एक निकाय जो प्रशिक्षण की एक ऐसी कडी प्रणाली के द्वारा शासन करने के योग्य बनाए गए हो, जिसके द्वारा एक आदर्श राज्य की सृष्टि हो सके। अरस्तू ने अव्यवस्थित जनसमूह के निरकुशतंत्र से उस काल्पनिक व्यवस्था मे आश्रय लिया, जिसे वह 'पॉलिटी' कहता था और जिससे उसका तात्पर्य एक प्रकार के ऐसे मध्यवर्गीय शासन से था जो 'अप्राप्य नही तो कम-से-कम अस्थायी सर्वोत्तम' (शासन) और 'असहनीय

निकृष्ट' (शासन) के बीच का शासन स्थापित कर सके।

किन्तु इन दोनों में से कोई भी कल्पना साकार रूप प्राप्त नहीं कर सकी, इसलिए उनको यह प्रदर्शित करने का अवसर नहीं मिला कि उनमें यूनानी नगर-राज्य को विनाश से बचाने की सामर्थ्य थी या नहीं। सम्पूर्ण यूनान की स्वतंत्रता को चिरस्थायी बनाने का एकमात्र उपाय था व्यापक राजनीतिक संयोग की स्थापना। यह मार्ग यूनानी विचारकों को सूझा ही नहीं, यद्यपि व्यावहारिक रूप में उसे ग्रहण करने का प्रयत्न एक बार किया गया था। इस प्रयत्न में एथेन्स ने सर्वप्रथम समान राज्यों का एक संघ बनाया जिसका नाम 'डेलॉस का संघ' (Confederacy of Delos) था, किन्तु जब बाद में एथेन्स ने इसे 'एथेन्स साम्राज्य' के रूप में परिवर्तित करने की चेष्टा की, जिसमें अन्य समस्त राज्यों का नेतृत्व स्वयं उसके हाथों में होता, तो स्पार्टा के नेतृत्व में बहुत-से राज्य उसके विरुद्ध उठ खड़े हुए क्योंकि इसमें उनके मतानुसार स्वतंत्र राज्य के आधार को ही नहीं बल्कि सच्चे सुख के एकमात्र आधार को खतरा उत्पन्न हो गया था। इसके फलस्वरूप होने वाले लम्बे गृहयुद्ध (जिसे पोलिपोनिशियन महायुद्ध 431-404 ई० पू०) में यूनानियों ने अपने-आप ही अपनी जो क्षति की उसमें वे सँभल नहीं सके और अन्त में द्वितीय फिलिप तथा सिकन्दर महान् के अधीन मकदूनिया के आक्रमणकारियों ने उन्हें सरलता से अपने कब्जे में कर लिया।

यूनानी राजनीतिक संविधानवाद में जिस बात का अभाव था वह, जैसा कि हम बाद में देखेंगे, इस प्रकार के राज्य के निरंतर अस्तित्व के लिए अत्यावश्यक है और वह बात है समय के परिवर्तन के साथ-साथ चलने की और नई आवश्यकताओं की, जैसे-जैसे वे प्रकट होती हैं, पूर्ति करने की योग्यता। किन्तु यद्यपि यूनानियों का राजनीतिक संविधानवाद इस प्रकार लुप्त हो गया, फिर भी उनका राजनीतिक आदर्शवाद जीवित रहा। यह समझना कठिन है कि इस प्राचीन प्रतिष्ठित उदाहरण द्वारा प्राप्त प्रेरणा के अभाव में हमारा वर्तमान राजनीतिक संगठन वैसा कैसे हो सकता था जैसा कि वह आज है।

3 रोमन संविधान

मकदूनिया द्वारा विजित कर लिए जाने के पश्चात् पुनःसंगठित यूनान तथा सिकन्दर द्वारा स्थापित साम्राज्य का अधिकतर भाग, ये दोनों ही, अन्त में, बढ़ते हुए रोमन साम्राज्य की सीमा के अन्दर सम्मिलित कर लिये गए। अतएव राजनीतिक संविधानवाद के इतिहास की खोज में हमें अब रोम की ओर बढ़ना चाहिए। रोम भी प्रारम्भ में एक नगर-राज्य था, किन्तु चूँकि वह आरम्भ से ही विरोधी राज्यों से घिरा हुआ था और उनसे उसे खतरा बना रहता था इस कारण वह विस्तार की नीति पर चलने के लिए बाध्य हो गया, जो तब तक जारी

रही जब तक कि रोमन साम्राज्य की सीमा सभ्य ससार से मिल नही गई। सविधानवाद के इतिहास मे रोम का महत्त्व इस बात के कारण है कि पुरानी दुनियाँ मे उसके सविधान ने वैसा ही कार्य किया जैसा कि आज की दुनियाँ मे ब्रिटिश सविधान ने किया है। जेम्स ब्राइस ने लिखा है कि "टाइबर-तटस्थ नगर-गणराज्य से, जिसके चारो ओर का ग्राम्य क्षेत्र सरे या रोड टापू से बडा नही था, एक विश्व-साम्राज्य का विकास हुआ। इस साम्राज्य के ढांचे मे उसके अन्त तक उन सस्थाओ के चिह्न विद्यमान रहे जिनके आधार पर उस छोटे-से गणराज्य का अभ्युदय हुआ था। इगलैण्ड मे, पहले कबीलाई और तत्पश्चात सामतीय एकतत्र का अत्यन्त छोटे आकार से धीरे-धीरे एक बिलकुल ही भिन्न प्रकार के द्वितीय विश्व-साम्राज्य मे विकास हुआ, जब कि इसके साथ ही शासन के प्राचीन स्वरूप का, ऐसे प्रयत्नो एव सघर्षो द्वारा जिनका प्रयोजन पूर्णरूपेण स्पष्ट नही था, धीरे-धीरे एक ऐसी प्रणाली मे विकास हुआ जो नाममात्र के लिए ही एकतत्रीय थी।" किन्तु, जैसा कि जेम्स ब्राइस ने आगे कहा है, जहाँ रोम अशत अभिजाततत्रात्मक और अशत लोकतत्रात्मक गणराज्य से निरकुशतत्र मे विकसित हुआ, वहाँ दूसरी ओर ब्रिटेन का विकास इसके बिलकुल विपरीत हुआ, अर्थात् एक शक्तिशाली एकतत्र से शासन के ऐसे रूप मे जो व्यावहारिक रूप मे अशत लोकतत्रात्मक और अशत धनिकतत्रात्मक गणतत्र है।

रोम का सविधान प्रारम्भ मे शासन का एक बिलकुल निश्चित सविधान था, किन्तु फिर भी वह लिखित रूप मे कही भी प्राप्त नही हो सकता था। ब्रिटेन के सविधान की तरह वह लोगो की स्मृतियो मे सुरक्षित या लिखित पूर्वदृष्टातो के, वकीलो अथवा राजनीतिज्ञो की उक्तियो के, "शासन की पद्धतियो को निर्धारित करने वाली रूढियो प्रथाओ, समझौतो और विश्वासो के समूह एव बहुत-सी सविधियो" से निर्मित था। प्रारम्भ मे रोम एक एकतत्र था, किन्तु बाद मे राजाओ को निकाल दिया गया और 500 ई पू के लगभग गणराज्य स्पष्ट रूप से प्रकट होने लगा। तदुपरान्त वर्गों (पेट्रीशियनो तथा प्लेबियनो) के बीच एक दीर्घकालीन युद्ध आरम्भ हुआ, जिसके फलस्वरूप अन्त मे (300 ई पू के लगभग) प्लेबियनो के लिए समान अधिकारो की स्थापना हुई जिनकी देख-रेख इस प्रयोजन के लिए विशेष रूप से चुने गए पदाधिकारियो—ट्रिब्यूनो—के द्वारा की जाती थी। इस गणतत्रीय सविधान मे शासन के तीन तत्त्व थे जो एक-दूसरे पर नियत्रण रखने वाले और आपस मे सतुलन रखने वाले समझे जाते थे। इनमे से प्रथम तत्त्व—एकतत्रीय तत्त्व—(प्रारम्भिक राजाओ से स्थानान्तरित) था, जो दो कासुलो के रूप मे प्रकट हुआ जिनका वार्षिक निर्वाचन होता था और जिनको एक दूसरे के विरुद्ध निषेधाधिकार प्राप्त था। दूसरा तत्त्व, अभिजाततत्रीय सिनेट मे समाविष्ट था, जो एक सभा थी, जिसे एक समय बडी विधायिनी

शक्तियाँ प्राप्त थी। तीसरा अर्थात् लोकतत्रीय तत्त्व भूमि या जनता के विभागों के अनुसार तीन प्रकार की जन सभाओ (क्यूरीज, सेंच्युरीज अथवा ट्राइब्स) म विद्यमान था। शक्तियो के इस तिहरे विभाजन का सिद्धात तो साम्राज्य के पतन तक विद्यमान रहा, किन्तु रोम के विस्तार के साथ स्वय इसका तथ्य के रूप म अनिवायत लोप हो गया।

रोमन राज्य एक अर्थ मे बाईस शताब्दियो तक (रोम नगर की स्थापना की परपरागत तिथि—753 ई पू से सन् 1453 मे कुस्तुन्तुनिया की विजय तक रहा और इस दौरान मे उसके सविधान मे कई परिवर्तन हुए। यह स्मरण रखना चाहिए कि रोमन सविधान एक नगर-राज्य का सविधान था, इसलिए जब रोम नगर राज्य न रहा और (तत्कालीन सभ्यता की परिधि के अन्तगत) विश्व-राज्य बन गया तब उसका गणतत्रात्मक स्वरूप वास्तविकता से असगत हो गया। यूनान की तरह हम यहाँ भी आधुनिक सविधानवाद की दोनो अनिवार्य शर्तों अथवा पूवधारणाओ अर्थात प्रतिनिधिक लोकतत्र और राष्ट्रवाद का अभाव देखते हैं। रोम का लोकतत्र यूनान के नगर राज्यो की ही तरह प्रत्यक्ष या प्राथमिक लोकतत्र था और प्रतिनिधित्व का सिद्धान्त जैसे यूनानियो के लिए वैसे ही रोमनो के लिए भी अपरिचित था। स्पष्ट है कि इस प्रत्यक्ष अर्थ मे नागरिकता को बनाये रखना और इसके साथ ही उन जन-समूहो को, जिनको रोम उत्तरोत्तर अन्तर्लीन करता गया उसम सम्मिलित करना सभव नही था। इसके अतिरिक्त रोमन ससार का निर्माण करने वाले बेमेल और विभिन्न जातीय जन-समूहो म से एक राष्ट्र का निर्माण नही हो सकता था। रोमन पद्धति अपरिपक्व स्थानीय भावना को नष्ट करने और फूट डालकर-शासन करने की थी। वह राष्ट्रो को जीवित नही रहने देती थी क्योकि अधीनस्थ प्रजाजनो को शासन-व्यवस्था मे हिस्सा देना तब तक सभव नही था जब तक कि प्रतिनिधित्व के सिद्धात का समारम्भ न किया जाता और ऐसा उसने कभी नही किया।

इस प्रकार प्राचीन गणतत्रात्मक सविधान अप्रचलित हो गया और एकतत्रीय, अभिजाततत्रीय एव लोकतत्रीय शक्तियो के एक सुन्दर सतुलन के रूप मे उसके बारे मे जो धारणा थी वह ईसा-पूर्व की दूसरी शताब्दी के महान् पूर्वीय विस्तार के पश्चात् जीवित नही रह सकी, यद्यपि उस शताब्दी के मध्य मे भी रोम मे बधक के रूप म रहने वाले यूनानी पोलीबियस ने इस सतुलन को ही रोमन शासन की स्थिरता का कारण बताया और इस बात का परवर्ती राजनीतिक सिद्धान्त और कुछ हद तक सस्थाओ पर भी महत्त्वपूर्ण प्रभाव पडा। किन्तु वास्तव मे इस समय से रोमन गणराज्य सिनेट के शासन से अधिक कुछ नही रहा। किन्तु फिर भी यह सिद्धान्त बना रहा कि समस्त शक्तियाँ अन्तत जनता से प्राप्त होती है। रोमन सविधान मे सकटकाल मे अस्थायी अधिनायकतत्र की स्थापना

के लिए सदा ही व्यवस्था थी और ईसा-पूर्व की अन्तिम शताब्दी मे, जब कि इटली मे गृहयुद्ध जोरो पर था, मारियस और सुल्ला जैसे कुछ विजयी सैनिक कमाडरो के निरकुश कार्यो को साविधानिक चोले के अन्दर छिपाने के लिए प्राय इस कार्यसाधक व्यवस्था का सहारा लिया जाता था। अन्त मे जब जूलियस सीजर ने ई पू 48 मे पोम्पी को कुचल डाला तो अपनी अशक्तता को स्वीकार करते हुए सिनेट ने उसे जीवन भर के लिए अधिनायक बना दिया। इस प्रकार यदि नाम से नही तो वास्तविक रूप मे सर्वोच्च सत्ता (Imperium) का जन्म हुआ।

रोमन साम्राज्यिक शक्ति के सिद्धान्त को हम सम्राट जस्टीनियन (सन 538-565) के इन्स्टीट्यूट्स और डाइजेस्ट से भली प्रकार समझ सकते हैं। सम्राट् जस्टीनियन रोमन विधि का महान् सहिताकार था जो अपने आपको विश्व का शासक कहता था, यद्यपि कुछ समय को छोडकर सदा ही उसका वास्तविक शासन रोमन साम्राज्य के पूर्वी भाग तक ही सीमित था जिसका केन्द्र कुस्तुन्तुनिया था। रोमन विधि की इस सहिता के अनुसार सर्वोच्च विधायिनी शक्ति तब भी रोम की जनता के ही पास थी (यद्यपि उसने पाँच शताब्दियो से अधिक काल से उसका प्रयोग नही किया था)। सम्राट् के अधिकार जनता के प्रत्यायोग (Delegation) के परिणाम थे। यह बात ध्यान मे रखने योग्य है कि यह प्रत्यायोग सदा के लिए नही होता था, वरन् यह कल्पना कर ली जाती थी कि यह क्रिया प्रत्येक नये पदधारी के प्रतिष्ठित होने पर दोहराई जाती थी। साम्राज्य के इतिहास के किसी भी काल मे जनता की शक्तियाँ औपचारिक रूप से कभी समाप्त नही की गईं, किन्तु वे धीरे-धीरे विस्मृत हो गईं। यह रोमन सविधान का विचित्र लचीलापन था, जिसके कारण प्रत्यायोग की यह कल्पना सम्भव हो सकी। इस कल्पना के अनुसार सम्राट् प्रथम (ऑगस्टस, ई पू 31—सन् 14) से ही केवल मजिस्ट्रेट (दण्डनायक) थे, जिनके हाथो मे पुराने गणतन्त्र के विभिन्न पद एकत्र थे। यह ध्यान देने योग्य बात है, क्योकि गणराज्य के महान् युग मे रोमन दण्डनायको (कान्सुल, प्रीटर आदि) के हाथो मे सविधान के अनुसार बहुत बडी शक्ति थी। अतएव, एक बार यह मान लेने पर कि उनकी सब शक्तियाँ एक व्यक्ति मे केन्द्रित हैं और उस व्यक्ति के कार्यकाल की कोई सीमा नही है, सम्राट् का पद सभी पुराने गणतन्त्रीय दण्डनायक-पदो के एकीकरण से अधिक कुछ प्रतीत नही हुआ, जिसे रोमन लोकतन्त्र के अधिकार भी समर्पित कर दिये गये थे। सिनेट की भी बैठकें होती रही, जिससे गणतन्त्रात्मक स्वरूपो के जारी रहने का दिखावा बना रहा। परन्तु साम्राज्य के परवर्ती दिनो म सिनेट बिलकुल ही अशक्त हो गई और सम्राट् की इच्छा को स्वीकार करने वाली सभा मात्र के रूप मे रह गई।

इस प्रकार रोमन सविधान का आरम्भ एकतन्त्रात्मक, अभिजाततन्त्रात्मक

और लोकतन्त्रात्मक तत्त्वों के एक सुन्दर सम्मिश्रण के रूप में और उसका अन्त एक अनुत्तरदायी निरंकुशतन्त्र के रूप में हुआ। फिर भी यह स्पष्ट है कि साम्राज्य के विकास के साथ साथ ऐसा होना अनिवार्य था। उसके विस्तृत क्षेत्र, विभिन्न जन-समूहों और विविध प्रकार के हितों के लिए ऐसे साधन की आवश्यकता थी, जो शीघ्रता और कुशलता के साथ कार्य कर सकता और जिसकी पूर्ति एक व्यक्ति के हाथों में सम्पूर्ण प्रभुत्व सौंप देने से ही हो सकती थी। जैसा कि हम इसके पूर्व कह चुके हैं, इससे भिन्न किसी भी पद्धति के अनुसरण से रोमन संसार बहुत पहले विघटित हो गया होता और राज्यों की जो विविधता हम आज देख रहे हैं, उसका कई शताब्दियों पूर्व प्रादुर्भाव हो गया होता।

रोमन सम्राट् की निरपेक्ष सत्ता ऐसे विचारों से भी सीमित नहीं थी जिनसे रूस के ज़ारों और प्रशा के बादशाहों जैसे आधुनिक निरंकुश शासकों की शक्ति का क्षेत्र सीमित था, क्योंकि आखिर रूस तथा प्रशा के शासक जिन लोगों पर शासन करते थे उनमें निश्चय ही बहुत-कुछ सजातीयता अथवा समानता थी। रोमन साम्राज्य में राष्ट्रीय भावना का बिलकुल ही अभाव था। ऐसे संविधान के अधीन, जो सदा से ही नगर का संविधान था, अधीनस्थ प्रजाजनों को रोमन गणतन्त्र के लोगों के अधिकारों का कुछ भी पता नहीं था और इस बात से निरंकुशतन्त्र का विकास और भी आसान हो गया। साम्राज्य-काल में भी गणतन्त्र के बने रहने की कल्पना ऑगस्टस और पूर्ववर्ती सम्राटों के लिए बड़ी लाभदायक रही, क्योंकि इसके द्वारा वे अपने आपको जूलियस सीज़र के जैसे अन्त से बचा सके, किन्तु इसके कारण बाद के वर्षों में सम्राट्-पद के लिए बड़े संघर्ष हुए, क्योंकि सम्राट् के पद का कोई संविधानी आधार नहीं था। किन्तु गणतन्त्रवाद से साम्राज्यवाद में परिवर्तन के समय जो 'वस्तुतः' प्रभुसत्ता थी अर्थात् सम्राट्—वह अन्त में 'अधिकारिता' अथवा विधित प्रभुसत्ता मानी जाने लगी और जस्टीनियन के ये शब्द कि '*नरेश की खुशी में ही विधि का बल है*' उसके समय तक अक्षरशः और स्वीकृत सत्य बन गए, यद्यपि उस विधि का अधिकार-क्षेत्र, पाँचवीं शताब्दी में पश्चिमी साम्राज्य के छिन्न-भिन्न होने से पूर्व के दिनों के क्षेत्र से बहुत संकुचित था।

तो फिर रोमन संविधानवाद ने क्या स्थायी प्रभाव डाले? सबसे पहले तो रोमन विधि का महाद्वीपीय यूरोप के विधि-इतिहास पर बहुत बड़ा प्रभाव पड़ा। पश्चिमी साम्राज्य के ट्यूटनजातीय आक्रमणकारियों द्वारा लाई गई रूढ़ियाँ और विधियाँ रोमन संहिता में, जो उन्हें वहाँ मिली, घुल मिल गई और इस सम्मिश्रण से उन विधिप्रणालियों का जन्म हुआ जो आज पश्चिमी महाद्वीपीय यूरोप में प्रचलित हैं। दूसरे, रोमनों की व्यवस्था और एकता के प्रति प्रेम इतना प्रबल था कि मध्ययुग के लोग विघटनकारी शक्तियों के होते हुए भी

विश्व की राजनीतिक एकता की धारणा से आविष्ट थे। आधुनिक विश्व के उदार विचारक आज जो यह स्वप्न देख रहे है कि शायद अन्त मे युद्ध के निवारण के लिए एक अतर्राष्ट्रीय अथवा अनिराष्ट्रीय सत्ता की स्थापना की जा सकेगी, उसका मूल, एकता के लिए रोमनो के उत्कट प्रेम और मध्यकाल मे एक आदर्श के रूप मे बनी हुई उसकी प्रतिष्ठा म पाया जा सकता है। तीसरे, सम्राट् के वैध प्रभुत्व के बारे मे दुहरी धारणा—एक ओर यह कि नरेश की खुशी मे ही विधि का बल है और दूसरी ओर यह कि उसकी शक्तियाँ अन्तत जनता से प्राप्त होती है—कई शताब्दियो तक बनी रही, और इसी से शासक और शासित के सबधो के बारे मे दो पृथक् मध्यकालीन विचारधाराओ का जन्म हुआ। मध्यकाल के प्रारम्भ मे इसके फलस्वरूप लोगो ने सत्ता को आँखे मूँद कर स्वीकार कर लिया, किन्तु उस काल के अन्तिम दिनो मे इस विचारधारा का जन्म हुआ कि प्रारम्भ मे सम्राट् को शक्ति प्रत्यायुक्त करने वाली जनता उसे उचित रूप से पुन अपने हाथो मे ले सकती है। जिस लोकतत्र से आधुनिक युग का समारम्भ हुआ, उसका दार्शनिक आधार यही तर्क था।

4 मध्यकाल में संविधानवाद

चौथी और पाँचवी शताब्दियो मे रोमन साम्राज्य के पश्चिमी अर्द्धांश मे बर्बरो के प्रबल आक्रमणो से रोमन राजनीतिक व्यवस्था भग हो गई। किन्तु पूर्वीय अर्द्धांश मे यह व्यवस्था बनी रही, जहाँ सम्राटो ने कुस्तुनतुनिया के चारो ओर दिन-प्रतिदिन घटते हुए क्षेत्र मे अनिश्चित शासन बनाए रखा। यह परवर्ती रोमन (अथवा बाइजेंटाइन) साम्राज्य विस्तार मे अधिकाधिक छोटा एव एकाकी राज्य बनता गया, यहाँ तक कि अन्त मे पाश्चात्य योरोप से सपर्कहीन अवस्था मे इस पर तुर्को ने सन् 1453 मे उसकी राजधानी पर अधिकार करके कब्जा कर लिया। बर्बरो द्वारा रोमन विधि की सार्वभौमिकता भग कर दिए जाने के पश्चात् पश्चिम मे वास्तविक एकता असभव हो गई किन्तु विश्व-साम्राज्य का वैध सिद्धात सदा ही बना रहा और इसी सिद्धान्त से पवित्र रोमन साम्राज्य का विकास हुआ।

इस साम्राज्य की नीव सन् 800 मे महान् चार्ल्स ने डाली थी परन्तु यह मूल रोमन साम्राज्य से बहुत भिन्न प्रकार का सगठन था। यह प्रादेशिक, प्रजातीय, सामाजिक, राजनीतिक और आध्यात्मिक दृष्टि मे इस सीमा तक रूपान्तरित रोमन साम्राज्य था कि पुराना रोमन सविधानवाद बिलकुल ही लुप्त हो गया। निर्जीव रोमन पिण्ड को पुनर्जीवित करने के लिए ट्यूटॉनिक तत्त्व प्रत्यक्षत पर्याप्त शक्तिशाली थे और कैथोलिक चर्च को जो पश्चिमी रोमन साम्राज्य के परवर्ती दिनो मे शक्तिशाली होने लग गया था, अपने विकास से पुराने रोमन

केन्द्रीय शासन के विघटन की अवस्था मे सार्वभौमिक शक्ति के ऐसे दावे करने का प्रोत्साहन मिला जिससे कि लौकिक सत्ता को खतरा पैदा हो गया। समुचित संविधान का विकास करने के लिए अवसर प्राप्त होने से पूर्व ही महान् चार्ल्स का साम्राज्य पहले तो फ्रेंक जाति की उत्तराधिकार विधियों के अनुसार उसके उत्तराधिकारियों में बँट गया और उसके बाद नवीं तथा दसवीं शताब्दियों के नार्स लोगों के आक्रमणों के परिणामस्वरूप विघटित हो गया। इसके उपरान्त पवित्र रोमन साम्राज्य फिर से वैसा न बन सका जैसा कि वह शार्लमेन (Charlemagne) के अधीन था। वह जर्मनी तक ही सीमित रह गया, हाँ, इटली पर उसके कुछ अस्पष्ट और न्यूनाधिक प्रभुता के अधिकार बने रहे।

इसके उपरान्त समस्त योरोप मे सामंतवाद का विकास बड़ी द्रुत गति से फैला। यह एक प्रकार का मध्यकालीन संविधानवाद था, क्योंकि यह सामाजिक और राजनीतिक संगठन के साधारणतया स्वीकृत रूप में कुछ हद तक व्यवस्थित था। इसका मूल लक्षण भूमि का छोटी इकाइयों में विभाजन था, जिसका सामान्य सिद्धान्त यह था कि "प्रत्येक व्यक्ति का एक स्वामी होना चाहिए।" इस व्यवस्था ने मध्यकालीन साम्राज्य के नाममात्र के दावों में वास्तव कोई वृद्धि किए बिना ही उसे कुछ बल दिया, क्योंकि अब वास्तविकता की जाँच की आवश्यकता के बिना एक ऐसे योरोपीय समाज की एक स्तूप के रूप में कल्पना करना संभव हो गया जिसके शिखर पर सम्राट् का स्थान था जो कि स्वयं भी 'ईश्वर का सामन्त' समझा जाता था। *सामंतवाद की बुराई इस बात में थी कि उसके* अन्तर्गत सामंतों को असाधारण शक्ति प्राप्त थी और उनकी शक्ति के अनुपात में ही एक एकीकृत राज्य के आविर्भाव का दिन टलता गया। इसलिए, हम देखते हैं कि मध्यकाल के शक्तिशाली राजा वे थे जिन्होंने शक्ति को अपने हाथों में केन्द्रित करने और इस प्रकार एक केन्द्रीय नियंत्रण को व्यवस्थित करने का *प्रयास किया जो बात सामंतीय प्राधान्य के लिए निश्चय ही अनिष्टकारी थी।*

इस प्रकार यह प्रतीत होता है कि पूर्व मध्यकालीन युग की अव्यवस्था और आधुनिक राज्य की व्यवस्था के बीच की खाई को पाटने के लिए पुल के रूप में सामन्तवाद का विकास अनिवार्य था। केन्द्रीयकरण के ये पहले बड़े प्रयत्न योरोप के पश्चिमी छोर में हुए। विशेष रूप से इंगलैण्ड और फ्रांस में और उनसे कुछ कम हद तक स्पेन में, ग्यारहवीं शताब्दी से राजाओं ने शक्ति को अपने हाथों में केन्द्रित करने और विशाल सामंतीय जागीरों को नियंत्रित और अन्त में समाप्त करने की नीति अपनाई। ये ही वे देश हैं जिनमें हम उन दो सिद्धान्तों के उदय का अस्पष्ट आभास देख सकते हैं जिनको हमने आधुनिक संविधानवाद के विकास की आवश्यक शर्तें कहा है, अर्थात् राष्ट्रवाद और प्रतिनिधिक लोकतन्त्रवाद। इंगलैण्ड कभी भी पवित्र रोमन साम्राज्य की सीमा के अन्दर नहीं रहा और शार्लमेन

के राज्य के छिन्न-भिन्न हो जाने के पश्चात् न फ्रांस ही उसके अन्तर्गत रहा। जहाँ तक पोप की सत्ता का प्रश्न है, इन दोनों में इतनी पर्याप्त स्वतन्त्रता का विकास हुआ कि वे, वास्तव में, एक राष्ट्रीय चर्च की स्थापना कर सके। इन दोनों देशों की सीमाओं के अन्तर्गत केवल असाधारण समय में ही पोप का कोई वास्तविक प्रभाव होता था। इसके अतिरिक्त सामतीय जागीरदारों (बेरनों) में छोटे वर्गों के प्रतिनिधियों का समाविष्ट करने वाली सभाएँ सर्वप्रथम इन्हीं दो देशों में प्रकट हुईं। इंगलैण्ड में पहली संसद जिसमें शायरों के नाइट (Knights of the Shire) और नगरों के प्रतिनिधि सम्मिलित हुए सन् 1265 में और फ्रांस में 1302 में बुलाई गई। फ्रांस में तो वह पोप के इस दावे के प्रत्यक्ष परिणाम के रूप में आमंत्रित की गई कि पादरियों को नागरिक करों में छूट होनी चाहिए। इन राज्यों में राष्ट्रीयता की भावना को शतवर्षीय युद्ध (सन् 1337-1453) से और प्रोत्साहन मिला, जिससे प्रत्येक राज्य के प्रजाजनों को अपने-अपने हितों की समानता का ज्ञान हुआ। जोन ऑव आर्क का नारा फ्रांस फ्रांसीसियों के लिए' भी हो सकता था जब कि अँगरेज अपने देश की उन दुर्व्यवस्थाओं को, जो अधिकांश में उस युद्ध से पैदा हुई थीं, दूर करने की ओर अपना ध्यान केन्द्रित करने के लिए बाध्य हो गए।

स्पेन में राष्ट्रीयता की भावना इससे भिन्न प्रकार की परिस्थितियों में पैदा हुई। वहाँ आठवीं शताब्दी में मुसलमान मूरों ने देश के अधिकांश को अपने अधीन कर लिया था। विधर्मियों को निकालने के लिए आपसी एकता स्थापित करने का भार उत्तर में बचे हुए छोटे-छोटे ईसाई समुदायों पर पड़ा। चौदहवीं शताब्दी तक इस प्रायद्वीप में पश्चिम में पुर्तगाल और दक्षिणी-पूर्वी कोने में अवशिष्ट मूर प्रदेश (ग्रेनेडा) को छोड़कर केवल दो बड़े राज्य रह गए थे। वे एरागान और कैस्टिल थे। इन दोनों में सभाएँ (cortes) होती थीं जिनमें पादरियों और सामन्तों के अतिरिक्त ग्राम्य और शहरी क्षेत्रों के प्रतिनिधि भी होते थे। पन्द्रहवीं शताब्दी के अन्त में ये दोनों राज्य विवाह-बंधन में बँधकर एक हो गए जिसके फलस्वरूप स्पेन राज्य का जन्म हुआ।

दूसरी ओर, जर्मनी और इटली में, जहाँ पवित्र रोमन राज्य की धारणा कहीं अधिक व्यापक रूप में मान्य थी, उपर्युक्त तीन पश्चिमी राज्यों के मुकाबले में कहीं अधिक दिनों तक सामतीय अराजकता जारी रही। इसके अतिरिक्त यह अराजकता पोपसत्ता और साम्राज्यसत्ता के निरंतर संघर्ष से और भी जटिल हो गई, जो कि ग्यारहवीं शताब्दी के मध्य से और भी तीव्र हो गया। अभिषेक विवाद (Investiture Controversy) (सन् 1056-1125) से पैदा हुई दुर्गति और सीजर-समर्थकों तथा सीजर-विरोधियों पोप समर्थकों और पोप-विरोधियों के विपक्षी दावों से उत्पन्न फूट से होने वाली अधोगति के फलस्वरूप

ये दोनो महान् मध्यकालीन संस्थाएँ तेरहवी शताब्दी के अंत तक इतनी दुर्बल हो गई कि वे अपनी पिछली शक्ति को फिर कभी प्राप्त नही कर सकी। पारस्परिक संघर्ष के इस लम्बे युग मे सांविधानिक महत्त्व की केवल एक ही बात उत्पन्न हुई—अर्थात् वह प्रयोग जो 'परिषदीय आदोलन (Conciliar Movement) कहलाता है। यह उस महान् फूट-काण्ड (Great Schism) (सन् 1378-1417) के बाद हुआ, जिसके कारण पाश्चात्य योरोप अलग-अलग पोपों के प्रतिनिष्ठा युक्त दो भागो मे विभाजित हो गया। चूकि कोई द्वितीय शार्लमेन उत्पन्न नही हुआ जो कि इस अशोभनीय कलह को बलपूर्वक समाप्त कर देता, इसलिए इस अराजकता से बचने के लिए चर्च के शासन के लिए एक पूर्ववर्ती संस्था अर्थात् सामान्य परिषद् (जनरल कौन्सिल) के पुनरुत्थान का प्रयास किया गया ताकि पोप को इस परिषद् के समक्ष झुकने के लिए बाध्य किया जा सके। इस सिलसिले मे पिसा की परिषद् (सन् 1409) के पश्चात् कौंस्टेंस की परिषद् (सन् 1414-18) हुई, जिसमे चर्च के पादरियों और सामान्य लोगो—दोनो—के प्रतिनिधि पहुँचे और जिसन पोप पर स्थायी परिषदीय नियत्रण का सिद्धान्त स्थापित किया। किन्तु उसने जो संविधान बनाया वह अगली परिषद्—बेसल की परिषद् (सन् 1431-49)—मे क्रियान्वित न हो सका और उस समय से चर्च के शासन की एक पद्धति के रूप मे परिषदीय प्रणाली का लोप हो गया।

यद्यपि परिषदीय आदोलन स्वय असफल रहा, फिर भी संविधानवाद के इतिहास मे दो तरह से उसका काफी महत्त्व है। पहला यह कि इन परिषदो के सगठन तथा उनकी कार्यप्रणाली से योरोप के उन राष्ट्रीय विभागो को स्वीकृति प्राप्त हो गई जिनमे योरोप उस समय विभाजित होने लगा था। कौंस्टेन्स मे, जहाँ वास्तव मे राष्ट्रो द्वारा मत देने की प्रणाली स्वीकार की गई, ऐसे पाँच समूह—अर्थात् इटालियन, फ्रेंच, जर्मन, आग्ल और स्पेनिश—मान्य किए गए। इस प्रकार जहाँ एक ओर इस प्रकार की सर्वदेशीय सभा बुलाने के लिए मध्यकालीन एकता की भावना पर्याप्तरूपेण सजग थी, वहाँ दूसरी ओर उसे आमन्त्रित करने से उसी शक्ति को बल मिला जो उसे नष्ट कर रही थी। दूसरे, परिषदीय आदोलन के फलस्वरूप इस बात पर काफी विचारविमर्श आरम्भ हुआ कि महापरिषद् को चर्च के धर्माधिकारियो से भिन्न समस्त धर्मानुयायियो के विचारो का प्रतिनिधित्व करने के योग्य बनाने के लिए कौन-सा साधन अपनाया जाय। इस प्रकार चर्च के शासन के निमित्त एक प्रभावपूर्ण सगठन की स्थापना के साधनो की खोज के प्रयत्नो से पन्द्रहवी शताब्दी मे पाडुआ के मार्सीलियो, ओकम के विलियम, जॉन गेरसन, क्यूज के निकोलस आदि के लेखो मे एक विशद राजनीति दर्शन की उत्पत्ति हुई जिसमे प्रभुत्व, राष्ट्रवाद, प्रतिनिधित्व और एकतत्र के परिसीमन जैसी राजनीतिक समस्याओ का पथप्रदर्शक रूप मे विवेचन हुआ और इस प्रकार

नागरिक युग में सांविधानिक विकास का पूर्वाभास प्राप्त हुआ ।

इस प्रकार मध्ययुग के अंत में हम समस्त पश्चिमी योरोप में राजनीतिक चिंतन का बडा जोर देखते है, जिसका प्रेरणास्रोत कैथोलिक चर्च की बुराइयो मे था और जिसका उद्देश्य उस चर्च को एक नया सविधान देना था। परतु जहाँ इस प्रकरण मे वह चिंतन कोरे अस्पष्ट सिद्धान्त और असफल प्रयोग से आगे न बढ सका वहाँ तीना अधिक पश्चिमवर्ती देशा, अर्थात् ब्रिटेन, फ्रास और स्पेन की आतरिक राजनीति मे इस समय आधुनिक सांविधानिक राज्य का वास्तविक बीजारोपण हुआ, क्योकि इन राज्यो मे व्यावहारिक राजनीति वैध सिद्धान्तो से कही आगे बढ चुकी थी और पवित्र रोमन साम्राज्य का भूत सदा के लिए गाड दिया गया था। जर्मनी और इटली पर वह कई वर्षों तक सवार रहा।

5. पुनर्जागरणकालीन राज्य

मध्यकालीन सस्थाओ के विघटन की जिस प्रक्रिया का हम अभी तक वर्णन करते रहे है उसे पन्द्रहवी शताब्दी मे प्राचीन सस्कृति के उस महान् पुनरुद्धार से प्रबल प्रेरणा मिली जिसे उसके सब परिणामो के साथ रिनेसां (पुनर्जागरण) कहा जाता है, क्योकि उस युग के विचारको को प्राचीन यूनानी लेखको की कृतियो मे जो राजनीतिक तथ्य और विचार मिले वे मध्यकाल की मान्यताओ से जो वास्तविक परिस्थितियो मे स्वय भी अप्रतिष्ठित होने लगी थी, मेल नही खाते थे। इस सबका सामान्य परिणाम एक साथ ही विघटन और सगठन के रूप मे प्रकट हुआ, इससे मध्यकालीन ससार के टुकडे-टुकडे हो गये किंतु साथ ही पृथक्-पृथक राज्यो का एकीकरण भी हुआ। ब्रिटेन, फ्रास और स्पेन मे राज्यो का राष्ट्रीय आधार पर और भी घनिष्ठ रूप मे एकीकरण हुआ। जर्मनी और इटली मे भी ऐसी बात हुई, किन्तु वहाँ यह प्रक्रिया अपेक्षाकृत सकीर्ण प्रदेशो तक सीमित रही, जिसके फलस्वरूप इन देशो मे अनेक छोटे छोटे राज्य पैदा हो गए। किन्तु यह सब होते हुए भी कुछ दूर तक पुनर्जागरण से वह अच्छा कार्य समाप्त हो गया जो कि तीनो पाश्चात्य राज्यो मे चल रहा था।

पुनर्जागरणकालीन राज्य के लोकतन्त्रात्मक होने की बात दूर रही वह सच्चे अर्थों मे सविधानी राज्य भी नही था। उसकी सारभूत विशेषता, जैसा कि हम पहले देख चुके है, बाह्य प्रभुता थी जिसमे अपना अस्तित्व, हर सभव उपाय से बनाये रखने वाली एक शक्तिशाली केन्द्रीय सत्ता उपलक्षित थी। मुख्य कर राज्य को अपने समस्त पडोसियो के विरुद्ध शक्तिशाली बनाने की दृष्टि से निश्चय ही पुनर्जागरण काल के राजनीतिज्ञ प्राचीन राजनीति दर्शन की मूल भावना को समझ नही सके, क्योकि जहाँ यूनानी स्वायत्तता की धारणा जैसा हम देख चुके है व्यक्ति के लिए अच्छा जीवन सुनिश्चित करने के एकमात्र साधन के रूप मे की गई

थी वहाँ पुनर्जागरण काल की प्रभुता का व्यक्ति के अधिकारों से तनिक भी सम्बन्ध नहीं था। संक्षेप में, पुनर्जागरणकालीन शासकों का राजनीति से मतलब रहता था, नैतिकता से जरा भी नहीं, जब कि प्राचीन विश्व के दर्शन में इन दोनों का घनिष्ठ सम्बन्ध था। इस बात की सचाई का प्रमाण इस युग के एकमात्र राजनीतिसिद्धान्ती **मैकियावेली** की कृति है जो स्वयं भी पुनरुत्थान काल की ही उपज था। चूंकि उस समय मैकियावेली का देश इटली पुनर्जागरणकालीन प्रभुत्वसम्पन्न राज्य में परिवर्तित नहीं हो पाया था, इसलिए उसका उद्देश्य यह अपील करना था कि कोई इटली के लिए वही काम कर दे जो कि पश्चिमी देशों के लिए किया गया था। सन् 1513 में प्रकाशित उसकी पुस्तक 'प्रिन्स' का यही विषय था, जिसमें उसने इस अर्थ में अपने देश के उद्धारक के उदय की इच्छा प्रकट की है। इस पुस्तक का महत्त्व इस बात में है कि वह राज्य के संबंध में प्रयुक्त 'अनैतिकता' के सिद्धान्त का उल्लेख करते हुए और उसे एक नव दर्शन का रूप देते हुए इस युग की विशेषता को स्पष्टतः प्रकट करती है। इस सिद्धान्त के अनुसार राजनीति किसी प्रकार के नैतिक विचारों से परिसीमित नहीं होनी चाहिए, क्योंकि ऐसा करने से आज के संसार में, जहाँ प्रभुता ही सब कुछ है, राज्य की प्रभुता कमजोर पड़ जाएगी। मैकियावेली को इटली का उद्धारक नहीं मिला किन्तु यह बात ध्यान देने योग्य है कि जब अन्त में उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य में वह उद्धारक—कावूर—वास्तव में प्रकट हुआ तब उसने इटली के एकीकरण-आन्दोलन के संकट-काल में अपने स्वयं के आचरण के विषय में ये शब्द कहे "हम देश के लिए जो कुछ कर रहे हैं, यदि वैसा ही अपने लिए करें तो हम बड़े नीच होंगे।"

सोलहवीं शताब्दी के धर्मसुधार-आन्दोलन का राजनीतिक प्रभाव पुनर्जागरणकालीन राज्य को ईश्वरीय स्वीकृति प्रदान करना था। ल्यूथर के धर्मशास्त्रीय दृष्टिकोण में, जैसा वह सर्वप्रथम सन् 1517 में प्रकट हुआ, तार्किक दृष्टि से धार्मिक विचारों के प्रति पूर्ण सहिष्णुता उपलक्षित थी। उस समय के संघर्ष से व्याकुल संसार में, जिसमें रक्षा प्राप्त करने के निमित्त ल्यूथर ने एक राजनीतिक शासक का आसरा लिया यह बात सम्भव नहीं थी। इसी प्रकार सेक्सनी के इलेक्टर ने राजकीय चर्च की स्थापना की। इस चर्च के लिए भी उतना ही *अनन्य और असहिष्णु होना* अनिवार्य था जितना इस चर्च के लिए था जिसका स्थान उसने ग्रहण कर लिया था। इस प्रकार पोपशाही पर ल्यूथर के सैद्धान्तिक *आक्रमण का राजनीतिक परिणाम यह* हुआ कि संसार का और भी अधिक विघटन हुआ और पुनर्जागरण कालीन प्रभु के विशेषाधिकारों के अन्तर्गत प्रजाजनों के *धार्मिक आचार पर नियन्त्रण भी शामिल हो गया। यह बात ब्रिटेन में बहुत* ही स्पष्ट रूप में दिखाई देती है, जहाँ अष्टम हेनरी और प्रथम एलिजाबेथ की

धार्मिक सर्वोच्चता के बाद प्रथम जेम्स ने ईरास्टियनवाद (Erastianism) की प्रतिष्ठा की, अर्थात् राज्य को चर्च मे ऊपर स्थान दिया।

इस प्रकार पुनर्जागरणकालीन प्रभुता पनपी और उसने उस साविधानिक बीज की, जो मध्ययुग के अत मे पाश्चात्य योरोप मे बडी आशा से बोया गया था। फसल को सफलतापूर्वक विलम्बित कर दिया। महाद्वीप मे उसका विकास उस प्रकार के एकतत्र के रूप मे हुआ जिसे प्रबुद्ध निरकुशवाद कहा गया है, जो लगभग सन् 1660 से 1789 तक रहा। फ्रास प्रशा और आस्ट्रिया मे निरकुशवाद चरम अवस्था को प्राप्त हो गया। फ्रास मे पुनर्जागरण के समय से स्टेटस-जनरल (सामान्य सभा) के अधिवेशन कम होते गए और सन् 1614 के पश्चात तो सन 1789 की क्राति के पहले तक उसका एक भी अधिवेशन नही हुआ। इस प्रकार के निरकुशवाद की दो मुख्य विशेषताएँ व्यावसायिक सेना और व्यावसायिक नौकरशाही थी जिनमे अधिकतर मध्यवर्ग या बुर्जुवा वर्ग के लोग लिए जाते थे। इस तरह जब सामतवाद के पतन की प्रक्रिया प्रारम्भ हुई तो एकता लाने वाली एकमात्र शक्ति राजा ही रह गया जिसने किसी प्रतिनिधिक सभा से कोई सहायता नही ली और इसलिए समुचित रूप से गठित राजनीतिक सभा के अवयव कार्य द्वारा सुदृढ होने के बजाय अनुपयोग के कारण क्षीण हो गए। यही कारण है कि महाद्वीप मे सविधानवाद का पूर्ण विकास उन्नीसवी शताब्दी तक विलबित हो गया और अत मे जब उसकी प्रतिष्ठा हुई तो नई क्रातियो के फलस्वरूप हुई। केवल इगलैण्ड ही ऐसा देश था जहाँ पुनर्जागरणकालीन एकतत्र को अनियत्रित निरकुशतत्र नही बनने दिया गया। इसलिए, सविधानवाद के अबोध विकास का अध्ययन करने के लिए अब हमे ब्रिटेन के इतिहास पर दृष्टि डालनी चाहिए।

6 इगलैण्ड मे सविधानवाद

पुनर्जागरण काल मे इगलैण्ड को भी कुछ काल तक निरकुशता का अनुभव करना पडा, किन्तु वहाँ की विशिष्ट परिस्थितियो ने उसे वहाँ शक्तिशाली और स्थायी नही होने दिया जैसा कि वह महाद्वीप मे हो गया। इगलैण्ड उस प्रकार के राज्य की, जिसे हमने पुनर्जागरण कालीन राज्य कहा है, अस्थायी स्थापना से बच नही सका क्योकि मध्ययुगीन व्यवस्था के सर्वव्यापी विघटन से उत्पन्न कठिनाइयो के अतिरिक्त उसकी स्वय अपनी विशिष्ट कठिनाइयाँ भी थी। फ्रास के साथ होने वाले उसके लम्बे सघर्ष से उसके सभी साधन समाप्त हो चुके थे और इसके पश्चात् होने वाले गृहयुद्ध (गुलाबो के युद्ध) ने विघटन का कार्य पूरा कर दिया। जैसा कि हम देख चुके है, प्रथम ससद की बैठक, जिसमे काउण्टियो और नगरो के प्रतिनिधि भी सम्मिलित थे, सन् 1265 मे हुई। सन् 1295 से जो प्रथम एडवर्ड

की 'आदर्श संसद्' का वर्ष था, संसद् की बैठकें अनियमित रूप से होती रहीं जिनका मुख्य उद्देश्य राजा के लिए धन का अनुदान करना होता था। किन्तु चौदहवीं शताब्दी के अन्त में उसके अस्तित्व को एक नया आधार मिल गया। सन् 1399 में द्वितीय रिचर्ड को राजगद्दी से उतार दिया गया और तृतीय एडवर्ड वंश की एक छोटी शाखा लंकास्ट्रियन ने राजगद्दी पर बलात् अधिकार कर लिया। सच्चा रक्त संबंधी दावा न होने के कारण चतुर्थ हेनरी और उसके उत्तराधिकारी अपने समर्थन के लिए संसद् पर निर्भर हो गए। किन्तु फ्रांस के विरुद्ध असफलता और षष्ठ हेनरी को, जो गुलाबों के युद्ध (वार ऑव रोज़ेज) के फलस्वरूप राज्यच्युत कर दिया गया था अयोग्यता के कारण उनकी स्थिति की कमजोरी और भी बढ़ गई। उसके बाद गद्दी पर बैठने वाले चतुर्थ एडवर्ड को युद्ध जारी रखना पड़ा जिसका अन्त बॉसवर्थ की लड़ाई में हुआ, जिसमें सन् 1485 में हेनरी ट्यूडर ने उसके भाई तृतीय रिचर्ड को पराजित कर दिया। इसी अवसर पर उस राजतन्त्र की स्थापना हुई जिसे प्रायः *'ट्यूडर निरकुशतन्त्र'* कहा जाता है।

किन्तु इस पद का स्पष्टीकरण आवश्यक है। ट्यूडर निरंकुशतन्त्र में शासन के तीन अंग थे जिनमें केवल एक ही ऐसा था जिसकी तुलना उस उच्च कोटि की प्रशिक्षित नौकरशाही से की जा सकती है, जो कि जैसा ऊपर कहा जा चुका है महाद्वीप के निरंकुश शासन की विशेषता बन गई थी। हमारा तात्पर्य परिषद् (कौंसिल) से है, जो कि कार्यपालिका विभाग में राजा का साधन बन गई थी। उसकी साधारण शक्ति पर अन्य दो अंगों अर्थात् संसद और शांति-न्यायाधीशों (Justices of the Peace) के अस्तित्व से रोक लगती थी। यह सच है कि परिषद् की सहायता से तैयार की हुई राजा की योजनाओं को संसद् सामान्यतया किसी प्रकार की आपत्ति के बिना स्वीकार कर लेती थी, किन्तु महत्त्वपूर्ण बात तो यह है कि उसकी बैठकें निरन्तर होती रहीं और वह विधि एवं कर संबंधी सब प्रस्तावों का अनुमोदन करती रही। इसमें संदेह नहीं कि ट्यूडर काल की संसद् अधिकतर आज्ञाकारिणी थी, किन्तु इसका कारण यह था कि ट्यूडर वंश के पाँच राजाओं में से कम-से-कम तीन राष्ट्र की इच्छा को व्यक्त करते थे। अन्त में जब राजा उस इच्छा के प्रतीक नहीं रहे तब संसद् ने, जिसके समस्त साधन तैयार थे, विद्रोह कर दिया। शांति-न्यायाधीश केन्द्रीय सरकार की नीति को कार्यान्वित करने वाले स्थानीय प्रशासक थे, परन्तु वे महाद्वीप में केन्द्रीय सत्ता के वेतन भोगी पेशेवर एजेण्टों के समान स्थानीय प्रशासक नहीं बल्कि जमींदार समाज से लिए गए अवैतनिक कर्मचारी थे।

ब्रिटेन अपनी द्वीपीय स्थिति के कारण विदेशी आक्रमण के विरुद्ध सशस्त्र रक्षा की निरन्तर आवश्यकता से मुक्त और महाद्वीपीय निरंकुशतन्त्र को बल प्रदान करने वाली शक्तियों से अलग था। इसी स्थिति के कारण वहाँ राजा की निरंकुशता

का स्थानीय और केन्द्रीय स्व-शासन के मूलबद्ध सिद्धात के साथ मेल बिठाया जा सका। राज्य के पृथक्त्व ने राष्ट्रीयता की भावना को भी बल दिया और ट्यूडर काल की दो बडी घटनाओ मे उसकी अभिवृद्धि हुई। इनमे पहली घटना धर्मसुधार आन्दोलन था जिसन चर्च का आधिपत्य पोप से ब्रिटेन के राजा को हस्तान्तरित कर दिया और इस प्रकार उसे पोपशाही के हस्तक्षेप से पूरी तरह बचा लिया। दूसरी बडी घटना स्पेन के जगी बेडे (आर्मेडा) की पराजय थी। ब्रिटेन की इस विजय न उस भय के भूत को सदा के लिए भगा दिया जो सोलहवी शताब्दी के प्रारभ मे स्पेन के एक साम्राज्यिक शक्ति के रूप म प्रकट होने के दिन से अँगरेजो पर सवार था। जगी बेडे की पराजय ने ससद को उस अधीनता की स्थिति से तुरत ही मुक्त कर दिया जिसन कि उच्च नीति के विषयो पर उसका मुँह बिलकुल बद कर रखा था और जब सन् 1603 म स्टुअर्ट वश का प्रथम जेम्स सिंहासनारूढ हुआ तो उस लम्बे सघर्ष का श्रीगणेश हुआ जो तब तक समाप्त नही हुआ जब तक कि ससद् न राज मुकुट (Crown) अर्थात् राजा पर पूरी विजय प्राप्त न कर ली।

प्रथम जेम्स के शासन मे जो एक विवाद मात्र था, उसने उसके पुत्र के समय मे सशस्त्र सघर्ष का रूप धारण कर लिया। गृह-युद्ध (सन् 1642-49) ने इगलैण्ड मे, महाद्वीप मे जिस प्रकार का प्रबुद्ध निरकुशतत्र तेजी से बढता जा रहा था, उसकी स्थापना की सभावना बिलकुल ही समाप्त कर दी और यद्यपि कॉमनवेल्थ काल के पश्चात् और पुन स्थापन के साथ ही द्वितीय चार्ल्स और द्वितीय जेम्स के अधीन स्टुअर्ट निरकुशता ने फिर से सिर उठाने का प्रयत्न किया किन्तु सन् 1688-89 की क्राति ने उसे इतनी बुरी तरह कुचल दिया कि भविष्य मे राजकीय शक्ति को पुनर्जीवित करने के प्रयत्न की सफलता की आशा बिलकुल नष्ट हो गई। इस परिवर्तन की हम बाद मे फिर चर्चा करेंगे। यहाँ पर सन् 1688 की क्राति से सबद्ध दो मुख्य बातो पर ही जोर देना आवश्यक है। उनमे पहली बात यह है कि काम-काज का नियत्रण प्रभावकारी रूप मे राजा से ससद् राजा ('King in Parliament') के हाथो मे चला गया। दूसरी बात यह है कि इस परिवर्तन को वैध आधार प्राप्त हो गया। इसके पूर्व वास्तव मे सविधान की कोई विधि नही थी, रूढियाँ और रिवाज थे, क्योंकि मैग्नाकार्टा को विधि कहना ठीक नही होगा और उसके अधिकाश उपबध उसे उत्पन्न करने वाले सामत युग के गुजर जाने के साथ ही अप्रचलित हो गए थे, हालांकि लोकसभा (हाउस ऑव कॉमन्स) पूर्वदृष्टात के रूप मे उसका हवाला देती रहती थी। सन् 1628 के अधिकार-याचिका (पिटीशन ऑव राइट्स) न, राजा की सहमति प्राप्त हो जाने पर, सच-मुच ही विधि का रूप धारण कर लिया, किंतु उसके उपबधो का कभी पालन नही किया गया और राजपद के परिसीमन का सारा प्रश्न प्यूरिटन क्राति की उथल-

पृथक मे विलुप्त हो गया। कॉमनवेल्थ और प्रोटेक्टोरेट के समय मे पूर्णरूपेण लिखित सविधान प्रस्तुत किए गए, किंतु वे पुन स्थापन के साथ लुप्त हो गए। पुन स्थापन से सबधित कुछ वित्तीय उपबधों को साविधिक बल प्राप्त था, किंतु फिर भी वे सामान्य क्रांतिकारी व्यवस्था के अन्तर्गत थे।

सन् 1688 89 की क्राति के समय पारित विभिन्न सविधियो ने ब्रिटिश राज्य की प्रभुता को अपरिवर्तनीय रूप मे ससद् के हाथो मे सौंप दिया, क्योंकि अधिकार विधेयक (बिल ऑव राइट्स) और सैनिक विद्रोह अधिनियम (म्यूटिनी एक्ट) से सेना का नियत्रण ससद् को प्राप्त हो गया, और, सेना के पोषण के लिए धन के वार्षिक अनुदान की सरल रीति से, यह नियत्रण निरकुशता के निवारण के लिए प्रभावकारी सिद्ध हुआ। किन्तु यह एक प्रकार का विधान-सबधी साधारण पर्यवेक्षण मात्र था, ससद् कार्यपालिका सबधी कृत्यो को राजा और उसके मत्रियो के हाथो मे छोडकर सतुष्ट हो गई। किंतु अठारहवी शताब्दी के दौरान मे केवल प्रथाओं के विकास के फलस्वरूप दलीय (पार्टी) प्रणाली पर आधारित मत्रिमडलीय (कैबिनेट) व्यवस्था का आविर्भाव हुआ, और उस शताब्दी के अत तक यह व्यवस्था इतनी दृढतापूर्वक जम गई कि कार्यपालिका का नियत्रण भी ससद् की शक्तियो मे सम्मिलित हो गया।

इसी बीच, राज्य के वैधानिक इतिहास मे 'विधि के शासन' (रूल ऑव लॉ) का सिद्धान्त स्थापित हो गया था, जिसका यह अर्थ है कि विधि के समक्ष सभी नागरिक बराबर हैं, चाहे वे किसी भी श्रेणी के हो। बन्दी प्रत्यक्षीकरण (Habeas Corpus) (सन् 1679) तथा व्यवस्था-अधिनियम (Act of Settlement, 1701) जैसी सविधियो ने एक ओर नागरिक को अन्याय्य कारावास से और दूसरी ओर न्यायाधीश को राजा के हस्तक्षेप से मुक्ति प्रदान कर दी थी। इसके अतिरिक्त, जॉन विल्क्स (John Wilkes) (सन 1763) के जैसे मुकदमो के सबध मे किए गए न्यायिक निर्णयो से नागरिक को गलत गिरफ्तारी से उन्मुक्ति प्राप्त होने के साथ ही साथ राजा के मत्री भी विधि की साधारण प्रक्रिया के अधीन हो गए। यह विधि का शासन समस्त उपनिवेशों मे भी प्रचलित कर दिया गया। इसी कारण सभी ब्रिटिश स्व शासित अधिराज्यो और अमरीका के सयुक्तराज्य मे आज विधिव्यवस्था का मूल आधार यही सिद्धान्त है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि अठारहवी शताब्दी के उत्तरार्द्ध तक ब्रिटेन एक साविधानिक राज्य बन गया था, हालाकि वह लोकतन्त्रात्मक नही था। रिवाजो के विकास से और कई सविधियो के फलस्वरूप उसके शासन के तीन विभाग—विधानमडल, कार्यपालिका और न्यायपालिका—समुचित रूप से गठित और ऐसी रीति मे सबधित हो गए कि निरकुशता की सभावना ही नहीं रही। इस

व्यवस्था के मूल में प्रतिनिधित्व का सिद्धांत दृढ़ता से विद्यमान था, किंतु मताधिकार के *विस्तार की धारणाएँ अभी व्यावहारिक राजनीति के रूप में मान्य* नहीं हुई थीं। इसके लिए ब्रिटेन को फ्रांसीसी और औद्योगिक क्रांतियों के संयुक्त परिणामों की प्रतीक्षा करनी पड़ी जिनकी कि हम बाद में चर्चा करेंगे। किंतु यह निर्विवाद है कि अठारहवीं शताब्दी के मध्य में समस्त संसार में केवल ब्रिटेन ही एक सांविधानिक राज्य था। इसके विस्तार के साथ उसके इतिहास का वर्णन करने का औचित्य यही है क्योंकि जैसा कि एक विद्वान् ने कहा है, 'अमरीकी और फ्रांसीसी क्रांतियों के होने से पहले ब्रिटिश व्यवस्था का (ब्रिटेन में तथा उसके अधीनस्थ गोरे प्रदेशों में) इतिहास वास्तव में विश्व में स्व-शासन का इतिहास है। अतः, यह बात अनिवार्य थी कि *यह व्यवस्था अन्य राज्यों में परवर्ती सांविधानिक विकास के लिए आदर्श बन जाए।*

ब्रिटिश संविधान का विकास धीमा और रीति-रिवाजों से हुआ था। यह किसी सिद्धान्त के फलस्वरूप जान-बूझकर रचे गए उन अन्य संविधानों की तरह नहीं था, जिनका हम अध्ययन करेंगे। यद्यपि उसका विकास किसी सिद्धान्त अथवा सिद्धान्तों का परिणाम नहीं था, फिर भी यह उससे राजनीतिक चिंतन का आरंभ हुआ जो कि सत्रहवीं और अठारहवीं शताब्दियों की विशेषता थी। यदि एकमात्र विद्यमान सांविधानिक राज्य ब्रिटेन ही था और यदि लोग महाद्वीप में जमे हुए निरंकुशतंत्र को विफल करने के साधनों की खोज कर रहे थे तो यह स्वाभाविक ही था कि वे अपने युग में इस अनुपम मत की जाँच और उसके विश्लेषण का प्रयास करें। किन्तु उस मत का निर्माण विकास-प्रक्रिया के द्वारा हुआ था और प्रश्न यह उठा कि उसका प्रयोग उन क्रांतिकारी परिस्थितियों में किस प्रकार किया जाय, जिन परिस्थितियों में ही अब परिवर्तन संभव प्रतीत होता था। इस प्रश्न का उत्तर ही वह कुंजी है जिससे ब्रिटिश संविधान और उन संविधानों के बीच का सारभूत अंतर समझा जा सकता है, जो कि उसकी नकल मात्र ही हो सकते थे। नया संविधानवाद, जिसके आविर्भाव का हम अध्ययन करेंगे, एक दस्तावेज के रूप में था, जिसमें कई शताब्दियों के विकास से अपने संविधानवाद का निर्माण करने वाले राज्य के अनुभव के परिणामों को एक साथ ही संगृहीत करने का प्रयत्न किया गया। इस अर्थ में पाश्चात्य संविधानवाद के विभिन्न स्वरूपों का *सम्मिलन और सम्मिश्रण हुआ जिसमें पुराने ने नये को प्रभावित किया और* नये से पुराना प्रभावित हुआ। परंतु, चूंकि ब्रिटिश संविधान का इतना विकास हो चुका था, अतएव मुख्य रूप से इसी कारण यह अपने-आपको नई अवस्थाओं के अनुकूल बना सका, और विद्यमान संविधान को मूल रूप में परिवर्तित किए बिना ही उसमें उन नये तत्त्वों का समावेश कर सका जो परवर्ती दस्तावेजी संविधानों द्वारा पैदा किए गए थे।

7. अमरीकी और फ्रांसीसी क्रांतियों का सांविधानिक प्रभाव

पुनरुत्थान द्वारा पैदा की गई राजनीतिक निरकुशता ने और धार्मिक असहिष्णुता के दुराग्रह ने, जिसका दमन करने के लिए धर्मसुधार-आदोलन ने कुछ भी नही किया, राज्य की उत्पत्ति के सबध मे एक ऐसी व्याख्या को जन्म दिया जो उन्नीसवी शताब्दी के आरम्भ तक प्रभावशाली बनी रही। इसे साधारणतया सामाजिक सविदा का सिद्धात कहा जाता है। आधुनिक काल मे इसका प्रथम प्रतिपादन फ्रास मे ह्यूजेनो लोगो (Huguenots) ने और स्पेन के अत्याचारो से पीडित नीदरलैण्ड के निवासियो ने किया, क्योकि राजनीतिक निरकुशता और धार्मिक असहिष्णुता के कुप्रभाव से सबसे अधिक वे ही दुखी थे। किन्तु यह कोई नया सिद्धान्त नही था। प्लेटो की 'रिपब्लिक' मे इसका प्रतिपादन किया गया है और मध्ययुग मे सम्राट् और पोप के सघर्ष के दौरान मे यह सिद्धान्त फिर सामने आता है। सक्षेप मे, सामाजिक सविदा का सिद्धान्त यह है कि राज्य की उत्पत्ति असहनीय प्राकृतिक अवस्था को समाप्त करने के उद्देश्य से एकत्रित जन समूह के बीच एक समझौते के परिणामस्वरूप हुई। इस समझौते से लोग अपने कुछ प्राकृतिक अधिकारो का परित्याग कर देते हैं, किंतु केवल उन्ही अधिकारो का जो समाज मे राजनीतिक अवस्था की स्थापना के लिए आवश्यक होते हैं। अतएव, राजनीतिक समाज का उद्देश्य यह सुनिश्चित करना है कि नागरिको के इन अधिकारो की जिनका उपर्युक्त रीति से परित्याग नही किया गया है, निरन्तर गारण्टी से बने रहें। यदि शासन की स्थापना का आधार सविदा है तो इसका यह अर्थ हुआ कि जब शासन निरकुश हो जाता है तब वह सविदा को भग करता है और इसलिए राज्य के नागरिको को ऐसे शासन को हटा देने का अधिकार है। ह्यूजेनो लोगों और नीदरलैण्ड के निवासियो की तरह के जो लोग निरकुशतत्र के उन्मूलन को न्यायसगत प्रमाणित करना चाहते थे उनके लिए इससे अधिक उपयुक्त सिद्धान्त और कौन-सा हो सकता था जिसके द्वारा कि अन्तत उनको विद्रोह का अतिम अधिकार प्राप्त होता था।

इस सिद्धान्त के अनेक समर्थको के द्वारा इसमे बहुत-से परिवर्तन हुए। यह सच है कि उसके सर्वप्रथम और सर्वाधिक विख्यात व्याख्याकारो मे से एक अँगरेज व्याख्याकार टॉमस हॉब्स ने अपने ग्रथ लेवियेथन (सन् 1651) में इस सिद्धान्त के द्वारा राज्य की निरकुशता को इस आधार पर न्यायसगत सिद्ध करने का प्रयत्न किया कि सविदा के अनुसार प्रतिष्ठित शासन सविदा का एक पक्ष नही था, अर्थात् सविदा उसके साथ नही हुई थी, अतएव वह उसको भग नही कर सकता था। किंतु जहाँ इस सिद्धान्त के अधिकतर समर्थक अत्याचारी शासक की हत्या को न्यायोचित ठहराने का प्रयास कर रहे थे वहाँ ब्रिटेन के गृहयुद्ध (सन् 1642-

49) की दुर्व्यवस्थाओं के तुरन्त पश्चात् लिखनेवाला हॉब्स अमल में अराजकता से बचने के लिए दार्शनिक आधार की खोज कर रहा था। दूसरे अंगरेज विचारक **जॉन लॉक** ने, जिसका अठारहवीं शताब्दी में महाद्वीप की विचारधारा पर बड़ा गहरा प्रभाव रहा, इस सिद्धान्त को अपने ग्रन्थ **ट्रीटिजेज ऑफ सिविल गवर्नमेंट** (सन् 1690) में ब्रिटेन की सन् 1688-89 की क्रांति को न्यायोचित सिद्ध करने में प्रयुक्त किया। यह ग्रन्थ उदारवादियों (ह्विगों) का आविष्पत्र (Manifesto) था जिसमें जेम्स द्वितीय का राजगद्दी से उतारने और अधिकार विधेयक (बिल ऑफ राइट्स) को पारित करने वाले दल के पक्ष का समर्थन किया गया था। लॉक के विचार में संविदा प्रजा और राजा के बीच की गई थी और इसका उद्देश्य मनुष्य के अधिकारों की, जिस रूप में वे राजनीतिक अवस्था की स्थापना से पूर्व विद्यमान थे, व्याख्या करते तथा उन्हें क्रियान्वित करने के निमित्त एक सामान्य यंत्र स्थापित करना था। इस सामान्य सिद्धान्त को लॉक ने सन् 1688 की विशिष्ट परिस्थितियों पर आसानी से लागू कर लिया। वास्तविकता तो यह है कि जेम्स द्वितीय को राजगद्दी से हटानेवाले सन् 1689 के सम्मेलन के प्रस्ताव में यह सिद्धान्त पहले से ही समाविष्ट कर लिया गया था। इस प्रस्ताव में कहा गया था कि राजा ने "राजा और प्रजा के बीच में हुई मूल संविदा को भंग करते हुए राज्य के संविधान को नष्ट करने का प्रयत्न करने के कारण शासन के अधिकार को त्याग दिया है और इसके फलस्वरूप राजगद्दी खाली है ।" इस प्रकार जब तीन वर्ष के कुशासन के पश्चात् जेम्स द्वितीय पदच्युत किया गया तब यह मान लिया गया कि विलियम ऑफ ऑरेंज और मेरी को ब्रिटेन के राजसिंहासन पर बिठाने के लिए एक नई संविदा की गई। ह्विग लोगों ने स्टुअर्ट वंश के राजाओं के दैवी अधिकार के सिद्धान्त का इस भांति उत्तर दिया।

किन्तु जहाँ एक ओर हॉब्स ने संविदा के पक्ष को पूर्णरूपेण समाप्त करने की सुविधाजनक किन्तु तर्कहीन पद्धति द्वारा—अर्थात् निरंकुशता के सिद्धान्त को प्रमाणित करने के निमित्त सब-कुछ बलिदान करके—स्वतंत्रता और सत्ता में मेल करा दिया, वहाँ दूसरी ओर लॉक ने प्रभुत्व की कठिन समस्या की उसकी उपेक्षा करके टाल दिया। यदि क्रांति न्यायोचित हो तो उसके निष्पादन के लिए उचित अवसर का निश्चय करने वाली सत्ता कौन है ?—लॉक ने इस आधारभूत प्रश्न का कभी उत्तर नहीं दिया, किंतु पृष्ठभूमि में शक्ति के वरिष्ठ मूर्ति के रूप में 'जनता' की अस्पष्ट कल्पना से अपने आपको संतुष्ट कर लिया। तिस पर भी यह मानना बेकार होगा कि वह क्रांति जिसने जेम्स द्वितीय को पदच्युत करके विलियम और मेरी को राजसिंहासन पर बिठाया, जनता ने की थी। वह तो वास्तव में एक अभिजात वर्ग का काम था जिनका जेम्स द्वितीय के प्रति विरोध अधिकार विधेयक (बिल ऑफ राइट्स) के रूप में प्रकट हुआ, जो एक ऐसी

नितान्त प्रतिनिधित्वहीन संसद् द्वारा पारित किया गया था जिसके गठन में, सन् 1295 में उसकी स्थापना के बाद से, कोई भी ठोस सुधार नहीं हुआ था। प्रभुता और लोकतंत्र में मेल बिठाने की कठिन समस्या को दूर करने का प्रयत्न अंत में प्रसिद्ध फ्रांसीसी विचारक रूसो ने किया। अपने प्रसिद्ध ग्रंथ **सोशल कंट्रैक्ट** (सन 1762) में रूसो ने लॉक के सिद्धान्त का हॉब्स की पद्धति से प्रतिपादन करते हुए लोकतंत्र के पक्ष का तर्कपूर्ण ही नहीं, अपितु अखंडनीय समर्थन प्रस्तुत करने का साहसपूर्ण प्रयास किया। रूसो ने कहा कि यदि मनुष्य स्वतंत्रता के निमित्त पैदा होते हुए भी सर्वत्र बंधन में है तो ऐसी दासता को वैध रूप देने का एकमात्र साधन यह है कि प्रभुता उन लोगों के हाथों में ही रहनी चाहिए जिन्होंने व्यक्तियों के एक समूह को समाज का रूप देने वाली संविदा की थी। संविदा के द्वारा प्रत्येक व्यक्ति ने अपने आपको सबके प्रति समर्पित करते हुए किसी के भी प्रति समर्पित नहीं किया और इसलिए उससे समानता उपलब्ध हुई। लोक प्रभुता के इस सिद्धान्त ने, जिस रूप में रूसो ने इसका प्रतिपादन किया, उन शक्तियों के लिए दुन्दुभी का कार्य किया जिन्होंने अंत में योरोप में पुरानी व्यवस्था को उलट दिया, क्योंकि रूसो के विचारों के सर्वमान्य हो जाने पर प्रबुद्ध निरंकुशतंत्र के लिए उसके मुकाबले में प्रभावकारी बना रहना सम्भव नहीं हो सकता था।

रूसो का 'सोशल कंट्रैक्ट' कदाचित् सबसे महान् युगान्तरकारी ग्रन्थ था। स्वयं उसमें तो कोई ऐसी बात नहीं थी, परन्तु परवर्ती संविधान निर्माण-कार्य पर जो प्रभाव उसका पड़ा उसे देखते हुए वह वास्तव में एक युगान्तरकारी ग्रन्थ था। रूसो ने सामान्य इच्छा (General will) के अपने सिद्धान्त के आधार पर लोकतंत्र को दार्शनिक औचित्य प्रदान करने के उन्मत्त प्रयत्नों से अपने आप को तर्क के दलदल में फंसा लिया और राज्य के स्वीकार्य सिद्धान्त के रूप में सामाजिक संविदा का सिद्धान्त अंत में रूसो के जर्मन उत्तराधिकारियों कांट, फिश्टे और हीगल के आदर्शवादी दर्शन द्वारा पैदा किए गए अनुभवातीत धुन्ध में विलुप्त हो गया। रूसो ने स्वयं प्रतिनिधिक लोकतंत्र की धारणा को अन्तर्विरोधी कहकर उसका उपहास किया और रूसो के शासन के आदर्श प्रत्यक्ष या प्रारंभिक लोकतन्त्र की प्राचीन धारणा पर आधारित होने के कारण उसके युग में बिलकुल अव्यवहार्य था। किंतु उसके शिष्य उतने हठधर्मी नहीं थे और यह बात सचाई के साथ कही जा सकती है कि रूसो के बाद विकसित होने वाली प्रतिनिधिक संस्थाओं में जाने-अनजाने उसके अन्तिम सिद्धान्त को व्यावहारिक रूप देने का प्रयास किया गया है।

रूसो की पुस्तक **सोशल कंट्रैक्ट** वास्तव में उन दो महान् क्रान्तियों की साहित्यिक पूर्वगामी थी, जो अठारहवीं शताब्दी के अंत में अमरीका और फ्रांस

में हुई। अमरीका की क्रान्ति स्वतंत्रता-युद्ध (सन 1775-83) तक ही सीमित नहीं थी। उस क्रान्ति ने तेरह उपनिवेशों में से प्रत्येक में अन्तर्राष्ट्रीय परिवर्तनों का और उन राज्य-संविधानों के आलेखन का रूप धारण किया जिनका कि सन 1781 में संकलन और प्रकाशन किया गया। इन संकलन का फ्रांसीसी भाषा में अनुवाद हुआ और उसने फ्रांस के क्रान्तिकालीन संविधान निर्माण पर काफी प्रभाव डाला। किन्तु आधुनिक संविधानवाद के इतिहास पर स्वयं अमरीकी स्वतंत्रता-संग्राम तथा उसके परिणामों का प्रभाव और भी अधिक मार्के का था। यह संग्राम एसी आर्थिक व्यवस्था के परिणामस्वरूप हुआ था जिसे अमरीका के उपनिवेशवासी लोग अत्याचारपूर्ण समझते थे। उनके 'प्रतिनिधित्व नहीं तो कराधान भी नहीं' नारे में अंततः मातृभूमि के विरुद्ध विद्रोह की भावना उपलक्षित थी क्योंकि फ्रांसीसियों के विरुद्ध उपनिवेशों की रक्षा में लड़े गए सप्त वर्षीय युद्ध (सन 1756-63) के व्यय को पूरा करने के लिए किसी-न-किसी प्रकार का कर आरोपित करना नितान्त आवश्यक तो था किंतु वेस्टमिंस्टर की संसद में अमरीकी उपनिवेशों का प्रतिनिधित्व उस समय स्पष्टतः असम्भव था। इसलिए अमरीकी स्वतंत्रता का संग्राम छिड़ गया जिसके फलस्वरूप अन्त में 'अमरीका के संयुक्तराज्य' नाम से ज्ञात एक नए राज्य की स्थापना हुई जिसका आधार सन 1787 में प्रख्यापित संविधान था और जो सन 1789 में प्रवर्तित हुआ।

इस संविधान में स्वतन्त्रता की घोषणा (1776) में निरूपित सिद्धान्त समाविष्ट हैं। इसमें स्पष्टतः कहा गया है कि सब मनुष्य जन्म से समान उत्पन्न होते हैं कि उनके स्रष्टा ने उनको कतिपय अविच्छेद्य अधिकारों से विभूषित किया है कि इन अधिकारों को सुरक्षित करने के लिए मनुष्यों में शासन स्थापित किए जाते हैं जिनको अपनी न्यायोचित शक्तियां शासन की सम्मति से प्राप्त होती हैं, कि जब कभी कोई शासन इन उद्देश्यों को नष्ट करने लगता है तो जनता का यह अधिकार हो जाता है कि वह उसे परिवर्तित या समाप्त कर दे और एक नया शासन स्थापित करे जिसकी नींव ऐसे सिद्धान्तों पर आधारित हो और जिसकी शक्तियां ऐसे रूप में संगठित हों जिनसे उन्हें अपनी सुरक्षा एवं अपना सुख सुनिश्चित करने की सर्वाधिक संभावना जान पड़े।

आधुनिक दस्तावेजी संविधानवाद का वास्तविक आरम्भ यहीं है। राज्य की उत्पत्ति की व्याख्या के रूप में सामाजिक संविदा का सिद्धान्त ऐतिहासिक पद्धति के अन्तर्भेदी प्रकाश में भले ही निराधार जान पड़े किन्तु किसी भी प्रकार की शोध या युक्ति इस तथ्य को नष्ट नहीं कर सकती कि अमरीकियों ने सन् 1789 में निश्चय ही एक नये राज्य की रचना की और उसके अधिकारों को एक दस्तावेज में प्रतिष्ठित कर दिया जो अमरीका के संयुक्तराज्य के संविधान के रूप में

उस देश मे आज भी सर्वोच्च सत्ता के रूप मे विद्यमान है। इसके अतिरिक्त, उस नए राज्य को गठित करने वाले विभिन्न समूहो को सतुष्ट करने योग्य राजनीतिक सगठन के स्वरूप के निर्माण-कार्य मे अमरीकियो ने एक प्राचीन राजनीतिक पद्धति अर्थात् सघवाद को पुनर्जीवित किया जिसका कि परवर्ती राजनीति पर अत्यधिक प्रभाव होना निश्चित था। इस विषय पर बाद मे एक अध्याय मे हमे बहुत-कुछ कहना होगा।

कदाचित् इस बात को निश्चयपूर्वक कहना सभव नही होगा कि अमरीकियो ने रूसो के प्रभाव का प्रत्यक्ष अनुभव किया। सम्भवत यह कहना सत्य के अधिक निकट होगा कि अमरीकी सविधान के निर्माता भी उसी भावना से प्रेरित थे जिसने कि रूसो के राजनीतिक दर्शन को प्रेरणा दी थी। किंतु फ्रासीसी क्राति के प्रारभिक हलचलो का नेतृत्व करने वालो को रूसो ने प्रत्यक्षरूपेण प्रभावित किया। घटनाओ के इस महान् चक्र के बारे मे यहाँ पर इतना ही कहना आवश्यक है कि सन् 1789 ई मे जब फ्रास के दिवालिया शासन ने एस्टेट्स-जनरल को, जिसका सन् 1614 से कोई अधिवेशन नही हुआ था, फिर से जीवित करने के उपाय का आसरा लिया तब उसने रूसो और उसके अनुयायियो के समस्त आदर्शवादी मतो को सभास्थल तक पहुँचा दिया और इस प्रकार राजनीतिक सविधान के प्रख्यापन के साथ उनका व्यावहारिक सयोग करा दिया। इस तरह सन् 1789 की राष्ट्रीय सभा ने सविधान निर्माण के अपने वास्तविक कार्य को आरभ करने से पहले "मनुष्य के और नागरिक के अधिकारो की घोषणा" तैयार की। यह दस्तावेज राज्य की सविदात्मक उत्पत्ति के, लोकप्रभुत्व के और वैयक्तिक अधिकारो के सिद्धान्तो से परिपूर्ण था, जैसा कि निम्नलिखित उद्धरणो से प्रकट है —

"मनुष्य जन्म से स्वतत्र और अधिकारो मे समान है"

"प्रत्येक राजनीतिक सस्था का उद्देश्य मनुष्य के ऐसे अधिकारो का रक्षण है जो व्यावहारिक है और जो चिरभोगजन्य हैं। ये अधिकार हैं स्वतत्रता, सपत्ति, सुरक्षा एव दमन का प्रतिरोध"

"स्वतन्त्रता से कोई भी ऐसी बात करने की शक्ति अभिप्रेत है जो दूसरो को हानि नही पहुँचाती, इसके अनुसार प्रत्येक व्यक्ति के प्राकृतिक अधिकारो के प्रयोग की सीमाए केवल वे ही है जिनसे समाज के अन्य सदस्यो द्वारा वैसे अधिकारो का उपभोग सुनिश्चित होना है। ये सीमाए विधि द्वारा निर्धारित की जा सकती हैं"

"विधि सामान्य इच्छा की अभिव्यक्ति है"

"किसी को उसके मत के लिए छेडा नही जाना चाहिये।"

"विचारो एव मतो का अबाधित आदान प्रदान मनुष्य के अत्यन्त अमूल्य अधिकारो मे से एक है।"

इसके पश्चात् सन् 1791 मे जो सविधान बना, और जिसमें यह घोषणा भूमिका के रूप मे जोडी गई थी, वह स्थायी न रह सका, क्योंकि उसने जिस विधान सभा का जन्म दिया वह मास की भीतरी अराजकता और बाहरी युद्धावस्था से निपटने मे असमर्थ रही। फिर भी यह आधुनिक दस्तावेजी सविधानवाद के विकास मे दूसरी बडी मजिल थी जैसे अमरीकी क्रान्ति पहली मजिल थी। यद्यपि फ्रासीसी क्राति के प्रारभिक वर्षो के सविधानवाद को पहले आतकराज की अराजकता से और तदुपरान्त उसकी भस्म से उत्पन्न नपोलियन के राज्य की निरकुशता से पराजय स्वीकार करनी पडी, फिर भी इस क्राति ने राजनीतिक स्वतत्रता की एक ऐसी ज्योति जगा दी जो फिर कभी भी स्थायी रूप से बुझाई न जा सकी। जैसा कि एक विद्वान् ने कहा है फ्रास का स्व-शासन का आदर्श प्रत्यक ऐसी सगठित सरकार के लिए जिसने जनता की प्रभुसत्ता को स्वीकार और समाविष्ट नही किया, एक चुनौती बन गया—जैसा कि वह अपने आग्ल ही नही बल्कि अमरीकी रूप मे भी नही बन सका था।

8 राष्ट्रवाद और उदारवादी सुधार

यद्यपि बात उलटी और अतर्विरोधी जान पडती है, किंतु इस सबध मे आगे का कार्य नपोलियन के शासन और योरोप मे उसके परिणाम से हुआ। चूकि लोकतत्र के सिद्धान्त का योरोप मे पर्याप्त सीमा तक समारभ हो चुका था (और अपने सैनिकवाद के बावजूद नपोलियन स्वय इस क्रातिकारी बीज का बोने वाला था), अत सविधानवाद के प्रसार को प्रभावपूर्ण बनाने के लिए केवल यही अपेक्षित था कि विभिन्न दलित समुदायो मे, जिनको वह सबोधित किया गया था, चेतनता लाने वाली राष्ट्रीयता की भावना का पर्याप्त सचार हो। नेपोलियन के औचित्यहीन सीमा निर्धारण के कार्यो ने, विशेषकर इटली और जर्मनी मे, उस अपरिपक्व भावना को चोट पहुचाई जिसका अस्तित्व तब तक मान्य नही हुआ जब तक कि वह इस तरह भडककर क्रियाशील नही हो गई। योरोप के राज्यो का एक सयुक्त योरोपीय राज्य बनाने के अपने प्रयत्नो मे नेपोलियन को केवल यही सफलता मिली कि उसने उनको उस सीमा तक अलग-अलग कर दिया कि उसके कारण स्वय उसका ही विनाश हो गया। पुनरुत्थान के सबध मे हमने जिस राष्ट्रवाद की चर्चा की थी वह एक अस्पष्ट और अधिकतर अचेतन विकास था। नेपोलियन की योरोप-विजय की असफलता के पश्चात् का राष्ट्रवाद एक भयकर ज्वाला थी, जिसने पहले तो स्वय प्रज्वलनकर्त्ता को ही भस्म कर दिया और फिर तब तक भीतर ही भीतर सुलगती और समय-समय पर पुन प्रज्वलित होती रही जब तक कि उसने पुरानी व्यवस्था के भवन के प्रत्येक अवशेष को भस्मीभूत नही कर लिया। लाइपजिग के युद्ध को 'राष्ट्रो' का युद्ध' कहना निरर्थक नही था,

हालांकि सन् 1814-15 की संधियां करने वाले राजवंशीय और अभिजानवर्गीय राजनयज्ञ उस आंदोलन के वास्तविक अभिप्राय को नहीं समझ सके जिसने कि बोनापार्ट की महत्वाकांक्षाओं को निगल लिया था।

इन संधियों ने अधिकतर देशों में प्राचीन निरंकुशतंत्रों को पुनः स्थापित कर दिया, जिन्हें उलटने का क्रांति ने प्रयत्न किया था। इसके अतिरिक्त अधिकतर राज्यों की सीमाएं युद्ध से पूर्व जैसी थीं वैसी ही कर दी गईं। जहाँ ऐसा नहीं किया गया था, वहाँ मनमाने तौर पर इधर-उधर के क्षेत्रों और जन-समूहों को पुराने राज्यक्षेत्रों से अलग करके नयों के अधीन रख दिया गया और इसमें क्रांति द्वारा फैलाए गए विचारों का नहीं वरन् विजेता के अधिकार या उसकी नीति अथवा शक्ति का ही ध्यान रखा गया। इसका परिणाम यह हुआ कि राष्ट्रीय संवैधानिक राज्य का सार्वभौमिक आविर्भाव स्थगित हो गया, यद्यपि उसका पूर्ण परित्याग अब संभव नहीं था। इसका दूसरा परिणाम यह हुआ कि सुधारवादी गुप्त रूप से कार्य करने के लिए बाध्य हो गए और उनका उत्साह अब यदाकदा विद्रोह के रूप में प्रकट होने लगा। इससे यह खराबी हुई कि राष्ट्रवाद और उदारवादी सुधार की समस्याओं के सम्बन्ध में भ्रान्ति उत्पन्न हो गई हालांकि दोनों को एक ही होना चाहिए था। जो राजनयज्ञ योरोप की शांति के रक्षक माने जाते थे उन्हें इस क्रांतिकारी भावना को, जहाँ भी वह प्रकट हुई, कुचलने की ही चिंता रहने लगी। किंतु समय के साथ-साथ उनकी शक्ति क्षीण होती गई और सन् 1830 में महाद्वीप के अधिकतर राज्यों में गंभीर क्रांति हुई। सदा की तरह यह भी फ्रांस में आरम्भ हुई, जहाँ पुनःस्थापित बूर्बो वंश का तख्ता उलट दिया गया और लुई फिलिप्प के अधीन और भी अधिक सीमित राजतंत्र की प्रतिष्ठा हुई। किंतु उस समय सफल होने वाला यह एकमात्र आंदोलन था। इसका एक अपवाद बेलजियम था जहाँ संवैधानिक राजतंत्र के अधीन एक नए स्वतंत्र राज्य की स्थापना हुई। सन् 1848 में क्रांतियों के एक दूसरे सिलसिले ने जो सन् 1830 में कहीं अधिक गंभीर था, यह बात फिर सिद्ध कर दी कि केवलमात्र उदारवादी आंदोलन, जो राष्ट्रीय एकता पर आधारित न हो, कितना दुर्बल होता है। उस समय प्रख्यापित संविधानों में से केवल फ्रांस, सार्डीनिया, नीदरलैंड्स और स्विट्जरलैंड के संविधान ही उसके बाद होने वाली प्रतिक्रिया से बचे रह सके। उनमें से पहला अर्थात् फ्रांस का संविधान सन् 1852 में लुई नेपोलियन के अधीन द्वितीय साम्राज्य की स्थापना में शीघ्र ही समाप्त हो गया और दूसरा अर्थात् सार्डीनिया का संविधान शिथिलता से तब तक चलता रहा जब तक कि वह इटली के एकता के आंदोलन में सबद्ध नहीं हो गया।

अतएव, सन् 1848 की असफलताओं के पश्चात् उदार सुधारवादियों की आकांक्षाओं का रुख नई दिशा की ओर हो गया। यह तो स्पष्ट ही हो गया था कि

क्रातिकारी मार्ग असफल रहा। किन्तु इसके साथ ही राजनीतिक समस्या के शातिपूर्ण समाधान की दिशा मे एक नया और बहुत ही महत्त्वपूर्ण तत्त्व काम कर रहा था। यह तत्त्व उन व्यापक परिवर्तनो का परिणाम था जिन्हे हम 'औद्योगिक क्राति' कहते है। यह क्राति अठारहवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध मे इगलैंड मे एक-के-बाद-एक यत्र सम्बन्धी आविष्कारो से प्रारम्भ हुई जिसके फलस्वरूप औद्योगिक उत्पादन की प्रक्रियाओ मे शक्ति का प्रयोग होने लगा। इसके विकास से कारखाना-प्रणाली तथा आधुनिक पूँजीवाद की नीव पडी और अत मे सामाजिक शक्तिया पूर्ण रूप से बदल गई और राजनीतिक सतुलन मे आधारभूत परिवर्तन हो गया। जब यह आर्थिक क्राति इगलैण्ड मे क्रियान्वित होनी प्रारम्भ हुई तो यह अनिवार्य था कि उसका राजनीतिक स्थिति पर गम्भीर प्रभाव पडे। इसने समाज मे कृषि से सम्बद्ध वर्गो का भारी महत्त्व सदा के लिए समाप्त कर दिया और एक नए मध्यम वर्ग—पूँजीवादी वर्ग को जन्म दिया, जो राजनीतिक मान्यता के लिए अपनी माग पर वर्ष प्रतिवर्ष अधिकाधिक आग्रह करने लगा।

इस वर्ग को सन् 1832 के सुधार अधिनियम द्वारा मुक्ति प्रदान हुई। इस अधिनियम ने शताब्दियों से सचित बुराइयो को दूर किया। जिन क्षेत्रो का पुराना राजनीतिक महत्त्व समाप्त हो गया था, उनका प्रतिनिधित्व समाप्त करने के लिए ससदीय स्थानो का पुनर्वितरण किया गया और औद्योगिक परिवर्तनो से विकसित नए शहरी क्षेत्रो को ससद् मे प्रतिनिधित्व दिया गया। ऐसा करने मे इसने नए पूँजीवादियो को मताधिकार प्रदान किया। यद्यपि इससे लोकतत्र की पूर्ण व्यवस्था का आरम्भ नही हुआ, किन्तु यह उस दिशा की ओर क्रातिकारी प्रगति के विपरीत सवैधानिक प्रगति के सही मार्ग मे उठाया गया पहला कदम था क्योकि शासन की विद्यमान पद्धतियो मे क्रातिकारी परिवर्तन किए बिना ही यह सुधार करना सम्भव हो सका। मध्यम वर्ग को मताधिकार प्रदान करने से वास्तव मे मत्रिमडलीय प्रणाली अर्थात् ससद् द्वारा कार्यपालिका के नियत्रण को दृढता प्राप्त हुई, जिसकी कि अठारहवी शताब्दी के दौरान मे पक्की नीव डाल दी गई थी। मत्रिमडलीय प्रणाली को सुदृढ बनाने का यह कार्य मध्यम वर्ग के मताधिकार के फलस्वरूप राजनीतिक गुरुत्वाकर्षण केन्द्र के सामत-सदन (हाउस ऑफ लॉर्ड्स) से हटकर लोक-सदन (हाउस ऑफ कॉमन्स) मे पहुँच जाने से और दलो के जिन पर वास्तविक मत्रिमडलीय प्रणाली का कायम रहना निर्भर होता है, एक नए विभाजन के अस्तित्व मे आ जाने से हो सका।

औद्योगिक क्राति से उद्भूत यह महान् आन्दोलन अनिवार्यत महाद्वीप मे फैल गया और अपने विस्तार के साथ-साथ यह ऐसे परिणामो को लाया जिनसे सवैधानिक मार्ग द्वारा परिवर्तन की प्रवृत्ति को बल प्राप्त हुआ, क्योकि इससे विद्यमान शासनो और नए पूँजीवादियो मे मेल हो गया जो कि सब बातो से अधिक

शांति और व्यवस्था की कामना करते थे। इसके अतिरिक्त, इसकी प्रवृत्ति आर्थिक सरक्षण की नीति को प्रोत्साहित करके धीरे धीरे राष्ट्रीयता की विद्यमान भावना को तीव्र करने की ओर थी, क्योंकि जिन देशों में औद्योगीकरण नहीं हुआ था वे उन देशों का, जिनमें औद्योगिक विकास के परिणामस्वरूप अपना माल बहुत सस्ता बेचने की सामर्थ्य थी, मुकाबला तभी कर सकते थे जब कि वे आर्थिक सरक्षण की नीति पर चलकर औद्योगिक देशों के विरुद्ध कर की दीवार खडी करें, और इस प्रकार उन उद्योगों का पोषण करें जिनका वे अपने साधनों के कारण उत्पादन कर सकते थे।

किन्तु इन औद्योगिक परिवर्तनों के फलस्वरूप नगरों में वेतनभोगी मजदूरों के विशाल समुदाय उत्पन्न हो गए और अब वे भी राजनीतिक अधिकारों की माग करने लगे। इगलैंड मे इसके परिणामस्वरूप पहले एक मजदूर आन्दोलन—चार्टिज्म (सन् 1837-48) का आरम्भ हुआ, जिसका उद्देश्य शासन पर और बातों के साथ-साथ मताधिकार-सम्बन्धी सुधार करने के लिए दबाव डालना था, और जब यह असफल रहा तो सन् 1867 और 1884 85 के दो सुधार अधिनियम बने, जिनका सामान्य प्रभाव नगरों में किराएदारों तथा खेतिहर मजदूरों को मताधिकार देना था। किन्तु अधिकतर देशों मे, शासनतत्र ऐसे अधिकारों के प्रदान के निमित्त समायोजित हो सकें इसके पूर्व ही क्रातिकारी सिद्धान्तों का प्रचार होने लगा था, जिनका उद्देश्य विद्यमान शासनों को उलटना और एक नए प्रकार के समाज की स्थापना था। इनमें मुख्य सिद्धात उस प्रकार का समाजवाद था जिससे कार्ल मार्क्स का नाम से सम्बन्ध है और जिसके 'कम्यूनिस्ट मेनिफेस्टो' (सन् 1848) फ्रेडरिक एंगिल्स के सहयोग से 1848 में प्रकाशित और बाद के ग्रथों में व्यक्त विचारों ने ससदीय सस्थाओं के सवैधानिक विकास पर ही नहीं, वरन् राष्ट्रीयता की समस्त धारणा पर भी कुठाराघात किया। अब प्रश्न यह था कि क्या राष्ट्रीय सविधानवाद इस क्रातिकारी सिद्धात के विरुद्ध सफलतापूर्वक सघर्ष करने के लिए पर्याप्त रूप मे डटा रह सकता है? उन्नीसवी शताब्दी के उत्तरार्द्ध के इतिहास ने इस प्रश्न का आशिक रूप मे उत्तर दिया।

9 उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध मे राष्ट्रीय सविधानवाद

उन्नीसवी शताब्दी का उत्तरार्द्ध दस्तावेजी सविधानों के उत्कर्ष का युग था। इगलैंड और अमरीका के सिवाय किसी भी देश का विद्यमान सविधान उन्नीसवी शताब्दी स पुराना नहीं है और उस शताब्दी के पूर्वार्द्ध मे जो सविधान विद्यमान थे उनमे से अधिकतर तब मे या तो लुप्त हो गए और उनके स्थान पर नए सविधान आ गए हैं या उनमे इतने मौलिक सशोधन एव परिवर्तन कर दिए गए है कि वे वास्तव मे नए हो गए है।

संविधानवाद की यह लहर इटली और जर्मनी के एकता-आदोलनों से उत्पन्न हुई। सन् 1870 के युद्ध के बाद फ्रांस मे जिस गणतत्रात्मक संविधान का प्रख्यापन हुआ उसकी जिम्मेदारी भी अधिकतर इन्ही आन्दोलनो पर थी। इटली में सार्डीनिया का संविधान, जैसा कि हम बता चुके है उन तीन संविधानो मे था जो सन् 1848 की विपत्ति से बच सके थे। इटली अब भी सात राज्यो मे विभाजित था, किन्तु यह परिस्थिति अधिक समय तक नहीं रह सकती थी। सन् 1859 से लेकर 1870 तक के दौरान मे अनेक विद्रोहो और युद्धो के फलस्वरूप व विभिन्न राज्य सार्डीनिया के साथ सम्मिलित हो गए। ज्यो ज्यो प्रत्येक राज्य इस सयोग मे सम्मिलित होता गया त्यो-त्यो सार्डीनिया का संविधान उसको लागू होता गया और इस प्रकार अत मे इटली का राज्य स्थापित हुआ। इधर जर्मनी मे सन् 1848 की असफलता के पश्चात पूर्वकालीन व्यवस्था पुन स्थापित की गई। किन्तु सन् 1864 और 1871 के बीच तीन युद्धो के परिणामस्वरूप जिन्हे बिस्मार्क की प्रतिभा ने भडकाया था और जिनका उसी न सचालन किया था, डेनमार्क को परास्त होकर श्लेस्विग (Schleswig) और होल्स्टीन (Holstein) की डचियाँ (Duchies) छोडनी पडी, आस्ट्रिया जर्मन-राज्यमडल से निकाल दिया गया, और फ्रास मे द्वितीय साम्राज्य का तख्ता पलट दिया गया। इस प्रकार चार नए संवैधानिक राज्यो का अभ्युदय हुआ। डेनमार्क मे सन् 1864 मे राजा को ससदीय व्यवस्था स्वीकार करने के लिए बाध्य किया गया, आस्ट्रिया और हगरी मे सन् 1869 मे नए संविधान तैयार हुए जिनमे दोनो के लिये एक ही राजा रखने की व्यवस्था की गई, जर्मनी मे सन् 1871 मे जर्मन साम्राज्य स्थापित हुआ, और फ्रास मे अन्तत सन् 1875 मे तृतीय गणतन्त्र की स्थापना हुई।

इन संविधानो मे से प्रत्येक ने ससदीय सस्थाओ को अपनाया, जो न्यूनाधिक सशोधित रूप मे ब्रिटिश संविधान की नकले थी। इनमे से प्रत्येक मे लोकतत्रीय तत्त्व समाविष्ट थे, किन्तु ससद् की शक्तिया अभी ऐसी नही थी जिनसे उदारवादी सुधार की समस्त मागे पूरी हो सकती। इसके अतिरिक्त राष्ट्रवाद केवल एक सीमा तक ही विजयी हो सका था। इटली का एकीकरण तो हो चुका था परन्तु ट्रियस्ट (Trieste) और ट्रेटिनो (Trentino), जिनमे कई इटली वाले रहते थे, आस्ट्रिया की प्रभुसत्ता के अधीन, उसकी राष्ट्रीय सीमाओ के बाहर थे। आस्ट्रिया-हगरी, उसमे अनेक अधीनस्थ प्रदेश होने के कारण निश्चय ही एक राष्ट्रीय राज्य नही कहा जा सकता था। जहाँ तक जर्मनी का सबध है, यद्यपि वह आस्ट्रिया हगरी की अपेक्षा कही अधिक राष्ट्रीय था, फिर भी उसकी सीमा के अन्दर बहुत-से पोल जाति के लोग थे और उसने सन् 1871 मे अपनी विजय के फलस्वरूप अलसास और लारेन के प्रातो को फ्रास से छीन लिया था।

इन घटनाओ के बाद के वर्षों मे राष्ट्रवाद बाल्कन प्रायद्वीप के लोगो का

नारा बन गया, जो कि अब भी तुर्की के अधीन और उसके अत्याचारो से पीड़ित थे। रूस और तुर्की के बीच की लडाई और बर्लिन कांग्रेस मे इस समस्या मे बडी शक्तियो की दिलचस्पी के फलस्वरूप सन् 1878 मे दो नए राज्यो, अर्थात् सर्बिया और रूमानिया की स्थापना हुई और मॉण्टीनीग्रो, जो शताब्दियो से अपनी स्वतन्त्रता कायम रखे था, आकार मे दुगना हो गया। यूनान तो सन् 1832 मे ही स्वाधीनता प्राप्त कर चुका था और उसका शासन सन् 1864 मे अंतिम रूप मे लागू किए गए एक संविधान के अनुसार ही रहा था। इस प्रकार केवल बलगेरिया, जो बर्लिन संधि की व्यवस्थाओ के फलस्वरूप आंशिक रूप मे ही स्वतन्त्र हुआ था, और स्वय तुर्की ही रह गए। द्वितीय अब्दुलहमीद ने सन् 1876 मे ही समस्त ऑटोमन साम्राज्य के लिए एक संविधान की घोषणा की थी, किन्तु वह दो वर्ष के अंदर ही रद्द कर दिया गया था। सन् 1908 मे 'युवक तुर्क' दल ने इस संविधान को सफलतापूर्वक पुनर्जीवित किया, अब्दुलहमीद को राजगद्दी से उतार दिया और तुर्की को सवैधानिक राजतंत्र बना दिया। तुर्की की इस उथल-पुथल से लाभ उठाते हुए बलगेरिया ने उसी वर्ष अपनी पूर्ण राष्ट्रीय स्वतन्त्रता की घोषणा कर दी।

इस प्रकार पाश्चात्य उदारवाद से प्रभावित होकर योरोप के दक्षिण-पूर्वी क्षेत्र ने, जो अब तक तुर्की की निरंकुशता से पीडित था, बीसवी शताब्दी के प्रथम दशक तक कम-से-कम राजनीतिक संविधानवाद के स्वरूपो को तो अपना ही लिया था। प्रत्येक अवस्था मे राष्ट्रीयता के आधार पर एक नए राज्य की स्थापना हुई, राष्ट्रीयता का यह सिद्धात मुक्ति के साधन के रूप मे जान-बूझकर अपनाया गया था। यह सच है कि किसी भी अवस्था मे राष्ट्रीय आकाक्षाओ की पूर्ति पूर्णरूप से नही हुई और इसी कारण सन् 1912 और 1913 मे बाल्कन युद्ध हुए। फिर भी उन्नीसवी शताब्दी के उत्तरार्द्ध मे और बीसवी शताब्दी के प्रारम्भिक वर्षो मे बाल्कन प्रायद्वीप का समस्त इतिहास इस बात का साक्षी है कि यह आशा कितनी व्यापक हो गई थी कि कदाचित् प्रगतिशील सवैधानिक राज्य के निर्माण का सर्वाधिक सतोषप्रद आधार राष्ट्रीय लोकतत्र ही सिद्ध हो सकेगा।

10 संविधानवाद और प्रथम विश्वयुद्ध

इस प्रकार हम देखते है कि सन् 1914 मे प्रथम विश्वयुद्ध से पहले रूस के सिवाय योरोप के प्रत्येक राज्य मे किसी-न-किसी रूप मे राष्ट्रीय संविधानवाद का प्रयोग किया जा रहा था। रूस मे संविधानवाद के प्रयत्न आशिक रूप म निर्वाचित सभा (ड्यूमा) की स्थापना से आगे नही बढ़ सके थे और यह सभा भी सन् 1906 मे अपने आरम्भ से ही शक्तिशाली होने के बजाय कमजोर होती गई थी। किन्तु संविधानवाद योरोप, ब्रिटेन के साम्राज्य के स्व-शासित अधिराज्यो

और यूनाइटेड स्टेट्स तक ही सीमित नहीं रहा। यह समार के दूर-दूर के स्थानों, जैसे दक्षिणी अमरीका, जापान और चीन तक मे भी फैल गया। आधुनिक साम्राज्यवाद की शक्ति और औद्योगिक क्रान्ति के आर्थिक परिणामो के द्वारा विश्व के योरोपीयकरण के साथ-साथ प्राचीन समार के राजनीतिक सिद्धान्तो का प्रचार हुआ और उसकी राजनीतिक कार्यप्रणालियो का भी व्यापक प्रयोग हुआ। इस संविधानवाद का रूप सदा ही या तो ब्रिटिश नमूने या यूनाइटेड स्टेट्स द्वारा अंगीकृत उसके परिवर्तित स्वरूप के अनुसार था। दूसरे शब्दो मे, इसने प्रातिनिधिक संस्थाओ की स्थापना की और राष्ट्र को राज्य का आधार बनाया। उन स्थानों मे भी जहा राष्ट्र का अस्तित्व नही था जैसे चीन मे, संविधानवाद की प्रवृत्ति ने राष्ट्रवाद के विकास को प्रोत्साहित किया और उसे एक राजनीतिक आधार के रूप मे प्रयुक्त किया।

यद्यपि योरोप मे राजनीतिक संविधानवाद काफी प्रगति कर चुका था तो भी अधिकतर स्थानो मे प्रातिनिधिक लोकतन्त्र और राष्ट्रवाद के सामने म उसे और भी आगे बढना था। फ्रास का अपने खोए हुए प्रान्त और इटली को पराधीन इटालियन भाषा-भाषी क्षेत्र पुन प्राप्त करने थे। जर्मनी मे कुछ गैर-जर्मन लोग ---उत्तर मे डेन और पूर्व मे पोल जाति के लोग--अधीनता की अवस्था मे थे। आस्ट्रिया-हगरी को, जिसमे जर्मन, मेगयार, दक्षिणी स्लाव, चेक, पोल और रूमानियन जातियो के लोग थे, 'जर्जर साम्राज्य' (Ramshackle Empire) कहना उपयुक्त ही था। रूस का पश्चिमी भाग फिनो, इस्टोनियनो, लेटो, लिथुएनियनो, पोलो और रूमानियनो का मिश्रित जन समूह था। तुर्की के योरोपीय प्रदेश को बाल्कन प्रदेश के लोग अपनी राष्ट्रीयता पर बलात्कार समझते थे। यदि इतिहास यह सिद्ध करता था, जैसा कि प्रतीत हो रहा था, कि संवैधानिक अधिकारो का एकमात्र दृढ आधार राष्ट्रवाद था तो प्रश्न यह था कि क्या राष्ट्रीय एकता का अब तक का अधूरा स्वप्न शातिपूर्ण उपायो द्वारा साकार किया जा सकता है या इस उद्देश्य की प्राप्ति के लिए कोई विध्वसात्मक घटना आवश्यक होगी। चाहे ऐसी विध्वसात्मक घटना आवश्यक थी या नही, किन्तु सन् 1914 मे युद्ध के छिड़ने पर वह घटित हो ही गई। इसके अतिरिक्त कुछ ऐसे राज्य भी थे जिनमे संविधान तो था किन्तु उनके राजनीतिक सगठनो को लोकतन्त्रात्मक नही कहा जा सकता था, विशेषकर इस कारण कि वहाँ कार्यपालिका पर लोक-नियत्रण का अभाव था। यह बात जर्मनी के बारे मे विशेष रूप से लागू होती थी।

वुड्रो विल्सन के मतानुसार यह युद्ध विश्व को लोकतन्त्र के लिए सुरक्षित बनाने के निमित्त लड़ा गया था। अतएव, इसमे कोई आश्चर्य की बात नही कि उससे पैदा हुई परिस्थितियो मे संविधानवाद को बाढ आ गई। विजेताओ ने इस बात

पर जोर दिया कि विभिन्न लोगो के आत्मनिर्णय के आधार पर ही स्थायी शांति की नीव डाली जा सकती है। इसका अर्थ यह हुआ कि दलित जातियो को जहाँ तक सम्भव हो, राष्ट्रीय आधार पर स्वतन्त्र राज्य के रूप मे सगठित हो जाना चाहिए। इस सिद्धात को लागू करने से चार बडे साम्राज्यो—जर्मनी, आस्ट्रिया, रूस और तुर्की—का पूर्ण अथवा आशिक विघटन होता था। यह कार्य बहुत कुछ युद्ध ने ही कर दिया था। नई व्यवस्था के अधीन मध्य और मध्यपूर्वी योरोप छोटे-छोटे राज्यो का पुज बन गया जब कि पहले वहाँ केवल तीन राज्य थे। शाति-सधियो ने फिनलैड, इस्टोनिया, लेटविया, लिथुआनिया, पोलैड और चेकोस्लोवाकिया जैसे नए राज्यो का सृजन किया, जर्मनी और आस्ट्रिया जैसे राज्यो का अगभग कर दिया और सर्बिया (जो वर्द्धित रूप मे युगोस्लाविया कहलाया) तथा रूमानिया जैसे राज्यो के क्षेत्रो का विस्तार कर दिया।

प्रत्येक अवस्था मे, इन परिवर्तनो के फलस्वरूप नए दस्तावेजी सविधान का प्रादुर्भाव हुआ, क्योकि नए राज्यो मे प्रभुत्वसम्पन्न शासन की कोई पद्धति विद्यमान नही थी और पुरानो मे क्रांति के फलस्वरूप युद्धपूर्व के शासन नष्ट हो गए थे। वैयक्तिक स्वतन्त्रता, लोकसत्ता और राष्ट्रीयता, इन सब राज्यो के सविधानो की विशेषताए थी और इन सभी ने बिना किसी अपवाद के कार्यपालिका पर ससदीय नियत्रण की ब्रिटिश योजना को थोडे-बहुत फेर फार के साथ अगीकार किया, यद्यपि इनमे से बहुत से सार्वलौकिक मताधिकार के मामले मे उससे आगे बढ गए। जहाँ तक कागजी अधिकार पत्रो की सफलता का सवाल था, लोकतत्र निश्चय ही विजयी हो चुका था। आर्थिक स्थिरता और युद्ध-नीति की आवश्यकताओ को ध्यान मे रखकर विचारा जाए तो यह कहा जा सकता है कि राष्ट्रीयता भी विजयी हो चुकी थी। यह सच है कि कई देशो मे विशेषकर इटली मे आस्ट्रियन-जर्मनो, और विस्तृत रूमानिया मे मेगयारो जैसे गैर-राष्ट्रीय अल्पसख्यक लोग भी थे परन्तु पहले के बराबर बिलकुल नही।

प्रथम विश्वयुद्ध के फलस्वरूप सविधानवाद का और भी विकास राष्ट्रसघ (लीग ऑफ नेशन्स) की स्थापना के रूप मे हुआ। सधियो पर हस्ताक्षर करने के साथ राष्ट्रसघ की प्रसविदा पर भी हस्ताक्षर करना अनिवार्य बना दिया गया था। यह इतिहास मे पहला अवसर था जब कि निश्चित रूप से गठित नियमो के एक निकाय और सुव्यवस्थित सस्थाओ के अधीन अनेक राज्यो का एक सगठन दृष्टिगोचर हुआ। राष्ट्रसघ एक साथ ही आनुभविक और प्रयोगात्मक सगठन था, जो अपने निर्माता राज्यो की सवैधानिक प्रथा पर यथासभव अनुरूपता के साथ आधारित था और जिसमे उसके स्वरूप के ही कारण ऐसे विस्तार और सशोधन हो सकते थे जो अनुभव द्वारा अपेक्षित और परिस्थितियो के अनुसार सम्भव हो। हम उसे सवैधानिक प्रयोग इसलिए कहते हैं इसलिये नही कि वह

कोई प्रभुसत्तात्मक स्वतन्त्र निकाय था (क्योंकि ऐसा वह निश्चय ही नहीं था) बल्कि इसलिए कि उसका उद्देश्य उन प्रभुसत्तात्मक राज्यों के बीच, जो कि इसके सदस्य थे, संघर्षों को रोकना या उनका शांतिपूर्ण निपटारा करना था और इस कारण वह उस संवैधानिक प्रगति के अनुरूप था जो उस समय तक अधिकतर पश्चिमी राज्यों में हो चुकी थी।

11 युद्धों के अन्तर्काल में संविधानी शासन के विरुद्ध प्रतिक्रिया

युद्ध के तुरन्त बाद के वर्षों में ऐसा प्रतीत होता था मानो मनुष्य के अधिकारों और विधि के शासन को लगभग सार्वत्रिक विजय के निमित्त राष्ट्रवाद और प्रातिनिधिक लोकतंत्र मिल गए हैं और राजनीतिक संविधानवाद के अनुभवों का अंत में विश्वशांति की समस्याओं को हल करने में सफलतापूर्वक प्रयोग किया जाएगा। किन्तु दुर्भाग्यवश यह बात शीघ्र ही बड़ी तीव्रता के साथ स्पष्ट होनी थी कि राजनीतिक अधिकार-पत्र स्वतः काफी नहीं होते और जिनके लाभ के लिए वे निर्मित किए जाते हैं यदि उन लोगों में उन्हें क्रियान्वित करने की इच्छाशक्ति नहीं है तो उन्हें रद्द करने के लिए असंवैधानिक तरीकों का अपनाया जाना अनिवार्य है। यही हुआ भी। प्रथम विश्वयुद्ध के निपटारे के बाद के वर्षों में कई योरोपीय राज्यों में लोकतंत्रात्मक संविधानवाद के विरुद्ध सत्तावादी प्रतिक्रिया हुई।

राजनीतिक संविधानवाद का, जिसके विकास का हम यहाँ वर्णन करते आ रहे हैं, सर्वप्रथम परित्याग करने वाले रूसी लोग थे। सन् 1917 की रूसी क्रांति दो अवस्थाओं में से होकर गुजरी, इनमें पहली मार्च की राजनीतिक या उदारवादी क्रांति थी, जिसने जार की निरंकुशता समाप्त करके संसद् (ड्यूमा) और मंत्रिमंडल सहित एक गणतंत्रात्मक संविधान की स्थापना की जो मोटे तौर से फ्रांसीसी ढंग का था। दूसरी अवस्था नवम्बर की सामाजिक या बोल्शेविक क्रांति थी, जिसने ड्यूमा को नष्ट करके मजदूर गणराज्य (Workers Republic) स्थापित कर दिया। बीच के आठ महीनों में सोवियत अर्थात् मजदूर परिषदें, ड्यूमा के साथ-साथ विद्यमान थीं, किन्तु नए संसदीय प्रयोग को अपनी उपयोगिता सिद्ध करने का समय मिलने से पूर्व ही लेनिन के नेतृत्व में बोल्शेविकों ने रूस को सोवियतों का गणतन्त्र घोषित कर दिया। यह गणतन्त्र प्रारम्भ में मुख्य रूस तक ही सीमित था किन्तु इसके बाद पुराने रूसी साम्राज्य के अन्य योरोपीय और एशियाई भागों में भी इसी प्रकार की क्रांतियां हुई और सन् 1923 में इन विभिन्न नए राज्यों ने संघबद्ध होकर सोवियत समाजवादी गणतंत्रों का संघ (USSR) की स्थापना की।

सन् 1918 में लेनिन ने एक संविधान प्रस्तुत किया था, जिसकी भूमिका

में 'श्रमिक और शोषित जनों के अधिकारों की घोषणा' थी। यह शब्दावली पाश्चात्य संविधानवाद के साथ रूस के सम्बन्धविच्छेद का स्वरूप स्पष्ट कर देती है। मार्क्स के सिद्धान्तों के प्रयोग के रूप में रूस की नई व्यवस्था का उद्देश्य बहुसंख्यकों के संवैधानिक शासन की स्थापना नहीं, वरन् सर्वहारा वर्ग का अधिनायकतंत्र स्थापित करना था, जिसे लेनिन के मूल सिद्धांतों की विस्तृत व्याख्या करते हुए बाद में स्तालिन ने सर्वहारा वर्ग का पथप्रदर्शन करने वाली शक्ति के रूप में साम्यवादी दल का अधिनायकतन्त्र बनाया। किन्तु, जैसा कि हम बाद में देखेंगे, सन् 1936 में स्टालिन द्वारा प्रवर्तित नए संविधान में पाश्चात्य विचारों का भी कुछ समावेश था। इसके अतिरिक्त उक्त क्रांति ने एक नई सामाजिक व्यवस्था का सृजन किया जिसमें पहले के सम्पत्तिस्वामियों के वर्ग को सम्पत्तिविहीन कर दिया गया और सभी प्रकार की सम्पत्ति पर समाज का स्वाम्य हो गया। इस प्रकार सन् 1917 की क्रांति में उत्पन्न रूस की सोवियत् व्यवस्था में दो बातें ऐसी थी जिनमें उसका संवैधानिक राज्य से जैसा हम उसे समझते हैं स्पष्ट भेद प्रकट होता था : एक तो, अन्य दलों को अलग रखते हुए केवल एक दल के प्राधान्य द्वारा राजनीतिक अधिनायकतन्त्र, और दूसरे, एक समग्रवादी व्यवस्था जो राजनीतिक यन्त्र का, आर्थिक, सामाजिक एवं धार्मिक जीवन के प्रत्येक पहलू को नियन्त्रित और संचालित करने के लिए, प्रयोग करती थी।

अधिनायकतन्त्र और सर्वाधिकारवाद के ये ही लक्षण इटली में मुसोलिनी के शासन और जर्मनी में हिटलर के तृतीय साम्राज्य में भी, जो बाद के वर्षों में स्थापित किए गए थे, विशिष्ट थे, यद्यपि रूसी क्रांति के पूर्व की अवस्थाएं और उसके परिणाम फासिस्ट विद्रोह और नाजी विप्लव से बहुत भिन्न थे। यह बात स्वीकार करनी पड़ेगी कि लेनिन और बोल्शेविकों ने एक निरंकुशतन्त्र को नष्ट करने का काम पूरा किया और उसके भग्नावशेषों पर एक नई सामाजिक और राजनीतिक व्यवस्था का निर्माण किया जिसने एक विशाल जन-समुदाय को, जो उसमें पहले घोर अज्ञान और अधीनता की अवस्था में पड़ा हुआ था, मताधिकार प्रदान किया। इसके विपरीत फासिस्टों और नात्सियों ने स्थापित संसदीय व्यवस्था पर चोट की और उसके स्थान पर एक घोर अत्याचारी शासन की स्थापना की जिसने लाखों देशवासियों को उन अधिकारों से वंचित कर दिया, जिनका वे उससे पहले उपभोग करते थे।

अक्तूबर सन् 1922 में, जब फासिस्ट सशस्त्र स्वयंसेवक दल रोम की ओर कूच कर रहा था, इटली के बादशाह ने गृहयुद्ध को टालने के उद्देश्य से मुसोलिनी को मंत्रिमंडल बनाने के लिए आमंत्रित किया। मंत्रिमंडल के निर्माण के पश्चात् चेम्बर आफ डिपुटीज (लोकसभा) ने अपने-आपको तुरन्त ही भंग किए जाने से बचाने के लिए मुसोलिनी को विशेष शक्तियाँ प्रदान कर दीं। इसी समय से

मुसोलिनी ने अपने-आपको दूची (Duce) 'नेता' की आडम्बरपूर्ण उपाधि से विभूषित करके उस सवैधानिक व्यवस्था को नष्ट कर दिया जो इटली मे अर्द्ध-शताब्दी से भी अधिक समय से चली आ रही थी। निर्वाचनविधि को इस प्रकार रूपान्तरित कर दिया गया जिससे ससद् मे कृत्रिम फासिस्ट-बहुसख्या उपलब्ध हो जाए। शीघ्र ही और सब दल दबा दिए गए और दूची' की इच्छा को व्यक्त करने वाली फासिस्ट महापरिषद (Fascist Great Council) शासन की एकमात्र प्रभावी सस्था बन गई इसके साथ ही मुसोलिनी ने सामाजिक, राजनीतिक और सास्कृतिक सभी प्रकार की उन सस्थाओ को जो फासिस्ट सिद्धात और व्यवहार को नही मानती थी समाप्त कर दिया। इस प्रकार मुसोलिनी ने लोकतत्रात्मक सरचना को वस्तुत नष्ट कर दिया और अनेक उपायो द्वारा, जिनका हम बाद मे विश्लेषण करेंगे उसके स्थान पर निगम-राज्य (Corporate State) स्थापित किया जो उसके शब्दो मे राष्ट्रीय सिंडीकेलिज्म पर आधारित था। सन् 1939 मे लोकसभा (Chamber of Deputies) जो पहले ही अशक्त हो चुकी थी, विलुप्त हो गई और उसका स्थान एक नई सभा ने ले लिया जो फेसिओ एव निगमो की सभा (Chamber of Fascios and Corporations) कहलाई। इस समय अब इटली के सविधान का, जैसा कि उसका लगभग एक शताब्दी के दौरान मे सन् 1848 की सार्डीनियन सविधि से विकास हुआ था, राजा के अलावा कुछ भी शेष नही रहा और वह भी इसलिए कि सपूर्ण गौरव एव प्रतिष्ठा से वचित होकर भी वह फासिज्म के प्रयोजन के सिद्ध करने मे सतुष्ट था।

जर्मनी मे जनवरी सन् 1933 मे हिटलर और राष्ट्रीय समाजवादियो ने सत्ता अपने हाथो मे ले ली। यहाँ भी ससदीय व्यवस्था को उलटने की योजना को प्रारम्भ मे सवैधानिक आवरण दिया गया। उस समय तक जर्मनी सन् 1919 मे स्थापित वेमर (Weimar) गणराज्य के सविधान द्वारा शासित हो रहा था और हिट्लर ने गणराज्य के राष्ट्रपति से चान्सलर अर्थात् प्रधान मत्री का पद स्वीकार किया। हिटलर ने किसी भी समय उस सविधान की निंदा नही की किन्तु जर्मन लोकसभा (Reichstag) द्वारा अनुदत्त और राष्ट्रपति द्वारा अनुमोदित समस्त शक्तियो का प्रयोग करते हुए उसने सवैधानिक राज्य के मूल आधारो को शीघ्र ही नष्ट कर दिया। उसने राष्ट्रीय समाजवादियो के सिवाय और सभी दलो को बलपूर्वक भग कर दिया और केवलमात्र नात्सी-सभा के रूप मे जर्मन लोकसभा तथा फ्यूरेर (हिट्लर) के आवेशपूर्ण भाषणो को सुनने के लिए समय-समय पर होनेवाली सभा के अतिरिक्त कुछ नही रह गई। जनवरी सन् 1934 मे सौ से भी कम शब्दो की एक अज्ञप्ति निकालकर हिट्लर ने जर्मनी मे एक हजार वर्ष से चल रही सघ-व्यवस्था को एक ही प्रहार मे समाप्त कर दिया और इस प्रकार एक सघीय लोकतत्र को हिट्लर

के सीधे नियत्रण के अधीन एक केन्द्रित निरकुशतन्त्र मे बलपूर्वक परिवर्तित कर दिया गया। उसी वर्ष अगस्त मे राष्ट्रपति हिण्डनवर्ग की मृत्यु पर हिटलर ने राष्ट्रपति और प्रधान मत्री (Chancellor) दोनो पदो को स्वय सभालने के अपने इरादे की घोषणा की, जिसका बाद मे एक जनमत सग्रह मे जनता ने भारी समर्थन किया। इस प्रकार धीरे-धीरे वे सब सवैधानिक सुरक्षण जो वेमर गणराज्य द्वारा सुनिश्चित थे, नष्ट कर दिए गए और अन्त मे निरकुश अधिनायक की सनक ही एकमात्र राजनीतिक शक्ति रह गई।

हिट्लर के अधिनायकतत्व मे सभी वैयक्तिक और सामाजिक अधिकार भी राजनीतिक सुरक्षणो की तरह समाप्त हो गए। कोई भी व्यक्ति या परिवार *गुप्त पुलिस (Gestapo) के हस्तक्षेप से मुक्त नही था और प्रत्येक युवक को* नात्सी युवक आन्दोलन (Hitler Jugend) मे बलपूर्वक भरती किया जाता था। नाजी सगठनो के सिवाय और कोई भी सगठन जीवित नही रह सकते थे। अनेकानेक मालिको की सस्थाए और मजदूर सघ भग कर दिये गये और उनकी जगह तथाकथित श्रम मोर्चे (Labour Front) ने ले ली। सभी स्वतन्त्र विचारो का दमन किया जाने लगा और समाचारपत्रनात्सी पार्टी के हथियार बन गए। ऐसे शासन को प्रामाणिकता देने के लिए हिट्लरी जर्मनी की समस्त व्यवस्था का राज्य के एक मिथ्या दर्शन द्वारा प्रतिपादन किया गया, जिसका तर्क यह था कि नात्सी दल जर्मन राष्ट्र का ही पर्याय है, दोनो एक हैं और पाश्चात्य लोकतत्व एक घिसा पिटा पथ है। किन्तु वास्तव मे, नाजीवाद, हिट्लर के एक दलत्यागी अनुयायी के शब्द मे, 'एक सिद्धातहीन शून्यवाद' से अधिक कुछ नही था। उसके अत्याचारो को मौन सम्मति प्रदान करने के कारण जर्मनी और विश्व को अत्यधिक क्षति सहन करनी पडी।

इटली और जर्मनी मे अधिनायकवाद की सफलता का पडोसी राज्यो के राजनीतिक सविधानवाद पर बडा विनाशकारी प्रभाव पडा। यह बात स्पेन के बारे मे *विशेष रूप से सही थी, जहाँ सन् 1932 मे, अर्थात् हिट्लर के शक्ति प्राप्त करने* से केवल एक वर्ष पूर्व, एक नए सविधान का प्रख्यापन किया गया था। सन् 1924 तक स्पेन सन् 1876 के सविधान के अधीन शासित होता आ रहा था। सन् 1924 मे वह सविधान स्थगित कर दिया गया और आगामी सात वर्षों तक अलफोसो तेरहवें ने एक निर्देशक-मडल (Durectory) के द्वारा शासन किया, जिसका प्रधान प्रारम्भ मे जनरल प्रिमो डी रिवेरा (Marques de Estella) था और बाद मे जनरल बेरेग्युअर हुआ। किन्तु सन् 1931 मे नगरपालिका के निर्वाचन हुए जिनमे गणतन्त्रवादियो की भारी बहुमत से विजय हुई। इसके फलस्वरूप एक गणतत्रात्मक अस्थायी शासन की स्थापना की गई और राजा देश छोडकर चला गया। इसके पश्चात् सविधान-सभा के लिए निर्वाचन हुए

जिसने सन् 1932 के संविधान की रचना की। सन् 1936 में जनरल फ्रांको ने इस संविधान के विरुद्ध विद्रोह कर दिया और तीन वर्ष तक स्पेन में गृहयुद्ध चलता रहा। फ्रांको ने अंत में सन् 1939 के वसन्त में गणतंत्रवादियों को कुचल दिया और अपना अधिनायकतंत्र स्थापित कर लिया।

योरोप महाद्वीप के लगभग प्रत्येक राज्य में नाजी प्रचार के अड्डे थे और अनिश्चित शांति के उन थोड़े-से वर्षों में केवल बेलजियम और नीदरलैंड्स, डेनमार्क और चेकोस्लोवाकिया जैसे राज्य बड़ी कठिनाई से अपनी संसदीय संस्थाओं को बनाए रख सके। अधिकतर अन्य राज्य हिट्लर की शक्ति के आगे झुक गए या उसके धोखे-बहकावे में आ गए और किसी-न-किसी प्रकार के अधिनायकतंत्र के द्वारा उन्होंने अपने संवैधानिक सुरक्षणों को नष्ट हो जाने दिया। इसके पश्चात् हिट्लर ने खुले आक्रमणों का सिलसिला प्रारम्भ किया, जिसके फलस्वरूप 1939 में पाश्चात्य लोकतंत्रीय राज्य शस्त्र लेकर हिट्लर के विरुद्ध अग्रसर हुए और द्वितीय विश्वयुद्ध का आरम्भ हुआ।

12. द्वितीय विश्वयुद्ध के परिणाम

द्वितीय विश्वयुद्ध के राजनीतिक परिणाम प्रथम विश्वयुद्ध के परिणामों से भी अधिक जटिल एवं विघटनकारी सिद्ध हो रहे हैं। अच्छा यह होगा कि हम यहाँ दोनों युद्धों के इकट्ठे परिणामों की चर्चा करें। जैसा हम अब देखते हैं, इन युद्धों के परिणामस्वरूप विश्व शक्ति के केन्द्र बिलकुल बदल गये हैं। नियंत्रण पश्चिमी और मध्य-योरोप के हाथों से निकलकर दो अतिशक्तियों, यूनाइटेड स्टेट्स और रूस, के हाथों में पहुँच गया, जैसी कि 'डेमोक्रेसी इन अमेरिका' के लेखक एलेक्सिस डी टॉकविल ने एक शताब्दी से अधिक पहले भविष्यवाणी की थी। इस नई स्थिति में मार्क के संवैधानिक परिवर्तन हो चुके हैं और अब भी होते जा रहे हैं।

योरोप में, जर्मनी और इटली की पराजय से नात्सी और फासिस्ट शासन-व्यवस्थाएँ समाप्त हो गई, यद्यपि उससे वह विचारधारा समूल नष्ट न हो सकी जिसके आधार पर उनका निर्माण हुआ था और उससे स्पेन एवं पुर्तगाल की सत्तावादी व्यवस्थाओं पर भी कोई अनिष्टकारी प्रभाव नहीं पड़ा। पूर्व और पश्चिम की ओर से बढ़नेवाली विजयी सेनाओं द्वारा नात्सी-अधिकृत देशों के उद्धार के महाद्वीप के विभिन्न भागों में बड़े विचित्र रूप में विभिन्न प्रभाव पड़े। पश्चिम, उत्तर और दक्षिण में उसके परिणामस्वरूप फ्रांस में (पहले चतुर्थ गणतंत्र के अधीन और बाद में पंचम गणतंत्र के रूप में परिवर्तित), इटली में (जहाँ राजतंत्र का स्थान गणतंत्र ने ले लिया), नीदरलैंड्स, बेलजियम, नॉर्वे और डेनमार्क में (जहाँ राजकीय परिवार पुनः स्थापित कर दिये गये) संसदीय प्रजातंत्र

बाजार (Common Market) है क्योंकि उनके राजनीतिक एव सवैधानिक प्रभाव हैं जिनका विवेचन बाद मे किया जायगा।

विश्व की नई स्थिति मे एक और महत्वपूर्ण बात इस कारण पैदा हो गई है कि पश्चिमी योरोप के जिन राज्यों ने समुद्र पार साम्राज्य स्थापित किए थे वे दोनों युद्धों के परिणामस्वरूप इतना निर्बल हो गये कि उनके उपनिवेशो या अधीनस्थ प्रदेशो पर उनका पुराना प्रभाव या तो टूट गया है या निरन्तर टूटता जा रहा है। इसका परिणाम यह हुआ कि ब्रिटेन, फ्रास, हालैंड और बेल्जियम एशिया और अफ्रीका से हट गये है और उन दोना महाद्वीपो तथा कैरिबियन सागर में अपने-अपने राजनीतिक सविधानो के साथ नये स्वतत्र राज्यो का उदय हो गया है या शीघ्र ही होगा। मध्य-पूर्व के लागो के सामरिक राष्ट्रीयतावाद से प्रेरित हलचलो के साथ-साथ य हलचल एक जल्दी-जल्दी बदलन वाले समार म अचिन्तनीय महत्व के सवैधानिक तत्व उत्पन्न कर रही हैं।

यही बात सुदूर पूर्व के सम्बन्ध मे भी कही जा सकती है। जापान की पराजय तो मार्मिक महत्व के तात्कालिक परिणाम हुए। प्रथम, उससे जापान मे यूनाइटेड स्टेट्स का बडा प्रभाव जम गया। वहाँ अमेरिका के सरक्षण के अन्तर्गत एक नया प्रजातत्रीय सविधान प्रख्यापित हुआ। द्वितीय, उससे चीन मे साम्यवादी क्रान्ति की सफलता सुनिश्चित हो गई। वहाँ 1949 में चीनी नेता माओ-त्से-तुग ने रूस के सविधान के नमूने पर एक सविधान प्रख्यापित किया और राज्य का नाम चीन लोक-गणराज्य (People's Republic of China) रखा।

प्रथम विश्वयुद्ध के बाद अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धो मे सवैधानिक तरीके अपनाने का प्रयत्न द्वितीय सर्वग्राह युद्ध रोकने मे असफल रहा था। द्वितीय विश्व युद्ध के अन्त से विजेताओं को एक स्थायी अन्तर्राष्ट्रीय सगठन के द्वारा विश्व शान्ति एव सुरक्षा कायम रखने के साधन ढूंढने का प्रयत्न करने का एक नया अवसर मिला। इस सम्बन्धो मे भी हमें दोनो युद्धो के इकट्ठे परिणामों की दृष्टि से विचार करना चाहिये। सयुक्त राष्ट्र (United Nations) का प्रपत्र (चार्टर) बहुत कुछ अश मे राष्ट्र-सघ की सविदा से प्रेरित था। इसके साथ ही, जैसा हम बाद मे देखेंगे, सयुक्त राष्ट्र के जन्मदाता नये सगठन को अधिक शक्तिशाली बनाकर राष्ट्र-सघ की स्पष्ट कमजोरियो का निराकरण करने की आशा करते थे। अब तक के अपने उतार-चढावपूर्ण जीवन मे सयुक्त राष्ट्र ने अपनी सदस्य सख्या दुगनी कर ली है और अन्तर्राष्ट्रीय मामलो मे राष्ट्रसघ से कही अधिक महत्वपूर्ण कार्य किया है। और कम से कम इतना तो निश्चित है कि यदि राष्ट्रसघ की असफलता बडी महगी पडी है तो सयुक्त राष्ट्र की असफलता घातक होगी क्योंकि जिस न्यूक्लीयर युग मे हम रह रहे हैं उसकी अवस्थाओ मे सभ्य समाज तीसरे सर्वनाशी युद्ध मे से निश्चय ही जीवित नहीं बच सकेगा।

13. सारांश

अब हमें यह देखना है कि इस ऐतिहासिक रूपरेखा से क्या निष्कर्ष निकलता है। सबसे पहला निष्कर्ष यह है कि सावैधानिक राजनीति उसके इतिहास के अध्ययन के बिना नही समझी जा सकती। प्रत्येक युग ने, जिस पर हमने दृष्टि डाली है, विद्यमान स्वरूप के विकास मे योग दिया है। यूनानी संविधानवाद ने राजनीतिक दर्शन को प्रेरणा दी और पन्द्रहवी शताब्दी मे प्राचीन विद्या के पुनरुत्थान के दौरान मे लोगो का ध्यान राजनीतिक सगठन के उच्च प्रयोजनो की ओर आकर्षित किया। रोमन सविधानवाद ने पाश्चात्य समाज को विधि की वास्तविकता और एकता का आदर्श प्रदान किया। सामतवाद ने पश्चिम मे रोमन साम्राज्य के पतन के पश्चात की अराजकता और आधुनिक राज्य के उदय के बीच की खाई को पाटने का काम किया। मध्ययुग मे इगलैंड, फ्रास और स्पेन मे राजा के द्वारा केन्द्रीयकरण की प्रगति सामतवाद की बुराइयो को समाप्त करने और एक राष्ट्रीय नीति की नीव डालने के लिए आवश्यक थी। दूसरी ओर इन्ही देशो मे अशत प्रातिनिधिक सस्थाओ के विकास से पश्चिमी योरोप मे पहले-पहल लोकतत्रात्मक राज्य के आरम्भ की प्रथम धूमिल आभा दृष्टिगोचर हुई। और परिषदीय आदोलन (Counciliar Movement) ने योरोप के नवोदित अपरिपक्व राष्ट्रो के महत्व को स्वीकार किया।

पुनर्जागरण के युग ने योरोप के पश्चिम मे केन्द्रीयकरण की प्रक्रिया को आगे बढाया और वहां राष्ट्रवाद के बीज को और भी सुरक्षित रूप मे बो दिया। धर्मसुधार आन्दोलन ने धार्मिक सहिष्णुता के आदर्श को जन्म दिया और इसके साथ ही राजकीय चर्च के विकास के द्वारा राजा की शक्ति बढा दी और लोगो मे यह विश्वास पैदा करके कि धार्मिक स्वतत्रता का मार्ग राजनीतिक सगठन है, उसने धार्मिक असन्तोष को राजनीतिक विद्रोह का रूप दे दिया। ब्रिटिश सविधानवाद ने उदार सस्थाओ को अनेक शताब्दियो के दौरान निरन्तर जीवित रखा जबकि वे अन्यत्र मृत हो गई थी या कभी विद्यमान ही नही थी, अपनी सस्थाओ को विश्व के सभी भागो के उन समुदायो मे विकसित होने दिया, जिनकी उत्पत्ति स्वय इगलैंड से हुई थी और जब कभी किसी नए मुक्त समाज को सविधान-निर्माण की आवश्यकता हुई तो उसने सविधान का एक नमूना प्रस्तुत किया। अठारहवी शताब्दी मे प्रचलित विश्वासो एव विचारो के विरोधी सिद्धातो ने लोकतत्र के आधुनिक सिद्धान्त की नीव रखी। अमरीकी और फ्रासीसी क्रान्तियो ने आधुनिक विश्व को दस्तावेजी सविधानो के पहले नमूने दिए और इस प्रकार स्वतत्रता तथा सत्ता, मनुष्यो के अधिकारो तथा सगठित शासन के बीच मेल बिठाने का तात्कालिक मार्ग ढूंढ निकाला। इसके अतिरिक्त यूनाइटेड स्टेट्स ने सघवाद के द्वारा

विश्व को ऐसी राजनीतिक एकता का पाठ पढ़ाया जिसमें स्थानीयता की भावना नष्ट नहीं होती, फ्रांसीसी क्रांति न यद्यपि वह स्वय असफल हो गई, उन्नीसवी शताब्दी को अपनी विरासत के रूप म स्वतंत्रता, समता और बन्धुत्व के आदर्श प्रदान किए जो आगे चलकर उनके मूल प्रेरकों द्वारा स्थिर आधार से अधिक स्थायी आधार पर प्रतिष्ठित हुए। नेपोलियन की विजय न क्रांति के आदर्शों का प्रचार किया और इसके साथ ही विजित लोगा म राष्ट्रीयता की प्रसुप्त भावना को चेतन और सक्रिय बना दिया।

उन्नीसवी शताब्दी मे उदारवादी सुधार और राष्ट्रवाद की मान्यता के लिए सघर्ष हुआ और उन्हें राजनीतिक स्वरूप प्राप्त करन मे आशिक सफलता भी प्राप्त हो गई। औद्योगिक क्रांति न मध्यम वग को मताधिकार दिलाया और मजदूरा के एक नए वग को जिसन राजनीतिक अधिकारा क उपभोग की अधिकाधिक माग की, जन्म देकर आधुनिक लोकतत्र की रक्षा के सुदृढ साधन का निर्माण किया। औद्योगिक क्रांति ने आर्थिक सरक्षण की नीति के पोषण द्वारा और तत्पश्चात मताधिकार के विस्तार एव राष्ट्रवादी दला के सगठन के द्वारा राष्ट्रवाद तथा सवैधानिक सुधार दोना म तीव्रता ला दी। प्रथम विश्व-युद्ध ने अनुदार सरकारो को समाप्त करके तथा तब तक की दलित जातिया म से नए राज्य बनाकर और इस प्रकार इन दोना को राष्ट्रवाद और लोकतत्र के आधार पर सविधान स्थापित करने के लिए प्रेरित करके, और अन्त मे राष्ट्रसघ (लीग ऑफ नेशन्स) की स्थापना से सवैधानिक तरीका स अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति स्थापित करने की इच्छा की सृष्टि करके सविधानवाद को भारी प्रेरणा दी। किंतु इसके पश्चात् के वर्षों मे राजनीतिक सविधानवाद के विरुद्ध हिंसात्मक प्रतिक्रिया हुई और सन 1917 की रूसी क्रांति के पश्चात इटली मे फासिस्ट विद्रोह हुआ, जर्मनी मे नात्सी विप्लव हुआ और स्पेन मे गणतत्रवादियो पर फ्राको की विजय हुई और इसके साथ ही नात्सी और फासिस्ट प्रभाव मे आकर पूर्वी योरोप के राष्ट्रा की सामान्य प्रवृत्ति उन सवैधानिक सुरक्षणो का परित्याग करन की हो गई जिन्हें उन्होंने कुछ ही समय पूर्व प्राप्त किया था। इस प्रकार स्थापित अधिनायकतत्र और समग्रवादी प्रणालियो से अनिवार्यत बाह्य आक्रमणा का श्रीगणेश हुआ जिसके फलस्वरूप अत मे सन 1939 मे द्वितीय विश्वयुद्ध छिड गया। इस युद्ध ने पश्चिम के राष्ट्रीय लोकतंत्रात्मक सविधानवाद के लिए एक बहुत ही जटिल और खतरे की स्थिति पैदा कर दी जिसे केवल साम्यवाद की चुनौती का ही नही, फासिज्म के पुनरुत्थान के खतरे का और उदीयमान एफ्रो एशियाई राष्ट्रवाद के अचिन्तनीय परिणामा का भी मुकाबला करना है। फिर भी, सयुक्त राष्ट्र इन सब लोगो को, यदि वे उसे स्वीकार करन के लिये तैयार हो, इस न्यूक्लीय युग मे विश्वशान्ति को कायम और सुरक्षित रखन के लिय सवैधानिक तरीका

के प्रयोग का मार्ग सुलभ करता है।

इस रूपरेखा का दूसरा निष्कर्ष यह तथ्य है कि यद्यपि राष्ट्रीय लोकतन्त्रात्मक संविधानवाद का प्रारंभ बहुत पहले हुआ था, तथापि वह अब भी प्रयोग की स्थिति में है और यदि उसे शासन की अधिक क्रांतिकारी पद्धतियों के मुकाबले में जीवित रहना है तो हमको उसे आधुनिक समाज की निरन्तर परिवर्तनशील अवस्थाओं के अनुकूल बनाते रहने के लिए तैयार रहना चाहिए। आखिर राजनीतिक संविधान का मूल प्रयोजन सभी स्थानों में समान है अर्थात् सामाजिक शांति और प्रगति सुनिश्चित करना, वैयक्तिक अधिकारों को सुरक्षित करना और राष्ट्रीय कल्याण की वृद्धि करना। अब हम इन उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए अपनाए गए विभिन्न साधनों का अध्ययन करना है। इसके लिये आधुनिक राजनीतिक संविधानों का तुलनात्मक अध्ययन और उनकी समानताओं एवं विभिन्नताओं का विश्लेपण अपेक्षित है। अब हम यही करेंगे।

द्वितीय खण्ड

तुलनात्मक संविधानी राजनीति

3
संविधानों का वर्गीकरण

1 अरस्तू तथा अन्य विद्वानो द्वारा किया गया अप्रचलित वर्गीकरण

राजनीतिक सविधानो के या राज्यो के वर्गीकरण का प्रयास भूतकाल मे प्राय किया गया है, किन्तु ऐसे ढग से नही जिससे आधुनिक विद्यार्थी को सतोष हो। वर्गीकरण के ऐसे सबसे पुराने प्रयत्नो मे हम अरस्तू द्वारा किए गए वर्गीकरण पर विचार कर सकते हैं। इस विषय का अरस्तू ने अपने आचार्य अफलातून की अपेक्षा कही अधिक विस्तारपूर्वक विवेचन किया है। इस विषय मे अफलातून के विचार बहुत भ्रामक है क्योकि उसने अपनी रचना रिपब्लिक मे वर्गीकरण का एक आधार और दूसरी रचना 'पालिटिक्स' अथवा 'स्टेट्समैन' मे उससे बिलकुल भिन्न आधार अपनाया है। अरस्तू ने सविधानो को पहले दो बडे वर्गों म बाटा है, अर्थात् उत्तम और निकृष्ट अथवा मुक्त और विकृत। इस वर्गीकरण मे उसकी कसौटी शासन की भावना है। इन दोनो बडे वर्गों मे से प्रत्येक मे उसे इस आधार पर कि शासन एक व्यक्ति के हाथो मे है अथवा अल्पजन के या बहुजन के, तीन प्रकार के शासन दृष्टिगोचर हुए।

अरस्तू ने इस वर्गीकरण को सर्वाङ्गपूर्ण तथा अन्तिम माना है क्योकि वह यूनानियो तथा बर्बरो के अपने समय मे उपलब्ध सविधानो का, जिनकी सख्या 158 से कम नही थी, पूर्ण अनुसधान करके (इस अनुसधान के विवरणो वाली पुस्तक अभाग्यवश खो चुकी है) इस निष्कर्ष पर पहुँचा कि समस्त राज्यो को एक क्रान्ति चक्र से गुजरना पडा है। उसका कथन है कि राज्य यथासम्भव सर्वोत्तम प्रकार के शासन से प्रारम्भ होता है, जो एक ऐसे व्यक्ति का शासन है जो राजनीतिक सत्ता की दृष्टि से सर्वसद्गुणसम्पन्न व्यक्ति होता है। यह एकतन्त्र या राजतन्त्र है। कुछ समय के पश्चात् ऐसा सर्वसद्गुणसम्पन्न व्यक्ति उपलब्ध नही हो सकता था, किन्तु फिर भी एक व्यक्ति का शासन बना रहा और उसकी सत्ता बल के आधार पर कायम रही। इस प्रकार के शासन को अरस्तू अत्याचारीतन्त्र या निरकुशतन्त्र कहता था। परन्तु अत्याचारी शासक को आगे चलकर सच्चरित्र व्यक्तियो के समूह के विरोध का सामना करना पडा, जिसने उसको अपदस्थ

एक विशिष्ट वर्ग के राज्य हैं तथा ब्रिटेन, नॉरवे और नीदरलैंड्स दूसरे विशिष्ट वर्ग के हैं। ऐसा करना नामकरण को अत्यधिक महत्त्व देना होगा। वर्तमान युग मे आइए तो हम देखते है कि आधुनिक जर्मन लेखक ब्लुण्ट्श्ली (Bluntschli) ने अरस्तू के त्रिविध विभाजन को ही उसमे एक चौथे प्रकार के राज्य को जोडकर, जिसे उसने विचारतंत्र (Ideocracy) अथवा धर्मतंत्र (Theocracy) कहा है, बढाने की चेष्टा की है। ऐसे राज्य मे सर्वोच्च शासक के रूप मे ईश्वर की अथवा किसी अतिमानवीय भावना या विचार की कल्पना की गई है जैसा कि प्रारंभिक यहूदी राज्य तथा मुस्लिम देशो मे देखा जाता है। परन्तु यह विभाजन वास्तविक और विद्यमान समताओ तथा विषमताओ के आधार पर राज्यों के वर्गीकरण के प्रयत्नो मे हमे आगे नही बढाता। अतएव, हमे स्पष्ट ही अपने आधार को अन्यत्र खोजने का प्रयास करना चाहिए।

2. आधुनिक वर्गीकरण के आधार

सच तो यह है कि प्रत्येक राज्य को सम्पूर्ण रूप मे बारी-बारी से लेने पर राज्यो को वर्गो मे विभाजित करना असम्भव है, क्योंकि सभी राज्यों की शक्तियो का समुच्चय सर्वत्र समान है अर्थात् प्रत्येक राज्य प्रभुत्वसम्पन्न राज्य है। जो समुदाय ऐसा नही है उसे राज्य नही कहा जा सकता। एक अमरीकी लेखक **विलोबी** का कथन है "राज्यो के भेद प्रदर्शित करने का एकमात्र तरीका शासन-सगठन की सरचना-सम्बन्धी विशेषताओ के अनुसार भेद करना ही है।" पूर्ववर्ती *अध्याय मे आधुनिक संविधानवाद के जिस विकास का हमने चित्रण किया है,* यदि उसको ध्यान मे रखकर हम इस विषय पर विचार करना प्रारभ करें तो एक सजीव वर्गीकरण हमारे सामने अपने-आप उपस्थित होने लगता है। हम देख चुके है कि पश्चिमीय जगत् के समस्त समुदाय किस भांति न्यूनाधिक रूप मे समान प्रकार की बातो से प्रभावित हुए हैं और इसी कारण उनमें समानताओं का दृष्टिगोचर होना अवश्यम्भावी है। इसके विपरीत, पृथक्करण के लिये राष्ट्रीयता की भावना की शक्ति भी इतनी प्रबल सिद्ध हुई है कि उनके बीच के भेद भी समान रूप से स्पष्ट हैं। अतएव, वर्गीकरण करते समय हमे उन लक्षणों को मालूम कर लेना चाहिए जो समस्त आधुनिक सवैधानिक राज्यों मे समान रूप से विद्यमान हैं, और राज्यो को उनकी सगठनसबधी विशिष्टताओ के अनुसार वर्गों मे विभाजित करना चाहिए। दूसरे शब्दो मे, हमे इन लक्षणों की एक-एक करके परीक्षा करनी चाहिए और उनके साथ राज्यो की अनुकूलता के आधार पर उन्हें वर्गो मे विभाजित करना चाहिए।

हम ऐसे सामान्य लक्षणो की चर्चा प्रथम अध्याय मे कर चुके है जहाँ हम देख चुके हैं कि प्रत्येक सवैधानिक राज्य के शासन के तीन पृथक् विभाग होते

हैं विधानमंडल, कार्यपालिका तथा न्यायपालिका। अतः वर्गीकरण का आधार निम्नलिखित पांच शीर्षकों में ही मिलना चाहिए

(1) राज्य का स्वरूप, जिसे संविधान लागू होता है,
(2) स्वयं संविधान का स्वरूप,
(3) विधानमंडल का स्वरूप
(4) कार्यपालिका का स्वरूप,
(5) न्यायपालिका का स्वरूप।

इस वर्गीकरण का दोष यह है कि इसमें प्रत्येक बार एक लक्षण के सम्बन्ध में विचार करने की आवश्यकता के कारण प्रत्येक राज्य का कई बार विवेचन करना पड़ता है, क्योंकि यह आवश्यक नहीं है कि यदि 'क' राज्य प्रथम लक्षण में 'ख' राज्य के सदृश है, तो वह द्वितीय लक्षण में भी उससे मिलता हुआ होगा। अथवा यदि 'ग' राज्य तीसरे लक्षण में 'घ' राज्य से भिन्न है, तो वह चौथे लक्षण में भी उस राज्य से भिन्न होगा। *वास्तव में यही वह सत्य है जो इस प्रकार के वर्गीकरण* को ही विद्यमान अवस्थाओं के अनुकूल बनाता है और यह इतना बड़ा लाभ है *कि वर्गीकरण की इस पद्धति के जो भी दोष हों उनकी हम उपेक्षा कर सकते हैं।*

यह वर्गीकरण, जिस पर हम विस्तारपूर्वक विचार करेंगे, उन अनेक सुझावों पर आधारित है जो विभिन्न आधुनिक संविधान-विशेषज्ञों ने प्रस्तुत किए हैं, यद्यपि उनमें से किसी ने भी यहाँ अपनाई गई योजना के अनुसार उनको क्रियान्वित नहीं किया। हमारा वर्गीकरण सर्वाङ्गपूर्ण होने का दावा नहीं करता, क्योंकि तुलनात्मक सवैधानिक राजनीति की विषयवस्तु का बहुत-सा भाग ऐसा है जिसका वर्गीकरण किया ही नहीं जा सकता। फिर भी यह वर्गीकरण विद्यार्थियों को इस विषय का परिचय कराने के लिए पर्याप्त है। कुछ महत्त्वपूर्ण विषयों पर जो कि इस वर्गीकरण के क्षेत्र से बाहर रह जाते हैं, इस पुस्तक के तीसरे भाग में विचार किया जाएगा। तब तक हमें अपने वर्गीकरण पर अधिक ध्यानपूर्वक विचार करना चाहिए।

3. राज्य का स्वरूप, जिसे संविधान लागू होता है

एकात्मक अथवा संघीय

प्रत्येक आधुनिक सवैधानिक राज्य—एकात्मक अथवा संघीय इन दो बड़े वर्गों में से किसी एक का होता है, और इसी से एक प्राथमिक महत्व का भेद स्थापित हो जाता है। एकात्मक राज्य वह है जिसका संगठन एक केन्द्रीय शासन के अधीन होता है, अर्थात् केन्द्रीय शासन के द्वारा प्रशासित पूरे क्षेत्र के भीतर विभिन्न जिलों को जो भी शक्तियां होती हैं, वे उस शासन के विवेक पर निर्भर होती हैं और केन्द्रीय सत्ता सम्पूर्ण क्षेत्र में सर्वोच्च होती है तथा उस पर उसके

भागो को विशेष शक्तियां देने वाली किसी विधि का किसी प्रकार का प्रतिबन्ध नहीं होना। डायसी ने राजनीतिक अर्थ में 'एकात्मकवाद' की इन शब्दों में बड़ी सुन्दर व्याख्या की है कि वह सर्वोच्च विधायी अधिकार का एक केन्द्रीय सत्ता द्वारा अभ्यस्त प्रयोग है। यूनाइटेड किंगडम, फ्रांस तथा बेल्जियम एकात्मक राज्यों के उदाहरण हैं। इनमें से किसी भी देश में ऐसा कभी हो ही नहीं सकता कि राज्य के किसी लघुतर भाग की कोई विधिनिर्मात्री संस्था केन्द्रीय सत्ता की शक्ति को सीमित कर सके। जहाँ, उदाहरणार्थ यूनाइटेड किंगडम में, स्थानीय शासन सुदृढ़ है, वहां भी केन्द्रीय सत्ता पर कोई प्रतिबन्ध नहीं है, क्योंकि वह स्थानीय अधिकारियों को दबा सकती है, चूंकि आजकल केन्द्रीय सत्ता ही उन समस्त शक्तियों को, जो कि स्थानीय प्राधिकारियों के पास है, प्रदान करती है इसलिए, वह उन शक्तियों में संशोधन भी कर सकती है अथवा उन्हें वापस भी ले सकती है। वास्तविकता तो यह है कि ब्रिटेन में स्थानीय प्राधिकारी विधि-निर्माण करने वाले नहीं, उपविधि अथवा उपनियम निर्माण करने वाले हैं।

संघीय राज्य वह है जिसमें अनेक समकक्षी राज्य कुछ सामान्य प्रयोजनों के हेतु मिल जाते हैं। डायसी के शब्दों में "संघीय राज्य एक ऐसी राजनीतिक युक्ति है, जिसका उद्देश्य राज्य के अधिकारों का राष्ट्रीय एकता एवं शक्ति के साथ सामंजस्य स्थापित करना है। हमें एकात्मक राज्य में के स्थानीय शासन और संघीय राज्य के अन्तर्गत राज्यशासन के अन्तर को स्पष्ट कर लेना चाहिए। संघीय राज्य में केन्द्रीय अथवा संघीय सत्ता की शक्तियां उन इकाइयों को, जो सामान्य प्रयोजनों के लिए इकट्ठी हुई है, प्राप्त कतिपयों शक्तियां से सीमित होती हैं। इस भांति हम देखते हैं कि संघीय राज्य में संघीय सत्ता तथा संघ का निर्माण करने वाली इकाइयों की सत्ताओं की शक्तियों में एक अन्तर होता है। ऐसी दशा में ऐसी कोई विशिष्ट सत्ता होनी चाहिए जो इस वितरण का निर्धारण करे। ऐसी विशिष्ट सत्ता स्वयं संविधान ही है। संघीय संविधान का स्वरूप संधि के स्वरूप जैसा है। यह ऐसे कुछ राज्यों के बीच में की गई व्यवस्था है, जो कुछ अधिकारों को अपने पास रखना चाहते हैं। अतः संविधान में उन सब अधिकारों का जिन्हें संघनिर्माण करने वाली इकाइयां अपने पास रखती हैं अथवा उन अधिकारों का जिन्हें संघीय सत्ता ग्रहण करती है, उल्लेख रहता है। दोनों ही दशाओं में यह स्पष्ट है कि न तो राज्यों के साधारण विधानमंडलों को और न संघ के विधानमंडल को ही ऐसी कोई शक्ति प्राप्त हो सकती है, जिससे वह संविधान में संघ निर्माण करने वाले सदस्यों के मत को जानने के लिए किसी विशेष साधन से काम लिए बिना कोई परिवर्तन कर सके। एक सच्चे संघीय राज्य में इन साधनों को संविधान में निश्चित रूप से उल्लिखित किया जाता है। साथ ही ऐसी भी कोई-न-कोई सत्ता होनी चाहिए जो संघ तथा राज्य के बीच के विवादों

को, यदि कभी ऐसे विवाद उत्पन्न हो जाए, निपटा सके। ऐसी सत्ता सामान्यतया एक सर्वोच्च न्यायालय होती है।

इस प्रकार, पूर्णरूपेण विकसित सघवाद मे तीन स्पष्ट लक्षण होते है प्रथम, सघ की स्थापना करने वाले सविधान की सर्वोच्चता, द्वितीय, सघराज्य तथा उसका निर्माण करने वाले समकक्षी राज्यो के बीच शक्तियो का वितरण और तृतीय, किन्ही भी ऐसे विवादो का, जो कि सघीय तथा राज्यसत्ताओं मे उत्पन्न हो जायें, निपटाने वाली कोई सर्वोच्च सत्ता। ऐसे सभी राज्य जो कि सघराज्य कहलाते है, बिलकुल ऐसे ही नही होते। वास्तव मे पूर्णता तथा यथार्थता की दृष्टि से सघो के कई रूप है। ऐसे राज्यो को जो कि पूर्णतया सघीय राज्य से नही मिलते, सघीयवत् राज्य (Quasi-federal) कहा जा सकता है। हम आगे के एक अध्याय मे इन भेदो का अधिक ध्यानपूर्वक विवेचन करेंगे। विद्यमान सघराज्यों मे यहाँ हम अमरीका के सयुक्तराज्य, स्विट्जरलैंड, आस्ट्रेलिया, कनाडा, तथा सोवियत् रूस की ओर ध्यान दे सकते है। यद्यपि इन राज्यो मे विस्तार की बातों मे बहुत अन्तर दिखाई देता है तो भी ये सघीय राज्य के मूल नियम के अनुरूप है, अर्थात् इनमे से प्रत्येक ऐसा अनेक छोटे-छोटे राज्यो से बना है, जो सयोग चाहते है परन्तु एकता नही चाहते, अर्थात् सम्मिलित होना तो चाहते हैं परन्तु अपना अस्तित्व मिटाकर बिल्कुल एक हो जाना नही चाहते।

इस बात पर ध्यान गया होगा कि हमने सघीय राज्य का उल्लेख किया है, परतु इसके साथ ही हमने सघ मे सम्मिलित होने वाली इकाइयो का भी राज्यो के नाम से उल्लेख किया है। इसका एकमात्र कारण भाषा की कमी है। जैसे ही अनेक राज्य एक सघ बना लेते है, वैसे ही वे सघीय राज्य के निर्माणकर्ता अग बन जाते है और पूर्ण अर्थो मे राज्य नही रहते, क्योकि वे राज्य के उस आवश्यक तत्व के कुछ भाग का त्याग कर चुकते है, जिस पर हमने पहले जोर दिया है, अर्थात् प्रभुत्व। इस प्रकार वे पचास राज्य जिनसे अब[1] अमरीका का सघ निर्मित है वास्तविक राज्य नही है, सम्पूर्ण सघ ही वास्तविक राज्य है। तो भी राज्यो के पास विस्तृत विधायी शक्ति है और उनके विधानमडलो को अर्द्ध-प्रभुत्वसपन्न विधान सभाए कह सकते है। इसी भाति, आस्ट्रेलिया के कॉमनवेल्थ के छह राज्यो मे से कोई भी वास्तविक राज्य नही है। कॉमनवेल्थ ही एक राज्य है, और ब्रिटिश राष्ट्रमडल का, जिसकी रचना मे किसी भी सघीय तत्व का समावेश नही है, एक अग होते हुए भी वह राज्य है। एक अगले अध्याय मे हम इसके सबध मे अधिक विस्तार के साथ विचार करेंगे।

जो कुछ ऊपर कहा जा चुका है उससे यह स्पष्ट है कि हमारे पास आधुनिक

[1] 1959 से जब एलास्का और हवाई सघ मे प्रविष्ट हुए।

संवैधानिक राज्यों के वर्गीकरण के लिए यह एक सुदृढ़ आधार है। यद्यपि, जैसा कि आगे चलकर बताया जाएगा, एकात्मक राज्यों के अनेक रूप है, और इसी भांति संघराज्य भी अनेक प्रकार के हैं, फिर भी आज का कोई भी संवैधानिक राज्य इन दो कोटियों में से बिलकुल ही बाहर का नहीं हो सकता।

इसी शीर्षक के अधीन हम वर्गीकरण के एक सहायक आधार का भी उल्लेख कर सकते है राज्य का केन्द्रीयकृत अथवा स्थानीयकृत होना अर्थात् राज्य मे स्थानीय शासन का प्रबल तत्व है अथवा नही। उदाहरणार्थ, ग्रेट ब्रिटेन मे स्थानीय शासन समाज के राजनीतिक जीवन मे बडा भाग लेता है। इसके विपरीत फ्रांस मे स्थानीय सत्ताओ को कम उत्तरदायित्व सौंपा हुआ है और उनकी शक्तियां केन्द्रीय शासन के अधिकारी की जो कि **प्रिफेक्ट'** कहलाता है, उपस्थिति द्वारा सीमित हैं। यद्यपि यह प्रश्न अनेक प्रकार से अत्यन्त महत्व का है, फिर भी यहां हम इस पर अधिक विचार नही करेंगे, क्योंकि इससे हम अपने मुख्य विषय से बहुत दूर चले जाएगे। हम यहाँ पर इसकी चर्चा स्थानीय शासन तथा (संघ के भीतर के) राज्य शासन के बीच के भेद पर जोर देने के लिए कर रहे हैं। यह भेद इस बात से स्पष्ट है कि फ्रांस मे, जो कि एकात्मक राज्य है, स्थानीय शासन मन्द है, जबकि अमरीका के संयुक्तराज्य का, जो कि एक संघ-राज्य है, निर्माण करने वाले राज्यों मे से हर एक का स्थानीय शासन बडा सक्रिय है जिसका उसे बडा गौरव एवं अभिमान है।

4 स्वयं संविधान का स्वरूप

(क) अलिखित अथवा लिखित—एक मिथ्या भेद

प्राय संविधानो को अलिखित तथा लिखित मे विभाजित किया जाता है, परन्तु वास्तव मे यह एक मिथ्या भेद है क्योंकि ऐसा कोई भी संविधान नही है जो कि पूर्णरूप मे अलिखित हो और न ऐसा ही कोई संविधान है जो पूर्णरूपेण लिखित हो। साधारणतया लिखित कहा जाने वाला संविधान एक दस्तावेज के रूप में होता है जो विशेष पवित्र समझा जाता है। साधारणतया अलिखित कहलाने वाला संविधान लिखित विधि की बजाय प्रथाओ के आधार पर विकसित होता है। परन्तु कभी-कभी तथाकथित लिखित संविधान इतना पूर्ण लिखित (Instrument) होता है जिसमें संविधान के निर्माताओं ने उसके प्रवर्तन मे घटित हो सकने वाली प्रत्येक आवश्यकता के लिये व्यवस्था करने का प्रयत्न किया है। अन्य अवस्थाओ में लिखित संविधान अनेक मूलभूत विधियों में पाया जाता है जिनका निर्माण या अंगीकरण संविधान निर्माता इस दृष्टि से करते हैं कि उस प्रकार प्रस्तुत होने के अन्दर संविधान के विकास के लिए साधारण विधि निर्माण की प्रक्रिया की यथासंभव अधिक-से-अधिक गुंजाइश हो।

ग्रेट ब्रिटेन का संविधान अलिखित कहा जाता है, परन्तु वहाँ ऐसी कुछ लिखित विधियाँ हैं जिन्होंने संविधान में बहुत कुछ परिवर्तन कर दिया है। उदाहरणार्थ, अधिकारों का विधेयक (बिल ऑव राइट्स) (सन् 1689) संविधान की ही विधि है, इसी भाँति उन्नीसवीं शताब्दी और बीसवीं शताब्दियों के विभिन्न मताधिकार संबंधी अधिनियम और विशेषतया सन् 1911 तथा 1949 के संसदीय अधिनियम हैं, जो लोक-सदन द्वारा पारित विधेयकों को संशोधित अथवा रद्द करने की लार्ड-सभा (हाउस ऑव लार्ड्स) की शक्ति को कम करते हैं। दूसरी ओर संयुक्तराज्य अमरीका का संविधान समस्त संविधानों में सर्वाधिक पूर्णरूप में लिखित संविधान है। फिर भी कतिपय अलिखित परम्पराएँ अथवा रूढ़ियाँ, स्वयं संविधान में इस निमित्त किसी वास्तविक संशोधन के बिना ही, संविधान के निर्माताओं की इच्छा के विरुद्ध उत्पन्न हो गई हैं। इस संबंध में उदाहरण-स्वरूप संविधान के अनुच्छेद 2 धारा 1 (बारहवें संशोधन के सहित) को प्रस्तुत किया जा सकता है। उसके अनुसार यह आवश्यक है कि राष्ट्रपति के निर्वाचन के लिए जनता निर्वाचकों को चुने, जो एकत्रित होकर बहुमत से उस व्यक्ति का निर्वाचन करें, जिसे वे चाहें। परन्तु व्यावहारिक रूप में, जैसा कि हम बाद में बतायेंगे, ऐसा नहीं होता।

अतएव, हम फिर कह देना चाहते हैं कि संविधान का इस आधार पर वर्गीकरण भ्रमात्मक है कि वह अलिखित है अथवा लिखित। निस्संदेह, कभी-कभी तथाकथित लिखित और तथाकथित अलिखित संविधान में भेद करना आवश्यक हो जाता है और जब कभी हमें ऐसा करने की आवश्यकता होगी, तो हम पहले को दस्तावेजी तथा दूसरे को गैर-दस्तावेजी संविधान कहेंगे।

(ख) नम्य अथवा अनम्य

स्वयं संविधान के स्वरूप को देखते हुए संविधानों के वर्गीकरण का वास्तविक आधार यह है कि वह नम्य है अथवा अनम्य। बहुधा यह समझा जाता है कि यह विभाजन वैसा ही है जैसा कि दस्तावेजी अथवा गैर-दस्तावेजी संविधान का। परन्तु यह धारणा त्रुटिपूर्ण है। इस बात के होते हुए भी कि गैर-दस्तावेजी संविधान नम्य ही हो सकता है, यह संभव है कि दस्तावेजी संविधान अनम्य न हो। तब वह कौन-सी बात है जिससे संविधान अनम्य अथवा नम्य बनते हैं। यहाँ दोनों के बीच के भेद का आधार यही है कि संवैधानिक विधियों के निर्माण की क्रिया तथा साधारण विधि के निर्माण की क्रिया एक सी है अथवा नहीं। जो संविधान किसी विशेष प्रणाली के बिना बदला अथवा संशोधित किया जा सकता है, वह नम्य संविधान है। जिस संविधान को बदलने या संशोधित करने के लिए विशेष प्रक्रिया की आवश्यकता होती है, वह अनम्य संविधान है।

उदाहरणस्वरूप, ग्रेट ब्रिटेन में सर्वदा ठीक एक-सी ही विधायी प्रक्रिया का

अनुसरण किया जाता है, चाहे उस पारित किए जाने वाले विधेयक का संबंध जानवरों को खेल करना सिखाने वाला की पद्धति पर नियंत्रण रखने से अथवा लार्ड सभा (हाउस ऑव लार्ड्स) की शक्तियों में मूलभूत परिवर्तन करने से हो। यूनाइटेड किंगडम में वास्तव में विशिष्ट संविधानिक विधि जैसी कोई चीज नहीं है। अतएव यूनाइटेड किंगडम का संविधान नम्य है। इटली के पिछले राज्य के सम्बन्ध में यही बात थी। यद्यपि एकतन्त्र के अधीन इटली में दस्तावेजी संविधान था, परन्तु उसको बदलने के लिए संविधान में कोई विशेष प्रक्रिया निर्धारित नहीं थी। वास्तव में, उक्त संविधान सन् 1848 का मूल सार्डीनियन संविधान (स्टेटुओ) था जो कि साधारण विधायी प्रक्रिया द्वारा एक बढ़ते हुए राज्य तथा अधिक प्रगतिशील राजनीतिक समाज की आवश्यकताओं की पूर्ति के अनुकूल बना लिया गया था। वह सचमुच इतना नम्य था कि अपनी अधिनायकता के प्रारम्भिक वर्षों में मुसोलिनी इस संविधान को भंग किए बिना ही उसकी भावना की हत्या करने में समर्थ हो सका। यह सब इटली में अब बदल चुका है *क्योंकि सन् 1947 का इसका गणतन्त्रीय संविधान, जिसका हम आगे चलकर* विस्तार के साथ विवेचन करेंगे, *अत्यधिक अनम्य है।* उसमें उन तरीकों के बारे में, *जिनसे कि उसमें संशोधन किया जा सकता है, अत्यल्प विस्तार के साथ* निर्देश दिए गए हैं।

इस भाँति हम एक तरह से एक विचित्र विरोधाभास की स्थिति पर पहुँचते हैं। कोई संविधान अत्यधिक लिखित प्रकार का हो, अर्थात् वह पृथक्-पृथक् संविधियों का एक बड़ा समूह हो, फिर भी वह नम्य हो सकता है। यह तथ्य ही कि वह विभिन्न समयों पर पारित अनेक विधियों का बना हुआ है, उसकी नम्यता का प्रतिपादन करते हैं, क्योंकि जहाँ संवैधानिक संशोधन के लिए एक विशेष प्रणाली का कार्यान्वित करना पड़ता हो, वहाँ संशोधन बहुत बड़ी संख्या में नहीं हो सकते। इस विरोधाभास का एक और उदाहरण तृतीय फ्रेंच जनतन्त्र का संविधान है। वह अत्यल्प लिखित विलेख होते हुए भी अनम्य था, क्योंकि उसकी मूलभूत विधियों में परिवर्तन करने के लिए एक विशेष प्रक्रिया अपेक्षित थी। सन् 1946 में प्रख्यापित चतुर्थ फ्रेंच गणराज्य का संविधान भी यदि अधिक नहीं तो समान रूप में ही अनम्य था, यद्यपि उसमें तथा तृतीय गणराज्य के संविधान के रूप में विभिन्नता थी, क्योंकि वह एक पूर्ण एवं विशद दस्तावेज था। पंचम गणतन्त्र का संविधान भी इसी प्रकार अनमनीय है, हालांकि उसमें प्रेसिडेण्ट को *प्रक्रिया सम्बन्धी कुछ शक्तियाँ प्राप्त हैं। संयुक्तराज्य का संविधान भी अनम्य* है, क्योंकि विशेष प्रणाली को कार्यान्वित किए बिना इसमें संशोधन नहीं किए जा सकते। संयुक्त राज्य के मामले में यह निश्चय ही आवश्यक हो जाता है क्योंकि संविधान में संघ-सरकार को दी गई शक्तियों को निश्चित रूप से निर्धारित किया

गया है, और यदि वह उनसे आगे बढ़ती है, तो वह सविधान को नमाता नही, भग करना होगा। सक्षेप मे, हम यह कह सकते हैं कि जो सविधान भग किए बिना नमाया न जा सके, वही अनम्य सविधान है।

5 विधानमंडल का स्वरूप

आधुनिक सवैधानिक राज्य का सबसे महत्त्वपूर्ण भाग विधानमडल अथवा विधिनिर्माता निकाय है। इस आधार पर राज्यो का वर्गीकरण करने के विभिन्न तरीके सूझते हैं, परन्तु उनमे से अधिकतर विशेष लाभदायक नही है। उदाहरणार्थ, आधुनिक विधानमडलो को एकसदनी अथवा द्विसदनी कोटियो मे विभाजित करना अधिक सारपूर्ण नही है, क्योकि यदि सयुक्त राज्य, आस्ट्रेलिया और पश्चिमी जर्मनी को सघवाद के द्विसदनी विधानमडलो की आवश्यकता है तो न्यूजीलैंड डेन्मार्क और फिनलैंड जैसे एकात्मक राज्य देखते हैं कि उनके विधान-सम्बन्धी समस्त प्रयोजन एकसदनी ससद से ही पूर्णतया सिद्ध हो सकते है। क्योकि इससे समस्त महत्त्वपूर्ण राज्य एक कोटि मे तथा कम महत्त्व के समस्त अन्य राज्य, उदाहरणस्वरूप फिनलैंड और तुर्की, दूसरी कोटि मे आ जायेंगे।[1] इसके अतिरिक्त ससदीय प्रक्रियाओ की पद्धतियो की विभिन्नताओं के आधार पर विधानमडलो के वर्गीकरण का प्रयत्न भी हमे इस अध्ययन मे बहुत आगे नही ले जा सकता। इस विषय मे अधिक महत्त्व की बात तो उन तरीको की जाँच करना है, जिनसे विधानमडलों की चाहे वे एकसदनी हो या द्विसदनी रचना होती है। एक और महत्त्वपूर्ण बात देखने की यह है कि जनता अपने प्रतिनिधियो के निर्वाचन के कार्य के अतिरिक्त जनमत सग्रह (Referendum) और उपक्रम (Initiative) जैसे उपायो द्वारा विधायी प्रक्रिया मे कितना भाग लेती है।

इस प्रकार विधानमडल के दृष्टिकोण से सविधानो का वर्गीकरण तीन प्रकार से भी कर सकते है। प्रथम, हम उस निर्वाचन-पद्धति के आधार पर, जिसके अनुसार मतदाता निम्न सदन के या एक सदनी विधानमडल के सदस्यों का निर्वाचन करते है, विधानमडलो को वर्गों मे विभाजित कर सकते हैं। इस शीर्षक के अन्तर्गत मताधिकार और निर्वाचन-क्षेत्र के प्रश्न आते है। द्वितीय, हम (द्विसदनी व्यवस्था मे) उच्च सदन के स्वरूप के आधार पर अर्थात् यह देखकर कि वह गैर-निर्वाचित है या निर्वाचित (या आशिक रूप से निर्वाचित), उनका वर्गीकरण कर सकते है। तृतीय, हमे इस बात पर ध्यान देना चाहिये कि अनेक समकालीन सविधान निर्वाचकमण्डल को, विभिन्न परिस्थितियों मे, विधानमडल के कार्य पर प्रत्यक्ष लोक-नियत्रण की शक्ति प्रदान करते है और कई राज्यो मे निर्वाचकमण्डल को ये अधिकार प्राप्त नही है।

(क) निर्वाचन-प्रणाली

(1) **मताधिकार के प्रकार**—निर्वाचन-प्रणाली के आधार पर संवैधानिक *राज्य साधारणतः दो भागों में बँटते हैं : एक वे जिनमें वयस्क मताधिकार होता* है, और दूसरे वे जिनमें सशर्त मताधिकार होता है। वयस्क मताधिकार में तात्पर्य निश्चित आयु के ऊपर के समस्त स्त्रियों एवं पुरुषों को समान रूप से बिना किसी अपेक्षित योग्यता के प्रतिबन्ध के मताधिकार से है। इनमें केवल ऐसे व्यक्तियों का अपवर्जन होता है, जो अपराधी और पागल आदि हों। वयस्क-मताधिकार में सामान्यतया विधानमंडल के सदस्य के रूप में निर्वाचन के लिए खड़े होने का अधिकार शामिल होता है, हालाँकि उम्मीदवारी के लिए आयु मतदान के अधिकार के लिए निर्धारित आयु से कभी-कभी ऊँची होती है।

कुछ राज्यों में पूर्ण वयस्क मताधिकार की ओर प्रगति धीमी और क्रमिक रही। उदाहरणार्थ, ब्रिटेन में 1832 के सुधार अधिनियम (Reform Act) से आरंभ कर 1928 के लोक प्रतिनिधित्व अधिनियम (Representation of the People Act) के पारित होने तक इस प्रक्रिया में एक शताब्दी से अधिक लग गया जिसमें ब्रिटेन आंशिक पुरुष-मताधिकार की अवस्थाओं में से होकर पूर्ण पुरुष मताधिकार की अवस्था में और आंशिक महिला मताधिकार की अवस्था में से होकर महिलाओं और पुरुषों की समानता की अवस्था में पहुँच गया है। अन्य देशों में, उदाहरणार्थ प्रथम विश्वयुद्ध के परिणामस्वरूप निर्मित अधिकांश नये राज्यों में, इनके पहले संविधानों में ही एकदम पूर्ण वयस्क मताधिकार स्वीकृत कर लिया गया। कहीं-कहीं, युद्ध जनित सक्रियता के परिणामस्वरूप सशर्त पुरुष मताधिकार एकदम पूर्ण वयस्क मताधिकार में परिणत हो गया। द्वितीय विश्वयुद्ध के परिणामस्वरूप जापान में यही हुआ। वहाँ युद्धपूर्व के संविधान में मतदाता के लिए साक्षरता की योग्यता निर्धारित थी और उसे मत-पत्र पर उम्मीदवार का नाम लिखना पड़ता था परन्तु 1947 के संविधान के अनुसार 20 वर्ष और उससे अधिक की आयु वाले समस्त पुरुषों एवं महिलाओं को पूर्ण एवं समान मताधिकार मिल गया।

वास्तव में, अधिकांश राज्यों के संविधान महिलाओं और पुरुषों को समान निर्वाचन-अधिकार प्रदान करते हैं, इसका सर्वाधिक महत्वपूर्ण अपवाद स्विट्-जरलैंड है जहाँ महिला-मताधिकार अभी भी विवाद का विषय बना हुआ है। वहाँ कुछ केण्टनों में महिलाओं ने केण्टन सम्बन्धी मामलों में मताधिकार प्राप्त कर लिया है परन्तु अभी तक उनकी समान संघीय अधिकारों की माँग का विरोध होता रहा है। ऐसे भी राज्य बचे हैं जिनमें वयस्क मताधिकार होते हुए भी, मत देने के अधिकार के लिए कुछ विशिष्ट शर्तें रखी गई हैं। उदाहरणार्थ,

ब्राज़ील मे अठारह या अधिक वर्ष की आयु वाले किसी भी व्यक्ति को, चाहे वह स्त्री हो या पुरुष, यदि उसमे लिखने की योग्यता है, मत देने का अधिकार है। पुर्तगाल मे जहाँ मतदान की आयु 21 वर्ष है, पुरुषों के लिए साक्षरता की और महिलाओ के लिए शिक्षा-सम्बन्धी योग्यता निर्धारित है, परन्तु निरक्षर होते हुए भी कोई भी पुरुष, यदि वह एक निश्चित न्यूनतम से अधिक कर देता है तो, मत दे सकता है और कोई भी महिला जो परिवार की प्रमुख हो, यदि वह साक्षर है और एक निर्धारित न्यूनतम से अधिक कर देती है तो, मत दे सकती है। इन समस्याओ पर हम आगे के एक अध्याय मे विस्तार से विचार करेगे।

(2) ***निर्वाचन-क्षेत्र के प्रकार***—निर्वाचन-प्रणाली के दृष्टिकोण से विद्यमान सवैधानिक राज्यो मे भेद करने का एक और आधार निर्वाचन-क्षेत्र का स्वरूप भी है। यह भेद उन राज्यो के, जिनमे निर्वाचन-क्षेत्र से एक (अथवा अधिक-से-अधिक दो) और उन राज्यो के बीच है जिनमे निर्वाचन-क्षेत्र से कई सदस्य निर्वाचित होते है, इनमे दूसरी बात साधारणतया प्रजातन्त्र की उस नवीन प्रणाली से सम्बद्ध है, जो कि आनुपातिक प्रतिनिधित्व कहलाती है, जिसका उद्देश्य उन अल्पसख्यको का प्रतिनिधित्व सुनिश्चित करना है जिनकी उसके अभाव मे निर्वाचित मडल मे आवाज नही पहुँचती। परन्तु बहुसदस्य-निर्वाचन क्षेत्र मे आनुपातिक प्रतिनिधित्व का सिद्धान्त का पालन अनिवार्य नही है। उदाहरण के लिए फ्रास मे सन् 1919 और 1927 के बीच निर्वाचन-क्षेत्र निकटवर्ती, तथा पहले के पृथक्, निर्वाचन क्षेत्रों का समूह मात्र होता था। सन 1919 से पहले फ्रास के लोग एरॉनडीजमेंट्स (Arrondissements) अर्थात् जिला के आधार पर मतदान करते थे और उसके पश्चात् आठ वर्ष तक उन्होंने डिपार्टमेंट्स (Departments) अर्थात् प्रातो के आधार पर स्क्रूटिन दि लिस्ट (Scrutin de Liste) के नाम से ज्ञात पद्धति द्वारा मतदान किया। वास्तव मे तृतीय गणराज्य की स्थापना के बाद से फ्रास ने बारी-बारी से दोनो पद्धतियो का प्रयोग किया है। तृतीय गणराज्य के अन्तिम वर्षों मे उसने पुन एकल सदस्य निर्वाचन-क्षेत्र की पद्धति को अपनाया था, किन्तु इसके पश्चात् ही उसने अस्थायी सभा के निर्वाचन के लिए, जिसने चतुर्थ गणराज्य के सविधान का प्रारूप तैयार किया, सामूहिक मतदान की प्रणाली को पुन आरम्भ किया और सन् 1951 मे होने वाले साधारण निर्वाचन के लिए दलमैत्री की अतिजटिल प्रणाली का सूत्रपात किया। पचम गणतन्त्र मे फ्रास ने एकलसदस्य निर्वाचन-क्षेत्र प्रणाली फिर से स्वीकार कर ली, परन्तु उसमे द्वितीय मतदान की शर्त रखी गई है।

हम इस विषय पर बाद के एक अध्याय मे अधिक विस्तार के साथ विचार करेगे। यहाँ पर केवल यही कहना आवश्यक है कि इस विषय से आधुनिक सविधानी राज्यो को दो मोटी कोटियो मे बाँटने मे सहायता मिलती है। कुछ

राज्यों में एकलसदस्य निर्वाचन-क्षेत्र का निम्नसदन के निर्वाचनों के लिए और बहुसदस्य निर्वाचन क्षेत्र का उच्चसदन के निर्वाचन के लिए प्रयोग किया जाता है। उदाहरणस्वरूप आस्ट्रेलिया में ऐसा ही होता है। ब्रिटिश मतदाताओं के लिए भावी लोकतन्त्र में इस अर्थ में निर्वाचन क्षेत्रों की पुनर्व्यवस्था के संभावित लाभों पर विचार करना रुचिकर होगा।

(ख) द्वितीय सदन के प्रकार

द्वितीय सदन के प्रकारों के अनुसार विभाजन से आधुनिक संविधानवाद के एक बहुत ही दिलचस्प तुलनात्मक अध्ययन के लिए आधार प्राप्त होता है। इस शीर्षक के अधीन मुख्य विभाजन दो हैं द्वितीय सदन निर्वाचित होता है अथवा अनिर्वाचित। इन दोनों प्रकारों के बीच हमें आंशिक रूप में निर्वाचित और आंशिक रूप में गैर-निर्वाचित द्वितीय सदनों के कुछ वर्तमानकालीन एवं भूतकालीन बड़े दिलचस्प उदाहरण मिलते हैं। उदाहरणार्थ, गणतंत्र से पूर्व के स्पेन में, युद्ध से पहले के जापान में, मिस्र के पूर्ववर्ती राज्य में यही बात थी और आयर (आयरलैण्ड के गणतंत्र) तथा दक्षिण अफ्रीका (पहले के स्वशासी अधिराज्य की तरह नवीन गणतन्त्र में भी) में अब भी यही बात है। फिर भी यह मोटा विभाजन द्वितीय सदनों की समस्या का अध्ययन करने का अच्छा ढंग है।

निर्वाचित उच्च सदनों में विशेष रूप से अध्ययन करने योग्य संयुक्त राज्य, ऑस्ट्रेलिया, फ्रांस और इटली की सीनेटें, स्विट्जरलैंड में राज्य (अर्थात् केण्टन) परिषद (Council of States), जर्मनी के संघीय गणतंत्र में बुन्देसराट (Bundesrat) और जापान में (1946 से) पार्षद-भवन (House of Councillors) हैं, हालांकि इन द्वितीय सदनों के निर्वाचन की पद्धतियाँ सभी राज्यों में एक सी नहीं है। अनिर्वाचित द्वितीय सदनों के उल्लेखनीय उदाहरण ग्रेट ब्रिटेन की सामन्त सभा (हाउस ऑव लॉर्ड्स) तथा कनाडा की सिनेट हैं। साधारणतया जहाँ द्वितीय सदन निर्वाचित होता है, वहाँ यह, जैसी कि आशा की जानी चाहिए, अनिर्वाचित द्वितीय सदन की अपेक्षा अधिक प्रबल होता है। इस भांति, उदाहरणस्वरूप, जबकि संयुक्तराज्य अमरीका की सिनेट कांग्रेस के दोनों सदनों में अधिक प्रभावशाली है, वहाँ ग्रेट ब्रिटेन में सामन्तसभा (हाउस आव लॉर्ड्स) विधान कार्य को प्रभावित करने में लगभग शक्तिहीन हो गई है।

(ग) प्रत्यक्ष लोक-नियंत्रण

प्रत्यक्ष लोक नियंत्रणों में सबसे अधिक प्रयोग में आने वाला जनमत-संग्रह (Referendum) जिसे लोक निर्देश (Plebiscite) भी कहा जाता है। आधु-

निक युग मे उसका इतिहास तो बडा लम्बा है परन्तु उसका व्यापक प्रयोग हाल ही के वर्षों मे विशेषकर कुछ नय सविधानो क अनुसार होने लगा है। मोटी तौर से जनमत सग्रह वा अर्थ किसी सरकारी प्रस्ताव पर निर्वाचक मडल की राय जानने की प्रक्रिया है। परन्तु जिन ढगो से और जिन परिस्थितियो म सविधान क अनुसार किसी बात को निर्वाचको के अनुमोदन या उनकी अस्वीकृति के लिए प्रस्तुत की जा सकती है उनम बडी विभिन्नताएँ है। निर्वाचको के समक्ष एसा निवेदन किसी साधारण बिल के सम्बध म किया जा सकता ह या उसका सम्बध सविधान मे प्रस्तावित सशोधन से हो सकता है। यह एच्छिक अथवा अनिवाय हो सकता है। इसका प्रयोग स्विटजरलैण्ड म दोनो प्रकार के समग्र कान्फडरेशन (राज्य) के एव वैयक्तिक रूप मे कण्टनो के मामलो क सम्बध मे व्यापक रूप से होता है। इसके विपरीत अमरीका के सयुक्त राज्य म सघीय सविधान मे उसका कोई उल्लेख नहा है। ब्रिटन म कभी-कभी बिलकुल स्थानीय मामलो का छोड और किसी भी मामले म उसका प्रयोग नहीं होता।

लोक नियत्रण का दूसरा तरीका उपक्रम कहलाता है। जिसके अनुसार निर्वाचक मण्डल को बिल का प्रस्ताव करन और सवैधानिक सशोधन का सुझाव देने का अधिकार प्राप्त हाता है। इस विषय म भी विभिन्न राज्यो म काय प्रणालिया बडी विभिन्न ह। स्विटजरलैण्ड म उपक्रम का प्रयोग कान्फडरेशन और केण्टन दोनो मे सामान्य विधि निर्माण और सवैधानिक सशोधन दोनो के प्रयोजनो के लिए होता है। अमरीका के सयुक्त राज्य मे सघीय सविधान मे उपक्रम की व्यवस्था नहीं है परन्तु कई व्यक्तिगत राज्यो म उसका प्रयोग होता है और कुछ राज्यो मे तो सवैधानिक एव वैधिक दोनो प्रकार के प्रस्तावो के लिए होता है। इटली के गणतत्रीय सविधान म भी उपक्रम की व्यवस्था है।

अन्त मे एक और तरीका है जो प्रत्याह्वान (Recall) या वापस बुलाना कहलाता है। इससे निर्वाचको को असन्तोषजनक प्रतिनिधि को और कुछ अवस्थाओ मे निर्वाचित अधिकारियो को वापस बुलाने का अधिकार मिलता है, परन्तु आज उसका प्रयोग पहले की अपेक्षा कम हो गया है और अमरीकी सघ के कुछ राज्यो मे ही रह गया है। इन लोक नियत्रणो का विस्तृत अध्ययन हम दसवें अध्याय मे करगे।

6 कार्यपालिका का स्वरूप

ससदीय अथवा अससदीय

विभाजन का चौथा आधार कायपालिका का स्वरूप ह। जैसा कि हमने पहले कहा है कायपालिका का यह काय है कि वह नीति का निर्माण करे तथा उस नीति को तब कार्यान्वित करे जब कि उसे विधानमडल के माध्यम से विधि का

स्वीकृति प्राप्त हो जाए। समस्त संवैधानिक राज्यो मे कार्यपालिका की *शक्ति पर प्रतिबन्ध होते है, अर्थात् कार्यपालिका सदा ही किसी-न-किसी के प्रति* उत्तरदायी होती है। निस्सदेह, यह कहना ठीक होगा कि आधुनिक परिस्थितियो मे कार्यपालिका सदैव ही अन्त मे जनता के प्रति उत्तरदायी होती है, परन्तु क्योकि यह बात सभी जगह लागू होती है, अत इससे वर्गीकरण मे सहायता नही मिलती। यहाँ हम जिस प्रश्न का उत्तर देना चाहते हैं, वह तो यह है कि तात्कालिक उत्तरदायित्व किस के प्रति है। इस प्रश्न का उत्तर हमे सवैधानिक राज्यो को दो बडे वर्गो मे विभाजित करने का आधार प्रदान करता है; क्योकि व्यवहार-रूप मे कार्यपालिका या तो ससद् (अर्थात् विधानमडल) के प्रति उत्तरदायी होती है, जो उसे उस समय हटा सकती है जब कि वह उसका विश्वास खो दे *अथवा* कार्यपालिका नियतकालिक राष्ट्रपति-निर्वाचन जैसे अधिक दूरवर्ती नियत्रण के अधीन होती है। तात्कालिक रूप से ससद् के प्रति उत्तरदायी होने की अवस्था मे उसे **ससदीय कार्यपालिका** कहा जाता है। परन्तु यदि वह निश्चित अवधि पर किसी अधिक विस्तृत निकाय के प्रति तात्कालिक रूप से उत्तरदायी हो और ससदीय कार्यवाही द्वारा नही हटाई जा सकती हो तो उसे **असंसदीय** अथवा **स्थायी कार्यपालिका** कहा जाता है।

इस भेद से आधुनिक सवैधानिक राजनीति मे एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण विचार उत्पन्न होता है। विशेष रूप से यही हम एकतत्र तथा गणतत्र जैसे शब्दो पर आधारित विभाजन को निरर्थक पाते है। ग्रेट ब्रिटेन तथा इटली को ही लीजिए। इस आधार पर विचार करने से हम इस *भ्रम मे पड जायेंगे कि प्रथम* उदाहरण मे रानी तथा दूसरे मे राष्ट्रपति ही कार्यपालिका है, इनमे से कोई भी बात ठीक नही है। इसके विपरीत, इन दोनो अवस्थाओ मे ही कार्यपालिका मत्रिमडल है, क्योकि रानी और राष्ट्रपति दोनो मे सविधान के अनुसार ससद् के प्रति उत्तरदायी मत्रिमडल के माध्यम से कार्य करने के लिए बाध्य है।

अत, यह स्पष्ट है कि वे समस्त राज्य जिनमे कार्यपालिका निर्वाचित सभाओ के प्रति उत्तरदायी है, एक विशिष्ट कोटि के होते हैं। इस प्रकार की सरकार या तो मत्रिमडलीय सरकार कहलाती है, क्योकि ऐसे सभी राज्यो मे कार्यपालिका न्यूनाधिक रूप मे इस मत्रिमडल के नमूने की होती है जिसका रूप इगलैंड मे *अठारहवी शताब्दी मे धीरे-धीरे स्पष्ट होता जा रहा था, अथवा वह* उत्तरदायी सरकार कहलाती है।

इस शब्द का प्रयोग सामान्यतया ब्रिटिश कॉमनवेल्थ के स्वशासी अधिराज्यो म ही होता है जहाँ मत्रिमडलीय शासन की स्थापना उस प्रक्रिया के सिलसिले मे हुई है जिसके द्वारा ब्रिटिश सरकार ने अधिराज्यो के सम्बन्ध मे अपने मत्रियो का उत्तरदायित्व प्रत्यक्ष अधिराज्य की निर्वाचित सभा को सौंपा था। अभी

हाल ही मे, इसी प्रकार का हस्तान्तरण अफ्रीका, एशिया तथा केरिवियन सागर मे नये कॉमनवेल्थ-दशा मे, जिन्होंने द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद अपनी स्वतत्रता प्राप्त की है, हुआ है।

इस समय सबमे महत्वपूर्ण लोकतत्रीय राज्य जिसकी कार्यपालिका असंसदीय अथवा स्थायी है, अमरीकन कॉमनवेल्थ (अमरीका का सयुक्तराज्य) है। पिछले जर्मन साम्राज्य मे भी कार्यपालिका स्थायी ही थी, यद्यपि वह अमरीका की कार्यपालिका से बिलकुल भिन्न प्रकार की थी। साम्राज्यवादी जर्मनी मे स्वय सम्राट बडे मच्चे अर्थ म कार्यपालिका था, क्योकि वह इम्पीरियल चासलर (प्रधान मत्री) के माध्यम से कार्य करता था, जिसे वह अपनी इच्छा से नियुक्त अथवा पदच्युत कर सकता था। जैसा 1890 के चालक का परित्याग (Dropping the pilot) के सुप्रसिद्ध प्रकरण मे स्पष्ट हो गया था, जब कि कैसर, विलहेल्म द्वितीय ने बिस्मार्क को पदच्युत कर दिया था। परन्तु यह निस्स-देह ही जर्मनी का पुराना युग था। वेमर गणतत्र (सन् 1919) के सविधान के अधीन कार्यपालिका ससदीय प्रकार की थी। जर्मनी म इस महान् सुधार का कारण राष्ट्रपति विल्सन की यह माँग थी कि सन् 1918 मे जर्मनी के साथ अपनी सधिसबधी वार्ता करते समय उन्हें यह आश्वासन हो कि वे एक लोकतत्रीय सरकार के साथ बात कर रहे हैं। हिटलर के अधिनायकतत्र में कार्यपालिका स्पष्टत ससदीय नहीं थी, परन्तु वह शासन किसी भी दशा मे सवैधानिक राजनीति के अन्तर्गत नहीं था। इटली के फासिस्ट शासन के सबध मे भी यही बात थी। सभी साम्यवादी देशों मे भी कार्यपालिका (जो एक विशिष्ट प्रकार की है और पश्चिमी सवैधानिक राज्यो के सामान्य वर्गीकरण मे नही आती) को इस अर्थ मे स्थायी मानना चाहिये क वह किसी न किसी प्रकार से उन राज्यो की विशिष्ट सोवियत या सोवियत-प्रकार की विधान सभाओ के प्रति उत्तरदायी नहीं है।

सयुक्तराज्य मे कार्यपालिका के अन्तर्गत राष्ट्रपति तथा उसके मत्रिगण होते हैं। परन्तु मत्रिगण का काग्रेस (ससद्) की इच्छा के अधीन होना तो दूर रहा, उन्हें प्रतिनिधि-सदन अथवा सिनेट में बोलने अथवा मत देने की भी अनुमति नहीं है। कार्यपालिका तथा विधानमडल मे वैयक्तिक सपर्क राष्ट्रसभा को सबोधित राष्ट्रपति के सदेश के माध्यम से ही होता है जो वर्ष मे एक बार सबोधित किया जाता है (अथवा अधिक बार भी किया जा सकता है यदि असाधारण परिस्थितियो में विशेष सत्र की आवश्यकता हो)। वहाँ कार्यपालिका पर केवल यही नियत्रण है कि राष्ट्रपति का निर्वाचन होता है जो प्रति चार वर्ष मे होता है। परन्तु एक बार निर्वाचित हो जाने पर राष्ट्रपति अपने मत्रियो को सिनेट के अनुमोदन के अनुकूल चुन तथा पदच्युत कर सकता है। राष्ट्रपति को उसके पद की निश्चित अवधि के बीच में ऐसे वास्तविक दुराचरण के सिवाय अन्य किसी

कारण से भी नहीं हटाया जा सकता, जिसके लिए उस पर महाभियोग चलाया जा सकता है, अर्थात् कांग्रेस द्वारा उस पर अभियोग चलाया जा सकता है और अपने कार्यकाल के अन्त में वह बना रहे अथवा न रहे, यह केवल जनता की इच्छा पर, जैसी कि वह निर्वाचन में अभिव्यक्त होती है, निर्भर है। चूंकि कार्यपालिका का यह प्रकार जिसे हमने असंसदीय या स्थायी कहा है, इस तरह अमरीकी राष्ट्रपति के पद से घनिष्ठ रूप से संबद्ध है, अतः उसे मंत्रिमंडल-सरकार के मुकाबले में राष्ट्रपति-सरकार भी कहा जाता है।

7 न्यायपालिका का स्वरूप

विधि का शासन अथवा प्रशासनिक विधि

वर्गीकरण का हमारा अन्तिम आधार शासन के तीन विभागों में से तीसरे अर्थात् न्यायपालिका से संबंधित है और जिस विषय पर हमने अभी विचार किया है उसी से इसका विवेचन आवश्यक हो जाता है। संविधानी राज्यों में विधानमंडल के समान ही न्यायपालिकाओं का वर्गीकरण करने के भी अनेक संभव तरीके हैं किन्तु उनमें बहुत-से उस विषय के अन्दर ही आ जाते हैं जिस पर हमने अभी विचार किया है और आगे करेंगे। उदाहरण के लिए हम उनका इस प्रकार वर्गीकरण कर सकते हैं—वे न्यायपालिकाएँ जो विधानमंडलों के अधिनियमों पर आपत्ति कर सकती हैं तथा उनका निर्वचन अथवा व्याख्या कर सकती है, जैसा संयुक्तराज्य अमरीका में होता है, तथा वे न्यायपालिकाएँ जो बिना कोई आपत्ति किए ऐसे अधिनियमों को लागू करने को बाध्य हैं, जैसे ग्रेट ब्रिटेन में। परन्तु यह ऐसा अन्तर है जिसकी हम राज्य के तथा संविधान के स्वरूपसंबंधी अधिक विस्तृत व्याख्या में मीमांसा करेंगे। यहाँ पर वास्तविक महत्त्वपूर्ण अन्तर न्यायपालिका का कार्यपालिका से संबंध के बारे में है।

अधिकांश महाद्वीपीय राज्यों में विधि की एक विशेष प्रणाली है, जिसके अनुसार राज्य के कर्मचारियों की उनके शासकीय कर्त्तव्यों के सम्पादन के समय रक्षा की जाती है, यदि वे उन कर्त्तव्यों के करने के कारण ऐसे कार्यों के दोषी होते हैं, जो यदि अशासकीय व्यक्तियों के द्वारा किए जाते, तो अवैध होते। इस प्रणाली का जन्म फ्रांस में हुआ था, जहाँ इसे प्रशासनीय विधि (ड्रॉइट एडमिनिस्ट्रेटिव) के नाम से पुकारा जाता है। महाद्वीप के अनेक राज्य जिन्हें ब्रिटिश नमूने पर अपनी कार्यपालिका प्रणालियों के बनाने में अन्य रूप से सनाप्त हुआ है, प्रशासनिक विधि को अंगीकृत करने में आंग्ल-सैक्सन भावना से बिलकुल हट गए हैं, क्योंकि ब्रिटेन में तथा उन समुदायों में, जो प्रत्यक्ष रूप से उससे उत्पन्न हुए हैं, और जो उसकी वैधिक प्रणाली को अपनाए हुए हैं, भले ही उन सबों ने उसकी संविधानी प्रणाली को न अपनाया हो, शासकीय कर्मचारियों

की रक्षा के लिए प्रशासनिक विधि की कोई विशेष प्रणाली नहीं है। यूनाइटेड *किंगडम, स्वशासी अधिराज्यों* नय कामनवेल्थ देशों तथा अवशिष्ट औपनिवेशिक प्रदेशों में संयुक्तराज्य में और कम से कम उनके संविधानों के अनुसार लेटिन-अमरीकी गणतन्त्रों में (जो कि प्राय संयुक्तराज्य अमरीका के नमूने पर बने हैं) शासकीय कर्मचारी विधि की दृष्टि में ठीक उसी स्थिति में है जिसमें कि अ-शासकीय नागरिक और न्यायपालिका राज्य-पदाधिकारियों की ओर से किए गए ऐसे कार्यों के सम्बन्ध में जिनसे प्रजाजनों की स्वतन्त्रता का उल्लंघन होता हो, राज्य की आवश्यकता की युक्ति का स्वीकार नहीं कर सकती। शासकीय कर्मचारियों की यह अनुन्मुक्ति ही **विधि का शासन** कहलाती है।

यह अन्तर विधिप्रणालियों के अन्तर के कारण है। इंगलैण्ड की देश विधि (Common Law) जो अपने प्रारम्भ तथा विकास में महाद्वीप के राज्यों की विधिसंहिताओं से इतनी भिन्न है, विधि के शासन की आधार शिला है, जो शासकीय कर्मचारियों को इस प्रकार अरक्षित छोड़ देती है। दूसरी ओर, महाद्वीप में विधिसंहिता-निर्माण की अधिक औपचारिक पद्धतियों के अन्तगत विशिष्ट प्रशासनिक न्यायालयों (जो कि विधिसंहिता के बाहर कार्य करते हैं) के द्वारा राज्य के कर्मचारी की रक्षा की जाती है और ये न्यायालय उसे नागरिक के मुकाबले में विधि के समक्ष विशेषाधिकार प्रदान करते है।

हम राज्यों को दो कोटियों में विभाजित करके इस भेद को संक्षेप में इस भांति व्यक्त कर सकते है (1) देश विधि वाले राज्य जिनमें कार्यपालिका, विधि के शासन के अधीन रहने से, अरक्षित रहती है, और (2) विशेषाधिकार *वाले राज्य जिनमें प्रशासनिक विधि की एक विशिष्ट प्रणाली से कार्यपालिका* की रक्षा प्रदान की जाती है।

8 सारांश

निम्नलिखित सारणी की परीक्षा करते समय पाठक को यह स्मरण रखना चाहिए कि कोई भी एक राज्य जिसे वह परीक्षण के लिए चुने, अपनी समस्त विशिष्टताओं में आवश्यक रूप से एक ही प्रकार का अनुरूप नहीं होता। प्रत्येक राज्य को विभाजन के प्रत्येक आधार पर पृथक् रूप से देखना चाहिए। उदाहरण के लिए ब्रिटेन और संयुक्तराज्य को ही लीजिए। ब्रिटेन प्रथम आधार पर प्रथम प्रकार का है, द्वितीय आधार पर भी प्रथम प्रकार का है, तृतीय आधार (1) (क) पर प्रथम प्रकार का है, तृतीय आधार (1) (ख) पर प्रथम प्रकार का है, तृतीय आधार (2) पर प्रथम प्रकार का है, तृतीय आधार (3) पर दूसरी प्रकार का है, चतुर्थ आधार पर प्रथम प्रकार का है तथा पंचम आधार पर भी प्रथम प्रकार का है। संक्षेप में, ब्रिटेन नम्य संविधान, वयस्क मताधिकार के

आधार पर निर्वाचित विधानमंडल, एकलसदस्य-निर्वाचन-क्षेत्रों, अ-निर्वाचित द्वितीय सदन वाला विधानमंडल पर प्रत्यक्ष लोक-नियंत्रण से रहित तथा विधि-शासन के अधीन संसदीय कार्यपालिका से युक्त एक एकात्मक राज्य है। दूसरी ओर, संयुक्तराज्य प्रथम आधार पर द्वितीय प्रकार का, द्वितीय आधार पर द्वितीय प्रकार का, *तृतीय आधार (1) (क) पर प्रथम प्रकार का, तृतीय आधार (1)* (ख) पर प्रथम प्रकार का, तृतीय आधार (2) पर द्वितीय प्रकार का, तृतीय (3) आधार पर (संघीय प्रयोजनों के लिए किन्तु आवश्यक रूप में राज्यों के प्रयोजन के लिए नहीं) द्वितीय प्रकार का, चतुर्थ आधार पर द्वितीय प्रकार का तथा पंचम आधार पर प्रथम प्रकार का है। दूसरे शब्दों में, संयुक्तराज्य अनम्य संविधान, वयस्क-मताधिकार पर निर्वाचित विधानमंडल,एकलसदस्य-निर्वाचनक्षेत्र,निर्वाचित द्वितीय सदन वाला संघीय विधानमंडल पर प्रत्यक्ष लोक-नियंत्रण से रहित तथा विधि के शासन के अधीन अ-संसदीय कार्यपालिका से युक्त एक संघराज्य है।

अपना वर्गीकरण संक्षेप में निम्नलिखित सारणी में प्रकट किया जा सकता है —

आधुनिक संविधानी राज्यों का वर्गीकरण

विभाजन का आधार	प्रथम प्रकार	द्वितीय प्रकार
1 उस राज्य का स्वरूप जिससे संविधान लागू होता है।	एकात्मक	संघीय अथवा संघीयवत्
2 स्वयं संविधान का स्वरूप	नम्य (आवश्यक रूप से अलिखित नहीं)	अनम्य (आवश्यक रूप से पूर्णरूप में लिखित नहीं)
3 विधानमंडल का स्वरूप	(1) (क) वयस्क-मताधिकार	मशर्त वयस्क-मताधिकार
	(ख) एकलसदस्य निर्वाचन-क्षेत्र	बहुसदस्य निर्वाचन-क्षेत्र
	(2) गैर निर्वाचित द्वितीय सदन	निर्वाचित या आंशिक रूप में निर्वाचित द्वितीय सदन
	(3) प्रत्यक्ष लोक-नियंत्रण	ऐसे नियंत्रण का अभाव
4 कार्यपालिका का स्वरूप	संसदीय	असंसदीय
5 न्यायपालिका का स्वरूप	विधि के शासन के अधीन (देश विधि वाले राज्यों में)	प्रशासनिक विधि के अधीन (विशेषाधिकार वाले राज्यों में)

अब हम संवैधानिक राज्यों के इन लक्षणों में से प्रत्येक के पूर्णतर विवेचन की ओर अग्रसर होंगे।

4

एकात्मक राज्य

1 आन्तरिक तथा बाह्य प्रभुत्व

हम कह चुके है कि एकात्मक राज्य वह राज्य है जिसमे हम "सर्वोच्च विधायी शक्ति का एक केन्द्रीय सत्ता द्वारा अभ्यस्त प्रयोग' पाते हैं, जब कि सघराज्य "एक ऐसी राजनीतिक योजना है जिसका उद्देश्य राज्य के अधिकारों' का राष्ट्रीय ऐक्य तथा शक्ति के साथ सामजस्य स्थापित करना है," अर्थात्, सक्षेप मे, ऐसा शासन जिसमे विधायी सत्ता केन्द्रीय अथवा सघीय शक्ति और ऐसी लघुतर इकाइयो मे विभाजित रहती है जो अपनी शक्ति की पूर्णता के अनुसार कभी-कभी राज्य अथवा कैण्टन और कभी-कभी प्रात भी कहलाती हैं। इसको स्पष्ट करने के लिए हमे प्रभुत्व के विषय पर अपने प्रारभिक विवरण का कुछ और विस्तार करना चाहिए। प्रभुत्व की समस्या एक अत्यत कठिन समस्या है। राजनीतिक दार्शनिको और वैधिक सिद्धान्तकारो ने अपनी पुस्तको के असख्य पृष्ठो मे इसके विवेचन का प्रयत्न किया है, फिर भी यह आज की राजनीति का प्रमुख प्रश्न बना हुआ है। जैसा कि हम पहले भी देख चुके है, प्रभुत्व के आन्तरिक तथा बाह्य दो पहलू है। हमने आन्तरिक प्रभुत्व की परिभाषा यह कह कर की है कि वह राज्यो मे एक व्यक्ति या व्यक्तियो के निकाय का उसके क्षेत्राधिकार के अन्दर व्यक्तियो या व्यक्तियो की सस्थाओ पर प्राधान्य है और बाह्य प्रभुत्व की परिभाषा एक राज्य की अन्य सब राज्यो के मुकाबले मे पूर्ण स्वतन्त्रता के रूप मे की है।

जहाँ तक कि आतरिक प्रभुत्व की बात है, सारा प्रश्न 'राज्य' शब्द के अर्थ पर केन्द्रित है। एक बार यह मान लेने पर कि राज्य, अपने अन्दर के व्यक्तियो के, राजनीतिक रूप मे सघटित सम्पूर्ण समाज के अतिरिक्त और कुछ नही है, रूसो के इस सिद्धान्त के तर्क की आप प्रशसा किए बिना नही रह सकते कि प्रभुत्व लौकिक, अविभाज्य तथा अविच्छेद्य होता है। यद्यपि यह कहा जाता है कि प्रभुता शासन मे निहित होती है, तथापि अतत यह शासितो की शक्ति मे ही होती है। किसी भी समय का अत्यन्त निरकुश शासन भी इस सत्य के बल पर अपनी निरकुशता मे सीमित रहता है कि जैसा डेविड ह्यूम ने बहुत पहले कहा था, शक्ति सदा ही शासितो के पक्ष मे रही है जो विद्रोही विचारो से अत्यधिक विचलित

होने पर शासन को उलट देने के लिए क्रान्ति कर सकते है। जैसे जैसे हम निरंकुश राज्यों से सांविधानिक राज्यों की ओर अग्रसर होते हैं, वैसे ही वैसे यह मर्यादा और अधिक स्पष्ट हो उठती है। लेस्ली स्टीफेन ने लिखा है "यदि कोई विधानमडल यह निश्चय करे कि नीली आंखो वाले सभी शिशुओं का वध कर दिया जाय तो नीली आंखो वाले शिशुओं का सरक्षण अवैध होगा, परन्तु ऐसी विधि पारित करने वाले विधायक पहले से ही पागल होने चाहिये और ऐसी विधि को मानने वाले प्रजाजन पहले से ही विवेकशून्य होने चाहिए।"

हम वैध प्रभु तथा राजनीतिक प्रभु के भेद को बता चुके है और उदाहरण-स्वरूप यह भी कह चुके हैं कि, उदाहरणार्थ, ग्रेट ब्रिटेन में 'संसद् सहित रानी' वैध प्रभु है तथा निर्वाचक मडल राजनीतिक प्रभु है जो वैध प्रभु को अपनी इच्छा के अनुकूल बना सकता है। यदि आप कहे कि व्यावहारिक रूप में ऐसा दिखाई देना बड़ा कठिन है, तो इसका तात्पर्य यह नही है कि आप जनता की राजनीतिक प्रभुता की वास्तविकता से इनकार कर रहे हैं, आप केवल इतना ही सकेत कर रहे हैं कि लोक-इच्छा की अभिव्यक्ति का माध्यम अच्छी प्रकार कार्य नही कर रहा है। कम-से-कम यह कहना उचित ही होगा कि आधुनिक प्रतिनिधि-शासन, जहां तक कि ससार अब तक पहुँच सका है, वैध तथा राजनीतिक प्रभुओं में उस सीमा तक एकरूपता स्थापित कर सका है, जहां तक वैसा कर सकना सम्भव है। ऐसे प्रतिनिधि शासन की स्थापना रिवाज और विधियों के द्वारा अथवा किसी पूर्ण दस्तावेज के द्वारा होती है और ये दोनों सविधान कहलाते हैं। एक दृष्टिकोण से सविधान शासन तथा शासितो के बीच के सबधो को परिभाषित करने का एक प्रयास है। इस भाँति, जहां सिद्धांत में वैध प्रभु की प्रभुता का परिसीमन नही किया जा सकता तथा जनता की प्रभुता अविच्छेद्य रहती है, वहां व्यावहारिक रूप मे एक की प्रभुता पर्याप्त रूप से सीमित रहती है और दूसरे की प्रभुता का सामाजिक शांति तथा राजनीतिक सामजस्य के हेतु एक बहुत बड़ी सीमा तक त्याग कर दिया जाता है।

इस प्रकार सविधानी राज्य किसी विशिष्ट शासन का अधिकार-क्षेत्र है जिसके कृत्यों का निरूपण उस राज्य के सविधान में किया जाता है। इस भांति सविधान राज्य की आन्तरिक तथा बाह्य दोनों सीमाओं का निरूपण करता है और राज्य की सीमाएँ उसके बाह्य सबधों पर विचार करते समय अत्यन्त महत्त्वपूर्ण बन जाती हैं। आन्तरिक प्रभुता के समान ही बाह्य प्रभुता भी सिद्धान्त-रूप मे असीमित है, परन्तु व्यवहार में यह या तो सबधित समुदाय की शांति की इच्छा से अथवा किसी ठोस लाभ की दृष्टि से निश्चयात्मक रूप मे अथवा किसी पड़ोसी राज्य की उस समुदाय को कुचल डालने की शक्ति के भय से निषेधात्मक रूप में सीमित रहती है। इन दोनों में से किसी भी अवस्था का यह परिणाम

हो सकता है कि वह राज्य अन्य राज्यों के साथ अपनी परिस्थिति के अनुसार न्यूनाधिक रूप मे वास्तविक *सयोग स्थापित कर ले।* ऐसे *सयोग* का सबसे सरल रूप सश्रय (Alliance) है जो या तो प्रतिरक्षात्मक (अर्थात् किसी भी सदस्य-राज्य पर आक्रमण होने की अवस्था मे उसे सशस्त्र सहायता देना) या आक्रमणात्मक (अर्थात् उसके किसी एक सदस्य के आक्रमणकारी होने पर भी उसे सशस्त्र सहायता देना) हो सकता है। यह प्रभुता पर कोई औपचारिक मर्यादा नही है, क्योंकि सश्रय का कोई भी सदस्य, जब भी वह चाहे, अपनी शर्तों का त्याग करने के लिए स्वतन्त्र है, भले ही सश्रय की शर्तों मे कोई अवधि निर्धारित क्यो न हो। इसका एक उदाहरण वह घटना है जब कि इटली ने जर्मनी तथा आस्ट्रिया के साथ हुई त्रि मैत्री से सन 1914 का महायुद्ध छिड़ने पर अपने को अलग कर लिया और अगले वर्ष ही अपने पूर्व मित्र के शत्रुओं के साथ मित्रता कर ली। ऐसा ही पक्ष परिवर्तन इटली ने सन् 1943 मे भी किया था।

कोई राज्य कतिपय घटनाओं के अवसर पर कतिपय कार्यों को करने अथवा न करने की प्रतिज्ञा करते हुए भी अन्य राज्यो के साथ सयोग स्थापित कर सकता है। परन्तु, जैसा कि हम सन् 1914,मे बेल्जियम पर जर्मनी के द्वारा किए गए आक्रमण मे देख चुके हैं, यह भी प्रभुता पर वास्तविक प्रतिबंध नही है। इससे भी आगे बढकर वह कदम है जब कि कोई वैयक्तिक सयोग स्थापित होता है, जब दो या अधिक राज्य केवल इस माने मे सयुक्त होने हैं कि उनके ऊपर एक ही राजा राज्य करता है। इसका एक उदाहरण सन् 1714 से लेकर 1837 तक ब्रिटेन तथा हेनोवर का सबध है। इस भाँति दो या अधिक राज्य, जो वश के आधार पर सयुक्त होते है, *आगे बढकर राजनयिक इकाई के रूप मे विश्व के सामने आ* सकते है, जैसे सन् 1867 से 1918 तक के आस्ट्रिया तथा हगरी और सन् 1815 से 1905 तक के नॉरवे तथा स्वीडेन ने किया। परन्तु केवल मैत्री कर लेना, एक ही राज्यप्रमुख का एक से अधिक बार राज्याभिषेक करना, राजनयिक इकाई के रूप मे ससार के सामने आना—ये सब ऐसे कार्य नही हैं जिनसे पहले के दो या अधिक राज्य सयुक्त होकर एक नया राज्य बन सकें, क्योंकि राज्य के पास आन्तरिक तथा बाह्य प्रभुता होती है और उस प्रभुता का औपचारिक परिसीमन ही वास्तव मे उसके राज्यत्व मे कमी कर सकता है।

2. राज्य के समाकलन की प्रक्रिया

राज्य का स्वरूप उसकी प्रभुता से निर्धारित होता है। आज हमारी जान मे कोई भी ऐसा राज्य नही है जिसके *वर्तमान स्वरूप का निर्माण समाकलन अथवा* एकत्रीकरण की प्रक्रिया द्वारा न हुआ हो। यह बात पूरी तरह सत्य है चाहे हम ग्रेट ब्रिटेन और फ्रास जैसे राज्यो पर, जिनकी जडे बहुत प्राचीन है, या चेकोस्लो-

वाकिया और युगोस्लाविया जैसे अपेक्षाकृत नवीन राज्यों पर विचार करें, क्योंकि संयोजन के प्रारंभ और उसके विकास की परिस्थितियों के अनुसार उसकी प्रक्रिया भी धीमी अथवा तीव्र हो सकती है। समाकलन की प्रक्रिया का निश्चय युद्ध के द्वारा हो सकता है, जहाँ कि एक स्थानीय इकाई दूसरी पर विजय प्राप्त करके उसे अपने में सम्मिलित कर लेती है। रोम, इंगलैंड तथा फ्रांस के प्रारंभिक इतिहास में यही हुआ अथवा युद्ध की संभावनाओं से अनेक पड़ोसी इकाइयाँ एक साथ स्वाधीन हो सकती है, जिनके सामने उस संकट के कारण से ही अपने सामान्य लाभ की दृष्टि से किसी भी प्रकार का संघ स्थापित करने की समस्या उपस्थित हो गई है। ऐसा सन् 1873 में अमरीकी उपनिवेशों तथा सन् 1918 में सर्ब, क्रोट तथा स्लोवीन लोगों के साथ हुआ। इसके अतिरिक्त यह भी हो सकता है कि विभिन्न बिखरी हुई इकाइयाँ किसी भी ऐसे संकट के कारण, जिसके अस्तित्व की तब तक संभावना भी नहीं हुई हो, एक संघ के निर्माण की आवश्यकता का अनुभव करें। उन्नीसवीं शताब्दी के अंत में आस्ट्रेलिया की परिस्थिति ऐसी ही थी।

परन्तु किसी भी दशा में, समाकलन के प्रश्न के उठने पर, संबंधित समाजों को *यह निश्चित करना पड़ता है कि उनका समाकलन संघ के निर्माण द्वारा होगा* अथवा पारस्परिक विलय के द्वारा। यदि समाकलन संघनिर्माण के द्वारा होता है तो कम-से-कम व्यवहार में प्रभुता का विभाजन हो जाता है, उसका कुछ अंश संघनिर्माणकारी इकाइयाँ अपने पास रख लेती हैं और कुछ अंश वे उस केन्द्रीय संस्था को समर्पित कर देती हैं जिसकी उन्होंने स्थापना की है। यह स्वीकार करना पड़ेगा कि संघनिर्माण की दशा में, समस्त व्यावहारिक प्रयोजनों के लिए प्रभुता विभक्त रहती है। जैसा कि हम पहले कह चुके हैं, यह सच है कि सिद्धान्त रूप में *प्रभुता अविभाज्य है किन्तु संघीय व्यवस्था की विचित्र कठिनाई का सामना* करने का एकमात्र तर्क संगत उपाय यह मान लेना ही है कि संघबद्ध होने वाले राज्य पहले जिस प्रभुता को वैयक्तिक रूप में धारण करते थे वह दो सत्ताओं—संघ की और राज्यों की—में विभाजित हो जाती है। यह बात ध्यान में रखनी चाहिए कि यह संश्रय से बिलकुल भिन्न व्यवस्था है। संघबद्ध होने वाली इकाइयाँ अपनी बाह्य प्रभुता का केन्द्रीय सत्ता के पक्ष में पूर्णरूप से त्याग कर देती हैं, और उनकी आन्तरिक प्रभुता केवल भग्न रूप में उनके पास रहती है, क्योंकि कुछ *ऐसी शक्तियाँ भी होती हैं जिनका प्रयोग पहले प्रत्येक इकाई की सरकार* अपने प्रत्येक नागरिक पर करती थी परन्तु अब उनका प्रयोग केवल संघ-सरकार ही कर सकती है।

अन्ततोगत्वा, वास्तव में प्रभुता का विभाजन नहीं होता। संघ-व्यवस्था में वैध प्रभु स्वयं संविधान है जो संघ तथा राज्य की सत्ताओं में शक्तियों का

विभाजन करता है। जब अनेक राज्य संघ द्वारा समाकलित होते हैं तो वे संविधान में निर्धारित शर्तों को स्वीकार करते हैं। संविधान एक संधि है, परन्तु यह एक विशिष्ट पवित्रतायुक्त संधि है, जिसका अतिक्रमण कोई भी संविदाकारी पक्ष उसमें उल्लिखित प्रक्रिया का अनुसरण किए बिना नहीं कर सकता। अतएव, संघ व्यवस्था के अन्तर्गत राज्यों का उल्लेख गौण प्रभुत्वपूर्ण निकायों के रूप में करना ठीक ही होगा।

इसके विपरीत यदि समाकलन विलीनीकरण का रूप लेता है तो समाकलित होने वाली इकाइयों के पास कोई भी शक्ति नहीं रह जाती। वे पृथक् रूप से दो या अधिक प्रभुत्वपूर्ण शक्तियाँ होती हैं परन्तु केवल एक संधि करके आपस में मिलकर एक हो जाने के लिए। सभी शक्तियाँ पारस्परिक रूप से त्याग करके एक समान उपकरण (Organ) को सौंप दी जाती हैं, जो संघीय नहीं बल्कि *केन्द्रीय सरकार होती है। उस अवस्था में आन्तरिक तथा बाह्य दोनों प्रभुताएँ* पूर्ण रूप से केन्द्रीय सरकार के पास रहती है तथा इस व्यवस्था के बल पर यह गौण प्रभुत्वपूर्ण निकायों को स्वीकार नहीं करती। यही एकात्मक राज्य है।

3. एकात्मक राज्य की सारभूत विशेषता

हम यह कह चुके हैं कि संघीय राज्य के संबंध में व्यावहारिक प्रयोजनों के लिए हम विभाजित प्रभुता की बात कर सकते हैं। एकात्मक राज्य की सारभूत विशिष्टता यह है कि उसमें प्रभुता अविभाजित होती है अर्थात् केन्द्रीय सरकार की शक्तियाँ अप्रतिबन्धित होती है, क्योंकि एकात्मक राज्य का संविधान केन्द्रीय विधान सभा के अतिरिक्त किसी भी विधिनिर्माणकारी निकाय को स्वीकार नहीं करता। यदि केन्द्रीय सत्ता लघुतर निकायों को—भले ही वे स्थानीय सत्ताएँ हों अथवा औपनिवेशिक सत्ताएँ—अधिकार का प्रत्यायोजन (Delegation) सुविधाजनक समझती है तो वह ऐसा करती है, किन्तु स्मरण रहे कि *यह नियोजन वह अपनी शक्ति की पूर्णता के कारण करती है, इसलिए नहीं कि* संविधान के अनुसार उसे ऐसा करना चाहिए अथवा इसलिए कि राज्य के विभिन्न भागों की पृथक् सत्ता है जिसे उन्होंने बृहत्तर निकाय में सम्मिलित होने से पूर्व ही *किसी सीमा तक अपने पास रख लिया है।* इसका तात्पर्य गौण विधिनिर्माता निकायों का अभाव नहीं है, परन्तु इसका तात्पर्य यह है कि वे केन्द्रीय सत्ता की इच्छानुसार विद्यमान रहते हैं और समाप्त भी किए जा सकते हैं। अतएव, *इसका यही तात्पर्य है कि इन शब्दों के अर्थ की खींचतान कर इन सहायक निकायों* को गौण प्रभुत्वपूर्ण निकाय नहीं कहा जा सकता और अन्त में इसका यह तात्पर्य है कि केन्द्रीय तथा स्थानीय सत्ताओं के बीच ऐसा कोई विवाद उठने की संभावना ही नहीं रहती जिसका निपटारा करने की वैधिक शक्ति केन्द्रीय सरकार के पास न हो।

अत, (1) केन्द्रीय ससद की सर्वोच्चता, और (2) सहायक प्रभुत्वपूर्ण निकायो का अभाव, ये दोनो बाते एकात्मक राज्य की सारभूत विशेषताएँ कही जा सकती है।

(1) **केन्द्रीय ससद की सर्वोच्चता**—जहाँ कही भी हम एकात्मक राज्य देखते है वहाँ हमे केन्द्रीय ससद की सर्वोच्चता भी दिखाई देती है। बहुधा, जैसा कि हम अनम्य सविधान की चर्चा के समय देखेंगे, एकात्मक राज्य मे कुछ इस प्रकार के अधिनियम होते है जिन्हे सविधान कुछ विशिष्ट परिस्थितियो को छोडकर सामान्य परिस्थिति मे साधारण केन्द्रीय विधानमडल को पारित करने का अधिकार नही देता। परतु सघराज्य की केन्द्रीय ससद् पर इसकी अपेक्षा अधिक पूर्ण रूप मे ऐसा करने पर प्रतिबन्ध होता है। इसका कारण यह है कि सघीय सविधान, सविधान मे परिवर्तन करने के साधनो को ही नियत नही करता वरन यह भी व्यक्त करता है कि सघीय सत्ता की या सघनिर्माणकर्त्ता इकाइयो की क्या शक्तियाँ हैं। अत, सघराज्य मे दो प्रकार के विधानमडल होते है—सघ के तथा राज्यो के—जिनमे से प्रत्येक का अपना क्षेत्र होता है और उनमे से कोई भी सर्वव्यापी रूप मे सर्वोच्च नही होता। इसके विपरीत एकात्मक राज्य मे केवल एक ही प्रकार का विधानमडल होता है, जो सर्वदा और पूर्णरूप से सर्वोच्च होता है।

(2) **गौण प्रभुत्वपूर्ण निकायो का अभाव**—यह एकात्मक राज्य का दूसरा लक्षण है। गौण विधिनिर्माता निकायो तथा गौण प्रभुत्वपूर्ण निकायो के बीच मे जो अतर हमने प्रकट किया है वह एकात्मक राज्य की स्थानीय सत्ताओ और सघराज्य की राज्यसत्ताओ के बीच का अतर है। सघ मे राज्यसत्ता का सविधान के सबध मे विचार करने की बजाय सघसत्ता के सबध मे विचार करने पर यह अतर स्पष्ट हो जाता है। राज्यसत्ता को कुछ अधिकार होते है जिन्हें सघसत्ता बढाने अथवा घटाने मे असमर्थ है। ऐसा करने वाली एकमात्र शक्ति सविधान ही है जब कि उसमे इस दृष्टि से सशोधन किया जाता है और यह ऐसी क्रिया है जिसकी पूर्ति सघ का निर्माण करने वाले विभिन्न राज्यो की इच्छा जानकर ही हो सकती है। इस प्रकार, 'अमरीका का सयुक्तराज्य' कहलाने वाले सघ मे वर्जीनिया राज्य को ही लीजिए। इसे सविधान के द्वारा कुछ विषयो मे पूर्ण अधिकार प्राप्त हैं। सघीय विधानमडल (काग्रेस) का कोई भी अधिनियम वर्जीनिया को उसके अधिकारो से वचित नही कर सकता जब तक कि सविधान मे इस प्रयोजन से परिवर्तन न हो जाए (और अकेली काग्रेस मे ऐसा करने की शक्ति नही है)। इसकी, एकात्मक राज्य मे स्थानीय सत्ता तथा केन्द्रीय विधानमडल के सबधो से तुलना कीजिए। 'यूनाइटेड किंगडम' कहलाने वाले एकात्मक राज्य मे लदन-काउटी कौसिल को कुछ शक्तियाँ प्राप्त हैं, परन्तु ये सविधान के द्वारा न दी जाकर वेस्टमिन्स्टर मे स्थित ससद् के अधिनियम द्वारा दी गई हैं।

वेस्टमिस्टर में स्थित संसद् किसी भी समय अपने स्वयं के अधिनियम से लंदन काउंटी कौंसिल को इन शक्तियों में से समस्त या कुछ से वंचित कर सकती है। अंतर यही है कि अमरीका के संयुक्तराज्य की कांग्रेस किन्हीं भी परिस्थितियों में वर्जीनिया राज्य का समाप्त नहीं कर सकती, परन्तु यूनाइटेड किंगडम की संसद लंदन काउंटी कौंसिल को किसी भी उच्चतर शक्ति से पूछे बिना ही तोड़ सकती है।[1]

संक्षेप में, यदि केन्द्रीय सत्ता के अधीन कोई ऐसी सत्ताएं हैं जिनमें वह *(संविधान में निर्धारित मार्ग से भिन्न रूप में) केवल विधिनिर्माण की साधारण* प्रक्रियाओं से हस्तक्षेप करने में शक्तिहीन है, तो वह केन्द्रीय सत्ता संघीय सत्ता है और वह राज्य, जिस पर उसका ऐसा सीमित अधिकार है संघीय राज्य है। इसके विपरीत यदि केन्द्रीय सत्ता के अधीन ऐसी सत्ताएँ हैं जिन्हें वह अपनी इच्छा से स्थापित अथवा समाप्त कर सकती है तो वह सर्वोच्च सत्ता है, और वह राज्य, जिसके भीतर उसका ऐसा असीमित अधिकार है एकात्मक राज्य है। अब हम आधुनिक विश्व के कुछ महत्त्वपूर्ण एकात्मक राज्यों का विस्तृत अध्ययन करेंगे।

4. एकात्मक राज्य के रूप में यूनाइटेड किंगडम का विकास

यूनाइटेड किंगडम का विकास ऐसे एकात्मक राज्य के विकास का एक उत्तम उदाहरण है जिसमें समाकलन की प्रक्रिया संघ के माध्यम से न होकर विलीनीकरण के माध्यम से हुई है। विलीनीकरण की यह प्रक्रिया अत्यंत प्राचीन काल से देखी जा सकती है। ट्यूटॉनिक आक्रमण के प्रथम वेग के पश्चात् तुरत ही इंगलैंड में जितने लुटेरों के झुंड थे उतने ही छोटे-छोटे राज्य बन गए *तथा उन झुंडों में जितने मुखिया थे उतने ही राजा बन गए। जैसे-जैसे ये आक्र*मणकारी बसते गए, व्यक्ति की निष्ठा वैयक्तिक की जगह प्रादेशिक हो गई, और रोमन-कैल्टिक ब्रिटेन की विजय की वास्तविक क्रिया समाप्त होने से पूर्व ही लघुतर राज्यों को बड़े राज्य अपने में मिलाने लग गए थे। सन 613 तक चेस्टर के पतन के साथ, जब कि हम इस विजय को पूरा हुआ समझ सकते हैं,

---

[1] सन् 1960 में 'बृहत्तर लंदन में स्थानीय शासन के लिए राजकीय आयोग (Royal Commission on Local Government in Greater London) ने उस क्षेत्र में बरो (Boroughs) के पुनर्गठन, लन्दन काउन्टी कौंसिल की समाप्ति और बृहत्तर लन्दन की कौंसिल की स्थापना की सिफारिश की। सन् 1962 में सरकार ने इस योजना को समाविष्ट करते हुए एक बिल प्रस्तुत करने के अपने इरादे की घोषणा की जो 1962 में *विधि बन गया और* 1965 में उस पर अमल हुआ।

आरंभिक दुर्व्यवस्था में से सात राज्यों (Heptarchy) का उदय हो चुका था और ब्रिटनों के साथ हुए बाह्य संघर्ष का स्थान आक्रमणकारियों के सात राज्यों के पारस्परिक आन्तरिक संघर्ष ने ले लिया। बहुत शीघ्र ही यह सप्त-राज्य द्वि-राज्य में बदल गया। *इसके पश्चात् डेनों का आक्रमण हुआ*, परंतु विलीनीकरण की क्रिया को रोकने के लिए यह भी पर्याप्त नहीं था। डेन भी यहीं बस गए और अन्य लोगों की भांति वेसेक्स वंश के राजाओं के अधीन एक संयुक्तराज्य (United Kingdom) में समा गए।

नार्मनों की विजय से भी इंगलैंड के राज्य के एकात्मवाद को बल प्राप्त हुआ, *और वह लम्बी प्रक्रिया, जिसके फलस्वरूप इंगलैंड, वेल्स, स्कॉटलैंड तथा आयर*लैंड का एकीकरण हुआ, प्रारंभ हुई। वेल्स को प्रथम एडवर्ड ने जीता था तथा वेल्स-संविधि (सन् 1283) ने निश्चित रूप में उस देश को उसके बड़े निकटवर्ती देश में विलीन कर लिया। सन् 1603 में ट्यूडर वंश की समाप्ति तथा स्टुअर्ट वंश के, जिसका वंश-संबंध सीधा सप्तम हेनरी से था, राज्यासीन होने पर ग्रेट ब्रिटेन का समस्त द्वीप एक राजा के अधीन संयुक्त हो गया। परंतु इससे एकात्मक राज्य का निर्माण नहीं हुआ था। अधिक-से-अधिक वह एक वैयक्तिक एकीकरण था जो कि दोनों के लिए एक ही राजा के रूप में प्रकट हुआ था। इसके उपरान्त सन् 1707 के ऐक्य अधिनियम (Act of Union) ने इन दो राज्यों को एक पूर्ण इकाई में परिवर्तित कर दिया। इन दो राज्यों ने एक संधि की, परंतु इस संधि द्वारा प्रत्येक ने दूसरे को आत्मसात् कर लिया। उनकी राज्यों के रूप में पृथक् सत्ता उसी समय से मिट गई। यह इंगलैंड की (जिसमें वेल्स भी सम्मिलित था) *तथा स्कॉटलैंड की संसदों का एकीकरण नहीं बल्कि एक नई संसद् की* स्थापना थी जिसके अन्तर्गत दोनों राज्य थे। ऐक्य अधिनियम, संधि तथा संविधि दोनों ही था। ज्योंही दोनों संसदों ने इसे स्वीकार कर लिया, संविदाकर्त्ता पक्ष विद्यमान नहीं रहे और इसलिए इस संधि का अन्त हो गया। यह ग्रेट ब्रिटेन के राज्य की संविधि-संहिता (Statute Book) में एक मान्य अधिनियम बना रहा।

सन् 1800 में इसी प्रकार का विलीनीकरण ग्रेट ब्रिटेन तथा आयरलैंड में *हुआ। आयरलैंड सैद्धान्तिक रूप से बारहवीं शताब्दी में द्वितीय हेनरी के दिनों* से तथा वास्तव में पन्द्रहवीं शताब्दी के अन्त में सप्तम हेनरी के काल से अंगरेजी राजसत्ता के अधीन एक प्रांत था। सन् 1872 में आयरलैंड को विधायी स्वतन्त्रता प्राप्त हुई, परन्तु यह व्यवस्था टूट गई और सन् 1800 में द्वितीय ऐक्य अधिनियम पारित हुआ। यहाँ भी कुछ समय के लिए दो राज्य संधि करने के लिए मिले और फिर पृथक् सत्ताओं के रूप में लुप्त हो गए। इस भांति सन् 1800 से ग्रेट ब्रिटेन तथा आयरलैंड का संयुक्त राज्य विद्यमान रहा है और इसके विकास

की प्रक्रिया में जरा-सा भी सघीय तत्त्व नहीं रहा। न इगलैंड, न स्काटलैंड और न आयरलैंड किसी की भी, अल्पीकृत रूप में भी, प्रभुसत्ता नहीं रही, इनमें से प्रत्यक एक व्यापक राज्य में विलीन हो गया।

यह सत्य है कि स्कॉटलैंड तथा आयरलैंड की विशिष्ट विधियाँ जो कि यूनियन के पूर्व दोनों देशों में जारी थी, विद्यमान रहीं किन्तु केवल उसी सीमा तक जिस तक कि वे यूनियन के निबन्धनों के अनुरूप थीं और उस समय तक जहाँ तक कि उनको सयुक्त राज्य की ससद् ने—और यह एक महत्वपूर्ण बात है—निरसन नहीं कर दिया। और यह भी सत्य है कि उस समय के उपरान्त सयुक्त ससद् द्वारा पारित कुछ अधिनियमों में स्काटलैंड तथा आयरलैंड को विशेष रूप से उनके क्षेत्र से परे रखा गया है और कुछ अधिनियम उन देशों में से हर एक को पृथक् रूप से लागू हुए हैं। परन्तु यूनियन के दोनों अधिनियमों के निर्माताओं की यदि यह इच्छा रही भी हो कि इन अधिनियमों के उपबंध अपरिवर्तनीय रहें तो वह परीक्षण करने पर बिलकुल भ्रामक सिद्ध हुई है और इन अधिनियमों द्वारा आगामी ससदों को बाध्य करने के लिए यदि कोई प्रयत्न उपलक्षित रहा भी हो तो वह असफल ही रहा है, क्योंकि इन दोनों देशों में धर्म से सबध रखने वाले अधिनियम, जिन्हें स्थायी रखना अभिप्रेत था, तब से निरसित अथवा सशोधित कर दिए गए हैं। वह एकमात्र मार्ग, जिसके द्वारा सयुक्त ससद् का इन ऐक्य अधिनियमों में निर्हस्तक्षेप सुनिश्चित किया जा सकता था, ऐसे किसी विशेष निकाय को कायम रखना हो सकता था जो कि उनकी रक्षा अथवा उनमें परिवर्तन कर सकता, परन्तु ऐसी अवस्था में ब्रिटिश ससद् की प्रभुता की पूर्णता में कमी हो जाती और तब यह सयुक्त राज्य एकात्मक राज्य नहीं रहता बल्कि सघराज्य बन जाता। सन् 1922 में आयरिश स्वतन्त्र राज्य और 1927 में आयरिश गणतत्र की स्थापना से सयुक्त राज्य का क्षेत्र कट गया, परन्तु इससे उसके राजनीतिक स्वरूप पर मूलभूत रूप से कोई प्रभाव नहीं पड़ा, क्योंकि जो कुछ शेष रहा वह ग्रेट ब्रिटेन तथा उत्तरी आयरलैंड के सयुक्त राज्य के नाम से एक एकात्मक राज्य बना रहा।

ब्रिटिश साम्राज्य तथा राष्ट्रमडल के विकास तथा राजनीतिक सगठन में भी सघवाद के सिद्धान्त का इसी प्रकार अभाव है। कामनवेल्थ के सविधान जैसी वस्तु की चर्चा असम्भव है, क्योंकि ऐसी कोई वस्तु ही नहीं है। यूनाइटेड किंगडम का एक सविधान है और इसी भाँति प्रत्यक कामनवेल्थ-देश का भी अपना-अपना सविधान है। उपनिवेश को स्वशासन का प्रत्यक अनुदान ससद् के अधिनियम से हुआ है, ठीक उसी प्रकार जैसे राज्य के अन्दर एक काउण्टी या बरो को स्थानीय सत्ताएँ दी गई है। पुराने स्वशासी अधिराज्यों की परम्परागत स्थिति भी यही थी क्योंकि उनके सविधान प्राविधिक दृष्टि से ब्रिटिश पार्लमेण्ट

के अधिनियमों द्वारा प्रदत्त थे। परन्तु वास्तव मे, अधिराज्य (डॉमिनियन) पद विभिन्न अधिराज्यो मे राष्ट्रीयता की वर्धमान भावना का आदर करते हुए प्रदान किया गया था और इस तरह इस पद को प्रदान करने वाले अधिनियम का, प्रत्येक अवस्था मे, स्वरूप संविधि की अपेक्षा सन्धि का अधिक था।

कनाडा, आस्ट्रेलिया तथा दक्षिणी अफ्रीका के विषय मे जो बात उपलक्षित थी, वह आयरिश फ्री स्टेट के संबंध मे स्पष्ट थी। इस राज्य का संविधान वास्तव मे एक ऐसी संधि पर आधारित था जिसने गृहयुद्ध की स्थिति को समाप्त किया और जो सन् 1922 मे ग्रेट ब्रिटेन तथा दक्षिणी आयरलैंड (जिसे सन् 1937 मे नय संविधान के प्रख्यापन के उपरान्त से सरकारी तौर पर आयर या आयरलैंड गणतंत्र कहा जाता है) के बीच मे हुई और जिसका ब्रिटिश संसद् तथा आयरिश संविधान सभा ने अनुमोदन किया। इस संविधान की प्रस्तावना मे यह उल्लिखित है कि—

'यदि उक्त संविधान का कोई उपबंध अथवा उसका कोई संशोधन अथवा तदधीन निर्मित कोई विधि किसी भी रूप मे अनुसूचित संधि के किसी भी उपबंध के विरुद्ध हो तो वह केवल ऐसी विरुद्धता की सीमा तक पूर्णरूप से शून्य तथा अप्रवर्तनीय होगी।'

इस राष्ट्रीयता की माँग को पूरा करने के केवल दो ही सम्भव मार्ग थे। इनमे पहला मार्ग यह था कि सम्पूर्ण साम्राज्य को एक संघ बना दिया जाय जिसके समस्त अंग बराबर हो। आयर के संविधान मे निश्चित रूप से स्थापित स्थिति उस विवाद की चरम सीमा थी जो वास्तव मे सन् 1783 मे अमरीकी उपनिवेशो के पृथक् हो जाने से प्रारंभ हुआ था। प्राचीन साम्राज्य के उस विघटन के आघात ने पहले एक ऐसे पराजयवादी तर्क को जन्म दिया जो कि 'पके फल का सिद्धान्त' कहलाया, अर्थात् उपनिवेशो का अपने मूल देश से वही संबंध है, जो फल का वृक्ष से है, जब वे पक जाते हैं तो प्रकृति के नियमानुसार गिर ही जाते है। प्रत्येक साम्राज्यसंबंधी संकट के समय यह सिद्धान्त कुछ राजमर्मज्ञो तथा विचारको के मस्तिष्क मे बराबर उठता रहा है। सन् 1870 मे समाधान का यह तरीका अपनी चरमसीमा पर पहुँच गया और तब उसके स्थान पर संघ के लिए एक जोरदार आन्दोलन चल पडा, जो शताब्दी के अंत तक किसी-न-किसी रूप मे चलता रहा। दूसरा रास्ता वही था जो कि वास्तव मे अपनाया गया। यह मार्ग, वास्तव मे, राज्यमंडल (कॉमनवेल्थ) के विधायक अंगो को मिलाकर ऐसा घनिष्ट संश्रय स्थापित करने का था जो एक सामान्य राजनीतिक राय से उत्पन्न आदर्शो एवं हितो की समानता से प्रेरित है, राजपद के प्रति सामान्य निष्ठा के कारण दृढ है, और जो यदा-कदा होने वाले साम्राज्यिक सम्मेलनो तथा कुछ दिनो से कॉमनवेल्थ के प्रधान मंत्रियो की समय-समय पर होने वाली गोष्ठियो द्वारा कायम

रखा जा रहा है। परन्तु यह समय किसी भी रूप में एक राजनीतिक इकाई का निर्माण नहीं करती, क्योंकि कॉमनवेल्थ के प्रत्येक देश का अपनी परराष्ट्र-नीति एवं प्रतिरक्षा-व्यवस्था पर पूर्ण अधिकार है वह विदेशों में अपने स्वयं के प्रतिनिधि रखता है और हर तरह की संयुक्त राष्ट्र में पृथक सदस्यता है।

आयरिश संधि के पश्चात् घटनाक्रम की तीव्र गति के फलस्वरूप डोमिनियन पद (Dominion Status) का स्पष्टीकरण हुआ और सन् 1926 के साम्राज्यिक सम्मेलन में डोमिनियनों के अधिकारों को इन शब्दों में स्पष्टतापूर्वक प्रकट किया गया : 'ये (डोमिनियन) ब्रिटिश साम्राज्य के अन्तर्गत स्वायत्तशासी समाज हैं, जो समान हैसियत के हैं अपने घरेलू तथा बाहरी मामलों में किसी भी रूप में एक दूसरे के अधीनस्थ नहीं हैं यद्यपि ये राजपद (Crown) के प्रति सामान्य निष्ठा के द्वारा संयुक्त हैं और ब्रिटिश राष्ट्रमंडल के सदस्यों के रूप में स्वेच्छा से संयुक्त हैं।' इसके अतिरिक्त सन् 1926 के साम्राज्यिक सम्मेलन के फलस्वरूप किसी भी डोमिनियन में गवर्नर जनरल ब्रिटिश सरकार (ब्रिटिश मंत्रिमंडल) का प्रतिनिधि नहीं रहा और वास्तव में एक सम्पर्क अधिकारी की तरह एक उच्चायुक्त (हाई कमिश्नर) नियुक्त करना आवश्यक हो गया। इन स्व-शासी डोमिनियनों को पूर्ण स्वाधीनता प्रदान करने वाले इस विकास को सन् 1931 में वेस्टमिन्स्टर की संविधि के द्वारा संविधीय शक्ति प्रदान की गई।

इस संविधि का 'सन् 1926 तथा 1930 में हुए साम्राज्यिक सम्मेलनों द्वारा स्वीकृत कतिपय संकल्पों को प्रभावी बनाने वाले साम्राज्यी संसद् के अधिनियम' कहकर वर्णन किया गया है। इस संविधि की प्रस्तावना में संबंधित डोमिनियनों का नाम दिया गया है। इनमें कनाडा का डोमिनियन, आस्ट्रेलिया की कामनवेल्थ, न्यूजीलैंड का डोमिनियन शामिल थे।[1] प्रस्तावना में और बातों के साथ यह भी कहा गया है कि "राजपद ब्रिटिश राष्ट्रमंडल के सदस्यों के स्वतन्त्र संयोग का प्रतीक है', 'वे राजपद के प्रति सामान्य निष्ठा द्वारा संयुक्त हैं' और "यह बात स्थापित सांविधानिक परम्परा के अनुरूप है कि यूनाइटेड किंगडम की संसद् के द्वारा निर्मित कोई भी विधि तब तक उक्त डोमिनियनों में से किसी को उस डोमिनियन की विधि के भाग के रूप में लागू नहीं होगी जब तक कि उक्त डोमिनियन ऐसा करने की प्रार्थना न करे तथा इसके लिए सम्मति न दे।"

---

[1] उस समय इनमें यूनियन ऑव साउथ अफ्रीका, तथा आयरिश, फ्री स्टेट (ये दोनों आगे चलकर गणतंत्र बन गये और कॉमनवेल्थ से छूट गया। और न्यूफाउण्डलैण्ड भी शामिल थे। सन् 1949 में न्यूफाउण्डलैण्ड कनाडा के डोमिनियन में शामिल होकर उसका दसवाँ प्रान्त बन गया।

इस संविधि की दूसरी, तीसरी तथा चौथी धाराएँ इतनी महत्त्वपूर्ण तथा स्पष्ट हैं कि वे पूर्ण रूप से उद्धृत किए जाने योग्य हैं —

'2 (1) औपनिवेशिक विधि मान्यीकरण अधिनियम (1865) (Colonial Laws Validity Act) इस अधिनियम के प्रारम्भ होने के पश्चात् किसी भी डॉमिनियन की संसद् के द्वारा निर्मित किसी विधि को लागू नहीं होगा।"

(2) इस अधिनियम के प्रारंभ होने के पश्चात् किसी भी डॉमिनियन की संसद् द्वारा निर्मित कोई भी विधि और किसी भी विधि का कोई भी उपबन्ध इस आधार पर शून्य या अप्रवर्त्तनीय नहीं होगा कि वह इंगलैंड की विधि के अथवा यूनाइटेड किंगडम की संसद के किसी विद्यमान अथवा भावी अधिनियम के अथवा ऐसे अधिनियम के अधीन निर्मित किसी आदेश, नियम या विनियम के विरुद्ध है और किसी भी डॉमिनियन की संसद् की शक्तियां के अन्तर्गत ऐसे अधिनियम, आदेश, नियम या विनियम को निरसित या संशोधित करने की शक्ति उस सीमा तक है जहाँ तक कि वह उस डामिनियन की विधि का भाग है।"

3 इसके द्वारा यह घोषित तथा अधिनियमित किया जाता है कि डामिनियन की संसद् को राज्यक्षेत्रातीत प्रवर्त्तन वाली विधियाँ बनाने की पूरी सत्ता है।

4 इस अधिनियम के प्रारंभ होने के पश्चात् पारित यूनाइटेड किंगडम की संसद् का कोई भी अधिनियम उक्त डामिनियन को तब तक उक्त डामिनियन की विधि के रूप में लागू नहीं होगा अथवा लागू हुआ नहीं समझा जाएगा जब तक कि उस अधिनियम में यह स्पष्टतया घोषित न हो कि डामिनियन ने उसके अधिनियमन के लिए प्रार्थना की है तथा सम्मति दी है।"

उपान्त्य धारा में डामिनियन तथा उपनिवेश के बीच के भेद को यह कहकर स्पष्ट किया गया है कि 'इस अधिनियम के प्रारंभ हो जाने के पश्चात् यूनाइटेड किंगडम की संसद् के किसी भी "अधिनियम में उल्लिखित 'उपनिवेश' शब्द के अन्तर्गत कोई डामिनियन या उस डामिनियन का कोई प्रांत या राज्य नहीं होगा।"

इस सबमें यह स्पष्ट हो जाता है कि राजपद ही ऐक्य स्थापित करने वाली एकमात्र सत्ता है और डामिनियन का गवर्नर-जनरल प्रत्यक्ष रूप से रानी का प्रतिनिधि है और डामिनियन की संसद् के समक्ष उसकी स्थिति ठीक वैसी ही है जैसी कि यूनाइटेड किंगडम की संसद् के समक्ष रानी की। 'यूनाइटेड किंगडम

में हर मेजेस्टी की सरकार", "कनाडा में डामिनियन में हर मेजेस्टी की सरकार" आदि इन औपचारिक अभिव्यक्तियों का यही अर्थ है। इस तरह यूनाइटेड किंगडम की तरह कॉमनवेल्थ के प्रत्येक देश का अपना-अपना संविधान है। अवशिष्ट तीन श्वेत स्वशासी डॉमिनियनों में से न्यूजीलैंड एक एकात्मक राज्य है, ऑस्ट्रेलिया और कनाडा संघीय राज्य है (इनका वर्णन अगले अध्याय में किया जायगा)। अभी हम पहले न्यूजीलैंड का वर्णन करेंगे और फिर योरोपीय महाद्वीप के दो प्रमुख एकात्मक राज्यों का वर्णन करने के पहले आयर और दक्षिणी अफ्रीका की स्थिति देखेंगे जो अब ब्रिटिश राष्ट्रमंडल के सदस्य नहीं रहे।

5 न्यूजीलैंड का एकात्मक राज्य

ब्रिटिश आधिपत्य में न्यूजीलैंड का इतिहास सन् 1840 से प्रारम्भ होता है जब कि यह वैध रूप से ग्रेट ब्रिटेन में मिला लिया गया था और मावरियों से संधि कर ली गई थी जिसमें उन्हें अपनी भूमि पर कब्जा बनाए रखने की गारंटी दी गई थी। भूमिस्वामित्वसंबंधी मावरियों के युद्ध सन् 1870 में समाप्त हो गए और उसके उपरांत से मावरी लोग गोरों के साथ मित्रवत् रह रहे है तथा अब वे उनके विशेषाधिकारों के भी भागी है। मावरी अपने में से चार व्यक्तियों को प्रतिनिधि-सभा में सदस्य बनाकर भेजते है और कुछ वर्षों से यह भी परम्परा हो गई है कि *कम-से-कम एक मावरी मंत्रिमंडल का भी सदस्य होता है।* साम्राज्यिक संसद् के दो अधिनियमों के द्वारा पहले (सन् 1853 में) एक निर्वाचित *विधानमंडल और इसके उपरांत (सन् 1856 में)* उसके प्रति उत्तरदायी मंत्रिमंडल की स्थापना हुई। इन अधिनियमों ने वैधानिक रूप से उस प्रथा को नहीं छेड़ा जो कि वहाँ कुछ वर्षों से चालू थी, जिसके अनुसार शासन के बहुत-से कृत्य प्रांतीय परिषदों के द्वारा सम्पादित होते थे। ऐसी परिषदें एक प्रांत में एक होती थीं। पहले ये संख्या में छह थीं, परन्तु बाद में नौ हो गई, और चूंकि संविधान में संशोधन करने की शक्ति संपूर्ण रूप से (साम्राज्यिक संसद् की शक्तियों के साधारण सुरक्षण के सहित) विधानमंडल में निहित थी, अत, डामिनियन को स्वयं ही यह निश्चित करना था कि क्या वह प्रांतीय प्रणाली को कायम रखकर संघराज्य के रूप में अपना विकास करेगा।

जैसा कि अंत में हुआ, सन् 1853 के अधिनियम के द्वारा स्थापित तथा तीन वर्ष के उपरान्त द्वितीय अधिनियम द्वारा दृढ़ीकृत संसद् केन्द्रीयकरण करने वाली ऐसी प्रबल शक्ति सिद्ध हुई कि सन् 1876 तक प्रांतीय पद्धति सम्पूर्ण रूप से समाप्त हो गई और न्यूजीलैंड निश्चित रूप से एकात्मक राज्य बन गया जिसकी केन्द्रीय सरकार किसी भी अधीनस्थ प्रभुत्वपूर्ण निकाय को स्वीकार नहीं करती। न्यूजीलैंड का राजनीतिक भविष्य विभिन्न हो सकता था, क्योंकि वास्तव में उसका

नाम आस्ट्रेलिया की कॉमनवेल्थ की स्थापना करने वाले मूल विधेयक में उल्लिखित था। उस समय कामनवेल्थ के भाग होने वाले उपनिवेशों के रूप में 'राज्य' शब्द की परिभाषा करते हुए विधेयक की धारा 6 में न्यूजीलैंड को यह लिखकर सम्मिलित किया गया था कि यदि यह किसी भी समय कामनवेल्थ का भाग हो या हो जाय। परन्तु यह योजना अन्त में, कार्यान्वित नहीं हुई और न्यूजीलैंड का एक एकात्मक राज्य के रूप में पृथक् अस्तित्व बना रहा।

6. आयर

आयर एकात्मक राज्य का एक दिलचस्प उदाहरण है। यद्यपि यह एक राजनीतिक इकाई है तथापि उसकी सीमा आयरलैंड कहलाने वाली भौगोलिक इकाई की सीमा से नहीं मिलती। ग्रेट ब्रिटेन के साथ आयरलैंड के कई शताब्दियों के सम्पर्क में (इसे आयरिश लोग निस्सन्देह अधीनता कहेंगे), यह सदा ही एक इकाई के रूप में समझा गया और संसद के समस्त विधेयकों तथा अधिनियमों में, जिनमें उसका उल्लेख था उसे वैसा ही माना गया। आयरिश समस्या को हल करने में जो असफलता मिली उसके कारणों में से निस्सन्देह यह भी एक था, क्योंकि ऐसा करना कलह के अत्यन्त गंभीर ऐतिहासिक कारणों की उपेक्षा करना था। यह कलह उत्तरी आयरलैंड (या अल्स्टर) तथा शेष आयरलैंड के बीच जाति, धर्म तथा आदर्शों से सम्बन्धित मूलभूत मतभेद के कारण था। ब्रिटिश द्वीपसमूह को आन्तरिक शान्ति के मार्ग में उपस्थित इस शाश्वत बाधा पर विजय प्राप्त करने का प्रत्येक प्रयत्न इस लघुतर द्वीप के इन दोनों भागों के विरोध के कारण विफल हुआ। ग्लैड्स्टन के प्रशासनों के समय के गृहशासन विधेयक (Home Rule Bills) कभी भी अधिनियम का रूप ग्रहण न कर सके और जब सन् 1914 में जैसे-तैसे करके एक विधेयक पारित हुआ जो सन् 1912 में प्रस्तुत किया गया था, और जो संसदीय अधिनियम द्वारा सामन्तों (लॉर्ड्स) की शक्ति कम होने पर पारित हो सका था], तो यह भी प्रथमतः अल्स्टर के विरोध के कारण तथा द्वितीयतः प्रथम विश्वयुद्ध के अकस्मात् छिड़ जाने के कारण प्रभावहीन ही रहा।

उस महायुद्ध के समाप्त होने पर ही ब्रिटेन को आयरलैंड को एक के बजाय दो इकाइयाँ समझने की आवश्यकता का अनुभव हुआ, किंतु अब बहुत विलम्ब हो चुका था, क्योंकि इस महायुद्ध के दौरान में तथा इसके पश्चात् दक्षिणी आयरलैंड की अशान्ति तथा विद्रोह के कारण पुरानी पद्धति वाला गृहशासन स्पष्टतः पुराना पड़ गया था और इसी कारण बिल्कुल ही अस्वीकार्य हो गया था। तथापि सन् 1920 में एक अधिनियम पारित हुआ, जिसने प्रथम बार आयरलैंड को दो भागों में बाँट दिया। इस अधिनियम को केवल उत्तरी आयरलैंड ने स्वीकार

किया और इसके उपबंधों के अनुसार वह भाग अब भी शासित हो रहा है। एक विनाशकारी गृहयुद्ध के पश्चात दक्षिणी आयरलैंड जिस एकमात्र हल को स्वीकार करने को तैयार था वह डामिनियन गृहशासन था। यह सन् 1922 के उस *अधिनियम के अनुसार प्रदान किया गया जो युद्ध समाप्त करने वाली संधि के बाद* पारित हुआ और इस प्रकार आयरिश फ्री स्टेट की स्थापना हुई। इस संधि में, जिसके आधार पर इसकी स्थापना हुई, उत्तरी आयरलैंड को यह अधिकार भी दिया गया कि वह आयरिश फ्री स्टेट में सम्मिलित होने से इनकार कर सकेगा तथा सन् 1920 के अधिनियम के अधीन शासित रह सकेगा। ऐसा ही उसने किया भी। इस भाँति आयरलैंड ने ऐसे दो भागों में विभाजित होने का विचित्र उदाहरण प्रस्तुत किया जिनमें से एक भाग कनाडा अथवा आस्ट्रेलिया के समान स्वतंत्र है और दूसरा अपनी स्वयं की इच्छा से स्थानीय स्वायत्तता मात्र का भोग रहा है और अब भी वेस्टमिंस्टर स्थित संसद में सदस्य भेज रहा है।

आयरिश स्वतंत्र राज्य के लिए, जिसका नया नाम आयर हुआ, एक नया संविधान जिसे विगत जुलाई में जनमत संग्रह द्वारा जनता ने स्वीकार कर लिया था 21 दिसम्बर सन् 1937 को प्रवृत्त हुआ। इस नये संविधान ने गवर्नर-जनरल के पद को समाप्त कर दिया और उसके स्थान पर आयरलैंड (आयर) के प्रेसीडेंट के पद की प्रतिष्ठा की, यद्यपि उस समय ब्रिटेन का राजा उपलक्षित रूप में तब तक आयरलैंड का राजा भी मान्य किया गया जब तक कि वह 'साथी डॉमिनियनों द्वारा उनके सहयोग की प्रतीक' स्वीकार किया जाता रहे। ऐसा समझा जा सकता था कि इस सीमा तक आयर ब्रिटिश राष्ट्रमंडल से अपना संबंध बनाए हुए है परन्तु द्वितीय महायुद्ध में, जब कि परीक्षण का समय आया वह अनमनेपन से नहीं वरन् कड़ाई के साथ तटस्थ रहा। यह भी एक तथ्य है कि सन् 1937 के संविधान की भाषा ऐसी थी कि वह एक स्वाधीन गणतंत्र के लिए लागू होती थी। श्री डी० वेलरा ने इस पर हुए वाद विवाद के अवसर पर कहा भी था कि यदि आयरलैंड को गणतंत्र घोषित करना हो तो इसमें एक विरामचिह्न के परिवर्तन की भी आवश्यकता नहीं होगी। उनके शब्द भविष्यवाणी के समान सिद्ध हुए, क्योंकि अक्तूबर सन् 1948 में आयर के प्रधान मंत्री ने वैदेशिक संबंध अधिनियम को निरसित करने की साधारण प्रक्रिया के द्वारा ब्रिटिश राष्ट्रमंडल से अंतिम औपचारिक संबंध तोड़ने के बारे में अपनी सरकार के इरादे की घोषणा की। यह एक ऐसा कदम था जिससे सन् 1949 में स्वतंत्र आयर गणतंत्र की स्थापना हुई। इस संविधान की शाब्दिक रचना अन्त में "समस्त राष्ट्रीय राज्यक्षेत्र के पुनः समाकलन" की आशा में इस प्रकार की गई थी कि वह एक एकात्मक राज्य के रूप में समस्त आयरलैंड को लागू होता था।

7. दक्षिणी अफ्रीका

दक्षिणी अफ्रीका का यूनियन एकात्मक राज्य का कुछ ऐसा विचित्र उदाहरण है जिसके राजनीतिक संगठन के कुछ पहलुओं में संघीय रूप दिखाई पड़ता है। वास्तव में इसमें संघवाद की मात्रा इतनी न्यून है कि उसे संघवत राज्य भी कहना बिलकुल गलत होगा। दक्षिणी अफ्रीका के उस आन्दोलन तथा वाद-विवाद, के, जिसके फलस्वरूप सन् 1910 में इस यूनियन की स्थापना हुई, आधार पर कोई भी यह अनुमान लगा सकता था कि वहाँ कनाडा अथवा आस्ट्रेलिया जैसे किसी नमूने की संघीय प्रणाली को अपनाया जाएगा और उस समय कुछ दक्षिणी-अफ्रीकी राजमर्मज्ञों ने ऐसी संघीय प्रणाली की निस्सन्देह कल्पना भी की थी। किन्तु वहाँ की राष्ट्र जातियों तथा प्रजातियों के बीच के संघर्षों की तीव्रता से उत्पन्न शासकीय कठिनाइयों के कारण उसके संविधान का मसौदा तैयार करने वाले सम्मेलन को केन्द्रीय शासन को यथासंभव शक्तिशाली बनाने वाला संविधान निर्मित करने के लिए बाध्य होना पड़ा। जैसा कि अब तक स्पष्ट हो जाना चाहिए केन्द्रीय शासन, संघीय प्रणाली की अपेक्षा, एकात्मक प्रणाली में बहुत अधिक शक्तिशाली होता है।

अत, दक्षिणी अफ्रीका का यूनियन उन चार विभिन्न प्रदेशों का बना होने पर भी, जिनमें कुछ ही समय पूर्व परस्पर युद्ध चल रहा था, वास्तव में एकात्मक राज्य है, जिसके केन्द्रीय शासन पर किसी प्रकार के अधीनस्थ निकायों के अस्तित्व के द्वारा कोई प्रतिबंध नहीं है। चारों मूल उपनिवेशों में से प्रत्येक में—जो कि यूनियन निर्माण करने वाले अधिनियम के द्वारा प्रांत बने और केप ऑव गुड होप, नेटाल, ट्रांसवाल तथा ऑरेंज फ्री स्टेट कहलाए—एक प्रांतीय परिषद् है, जिसकी शक्तियाँ संविधान में उल्लिखित हैं, किन्तु उल्लेख के उपरान्त ही यह कथन भी है कि—

"प्रांतीय परिषद् के द्वारा बनाया गया कोई भी अध्यादेश प्रांत में तथा उसके लिए तभी तक और वहाँ तक ही प्रभावी रहेगा जब तक और जहाँ तक वह (यूनियन की) संसद के अधिनियम के प्रतिकूल न हो।"

इस भाँति दक्षिणी-अफ्रीकियों ने कनाडियनों और आस्ट्रेलियनों का अनुसरण न करते हुए सन् 1707 में अँगरेजों तथा स्कॉटों ने जैसा किया था, उसी का अनुसरण किया। संघवाद की कुछ झलक सिनेट में दिखाई देती है जिसके सदस्य (नाम निर्दिष्ट सदस्यों को छोड़कर) प्रत्येक प्रान्त से निर्वाचित होते हैं। परन्तु ये सदस्य उस प्रकार प्रांतों का प्रतिनिधित्व नहीं करते जैसे संयुक्तराज्य अमरीका में सिनेटर अपने राज्य का करते हैं। वास्तविकता तो यह है कि इस प्रयोजन के लिए दक्षिणी अफ्रीका के प्रांत केवल निर्वाचन-क्षेत्र मात्र हैं।

एकात्मक राज्य के रूप मे दक्षिणी अफ्रीका के यूनियन मे ऐसी अनेक जटिलताएँ हैं जिनका यूरोपीय देशो का तथा कनाडा, आस्ट्रेलिया और न्यूजीलैंड के श्वेत स्वशासी डॉमिनियनो को कोई अनुभव नही है। ये जटिलताएँ प्रजातीय समस्याओ तथा यूनियन के क्षेत्र के अन्दर तथा उसके उत्तर मे जो प्रदेश ब्रिटेन के अधीन है उनके दर्जे से सबधित सदेहो से उत्पन्न हुई है। उदाहरण के लिए यूनियन मे जातिभेद के सिद्धात पर अमल किया जाता है यद्यपि इसके क्षेत्र के अन्तर्गत स्वजीलैंड का सुरक्षित प्रदेश और बसूटोलैंड का प्रदेश है और बिलकुल उत्तर मे लगा हुआ बेचुआनालैंड का सरक्षित प्रदेश है। इन सबका नियत्रण वेस्टमिस्टर से एक हाई कमिश्नर द्वारा होता है जो इस गणतत्र मे ब्रिटिश राजदूत भी है। इसके अतिरिक्त पिछले जर्मन उपनिवेश—दक्षिण-पश्चिमी अफीका—की स्थिति का भी प्रश्न है, जिसके लिए उसने यूनियन, लीग ऑव नशन्स के मूल प्रादेश के अधीन उत्तरदायित्व स्वीकार किया था। द्वितीय विश्वयुद्ध के पश्चात् यूनियन सरकार की नीति सयुक्त राष्ट्र की अमानत (Trusteeship) की योजना के होते हुए भी इस प्रदेशाधीन प्रदेश को यूनियन मे मिलान की हो गई। इस नीति का अनुसरण करते हुए उसने अपना दावा सन् 1946 मे हेग-स्थित अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय मे प्रस्तुत किया, परन्तु वह उस योजना के सबध मे उक्त न्यायालय का निरपेक्ष अनुमोदन प्राप्त नही कर सका। इस निर्णय के बावजूद, यद्यपि उसने दक्षिण-पश्चिमी अफ्रीका को विधिपूर्वक अपने मे नही मिलाया, फिर भी वह उसे हाउस ऑव असेम्बली (सभा-भवन) सिनेट मे स्थान देकर यूनियन की ससदीय प्रणाली मे समाविष्ट करने को अग्रसर हुआ, और सन् 1950 मे दोनो सदनो के नये सदस्य तदनुसार निर्वाचित भी किए गए। दक्षिण-पश्चिमी अफ्रीका के अन्तिम दर्जे की समस्या का हल नही हुआ और 1965 तक दक्षिणी अफ्रीका उसे गणतत्र मे शामिल करने के अपने दावे पर जोर दे रहा था।

दोनो रोडेशियाओ के भविष्य से सबधित सदेह ने यूनियन के लिए एक और चिन्ता उत्पन्न कर दी। किसी समय यह सोचा गया था कि दक्षिणी रोडेशिया, जो सन् 1924 मे एक स्वशासी उपनिवेश बन चुका था, यूनियन मे विलीन होने की ओर अग्रसर हो रहा था, परन्तु वास्तव मे वह उपनिवेश दूसरी दिशा मे, उत्तरी रोडेशिया और न्यासालैण्ड के साथ सघ का निर्माण करने की ओर झुका। यह सघ वास्तव मे 1953 मे अस्तित्व मे आ भी गया। जिन परिस्थितियो मे इस सघ का निर्माण हुआ उनका वर्णन अध्याय 14 मे किया जायगा।

किन्तु सर्वाधिक उग्र समस्याएँ उस प्रजातीय पृथक्करण (Apartheid) की नीति से उत्पन्न हुई है जिसे यूनियन बडी निर्दयतापूर्वक कार्यान्वित कर रहा है। ऐसे युग मे जब कि अफ्रीका मे राष्ट्रीयता की भावना उमड रही है और अफ्रीका के अनेक लोगो को स्वतत्रता दी जा रही है, ऐसी नीति, सामान्य रूप मे

विश्वमत को आघात पहुँचाने के साथ ही, जटिल संवैधानिक समस्याऐं विशेषकर ब्रिटिश राष्ट्रमंडल के लिए उत्पन्न करती हैं यह बात अलग है कि कॉमनवेल्थ के प्रधानमंत्रियों में कई अफ्रीकी प्रधान मंत्री भी हैं।[1] अत सभी सम्बन्धित पक्षों के लिए एक बड़ी भारी परेशानी पैदा करने वाली स्थिति उत्पन्न हो गई। इस पर यूनियन सरकार ने निश्चय किया कि इस समस्या का एकमात्र हल कामनवेल्थ का परित्याग है। अपने इस निश्चय के अनुसार उसने 1960 में श्वेत-मतदाताओं का जनमत संग्रह किया जिसमें एक बहुत ही छोटा बहुमत (52 प्रतिशत) गणतंत्र के पक्ष में रहा और इसके फलस्वरूप 1961 में यूनियन राष्ट्रमंडल से अलग होकर गणतंत्र बन गया। इस प्रकार दक्षिण अफ्रीका अब एक स्वतंत्र गणतंत्र है और राष्ट्रमंडल का सदस्य नहीं है।

स्थिति के इस परिवर्तन का सन् 1961 में 'दक्षिणी अफ्रीका' के गणतंत्र के गठन के लिए अधिनियम द्वारा साविधिक रूप दिया गया और राजपद एवं गवर्नर जनरल के पद के स्थान में एक निर्वाचित राष्ट्रपति की व्यवस्था की गई तथा इस समय से दक्षिणी अफ्रीका सरकारी तौर पर यूनियन की जगह गणतंत्र (Republic of South Africa) कहलाने लगा। किन्तु नये अधिनियम से राज्य की आन्तरिक संरचना में कोई परिवर्तन नहीं हुआ। वह सारभूत रूप में एकात्मक बना हुआ है। वास्तव में, वर्तमान प्रवृत्ति शासकीय सत्ता के वर्धमान केन्द्रीयकरण की ओर दिखाई देती है।

8 फ्रांस का एकात्मक राज्य

एकात्मक राज्य राजनीतिक संगठन का ऐसा स्वरूप है जो फ्रांस निवासियों में, उनके इतिहास तथा भावना, दोनों ही में, गहराई के साथ जमा हुआ है। फ्रेंच राजतंत्र का अत्यन्त प्राचीन समय से ही वहां के राजा की, जिसकी प्रादेशिक शक्ति उसके अधीनस्थ सामन्तों के मुकाबले में पहले बहुत कम थी, नीति उन प्रदेशों को जो उसके अधीन नहीं थे, जीतकर अपने राज्य में मिला लेने, अर्थात् वास्तव में सामंतवाद द्वारा पैदा की गई परिस्थिति को समाप्त कर देने, की थी। यह प्रक्रिया तब तक चालू रही जब तक कि सामंतगण राजनीतिक दृष्टि से अत्यन्त निर्बल नहीं हो गए और चौदहवां लुई अधिक अतिशयोक्ति के बिना यह कह सका था कि 'राज्य मैं हूँ।' समस्त राजनीतिक शक्ति राजा में केन्द्रित थी, ऐसी स्थिति में इसे समाप्त करने वाली क्रांति का कैसा प्रलयकारी प्रभाव

---

[1] जुलाई 1961 में लन्दन में हुए कॉमनवेल्थ के प्रधान मंत्रियों के सम्मेलन में कॉमनवेल्थ के 18 देशों के प्रतिनिधि आये थे और उनमें से केवल तीन—कनाडा, आस्ट्रेलिया और न्यूजीलैण्ड—मूल श्वेत स्वशासी डोमिनियन थे।

हुआ होगा इसे हम समझ सकते हैं। नए राज्य के आधार बनने वाले शक्तिशाली स्थानीय संस्थाओं का अभाव था। राष्ट्र ही एकमात्र निगम था। फ्रांस ने केन्द्रीयवाद की परम्परा तथा व्यक्तिगत अधिकारों और जनता की प्रभुसत्ता पर जोर देने वाली विचार धारा के अतिरिक्त कोई बात नहीं छोड़ी। इस परम्परा तथा विचारधारा का कभी भी अन्त नहीं हुआ और यही कारण है कि जैसा एक फ्रेंच लेखक ने कहा है फ्रांस की समस्त राजनीतिक प्रणालियाँ सदा स्वतः ही और शीघ्रता के साथ शक्तियों की एकता एवं समरूपता की ओर आकर्षित होती हैं।'

ये समस्त सिद्धान्त तृतीय गणतन्त्र के संगठन में जो सन 1875 से 1940 तक कायम रहा निहित थे। यद्यपि इस गणतन्त्र ने संसद पर जोर देते हुए कुछ सीमा तक जनता की प्रभुता को अस्पष्ट-सा कर दिया था और प्रेसीडेंट के निर्वाचन के लिए जनमत के प्रयोग को—जो प्रथा फ्रांस में बहुत प्रचलित रही—अप्रचलित कर दिया था, तथापि उसने फ्रांसीसी राज्य को विकेन्द्रित नहीं किया। वह वास्तव में राजनीतिक एकात्मकता का पूर्णतम उदाहरण बना रहा। शासन की समस्त शक्तियाँ पेरिस में स्थित विधानमंडल तथा कार्यपालिका के पास रहीं। कोई भी अधीनस्थ प्रभुत्वपूर्ण निकाय नहीं थे। फ्रांस डिपार्टमेंटों तथा कम्यूनों, एरानडाइजमेंटों एवं केण्टनों (इनमें से अंतिम दो केवल निर्वाचन-क्षेत्र मात्र थे) में विभाजित था, परन्तु उनके रूप तथा उनकी सीमाएँ पूर्ण रूप से संविधियों पर अवलम्बित थीं। ऐसी कोई स्थानीय सत्ता तथा ऐसा कोई प्रादेशिक विभाग नहीं था जिसे केन्द्रीय सरकार अपनी इच्छानुसार समाप्त न कर सकती थी। समस्त स्थानीय पदाधिकारियों की शक्तियाँ राष्ट्रीय विधि द्वारा निर्धारित थीं और उनके प्रत्येक कार्य का केन्द्रीय सरकार के एक प्रतिनिधि प्रिफेक्ट द्वारा पर्यवेक्षण होता था।

दोनों विश्वयुद्धों के बीच के वर्षों में फ्रांस में गणतन्त्र की राजनीतिक संस्थाओं के कार्य के सम्बन्ध में पर्याप्त मात्रा में संदेह तथा असंतोष फैला हुआ था और असंतोष की इन भावनाओं में राज्य की अतिकेन्द्रीयता की दमनकारिता की भावना भी थी। इसके फलस्वरूप सुधार की विभिन्न योजनाओं में एक प्रादेशिकवाद का आन्दोलन भी था, जिसका उद्देश्य फ्रांस को स्थानीय इकाइयों में विभाजित करना और उन्हें वास्तविक रूप में स्थानीय स्वायत्तता प्रदान करना था जिससे कि केन्द्रीय सरकार को अपने अनेक भाँति के कार्यों में से कुछ से मुक्ति मिल सके। परन्तु उन असंख्य समस्याओं के कारण जिनमें फ्रांस की सरकार प्रथम विश्वयुद्ध के पश्चात् फँस गई थी, यह आन्दोलन सरकारी रूप में अधिक प्रगति नहीं कर सका और द्वितीय महायुद्ध के पश्चात भी यह पुनर्जीवित नहीं हुआ। यह सच है कि अक्तूबर सन् 1946 में हुए जनमत-संग्रह द्वारा स्वीकृत चतुर्थ गणतन्त्र के

सविधान मे कुछ सीमा तक केन्द्र की शक्ति को कम करके स्थानीय सस्थाओ को शक्ति देने की आवश्यकता का तृतीय गणतन्त्र की अपेक्षा अधिक ध्यान रखा गया था। इस नये सविधान के दसवें अध्याय मे यह कहा गया है कि यद्यपि गणतन्त्र *एक तथा अविभाज्य है तो भी वह कम्यूनो तथा डिपार्टमेटो के अस्तित्व को स्वीकार* करता है, और सांविधानिक विधियो द्वारा उन्हें उन स्वतन्त्रताओ के विस्तार का, जिन्हे उन्होने पूर्व मे भोगा था आश्वासन देता है। परन्तु वास्तव मे इससे केवल यही मालूम होता है कि यह फ्रास के स्थानीय शासन को मजबूत करने और राज्य के विभागो तथा स्थानीय प्रशासन की इकाइयो के बीच अधिक समन्वय सुनिश्चित *करने के इरादे से अधिक कुछ नही था। सविधान मे समुद्र पार के अधीनस्थ* प्रदेशो का मुख्य फ्रास (Metropolitan France) से फ्रेञ्च सयोग (French Union) नामक एक नये निकाय द्वारा सम्बन्ध जोडने की भी व्यवस्था की थी, परन्तु इससे भी फ्रेञ्च राज्य के सारभूत एकात्मक लक्षण मे कोई अन्तर नही पडा।

उसके एकात्मक स्वरूप मे पचम गणतन्त्र की स्थापना से भी, जिसका सितम्बर *1958 मे जनमत सग्रह मे एक विशाल बहुमत ने अनुमोदन किया था*, कोई आधारभूत प्रभाव नही पडा। जैसा हम आगे[1] देखेंगे, इस नये सविधान ने शासन-व्यवस्था मे, विशेषकर कार्यपालिका के क्षेत्र मे, महत्वपूर्ण परिवर्तन किये और फ्रेञ्च सयोग (French Union) का फ्रेञ्च समुदाय (French Community) के नाम से पुर्नगठन किया। परन्तु प्रेसिडेण्ट दगाल, यदि फ्रास की राष्ट्रीय एकता का अदम्य समर्थक नही था तो कुछ नही था, हालाकि योरोपियन आर्थिक समाज *(European Economic Community) की उसकी सदस्यता का तो अर्थ* अन्ततोगत्वा एक सघ का सदस्य होना था।[2]

9. इटली का राज्य तथा गणतंत्र

एक स्वतन्त्र एव सयुक्त इटली की स्थापना के लिए सघर्ष की गाथा एव *अर्थ मे उतनी पुरानी है जितना कि आस्ट्रोगोथ थियोडोरिक का शासन* (सन् 493-526) और दूसरे अर्थ मे वह उतनी ही नई है जितने द्वितीय विश्वयुद्ध के परिणाम। पश्चिम मे रोमन साम्राज्य के विघटन के पश्चात् एकीकरण का वास्तविक प्रयत्न करने वाला पहला शासक थियोडोरिक था। इस सम्बन्ध मे उसकी नीति उन्नीसवी शताब्दी के मध्य मे कावूर के समय तक की और किसी *भी नीति मे अधिक सफल रही। थियोडोरिक के पश्चात् चौदह शताब्दी तक भी* यह सघर्ष चालू रहा जब कि इटली के लोगों ने फासिस्ट अधिनायकवाद के अधकार

---

[1] अध्याय 9 और 11 देखिये।

[2] अध्याय 15 देखिये।

तथा नाज़ी आधिपत्य की फाँसी मे अपने को एक साथ मुक्त करने के लिए सघर्ष किया। इटली ने पश्चिम मे रोमन साम्राज्य के पतन से लेकर उन्नीसवी शताब्दी के इटालियन देशभक्तो—मेजिनी, कावूर, गेरीबाल्डी, राजा द्वितीय विक्टर इमेन्यूएल—के उदयभाव तक के लम्बें अन्तर्काल मे न तो अपनी स्वतत्रता प्राप्त की और न एकता ही। उसने सन् 1815 मे नेपोलियन के पतन से भी कुछ लाभ नही उठाया और इसके कुछ वर्षों के बाद भी उसका अत्यन्त कुख्यात दमनकर्त्ता मेटरनिक उसे 'एक भौगोलिक प्रदेश' ही कहता रहा। सन् 1848 मे इटली के आठ राज्यो मे से सात के शासको को अपनी प्रजा को सविधान प्रदान करने को बाध्य होना पडा, परन्तु इसके पश्चात् की क्राति के विरुद्ध हुई कटु प्रतिक्रिया मे एकमात्र सार्डीनिया ही अपने सविधान को जैसे-तैसे कायम रख सका। बाकी सबको पुनरुज्जीवित आस्ट्रिया ने बडी कठोरता से कुचल दिया।

सन् 1848 के सार्डीनिया के सविधान (Statute) का जीवित रहना, उस शताब्दी के मध्य की असफलताओ के पश्चात् होने वाले राष्ट्रीय पुनरुत्थान (Il Risorgimento) और राजनीतिक एकीकरण के समय बहुत महत्त्वपूर्ण सिद्ध हुआ। सन् 1859 मे सार्डीनिया ने फ्रास की सहायता लेकर आस्ट्रियनो को लोबार्डी से निकाल कर उस प्रदेश को सार्डीनिया मे शामिल कर लिया। आगामी वर्ष मे टुस्कनी और केन्द्र की डचियो ने उत्तरी भाग के साथ अपने सयोग की घोषणा की और उन्हे शामिल कर लिया गया। इसी समय गेरीबाल्डी, सिसली तथा नेपल्स को, अत्याचारी बूरबो वश से मुक्त कर रहा था, और सन् 1861 मे दक्षिणी भाग उत्तरी भाग से मिल गया और प्रथम इटालियन ससद का ट्यूरिन मे अधिवेशन हुआ। इस समय भी वेनिस तथा पोप के राज्य इस सयुक्त राज्य के बाहर थे। इनमे से पहला राज्य सन् 1870 के आस्ट्रिया-प्रशा युद्ध के परिणामस्वरूप और दूसरा राज्य सन् 1870 के फ्रास प्रशा युद्ध के दबाव के कारण रोम से फ्रासीसी सेना के वापस हटने से शामिल हो गया। इस भाँति उस समय ट्रियस्ट तथा उसके उपरात-स्थान और ट्रेंटीनो के प्रदेश के सिवाय व्यावहारिक रूप मे इटली का एकीकरण पूर्ण हो चुका था। ट्रियस्ट तथा ट्रेंटीनो के प्रदेशो को इटली के लोग 'अ-मुक्त इटली' (Italia Irredenta) कहते थे। ये प्रदेश प्रथम विश्वयुद्ध के अन्त तक आस्ट्रिया के आधिपत्य मे बने रहे और युद्ध के उपरान्त इटली के राज्य मे शामिल हुए।

एकीकरण की यह क्रमिक प्रक्रिया सघ का रूप धारण कर सकती थी। प्रत्येक क्षेत्र कुछ अधिकारो को अपने पास रख लेता तथा शेष अधिकारो को सामान्य लाभ के लिए सघीय सत्ता को समर्पित कर देता। निस्सन्देह, बहुत-से इटलीवासियो ने, जिनमे कावूर भी सम्मिलित है, एक समय सघ की स्थापना करने का विचार भी किया था और तभी से कुछ लेखको का यह भी मत है कि इटली के

विभिन्न भागों के बीच विद्यमान इतिहास तथा परिस्थितियों की भिन्नता को दृष्टि में रखते हुए यदि वहाँ संघीय व्यवस्था स्थापित की जाती तो एकीकरण के बाद से उसका जैसा इतिहास रहा है उससे अधिक शांत और व्यवस्थित होता। किन्तु इसके बजाय जैसे ही सार्डीनिया राज्य विस्तृत हो कर इटली राज्य बना उसका संविधान विस्तृत राज्य में लागू कर दिया गया। इटली वाले भी, यदि चाहते तो, वैसी ही प्रक्रिया का अनुसरण कर सकते थे जैसी कि संयुक्तराज्य अमरीका तथा कनाडा ने अपने पश्चिमी विस्तार के सम्बन्ध में अपनाई जिसके अनुसार वे वृद्धि की आवश्यकतानुसार ही संघ में नये राज्यों को मिलाते गए। परन्तु इसके बजाय इन्होंने ब्रिटेन के संयोग अधिनियमों के दृष्टान्तों का अनुसरण किया और विभिन्न भागों को संघ के रूप में संगठित करने के बजाय एक राज्य में विलीन कर दिया।

हाल ही के क्रान्तिकारी परिवर्तनों के दौरान में भी राजनीतिक एकात्मकता इटली राज्य की एक सारभूत विशेषता रही है। मुसोलिनी ने तो अपने अधिनायकतंत्र की सफलता के लिए इसे मूलभूत सिद्धान्त के रूप में उत्साह के साथ कायम रखा और वह अब भी इटली के नये संविधान में भी, यद्यपि कुछ संशोधित रूप में, प्रकट होता है। जून 1946 में, इटली के निवासियों के एक जनमत संग्रह में, जिसमें पहली बार स्त्रियाँ सम्मिलित थीं और 90 प्रतिशत निर्वाचकों ने मतदान किया था, सापेक्ष दृष्टि से बहुत छोटे बहुमत से सेवाय वंश को, नौ शताब्दी तक राज्य करने के पश्चात्, सत्ताहीन कर दिया और अन्त में उन गणतंत्रीय सिद्धान्तों को अपनाया जिनके लिए राष्ट्रीय पुनरुत्थान के दिनों में मेज़िनी ने निष्फल संघर्ष किया था। परिणामस्वरूप सन् 1947 के गणतंत्रीय संविधान ने, राजतन्त्र के आधारों को तथा मुसोलिनी की समग्रवादी प्रणाली के प्रत्येक अवशेष को उखाड़ फेंकते हुए भी इटली के एकात्मक राज्य के आवश्यक स्वरूप को बनाए रखा, जैसा कि संविधान के अनुच्छेद 5 में निश्चित रूप से यह घोषित किया गया है कि इटली का गणतंत्र "एक तथा अविभाज्य" है।

तो भी नये संविधान में कुछ सीमा तक विकेन्द्रीकरण की व्यवस्था है जो कि मूल संविधान में बिलकुल नहीं थी। वास्तव में अनुच्छेद 5 में, जिसमें कि अभी ही हमने उद्धरण दिया है, यह भी कहा गया है कि "गणतंत्र 'स्थानीय स्वायत्तता' को मानता है तथा उसका उत्कर्ष चाहता है।" इसके बाद ऐसे कई अनुच्छेद (114-133) हैं जो प्रादेशिक संगठन के रूप तथा, उसके कृत्यों को निर्धारित करते हैं। उन्नीस प्रदेशों के नाम गिनाए गए हैं और इनमें से पाँच को, जिनमें सिसली तथा सार्डीनिया भी सम्मिलित हैं, विशेष दर्जा दिया गया है। प्रत्येक प्रदेश में एक लोक-निर्वाचित परिषद् होनी चाहिए, जो एक कार्यपालिका समिति (La giunta regionale) तथा प्रेसिडेण्ट को निर्वाचित करती है। इन

प्रादेशिक निकायों की शक्तियों तथा कृत्यों की सूचियों में उल्लेख किया गया है, परन्तु साधारणतया वे ब्रिटेन की वृहत स्थानीय सत्ताओं (काउंटी तथा बड़ी बरो) की शक्तियों से अधिक व्यापक नहीं है और यद्यपि इटली के इन नये प्रदेशों के अधिकार संविधान की विधि के भाग के रूप में सुरक्षित है फिर भी यह नहीं कहा जा सकता कि उनसे शासन के गठन में संघीय तत्त्व का समावेश होता है। अतएव यह कहना ठीक ही होगा कि इटली का नया गणतंत्र राज्य की नाममात्र की प्रमुखता को वंशानुगत राजतंत्र से निर्वाचित राष्ट्रपतितंत्र में परिवर्तित करते हुए भी इटली में राजनीतिक एकता की अस्सी वर्ष पुरानी परम्परा को मूल रूप से नहीं छेड़ता।

5

संघराज्य

1. संघराज्य का सारभूत लक्षण

राजनीतिक संविधानवाद के विद्यार्थी के लिए संघवाद के महत्त्व पर जितना जोर दिया जाय थोड़ा है। संघवाद की जड़ें किसी-न-किसी रूप में प्राचीन काल में भी विद्यमान थीं, क्योंकि प्राचीन यूनान के नगर-राज्य इससे अपरिचित नहीं थे। तदुपरान्त मध्ययुग में इटली के कुछ नगरों में भी इसकी झलक मिलती है और तेरहवीं शताब्दी के स्विट्जरलैंड के कॉनफेडरेशन (Confederation) के विकास से इसका इतिहास अविकल रहा है। इस संघ का जन्म सन् 1291 में हुआ जब कि वहाँ के तीन फॉरेस्ट केण्टन (प्रदेश) अपनी रक्षा के लिए आपस में मिल गए। आज अनेक राज्यों के जो परिस्थिति और परम्परा की दृष्टि से इतने विभिन्न हैं जितने कि युगोस्लाविया, संयुक्तराज्य अमरीका, मेक्सिको और आस्ट्रेलिया, राजनीतिक संगठन का आधार संघवाद ही है और यदि आज हमारे अन्तर्राष्ट्रीय अराजकता से, जिससे कि हम अब तक परिचित हैं, निकल कर एक विश्वराज्य के रूप में संगठित होना है तो यह निश्चित है कि ऐसा संघीय आधार पर ही हो सकेगा। अतीत और वर्तमान में निश्चित रूप से और भविष्य में सम्भाव्य रूप से इतने गहन तथा व्यापक प्रभाव रखने वाले राजनीतिक प्रयोग की सूक्ष्म छानबीन किसी भी गम्भीर नागरिक के लिए आवश्यक है और उसका गहन अध्ययन लाभप्रद ही होगा।

संघवाद के स्थान-स्थान पर और समय-समय पर अनेक रूप रहे हैं। अपने शिथिलतम रूप में यह कुछ राज्यों का एक समूह मात्र है जिसमें वास्तव में राज्य का निर्माण बिलकुल नहीं होता। इतिहास इस भाँति के शिथिल संगठन के उदाहरणों से भरा पड़ा है जिन्हें हम किसी अधिक उपयुक्त नाम के अभाव में प्राय कॉनफेडरेशन (राज्यमंडल) कहते हैं। बहुत पीछे जाने की आवश्यकता नहीं, नेपोलियन के पतन पर सन् 1815 में स्थापित जर्मनी के कॉनफेडरेशन को ही लीजिए, जो कि इस भाँति के संगठन का एक उदाहरण है। जर्मन भाषा में ऐसे दो शब्द हैं—'स्टाट' (Staat) जिसका अर्थ राज्य है तथा 'बंद' (Bund) जिसका अर्थ संघ है। इन दोनों शब्दों की सन्धि से हमें यह जानने में सहायता

मिल सकती है कि तथाकथित कॉनफेडरेशन और वास्तविक सघ मे क्या अतर है। सन् 1815 से 1866 तक विद्यमान रहने वाले जर्मनी के कॉनफेडरेशन को जर्मन लोग हमेशा 'बन्द' (Bund) के नाम से ही पुकारा करते थे और फ्रेंकफोर्ट मे स्थित राज्य परिषद् (Diet), जो कि इसकी एकमात्र केन्द्रीय सस्था थी, वास्तव मे इस सगठन के विभिन्न राज्यों के राजदूतों की सभा से अधिक कुछ भी नही थी। जर्मन लोग राज्यों के इस सगठन को 'राज्यसघ' (Staatenbund) कहते थे जिसमे राज्यो की बहुलता पर ही जोर है। ऐसी अवस्था मे इस भाँति के सगठन तथा सुदृढ मैत्री के बीच मे किंचित् मात्र भी अन्तर नही रह जाता। इसमे प्रत्येक राज्य की आन्तरिक प्रभुसत्ता पूर्ण रहती है और उसकी वाह्य प्रभुसत्ता भी बहुत ही कम अश मे सीमित होती है।

राज्यसघ (Staatenbund) उसके सदस्यो को सामान्यतया अधिक समय तक सतोषजनक नही रही और वे कुछ समय मे ही या तो पुन अलग हो गए अथवा एक वास्तविक सयोग के रूप मे अधिक घनिष्ठता के साथ जुड गए। इस वास्तविक सयोग को जर्मनो ने सघराज्य (Bundesstaat) कहा। यह ध्यान रखना चाहिए कि इसमे 'राज्य' (Staat) शब्द एकवचन हो जाता है। यह वास्तव मे राज्यो का सघ (*Staatenbund*) नही वरच एक सघीय राज्य (Bundesstaat) है। ऐसा सगठन, सघनिर्माणकर्ता इकाइयो के बीच आपस मे हुई सधि पर तथा इसके उपरात इनके नागरिको द्वारा प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप मे स्वीकृत संघीय सविधान पर आधारित होता है। यह आवश्यक रूप मे एक कॉनफेडरेशन से इस बात मे विभिन्न है कि इसकी एक केन्द्रीय (अथवा सघीय) कार्यपालिका होती है जिसके हाथो मे सम्बन्धित क्षेत्र के अन्तर्गत समस्त नागरिको के ऊपर शासन करने की वास्तविक शक्ति होती है। यह ऐसे राज्यो का सयोग मात्र (जिससे वास्तव मे राज्य का निर्माण नही होता) नही है वरन् ऐसे लोगो का सयोग है जिनके ऊपर केन्द्रीय शक्ति को निश्चित मात्रा मे प्रत्यक्ष सत्ता प्राप्त होती है। अत, निष्कर्ष यह निकलता है कि वास्तविक सघराज्य के निर्माण के लिए दो बातो की आवश्यकता है, और इनमे से किसी एक के भी अभाव मे सघ का निर्माण नहीं हो सकता। इनमे पहली शर्त यह है कि सघ की निर्माणकर्ता इकाइयो मे राष्ट्रीयता की भावना हो। यह बात इतनी वास्तविक है कि हम साधारणतया यह पाते है कि आधुनिक सघराज्य सघीकरण से पूर्व या तो कॉनफेडरेशन के रूप मे शिथिल रूप से सयुक्त थे, जिसका उदाहरण जर्मनी है, अथवा एक ही प्रभुसत्ता के अधीन थे जिसके उदाहरण सयुक्तराज्य, स्विट्जरलैंड (जहाँ दोनों बातें मौजूद थी), आस्ट्रेलिया और कनाडा है। दूसरी बात यह है कि सघनिर्माणकर्त्ता इकाइयाँ सयोग (Union) चाहते हुए भी एकत्व (Unity) नही चाहती, क्योकि यदि वे एकत्व चाहती हो तो वे सघराज्य का निर्माण न करते

हुए एकात्मक राज्य बनायेंगी।

अत, स्पष्ट है कि संघीय संविधान, राष्ट्रीय प्रभुता तथा राज्य-प्रभुता के स्पष्टत विरोधी दावो के बीच स्पष्टत सामजस्य पैदा करने का प्रयत्न करता है। इस सामजस्य की मुख्य रीतियाँ भी स्पष्ट है, यद्यपि, जैसा कि हम बाद मे देखेंगे, *ब्यौरे की बातो मे संघीय संविधान एक दूसरे से बहुत भिन्न होते है।* सम्पूर्ण राष्ट्र से सम्बन्ध रखने वाली सब बाते राष्ट्रीय अथवा संघीय सत्ता को सौंप दी जाती हैं, और व्यक्तिगत रूप से राज्यों से सम्बन्ध रखने वाली तथा सामान्य हित के लिए मूलत महत्त्वपूर्ण न होने वाली सब बाते राज्यो के शासन के नियत्रण मे रहती हैं। शक्तियो का यह विभाजन, चाहे वह आधुनिक विश्व के अनेक सघो मे ब्यौरे की बातो मे किसी भी तरह क्रियान्वित क्यो न किया जाय, सघराज्य का विशिष्ट लक्षण है।

2. संघीय रूप के भेद

चकि सघराज्य का अत्यावश्यक गुण सघीय सत्ता और सघनिर्माणवर्ती इकाइयों के बीच शासन की शक्तियो का विभाजन है, अत हमे ऐसे तीन प्रकार दृष्टिगोचर होते हैं जिनमे सघराज्य एक-दूसरे से भिन्न हो सकते हैं। प्रथम, सघीय तथा राज्यीय सत्ताओ मे शक्तियो के विभाजन के ढग मे अन्तर हो सकता है; *द्वितीय, उस सत्ता के स्वरूपो मे जो कि सघीय एव राज्यीय सत्ताओ पर, यदि* उनमे आपस मे कोई विवाद उठ खडा हो, संविधान की सर्वोच्चता की रक्षा करती है, भेद हो सकता है और तृतीय, संविधान मे परिवर्तन की आवश्यकता होने पर उसमें परिवर्तन करने वाले साधन भिन्न हो सकते है।

शक्तियो का विभाजन दो प्रकार से हो सकता है या तो संविधान मे यह लिखा होता है कि सघीय सत्ता के पास क्या-क्या शक्तियाँ रहेंगी और शेष शक्तियाँ सघनिर्मात्री इकाइयो के पास रह जाती है अथवा इसमे यह उल्लेख रहता है कि सघनिर्मात्री इकाइयो की कौन-कौन सी शक्तियाँ होंगी और शेष शक्तियाँ सघीय सत्ता के पास रह जाती है। यह अवशेष सामान्यतया **'रक्षित शक्तियाँ' (Reserve of Powers)** कहलाता है। शक्तियो का उल्लेख करने का उद्देश्य उनका निरूपण करना और इस भाँति उन्हे परिसीमित करना है। अत, यह बात मान ली जानी चाहिए कि जहाँ सघीय संविधान मे सघनिर्मात्री इकाइयो की शक्तियो का निरूपण होना है, जिसका उदाहरण कनाडा की डामिनियन है, वहाँ लक्ष्य सघ की पृथक्-पृथक् इकाइयों को दबाकर सघीय सत्ता को बलशाली बनाना होता है। कनाडा के विषय म यह बात इतनी सत्य है कि वहाँ सघनिर्मात्री इकाइयों को राज्य के बजाय प्रान्त कहा जाता है। इस भाँति जहा 'रक्षित शक्तियाँ सघीय सत्ता के पास होती है वहाँ संविधान उस व्यवस्था की अपेक्षा जहाँ वे राज्यो के

पास होती है, एकात्मक राज्य के अधिक समीप होना है। दूसरे शब्दो मे, ऐसा राज्य स्वरूप मे कम सघीय होना है।

जहाँ सविधान सघीय सत्ता की शक्तियो को निरूपित करता है, जैसा कि सयुक्तराज्य अमरीका और आस्ट्रेलिया मे है, वहाँ इसका लक्ष्य सघनिर्मात्री इकाइयो के मुकाबले मे सघीय सत्ता की शक्ति को मर्यादित करना होता है। ऐसी सघीय इकाइयाँ अपनी अधिक-से-अधिक उतनी स्वतत्रता बनाए रखना चाहती है जितनी कि सघ की सुरक्षा से असगत न हो। वे वास्तविक शक्ति से युक्त एक ऐसा सघराज्य चाहती है, जिसके द्वारा वे अपनी समान राष्ट्रीयता को प्रकट कर सके, परन्तु इसके साथ वे यह भी चाहती है कि जहाँ तक सम्भव हो सके वे राज्य के रूप मे अपने व्यक्तिगत स्वरूप को बनाए रखे। जितना अधिक वे अपना व्यक्तिगत स्वरूप बनाए रखना चाहेगी उतनी ही मात्रा मे वे सघीय शक्तियो को निरूपित करना चाहेगी और उतनी ही अधिक रक्षित शक्तियाँ वे अपने पास रखना चाहेगी। अत, राज्यो के पास रक्षित शक्तियाँ जितनी ही अधिक होगी उतनी ही अधिक मात्रा मे वह राज्य सघीय होगा जिसका सविधान उनको ऐसी रक्षित शक्तियाँ रखने देता है। दूसरे शब्दो मे, वह सघराज्य जिसका सविधान सघीय सत्ता की शक्तियो को निरूपित करता है, उस राज्य की अपेक्षा जिसका सविधान सघनिर्मात्री इकाइयो की शक्तियो को निरूपित करता है, कम केन्द्रीयकृत होता है।

शक्तियो के इस विभाजन मे, भले ही वह इन दोनो रीतियो मे से किसी भी रीति से कार्यान्वित हो, यह उपलक्षित होता है कि सघ का तथा सघनिर्मात्री इकाइयो मे से प्रत्येक का विधानमडल, दोनो ही अपने-अपने क्षेत्र मे सीमित है और उनमे से कोई भी सर्वोच्च नही है। उन दोनो के ऊपर भी कोई चीज है। यह सविधान है, जो कि एक निश्चित सविदा, एक ऐसी सधि है जिसमे सविदाकर्त्ता पक्ष अपने सयोग की शर्तो को लेखबद्ध कर लेते है। सघीय सविधान वास्तव मे सघीय तथा राज्यीय सत्ताओ के अधिकारो एव कर्तव्यो का एक प्रपत्र (चार्टर) है। इन अधिकारो और कर्त्तव्यो को उनके उचित अनुपातो मे रखा जाना चाहिए। किसी भी सत्ता के द्वारा प्रयुक्त अधिकार और एक सत्ता से दूसरे के द्वारा अपेक्षित कर्त्तव्य सविधान मे निर्धारित अनुसूची से बाहर नही होने चाहिए। वास्तविक सघराज्य मे इस सतुलन को बनाए रखने की शक्ति एक सर्वोच्च न्यायालय को प्रदान की जाती है, जिसका कर्त्तव्य यह देखना है कि उस सविधान का उस सीमा तक सम्मान किया जाय जहाँ तक कि वह सविदाकर्त्ता पक्षो और सघीय सत्ता के बीच जिसको वे सविदा द्वारा स्थापित करते है, शासनीय शक्तियो का वितरण करता है।

ऐसे न्यायालय के अधिकारो के परिणाम के सम्बन्ध मे सघराज्यो मे भेद है।

पूणरूपण सघीय राज्य मे, जिसका सयुक्तराज्य सर्वोत्तम उदाहरण है, सघीय सत्ता और राज्यीय सत्ता के बीच विवाद हो जाने की दशा मे निर्णय देने के लिए न्यायालय अपनी शक्ति मे पूणरूपेण सर्वोच्च है। अन्य सघराज्यो मे इस न्यायालय की शक्तियाँ कुछ दूसरी सत्ताओ को इस विषय म प्रदत्त अधिकारो के द्वारा सीमित है। सघीय राज्य म सर्वोच्च न्यायपालिका की शक्तियो के इस प्रकार परिसीमन का सर्वोत्तम उदाहरण स्विट्जरलैंड म प्राप्त है जहाँ राज्यीय तथा सघीय सत्ताओ के बीच समस्त विवादो की अतिम निर्णायक सघीय सभा (Federal Assembly) है न कि सघीय न्यायालय, और सघीय न्यायालय सघीय सभा के द्वारा पारित अधिनियमो की साविधानिकता के सम्बन्ध मे कोई आपत्ति नही कर सकता। किन्तु इस अवस्था मे, जैसा कि हम बाद के अध्याय मे बतायेंगे, सघीय न्यायालय के हाथ मे ऐसी शक्तियाँ होना भी निरर्थक है, क्योकि स्विट्जरलैंड म प्रभुत्वपूर्ण जनता के पास अपनी इच्छा को अभिव्यक्त करने का अत्यन्त सीधा साधन है।

इन दोनो चरम स्थितियो के बीच, सघीय एव राज्यीय सत्ताओ के बीच के विवादो के निर्णय के मामलो मे अनेक भेद हैं। आस्ट्रेलिया सयुक्तराज्य के जो इस विषय का पूर्णतम उदाहरण है, सबसे निकट है। इन दोनो देशो के बीच यह अतर है कि आस्ट्रेलिया के सविधान मे ऐसी कुछ धाराएँ हैं जो वहाँ की राष्ट्रीय ससद् के द्वारा किसी अन्य सत्ता की अनुमति के बिना बदली जा सकती है और निश्चय ही ऐसे मामलो मे राज्यो के अधिकारो के उल्लघन का कोई प्रश्न ही नही उठता। जर्मनी के पिछले वेमर गणतत्र मे सर्वोच्च सघ-न्यायालय से राज्य तथा सघ अथवा स्वय राज्यो के बीच के आपस के कुछ ही मामलो म उत्पन्न विवादो का निपटारा कराया जाता था। कनाडा म विवाद के प्रश्न कभी-कभी उठते हैं, हालाकि वहाँ प्रान्तो की शक्तियाँ उल्लिखित है। ऐसे प्रश्नो के उठने पर कनाडा का सर्वोच्च न्यायालय निर्णय दे सकता है।[1]

इस भाँति समस्त सघराज्यो मे विधि की ऐसी प्रतिष्ठा (Legalism) है जो कि अधिकाश एकात्मक राज्यो म नहीं है। इस बात से यह प्रश्न उठता है कि सविधान म परिवर्तन कैसे किया जाय। हम इस सम्बन्ध मे विस्तार से आगे कहेगे। यहाँ पर इतना कहना पर्याप्त होगा कि सघीय सविधान का स्वरूप निश्चय ही दस्तावेजी होता है, क्योकि यह बात कल्पना से परे है कि इस भाँति उत्तम रीति

[1] उक्त न्यायालय की शक्तियाँ आरम्भ से लन्दन-स्थित प्रिवी कौंसिल की जुडिशियल कमिटी के समक्ष अपील के अधिकार के अधीन थीं, परन्तु यह अधिकार सन् 1951 मे इन दोनो न्यायालयो का पुराना सबध समाप्त हो जाने पर लुप्त हो गया।

म सतुलित शक्तियो को उनके बने रहने के लिए केवल परम्पराओ अथवा प्रासगिक अधिनियमन पर छोड दिया जाय। इसलिए सघीय सविधान अनम्य होता है अर्थात् व शर्ते जिनके अनुसार सविधान म परिवर्त्तन किया जा सकता है या तो स्पष्ट होती है या उपलक्षित। यदि व स्पष्ट है अर्थात् यदि सशोधन की शर्ते निश्चित रूप से निर्धारित की जा चुकी है तो वह स्पष्टतया अनम्य हैं। यदि वे अभिव्यक्त नही की गई है तो सविधान की अनम्यता उपलक्षित है क्योकि या तो सविधान वैध साधना से अपरिवर्तनीय है अर्थात् उसम परिवतन करना क्रान्ति को जन्म देना होगा---अथवा उसम परिवतन करने का एकमात्र मार्ग यही है कि समस्त मूल सविदाकर्त्ता पक्ष ऐसा परिवर्तन करने का सहमत हो, और ऐसी अवस्था म वे परिणामस्वरूप एक नई सधि पर हस्ताक्षर करेंगे और उस सीमा तक एक नय सविधान को प्रख्यापित करेंगे।

सघीय सविधान म परिवतन की पद्धतियो की विस्तार की बातो को हम अनम्य सविधान वाले बाद के अध्याय के लिए छोडते है। इस अध्याय के शेष भाग म हम वत्तमान ससार के सघराज्यो के अधिक महत्त्वपूर्ण उदाहरणो पर विचार करेंगे।

3 अमरीका के संयुक्तराज्य की सघप्रणाली

सयुक्तराज्य का सविधान ससार का पूर्णतम सघीय सविधान है। इसका तात्पय यह है कि इसम सघवाद की तीनो आवश्यक विशेषताएँ अर्थात् सविधान की सर्वोच्चता शक्तियो का वितरण, और सघीय न्यायपालिका की सत्ता, दृष्टान्त के रूप म अत्यन्त स्पष्ट रूप मे विद्यमान है। यह अपनी उस अवस्था से जिसमे प्रारम्भिक तेरह सघनिर्माता राज्य उपनिवेशो के रूप मे ब्रिटेन के अधीन थे, दो कदमो म अपनी पूर्णावस्था म पहुँचा है। पहला कदम उस समय उठाया गया जब सन् 1781 म कानफेडरशन की धाराओ (Articles of Confederation) को अगीकार किया गया, जिसके अनुसार यह वास्तविक सघ नही वरन् एक कौनफेडरशन---एक शिथिल सघ बना अथवा वुड्रो विलसन के शब्दो मे 'एक बालू की रस्सी जिससे कोई भी नही बाँधा जा सकता था। दूसरा कदम सन् 1787 मे तब उठाया गया जब फिलाडेल्फिया के सम्मेलन मे वर्तमान सविधान तैयार किया गया जो कि तेरहो राज्यो द्वारा अगीकृत होकर सन् 1789 से प्रभावकारी हुआ। अब यह वास्तविक रूप मे सघ बन गया क्योकि इसके द्वारा अत्यन्त निश्चित अधिकारो से सम्पन्न एक केन्द्रीय कायपालिका की स्थापना हुई। साथ ही इसके द्वारा सम्पूर्ण राज्य को जहाँ तक कि सम्भव था सघीय रूप दिया गया अर्थात् इस सविधान न इस राज्य को इतनी कम मात्रा मे एकात्मक रखा जितना कि शक्तिशाली सघीय शासन की आवश्यकता का ध्यान मे रखते हुए सम्भव

था, जो उन कठिनाइयों से सिद्ध हो चुकी थी जिनसे कि कॉनफेडरेशन को लगभग एक दशक तक असहाय रूप में संघर्ष करना पड़ा था।

जहाँ तक कि शक्तियों के विभाजन का प्रश्न है, संयुक्तराज्य का संविधान दुहरा विभाजन करता है, प्रथम वह सरकार को तीन विभागों—व्यवस्थापिका, कार्यपालिका, तथा न्यायपालिका—में विभाजित करता है तथा उन्हें एक-दूसरे से बिलकुल पृथक् कर देता है। इसके बारे में हम आगे चलकर कुछ कहेंगे। दूसरे, यह शक्तियों को संघीय तथा राज्यीय सत्ताओं में इस रीति से बाँटता है जिससे कि संघनिर्मात्री इकाइयों को ऐसे समस्त अधिकार प्राप्त हो जाते हैं जिनकी संघीय सत्ता का सामान्य राष्ट्रीय लाभ के हेतु अनिवार्य रूप से आवश्यकता नहीं है। इस प्रकार सम्पूर्ण संयुक्तराज्य की शक्तियाँ स्पष्टतापूर्वक निरूपित हैं और राज्यों के लिए पृथक् रूप से छोड़ी हुई शक्तियाँ निरूपित नहीं है, अर्थात् यह संविधान एक सुस्पष्ट सूची में उन शक्तियों का उल्लेख करता है जिनका प्रयोग संघीय सत्ता को करना है। इसमें ऐसी शक्तियों की भी एक सूची है जिनका प्रयोग संयुक्तराज्य (संघ-सरकार) के लिए निषिद्ध है और साथ ही इसमें ऐसी शक्तियों की भी एक सूची है जिनका प्रयोग करना राज्यों के लिए निषिद्ध है। इसके साथ ही इस अभिप्राय से कि दुरुपयोग के लिए कहीं गुंजाइश ही न रहे, संविधान के दसवें संशोधन में जो सन् (1791 में पारित हुआ और मूल संविधान के प्रख्यापन के थोड़े ही समय बाद पारित होने से वास्तव में मूल संविधान का ही एक भाग समझा जाता है) यह कहा गया है कि "वे शक्तियाँ जो संविधान के द्वारा संयुक्तराज्य को नहीं सौंपी गई हैं, अथवा जो इसके द्वारा राज्यों के लिए निषिद्ध नहीं है, राज्यों अथवा जनता के लिए सुरक्षित रखी गई हैं।" इस सबका निष्कर्ष यह हुआ कि संघीय सरकार ऐसी किसी शक्ति के लिए दावा नहीं कर सकती जो उसे संविधान ने प्रदान न की हो, परन्तु राज्य केवल उन शक्तियों को छोड़कर जिनसे उनको संविधान ने प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप से वंचित कर दिया है। किसी भी ऐसी शक्ति का प्रयोग कर सकते हैं जो एक स्वतंत्र प्रभुत्वपूर्ण राज्य को प्राप्त होती हैं।

जहाँ तक विधान-विभाग का सम्बन्ध है संविधान ने दो सदनों—सिनेट (Senate) तथा प्रतिनिधि-सभा (House of Representatives) वाले एक विधानमंडल (कांग्रेस) की स्थापना की है। इन दोनों सदनों में से उच्च सदन में संविधान ने समस्त राज्यों की समानता को सुरक्षित रखा है तथा इसे अपरिवर्तनीय विधि बना दिया है। जहाँ तक कार्यपालिका का सम्बन्ध है, यह एक चतुर्वर्षीय राष्ट्रपति-पद की स्थापना करता है तथा इस पद के निर्वाचन की पद्धति का विस्तृत विवेचन करता है। वह राष्ट्रपति की शक्तियों का निरूपण करता है और उसकी राजनयिक शक्तियों को (संधि करना, राजदूतों की नियुक्ति

आदि) उनके प्रयोग के लिए सिनेट के अनुमोदन की आवश्यकता द्वारा नियंत्रित करता है। इसका हेतु यह है कि वह बाह्य प्रभुसत्ता, जिसे राज्यों ने समर्पित कर दिया है, अब भी अन्तत उस सदन के द्वारा नियंत्रित की जाती है जिसमे उन राज्यों का समान प्रतिनिधित्व है। जहाँ तक न्यायिक विभाग का सबध है, सविधान ऐसे सघीय न्यायालयो की स्थापना करता है, जिनका अधिकार-क्षेत्र सविधान से उत्पन्न समस्त वादो तक विस्तृत है और उनमे वे सब वाद भी सम्मिलित है जो अन्तर्राष्ट्रीय स्वरूप के है, चाहे वे सयुक्तराज्य के विभिन्न राज्यों के बीच हो अथवा सयुक्तराज्य और ससार के किसी अन्य राज्य के बीच हो। सविधान एक ऐसे सर्वोच्च न्यायालय की भी स्थापना करता है जो अभी तक उल्लिखित सभी भाँति के वादो के लिए अंतिम अपीलीय न्यायालय है। इस प्रकार यह सविधान को अन्तिम रूप से व्याख्या करने वाला बन जाता है और न्याय विभाग की स्थिति प्रत्येक विधानमडल से (सविधान के अन्तर्गत), भले ही वह सघीय हो अथवा राज्यीय, ऊपर हो जाती है।

अतएव, यह सविधान राज्यो को, जो कि सघ का निर्माण करते है, विस्तृत मात्रा मे शक्तियाँ प्रदान करता है। वुड्रो विल्सन ने बताया है कि उन्नीसवी शताब्दी मे ब्रिटिश ससद् ने जिन एक दर्जन महान् विधान-सम्बन्धी योजनाओ को पारित किया, उनमे से केवल दो ही ऐसी थी जो अमरीका के सघीय विधि-निर्माण क्षेत्र मे आ सकती थी। उदाहरण के रूप मे वह कैथोलिक मुक्ति, ससदीय सुधार, दासत्व-उन्मूलन, दरिद्र-नियमो का सशोधन, नगरपालिका-सुधार, अन्न-विधियो (Corn Laws) का निरसन, यहूदियों का ससद् मे प्रवेश, आयरलैंड के चर्च का विस्थापन, आयरलैंड की भूमि-सवधी विधियो के परिवर्तन, राष्ट्रीय शिक्षा की स्थापना, बैलट पद्धति का सूत्रपात और दण्ड विधि के सुधार को लेता है। उसका कहना है कि इनमे से केवल कॉर्नविधियाँ और दासत्व ही सघीय विनियमन के विषय होते, और इन दोनो मे से भी दूसरा सघीय कार्यवाही के क्षेत्र के सब तक बाहर रहा जब तक कि गृहयुद्ध (सन् 1861-1865) के बाद सशोधन के द्वारा उसे राज्यो की शक्तियो मे से निकाल नही लिया गया। ये तथ्य वास्तव मे, केन्द्रीय विधानमडल की सर्वोच्चता के अभ्यस्त अँगरेजो जैसे प्रेक्षको को बडे ही प्रभावित करने वाले है। सयुक्त राज्य मे, निस्सदेह, सघीय सविधान तब तक निरर्थक है जब तक राज्यो के सविधानो को उसके साथ शामिल न किया जाय; क्योकि ये सविधान उसमे केवल जोडी हुई उपयोगी वस्तुएँ ही नही वरन उसके अनिवार्य पूरक हैं।

अत उन समस्त बातो से सम्बन्धित कानूनी विवादो मे जिनका सविधान मे इस रूप मे उल्लेख नही है कि वे सघीय सरकार की है, कानूनी विवादो मे सयुक्त राज्य के सर्वोच्च न्यायालय मे अपील नही होती। परन्तु उन सब मामलो मे

जो संविधान के अनुसार संघ के हैं, सर्वोच्च न्यायालय की सत्ता पूर्ण है और संघीय सत्ता उसके निर्णयों का कार्यान्वित करने के कर्तव्य को टाल नहीं सकती। यह भेद दो आधुनिक उदाहरणों से स्पष्ट हो जाता है। सन् 1925 में टेनेसी राज्य में एक शिक्षक पर स्कूल में विकास के सिद्धान्त की शिक्षा देने के लिए जिससे उस राज्य की विधि का उल्लंघन होता था अभियोग चलाया गया। इस मामले ने केवल स्थानीय भावनाओं को ही नहीं उभाड़ा, अपितु समग्र राष्ट्र का *ध्यान आकर्षित किया, अतः यह अपेक्षा की जाती थी कि यह मामला* सर्वोच्च न्यायालय में जायगा परन्तु वास्तव में वह सर्वोच्च न्यायालय की क्षमता से बाहर था क्योंकि शिक्षा के विषय का संविधान में उल्लेख नहीं है और इस कारण वह पूर्ण रूप में राज्य सत्ता के लिए रक्षित है। इसके विपरीत सन् 1962 में जब मिसिसिपी विश्वविद्यालय ने गवर्नर और राज्य की सशस्त्र पुलिस के समर्थन के बल पर, सर्वोच्च न्यायालय के, जिसने पृथक्करण को अवैध घोषित कर दिया था, निर्णय की अवहेलना करते हुए एक नीग्रो विद्यार्थी को भरती करने से इन्कार कर दिया, तो राष्ट्रपति ने विधि का कार्यान्वित करने के लिए सेना भेजी और विद्यार्थी सशस्त्र सैनिकों की रक्षा में भरती किया गया।

राज्यों को संविधान द्वारा इस भांति सुरक्षा दिए जाने पर भी इस बात से इनकार नहीं किया जा सकता कि संयुक्तराज्य की स्थापना के काल से ही राज्य-सरकार के खिलाफ संघ-सरकार की शक्ति क्रमिक रूप से बढ़ रही है। यह शक्ति केवल सांविधानिक संशोधन से ही नहीं बल्कि उन विभिन्न निर्णयों से भी बढ़ी है जिनमें संघ-न्यायालयों ने संविधान की व्याख्या की है। विशेष रूप से किसी भी राज्य के लिए संघ से पृथक् हो जाना बिलकुल असम्भव हो गया है। इस तथ्य को समस्त निर्विवाद रूप में सिद्ध करने के लिए आधुनिक काल का सबसे भयानक गृहयुद्ध हुआ। यह गृहयुद्ध अथवा पृथक्करण-युद्ध (War of Secession) (सन् 1861-65), जैसा कि वह विशिष्ट रूप में कहा जाता है, *उन सात दक्षिणी राज्यों के (जो कि बाद में ग्यारह हो गए थे) संयुक्तराज्य से* सम्बन्ध तोड़कर अपना स्वयं एक संघ स्थापित करने के प्रयत्न का परिणाम था। जहाँ तक राष्ट्रपति लिंकन का संबंध था, यह युद्ध दासत्व को समाप्त करने के लिए ही नहीं—यद्यपि दासत्व का प्रश्न ही उसका कारण था और दासत्व का उन्मूलन इसके द्वारा हुआ भी—वरन् एकत्व के सिद्धान्त की रक्षा के लिए लड़ा गया था। ऐसा करने में अब्राहम लिंकन ने अमरीकी जनता की राष्ट्रीय भावना के प्रति अपील की थी। उसने कहा था कि "नैतिक रूप से किसी भी राष्ट्र के लिए, यदि वह अपनी सीमा के अन्तर्गत एक ही समय में *स्वतन्त्रता और दासत्व* इन दोनों चरम विरोधी सिद्धान्तों को पनपने दे, जीवित रहना असंभव है' और "राजनीतिक रूप में संघ चिरस्थायी है।" उन्होंने यह भी कहा कि यह निश्चया-

त्मक रूप से कहा जा सकता है कि "किसी भी उचित शासन ने आज तक अपने सविधान मे स्वय अपनी ही समाप्ति के निमित्त कोई उपबन्ध नही रखा।"

इस गृहयुद्ध मे *उत्तरी राज्य की विजय ने यूनियन की रक्षा करके* उसे बलशाली बनाया। आज सयुक्तराज्य का कोई भी राज्य पृथक् होने का सम्भवतः विचार भी नही कर सकता। अकेला कोई भी राज्य इस बात मे सफल होने की कैसे आशा कर सकता है जब कि पहले ग्यारह राज्य मिलकर भी इस भाति स्पष्ट रूप से असफल हो चुके हैं ? ऊपर से देखने मे नही, परन्तु वास्तव मे पृथक्करण-युद्ध ने अमरीकी सविधान को महान् रूप मे परिवर्तित कर दिया। यद्यपि उसने एकात्मक राज्य को जन्म नही दिया, तथापि उसने यह सिद्ध कर दिया कि अन्तिम विश्लेषण मे अमरीकी सघ विघटन से अधिक नही तो उतना सुरक्षित तो अवश्य है जितना कि कोई भी एकात्मक राज्य हो सकता है, क्योकि सयुक्तराज्य की यह विशिष्ट सफलता है कि उसने यह समझ लिया है कि पचास राज्यो के बीच, उन्हें उन समस्त अधिकारो से वचित किए बिना जो कि उनके राजनीतिक तथा सामाजिक *कल्याण के लिए परमावश्यक है, मिलकर कार्य करने के लाभो को* कैसे प्राप्त किया जा सकता है। सक्षेप मे, अमरीका ने ससार को यह बता दिया है कि राजनीतिक सगठन के माध्यम से शाति किस भाति प्राप्त की जा सकती है।

आधुनिक काल मे और विशेषकर राष्ट्रपति फ्रैंकलिन रूजवेल्ट के प्रथम दो राष्ट्रपतित्व-कालो (सन् 1933-41) के दौरान मे सयुक्तराज्य के मतदाताओं के कुछ वर्गों मे यह भावना बढी कि अमरीकी आर्थिक तथा सामाजिक जीवन की बढती हुई जटिलताओ का सामना करने के लिए, जिसके लिए उस नियत्रण तथा निर्देशन की अपेक्षा जो कि सविधान के अधीन सघीय सत्ता के पास था अधिक केन्द्रीय नियत्रण तथा निर्देशन की आवश्यकता है, राज्यो की शक्ति को घटाकर सघीय शासन को मजबूत बनाना आवश्यक है। उदाहरण के लिए, सयुक्तराज्य मे भयानक रूप से फैले हुए हिंसात्मक अपराधो तथा गुडागर्दी आदि को रोकने मे *अधिकारियो की असमर्थता का कारण यह बताया जाता था कि सघ मे* अडतालीस (उस समय) राज्य थे जिनकी अलग-अलग दण्ड-विधियाँ थी और अपराधी व्यक्ति एक राज्य की पुलिस के चगुल से दूसरे राज्य मे भाग कर आसानी से निकल सकता था। इस खतरे का सामना करने के लिए अमरीकी समाज को एकमात्र आत्मरक्षा के उद्देश्य से विवश होकर सघीय पुलिस-बल ('G' 'Men) जो विशिष्ट सघीय विधि के अधीन मद्य-निषेध के प्रवर्तन के लिए पहले से मौजूद था, उपयोग करने की अनुमति देने को बाध्य होना पडा। परन्तु जब प्रेसीडेंट रूजवेल्ट ने उस मदी से, जो कि सन् 1929 मे प्रारम्भ हुई और उसके इस पद पर *प्रतिष्ठित होने के समय पर अपनी चरम सीमा पर पहुँच गई थी,* उत्पन्न गम्भीर आर्थिक तथा सामाजिक कठिनाइयो पर प्रहार करने के लिए सघीय अधिकारो के

उपयोग का प्रयत्न किया तो सम्पूर्ण सांविधानिक ढांचे को एक अत्यन्त गम्भीर परीक्षण का सामना करना पड़ा।

रूजवैल्ट के प्रस्तावों में जो कि संक्षिप्त रूप में 'नव-व्यवस्था' (न्यू डील) कहलाते थे उत्पन्न सांविधानिक स्थिति उस रीति के, जिससे अमरीकी संविधान कार्य करता है, दृष्टान्त के रूप में अवलोकनीय है। इसमें राष्ट्रपति का उद्देश्य सम्पूर्ण अमरीकी संघ के साधनों को पृथक्-पृथक् राज्यों के उन कष्टों को दूर करने में उपयोग करने का था जिनका वे राज्य स्वयं ऐसी विषम स्थिति में निवारण करने में असमर्थ थे। अतएव, उसने कांग्रेस को मुद्रा तथा साख के केन्द्रीय नियन्त्रण, कृषि के राष्ट्रव्यापी विनियमन, राष्ट्रीय औद्योगिक पुनरुत्थान, संघीय आपात सहायता, जिसमें लोकनिर्माण की वृद्धि तथा संघीय रोजगार-कार्यालय खोलना भी सम्मिलित था, और सामाजिक सुरक्षा की सामान्य प्रणाली की स्थापना के लिए, जिसमें बेरोज़गार व्यक्तियों का बीमा तथा वृद्धावस्था के लिए निवृत्ति-वेतन भी सम्मिलित थे, अधिनियम पारित करने के लिए राजी किया। इन कामों का ऐसे व्यक्तियों ने कड़ा विरोध किया जिन्हें इसमें खर्च होने वाली बहुत बड़ी सार्वजनिक धनराशि के व्यय के सबंध में और इन अधिनियमों द्वारा वैयक्तिक एवं आर्थिक स्वतन्त्रता का तथा राज्यीय अधिकारों के अनुचित उल्लंघन पर आपत्ति थी। इसके विरुद्ध, कार्यपालिका तथा विधानमंडल की राय थी कि संविधान ऐसे अधिकारों के प्रयोग की अनुमति देता है, क्योंकि संघीय सत्ता, संविधान के अनुसार राष्ट्र के कल्याण के लिए उत्तरदायी है और कांग्रेस को अन्तर्राज्यिक वाणिज्य पर कर लगाने तथा उसका विनियमन करने का अधिकार है।

यह एक ऐसा संघर्ष था जिसे केवल सर्वोच्च न्यायालय ही निपटा सकता था। इस नव-व्यवस्थासम्बन्धी विधान से उत्पन्न अनेक मामले सन् 1935 और 1936 में उस न्यायालय के समक्ष प्रस्तुत हुए, और जहां उसने एक ओर शासन की वित्तीय नीति का समर्थन किया वहां दूसरी ओर सम्पूर्ण 'कृषि समायोजन अधिनियम' (Agricultural Adjustment Act) को इन आधारों पर अमान्य ठहरा दिया कि "उसमें संघीय सरकार की कराधान शक्तियों का अनुचित उपयोग" उपलक्षित है, और "यह योजना अलग-अलग राज्यों के अधिकारों का उल्लंघन करती है।" जब अगले वर्ष सर्वोच्च न्यायालय ने 'राष्ट्रीय औद्योगिक पुनरुत्थान अधिनियम' (National Industrial Recovery Act) को अन्तिम रूप से असांविधानिक घोषित कर दिया तो राष्ट्रपति ने फरवरी सन् 1937 को कांग्रेस को सबोधित एक संदेश में सम्पूर्ण संघीय न्यायपालिका के पुनर्गठन की साहसपूर्ण तथा स्पष्ट मांग की। अत्यन्त महत्त्वपूर्ण एवं सम्भवतया ऐतिहासिक उपसंहार के रूप में, जो कि एक वाक्य में ही संविधानवाद के सार का निचोड़ प्रस्तुत करता है, राष्ट्रपति ने कहा "राष्ट्रीय महासभा ने विधि का अधिनियमन कर दिया है,

कार्यपालिका ने उस पर हस्ताक्षर कर दिए हैं और प्रगतिशील उपक्रम कार्य करने की प्रतीक्षा में है किन्तु न्यायपालिका उस अतिरिक्त कार्य का ग्रहण कर रही है और राष्ट्रीय विधानमण्डल के एक विभाग द्वारा ढीले-ढाले तथा मंद रूप से कार्य करने वाले तृतीय सदन के रूप में आगे बढ़ रही है।

इस सत्यानाश की परिस्थिति से पार पाने की दृष्टि से राष्ट्रपति ने यह प्रस्ताव किया कि जब कोई भी संघीय न्यायाधीश सत्तर वर्ष की आयु का होने पर भी छह महीने की अवधि के भीतर सेवानिवृत्त न हो तो राष्ट्रपति एक अतिरिक्त न्यायाधीश की नियुक्ति कर सकेगा। परन्तु उस पर सर्वोच्च न्यायालय को अनुकूल आदमियों से भरने का प्रयत्न करने का आरोप लगाया गया और सिनेट ने अन्त में इस विधेयक को अस्वीकार कर दिया। इस भांति कांग्रेस के द्वारा पारित नव-व्यवस्था (न्यू डील) विधान सर्वोच्च न्यायालय के कार्य से अधिकांश में निरर्थक हो गया। यह एक ऐसी सांविधानिक स्थिति थी जो एकात्मक राज्य में उत्पन्न नहीं हो सकती थी। रूजवेल्ट तृतीय और चतुर्थ बार भी राष्ट्रपति का कार्य करता रहा परन्तु इस मामले का और परीक्षण होने से पूर्व ही संयुक्तराज्य द्वितीय विश्वयुद्ध के संकट में फँस गया, जिसमें अधिक अनिवार्य राष्ट्रीय एकाग्रता की आवश्यकता थी। इसमें सन्देह नहीं किया जा सकता कि सामाजिक सुधार के साधन के रूप में संघीय उपकरण का उपयोग करने के रूजवेल्ट के प्रयत्न ने बहुत-से अमरीकी लोगों के दिमाग में प्रत्येक ऐसी बात के प्रति स्थायी अविश्वास पैदा कर दिया जो कि दूर से भी समष्टिवाद से मिलती-जुलती दिखाई देती हो, और जैफरसन का 'जीवन, स्वतन्त्रता और सुख की प्राप्ति का अमरीकी स्वप्न' वर्त्तमान परिस्थितियों में संघीय अधिकार की उत्तरोत्तर वृद्धि से भिन्न अन्य किसी उपाय से सम्भव है या नहीं यह प्रश्न संयुक्तराज्य में एक बड़े विवाद का विषय बना हुआ है।

4 स्विट्ज़रलैण्ड का कॉनफेडरेशन

स्विट्ज़रलैंड का कॉनफेडरेशन विद्यमान संघीय राज्यों में सबसे पुराना है। ऐसा नाम होते हुए भी, अब यह कॉनफेडरेशन न रहकर, जिसका अर्थ शक्तिशाली केन्द्रीय सत्ता से विहीन राज्यों का एक शिथिल संयोग है, वास्तविक रूप में एक संघ बन गया है। परन्तु यह सदा ही ऐसा नहीं था। तेरहवीं शताब्दी में आस्ट्रिया के प्राधान्य के विरुद्ध परिस्टि केण्टन नाम के तीन जिलों के सफल संघर्ष के फलस्वरूप स्थापित होकर, उसमें तेरह राज्य हो गए। जिस समय उसे सन् 1648 की वेस्टफेलिया की संधि के अनुसार स्वतन्त्र एवं प्रभुत्वसम्पन्न मान्य किया गया उस समय कॉनफेडरेशन में राज्यों की यही संख्या थी। तब यह रक्षणशील केन्द्रीय सत्ता से रहित राज्यों का एक शिथिल संयोगमात्र था और जब तक वह फ्रांसीसी

क्रांति एव नेपोलियनकालीन योरोप के तूफानो और अव्यवस्थाओ के बीच मे से होकर गुजरता रहा तब तक इसी अवस्था मे बना रहा यहाँ तक कि सन् 1815 मे की गई योरोपीय सामान्य व्यवस्था मे भी इसे अपने स्थायित्व का अतिम आधार न मिल सका। वह तब भी अत्यन्त शिथिल था, जैसा कि सन् 1847 मे प्रारभ हुए छोटे-से गृहयुद्ध से प्रकट हुआ। इस युद्ध का आरभ सात रोमन कैथोलिक केण्टनो ने (जो कि सोण्डरवन्द (Sondurbund कहलाते थे) किया था, जिन्होने सयुक्तराज्य के सन 1861 के दक्षिणी राज्यो के समान ही सामान्य कॉनफेडरेशन से पृथक होने का प्रयत्न किया था। इन पृथक् होने की इच्छा करने वाले जिलो की पराजय के पश्चात् तुरन्त ही संविधान का सशोधन हुआ और सन् 1848 के सविधान ने इस पुराने कॉनफेडरेशन (Staatenbund) को सघीय राज्य (Bundestaat) मे बदल दिया। सन् 1848 के सविधान का सन् 187, मे अमूल सशोधन किया गया और उस वर्ष का सविधान ही, जिसमे कुछ बातो में बाद मे भी सशोधन किए गए, वह सविधान है जिसके अनुसार आज स्विटजरलैंड शासित होता है।

सघवाद कहे जाने वाले राजनीतिक उपाय के द्वारा, राज्य के अस्तित्व को समाप्त किए बिना ही राज्य के विरोधी हितो मे किस प्रकार सामजस्य स्थापित किया जा सकता है, इसका कुछ बातो मे सयुक्तराज्य से भी अधिक आकर्षक उदाहरण स्विट्जरलैंड के कॉनफेडरेशन मे मिलता है। स्विट्जरलैंड मे राष्ट्रीयता की परिभाषा करने वाले समस्त प्रयत्न व्यर्थ हो जाते है। यद्यपि स्विट्जरलैंड वासी एक राष्ट्र हैं, उनका एक सगठन है जिसने छह शताब्दियो से भी अधिक काल के दौरान मे उन विभिन्न प्रयत्नो का विरोध किया जो कि उसे नष्ट करने के लिए किए गए, तथापि उनका न तो कोई एक सामान्य धर्म है और कोई सामान्य भाषा ही अब तक रही और न अब भी है, यहाँ तक कि उनके पहाडों से भी एक ऐसा घेरा नही बनता जिससे नैसर्गिक सीमा का निर्माण हो सके। वहाँ की दो तिहाई जनसख्या जर्मन बोलती है, शेष का अधिकाश भाग फ्रेंचभाषी है तथा अवशिष्ट लोग इटालियन भाषा (अथवा 'रोमैन्श' नामक एक बोली) बोलते हैं। इन भाषा-सबधी भेदो को सघीय विधानमडल मे शासकीय रूप से मान्य किया गया है, जहाँ कोई भी सदस्य जर्मन, फ्रेंच, या इटालियन भाषा मे बोल सकता है। केवल यही बात नही, अपने इतिहास मे वहाँ के केण्टनो ने भी अत्यन्त प्रगतिपूर्ण जनतत्र से लेकर अत्यन्त प्रतिक्रियावादी अभिजाततंत्र तक राजनीतिक सस्थाओ की आश्चर्यजनक विभिन्नता भी प्रकट की है। यद्यपि अब ये विभिन्नताएँ समाप्त कर दी गई हैं और स्विट्जरलैंड के समस्त केण्टनो मे लोकतत्र का ही किसी-न किसी प्रकार का रूप मिलता है, तथापि उस प्रचड देशभक्ति ने जिसने कॉनफेडरेशन को जीवन प्रदान किया, और जो इसे स्वस्थ और शक्तिमान बनाती रही है, स्थानीय स्वायत्त शासन के प्रति उस अनुराग को नष्ट नही किया है

जिसके बिना संघ, जैसा कि वह आज है, विद्यमान नहीं रहता। वास्तव में, वहाँ आधुनिक संघीय प्रणाली का निर्माण सांविधानिक सिद्धान्तों अथवा विदेशी उदाहरणों से उद्भूत सिद्धान्तों के प्रयोग की अपेक्षा प्रान्तीय अभ्यास और अनुभव से हुआ है।

तो भी स्विट्जरलैंड तथा अमरीकी प्रणालियों के कुछ मोटे पहलुओं के सादृश्य का कारण सन् 1848 तथा 1874 के सुधारकों की ओर से जान-बूझकर किया गया अनुकरण है यद्यपि उनका उद्देश्य अपनी संस्थाओं को अमरीकी बनाना नहीं था और स्विट्जरलैंड का कानफेडरेशन अनेक विशिष्टताओं के कारण स्पष्टतया पृथक है। उदाहरणस्वरूप संविधान में स्विटजरलैंड को राष्ट्र कहा गया है, जो ऐसा शब्द है जो अमरीकी संविधान में कहीं नहीं मिलता परन्तु इसके साथ ही यह अधिकारों का विभाजन इस प्रकार करता है जिससे कि रक्षित शक्तियाँ केण्टनों के पास रह जाती है। फिर भी कुछ बातों में इसमें अपूर्ण राष्ट्रीय-करण तथा अपूर्ण संघ दोनों एक साथ दिखाई देते है। एक ओर संविधान के अनुच्छेद 3 में यह कहा गया है कि 'केण्टन उस सीमा तक प्रभुता-सम्पन्न हैं जहाँ तक कि उनकी प्रभुता संघीय संविधान द्वारा सीमित नहीं की गई है और ऐसी अवस्था में वे उन समस्त अधिकारों का प्रयोग करते है जो कि संघीय सत्ता को समर्पित नहीं किए गए है।' यह अनुच्छेद जिस अनुपात में प्रभुता का विभाजन करता है उसी अनुपात में राष्ट्रीय एकता को कम करता है। दूसरी ओर अनुच्छेद 5 और 6 के अनुसार प्रान्तीय संविधान संघीय शक्ति की गारण्टी पर निर्भर हैं और इस तरह वे उतने सुरक्षित नहीं हैं जितने कि संयुक्तराज्य में राज्यों के संविधान हैं। उस अनुपात में जिसमें कि प्रादेशिक संविधान स्वयं (संघ के) संविधान की अपेक्षा जिसकी व्याख्या सर्वोच्च न्यायालयों के न्यायाधीशों के द्वारा होती है और जिसका उदाहरण संयुक्तराज्य है, संघीय सत्ता पर निर्भर रहते हैं, संपूर्ण रूप में राज्य कम संघीकृत है।

परन्तु स्विट्जरलैंड में राष्ट्रीय एवं राज्यीय दोनों ही प्रकार के अधिकारों की सुरक्षा है जो संयुक्तराज्य में संघीय प्रयोजनों के लिए बिलकुल नहीं है। यह सुरक्षा जनमत संग्रह की व्यवस्था है। हम आगे चलकर इसके विषय में विस्तृत रूप से विचार करेंगे। यहाँ पर तो केवल इतना जान लेना आवश्यक है कि जहाँ स्विट्जरलैंड के संविधान का अनुच्छेद 6 केण्टनों के संविधानों के लिए संघीय सत्ता की गारण्टी आवश्यक समझता है, वहाँ वह यह भी कहता है कि यदि केण्टन के लोग संविधान को स्वीकार कर लेते हैं, तो यह गारण्टी अवश्य दी जानी चाहिए। इसके अतिरिक्त यदि जनता का बहुमत संशोधन की माँग करे तो संशोधनों का अनुसमर्थन नहीं रोका जा सकता। कॉनफेडरेशन के उच्च सदन में, जो कि 'राज्य-परिषद्' (Standerat) के नाम से पुकारा जाता है, राज्यों की एकता

कुछ ही पहले गठित शासन व्यवस्था के माध्यम से विश्व के अत्यन्त विरमिन मामाजिक जनतत्रो मे से एक मे बन गया।

उन विचित्र परिस्थितिया के कारण, जिनमे पृथक पृथक उपनिवेशो की स्थापना हुई, और अपनी राष्ट्रीय एकरूपता की भावना के कारण इन राज्यों की पहले अपने मूल देश के तथा इसके उपरान्त सन 1900 के सघीय सविधान के प्रति सामान्य निष्ठा सरल हो गई। परन्तु यह सविधान ऐसे क्षेत्र को लागू होता था जो क्षेत्रफल मे योरोप के क्षेत्रफल से कुछ ही कम था और उसे इतनी जनता के जिसकी सख्या तब लदन की जनसख्या से कम थी राजनीतिक भविष्य की व्यवस्था करनी थी। इन भौतिक तथ्यो ने—अर्थात उस प्रदेश के विस्तार ने जिस पर य उपनिवेश फैले हुए थ और उस भयानक दूरी ने जिसन उन्हे एक ऐसे देश में अलग-अलग कर दिया था जिसके आवागमन के साधन तब तक अविकसित थे, अनिवार्य रूप से पृथक्करण तथा स्थानीय भावना के विकास को प्रोत्साहित किया। ये दोनो बात ऐसी थी जिन पर बडी सावधानी से विचार करने की आवश्यकता थी। यही उस समय अपनाय गए सघवाद के विशिष्ट रूप का रहस्य है। य सघ-निर्माणकर्ता छह उपनिवेश ऐसा कभी नही करते, यदि उन्हे जापानियो की साम्राज्यवादी प्रवृत्ति के खतरे का, जो विगत शताब्दी के अतिम वर्षों तक भी स्पष्टत दिखाई नही देता था, परन्तु जो द्वितीय विश्वयुद्ध मे आस्ट्रेलिया के निवासियो के लिए भयकर रूप से वास्तविक बन गया, सामान्य रूप से ज्ञान न हुआ होता। अत, इन उपनिवेशो का उद्देश्य एक सुदृढ केन्द्रित राज्य की स्थापना की अपेक्षा ऐसे सयोग (Union) के निर्माण का साधन खोजना था जो सघबद्ध होने वाले निकायो को उद्देश्य सिद्धि की आवश्यकताओ का ध्यान रखते हुए, उनकी वैयक्तिक सत्ता से कम से कम वचित करे।

इसके साथ ही एक साधारण भावना यह भी थी कि औद्योगिक तथा सामाजिक विकास के लिए सघ से पहले विद्यमान किसी सत्ता की अपेक्षा अधिक शक्तियो वाली सत्ता की आवश्यकता है और साथ ही एक सर्वोच्च न्यायिक सत्ता की भी स्थापना होनी चाहिए जिससे लदन स्थित प्रिवी कौसिल मे मामले ले जाने के कारण होने वाले व्यय तथा विलम्ब से बचा जा सके। इसके फलस्वरूप सघ, सामान्य प्रतिरक्षा के लिए एक सयोग से बहुत-कुछ अधिक बन गया और उस सामाजिक विधि निर्माण को, जिसमे आस्ट्रेलिया-निवासी दृढतापूर्वक विश्वास करते है, आगे बढने मे एक सक्षम साधन सिद्ध हो सका।

इस सविधान मे कॉमनवेल्थ (केन्द्रीय) सरकार की शक्तियो का उल्लेख किया गया है और शेष शक्तियाँ राज्यो के लिए छोड दी गई है। इन परिगणित शक्तियों की सूची लम्बी है, फिर भी राज्यो के लिए पर्याप्त स्वतन्त्रता छोड दी गई है। सविधान ने एक सघीय कार्यपालिका की स्थापना की है—नाममात्र

के लिए तो सपरिषद् गवर्नर जनरल परन्तु जो वास्तव में सिनेट तथा प्रतिनिधि-सभा से युक्त द्विसदनी संघीय विधानमंडल के प्रति उत्तरदायी होता है। सिनेट में राज्यों को समान प्रतिनिधित्व प्राप्त हुआ है—प्रत्येक राज्य के दस सदस्य होते हैं। प्रतिनिधि-सभा (House of Representatives) में राज्यों का प्रतिनिधित्व जनसंख्या के आधार पर है। प्रारम्भ में संविधान ने राज्यों को संसद् के निर्वाचन के लिए अपनी इच्छानुसार व्यवस्था करने की स्वतन्त्रता दे दी थी, परन्तु ये उपबन्ध उन अनेक उपबन्धों में से थे जिन्हें संघीय विधानमंडल किसी भी सांविधानिक परिवर्तन के बिना बदल सकता था। संघीय विधि के अनुसार आज व्यवस्था यह है कि सम्पूर्ण कॉमनवेल्थ में प्रतिनिधि-सभा के लिए निर्वाचन एकसदस्य निर्वाचन-क्षेत्र में, परन्तु सिनेटरों का निर्वाचन प्रत्येक राज्य में उसे एक ही निर्वाचन-क्षेत्र मानकर होता है परन्तु ये दोनों निर्वाचन अधिमानीय (Preferential) मतदान प्रणाली के अनुसार होते हैं। इस प्रणाली की विवेचना बाद में की जायगी।

इसके अतिरिक्त, संविधान सर्वोच्च न्यायालय से युक्त एक संघीय न्यायपालिका की भी स्थापना करता है। संयुक्तराज्य के सदृश यहाँ के सर्वोच्च न्यायालय को संविधान की व्याख्या करने तथा राज्यों के बीच के अथवा किसी राज्यविशेष और संघीय सत्ता के बीच के विवाद के मामलों को निपटाने की शक्ति प्राप्त है। आस्ट्रेलिया का सर्वोच्च न्यायालय संयुक्तराज्य के सर्वोच्च न्यायालय से इस बात में भिन्न है कि जहाँ विशुद्ध राज्यीय विधियों के आधार पर होने वाली राज्यों की अपीलों को संयुक्तराज्य का सर्वोच्च न्यायालय ग्रहण नहीं कर सकता, वहाँ आस्ट्रेलिया का सर्वोच्च न्यायालय ऐसी अपीलों को ग्रहण कर सकता है और करता भी है।

जैसा कि हम बता चुके हैं, आस्ट्रेलिया की कॉमनवेल्थ के वास्तविक रूप से संघीय होने के कारण वहाँ राज्यों का अपना स्वयं का वास्तविक अस्तित्व है। जैसा कि हम कह चुके हैं, उन्हें सिनेट में समान प्रतिनिधित्व प्राप्त है और उनमें से प्रत्येक राज्य में एक गवर्नर भी है, जिसकी नियुक्ति कनाडा के समान संघीय सत्ता नहीं करती और न जो संयुक्तराज्य की भाँति जनता द्वारा ही निर्वाचित होता है, बल्कि जिसकी नियुक्ति प्रत्यक्षरूपेण राजा या रानी के द्वारा अर्थात् व्यावहारिक रूप में राज्य की विद्यमान सरकार की सहमति से (ब्रिटेन की) गृह-सरकार के द्वारा होती है। संविधान से राज्यों को यह भी अनुमति प्राप्त है कि वे, यदि चाहें तो, राज्यसम्बन्धी विशुद्ध मामलों के बारे में विधान बनाने के लिए संघीय संसद् की सहायता ले लें। इसके अतिरिक्त सन् 1929 में, कॉमनवेल्थ ने समस्त राज्यीय ऋणों का भार ग्रहण कर लिया और वह स्वयं ही एकमात्र ऋण लेने वाली सत्ता बन गई। इन उपबन्धों से संघीय तथा राज्यसत्ता के बीच

सयुक्तराज्य की अपेक्षा अधिक घनिष्ठ सम्बन्ध उपलक्षित है।

अत मे इस सविधान मे एक सघीय प्रदेश (Fedeal district) की भी व्यवस्था की गई है ताकि आगे चलकर वहाँ किसी भी राज्य से स्वतन्त्र रूप मे सघीय सरकार अपनी राजधानी स्थापित कर सके, यह क्षेत्र 'केनबेरा' नाम से पुकारा जाता है। इसका क्षेत्रफल 900 वर्गमील के लगभग है और न्यू साउथ वेल्स ने इसे कॉमनवेल्थ को सौप दिया है। यह सिडनी और मेलबोर्न के बीचोबीच स्थित है। सन् 1927 मे सघीय सरकार की वहाँ स्थापना हुई।

अभी हाल ही के वर्षों मे सयुक्तराज्य की भाति आस्ट्रेलिया मे भी सघीय सत्ता और राज्यो के कार्यक्षेत्रो के सम्बन्ध मे विवाद उत्पन्न हो गया है। विशेष रूप से सघीय सरकार को सार्वजनिक स्वास्थ्य, व्यापारिक कम्पनियो के सचालन, औद्योगिक विवाद, बेकारी, कृषि तथा मत्स्योद्योग और उड्डयन के नियत्रण जैसे जनसाधारण से सम्बन्धित महत्त्वपूर्ण विषयो के बारे मे समस्त कॉमनवेल्थ के आधार पर कार्यवाही करने मे सावैधानिक रूप से असमर्थता का अनुभव हुआ है। 22 नवम्बर सन् 1938 को प्रतिनिधिसभा मे सरकार ने सविधान मे सशोधन करने के लिए सन् 1939 मे एक विशेष अधिवेशन करने के अपने अभिप्राय की घोषणा की। सदन के दोनो ही पक्षो ने इस घोषणा का स्वागत किया। विरोधी दल का नेता तो पहले ही कह चुका था कि आस्ट्रेलिया का शासन निर्वाचको के बहुमत से न होकर हाईकोर्ट के न्यायाधीशो के बहुमत से होता है जो "विधियो को उनके गुण-दोषो के आधार पर नही बल्कि इस आधार पर अमान्य कर देते है कि लिखित सविधान के अनुसार शक्ति-बाह्य (Ultra Vires) है।" उसने कहा कि "प्रत्येक राष्ट्रीय सकट मे आस्ट्रेलिया के हाथ सावैधानिक हथकड़ियो से जकडे हुए रहते है, जिसका परिणाम होता है निष्क्रियता, विलम्ब और ससदीय प्रणाली का उपहास।" उसने कहा कि "कोई भी प्रभुसत्तात्मक एकता ऐसी स्थिति मे प्राप्त नही हो सकती जिसमे सात प्रभुसत्तात्मक ससदें हो जो व्यावहारिक रूप से समान पदवी की हो जिनमे तेरह सदन 600 से अधिक सदस्य और 70 मत्री हो, और जिसमे समुद्रपार कार्य करने वाले पृथक् प्रतिनिधि और पृथक् सेवाएँ हो।"

ऐसी परिस्थिति मे, जब कि राज्यीय विधानमडल अपने मौजूदा अधिकारो का त्याग करने को तैयार नही थे, यह निश्चित किया गया कि इस मामले को निपटाने के लिए जनता का निर्णय प्राप्त किया जाय। परन्तु इस प्रश्न का जनमत सग्रह के द्वारा समाधान करने से पूर्व ही द्वितीय विश्वयुद्ध छिड गया। सन् 1944 मे सघीय तथा राज्यीय प्रतिनिधियो के सम्मेलन मे फिर चर्चा प्रारम्भ हुई। परन्तु बाद के जनमत सग्रह मे राज्यीय शक्तियो मे मौलिक कमी कर देने वाली योजना विफल हो गई। फिर भी सन् 1947 मे स्पष्ट रूप से निश्चित

कतिपय सामाजिक सेवाओं को संघीय आधार पर व्यवस्था करने वाली योजना का जनता ने उत्साह के साथ समर्थन किया। किन्तु इसके विपरीत सन् 1951 में कामनवेल्थ संसद की ऐसी साम्यवाद विरोधी विधियों को बनाने का, जिन्हें वह अभीष्ट समझे, अधिकार देने के प्रस्ताव पर जनमत संग्रह में सरकार की हार हो गई। इससे यह प्रतीत होता है कि जनता ऐसे किसी संशोधन का अनुमोदन करने से अनिच्छुक है जो शब्दों में उल्लिखित न किया गया हो तथा जिसका मुख्य राजनीतिक दल समर्थन न करते हों।

पिछले वर्षों में सांविधानिक पुनर्विलोकन (Constitutional Review) के लिए सीनेट और प्रतिनिधि-सभा की एक संयुक्त समिति संघीय तथा राज्य सत्ताओं के सम्बन्धों के प्रश्न पर विचार करने के लिये नियुक्त की गई थी। समिति ने 1958 और 1959 में दो प्रतिवेदन प्रस्तुत किये किन्तु 1965 तक उन पर कोई अमल नहीं हो पाया था।[1]

6 कनाडा की डॉमिनियन का रूपांतरित संघवाद

कनाडा की डॉमिनियन उन तीनों देशों की अपेक्षा, जिनकी हमने अभी तक परीक्षा की है कम संघीय है क्योंकि संयुक्तराज्य, स्विट्जरलैंड और आस्ट्रेलिया में तो रक्षित शक्तियाँ राज्यों के पास हैं, किन्तु कनाडा में वे संघ के पास हैं। इसी कारण हमने कनाडा को संघराज्य का रूपांतरित नमूना कहा है। वास्तव में कनाडा की संघनिर्माणकर्त्री इकाइयाँ सच्चे रूप में राज्य नहीं हैं। वे प्रांत कहलाती हैं हालांकि वे इंगलैण्ड की स्थानीय सत्ताओं अथवा दक्षिणी अफ्रीका के यूनियन के चारों प्रांतों की अपेक्षा बहुत अधिक शक्तिशाली हैं। यद्यपि कनाडा पूर्णरूपेण संघीकृत राज्य नहीं है, तथापि वह ग्रेट ब्रिटेन, फ्रांस या न्यूजीलैंड जैसे एकात्मक राज्य से बहुत भिन्न है। किन्तु कनाडा के तथा इस अध्याय में वर्णित अन्य राज्यों के संघवाद में बड़े महत्त्वपूर्ण अन्तर हैं।

यद्यपि कनाडा आंग्ल उपनिवेशों में प्राचीनतम नहीं है—यह सम्मान न्यूफाउंडलैंड को प्राप्त है—फिर भी वह ब्रिटेन के स्वशासी डोमिनियनों में सबसे पुराना है, क्योंकि वह डोमिनियन-पद अर्थात् उत्तरदायी स्वायत्त शासन प्राप्त करने वालों में सर्वप्रथम है, और वहां उसके सफल प्रयोग के कारण ही बाद के वर्षों में इसका सामान्यतया अंगीकरण किया गया है। हम उत्तरदायी शासन के प्रश्न

[1] ग्रन्थकर्ता लन्दन-स्थित, ऑस्ट्रेलिया हाउस के लायब्रेरियन का इन महत्त्वपूर्ण दस्तावेजों को कुछ समय के लिये उपलब्ध करने के लिये ऋणी है। जहाँ तक इन प्रतिवेदनों का सम्बन्ध सांविधानिक संशोधन की प्रक्रिया के सुधार से है, उनका हवाला पुनः अध्याय 7 में दिया गया है।

पर बाद में विचार करेंगे। यहाँ पर हम कनाडा की संघीय प्रणाली का अवलोकन करेंगे जो उत्तरदायी शासन के सिद्धान्त में किंचित् विभिन्न है। किन्तु इस बात में भी कनाडा आस्ट्रेलिया से बहुत आगे रहा है क्योंकि उसकी संघीय प्रणाली की स्थापना सन् 1867 के ब्रिटिश उत्तरी अमरीका अधिनियम के द्वारा हुई। प्रारम्भ में इसमें ओन्टेरियो, क्यूबेक, नोवास्कोशिया और न्यू ब्रन्सविक नामक चार प्रान्त थे। किन्तु बाद में शीघ्र ही इस संघ में सात प्रान्त हो गये और अब दस हैं। कनाडा संघ की पृष्ठभूमि आस्ट्रेलिया की अपेक्षा भिन्न है। वहाँ प्रेरणा बाह्य की अपेक्षा आन्तरिक अधिक थी परन्तु उस विशिष्ट रूप के लिए जिसे कनाडा के संघ ने ग्रहण किया आन्तरिक और बाह्य दोनों ही प्रभाव के कारण थे। आस्ट्रेलिया के विपरीत परन्तु दक्षिणी अफ्रीका के समान कनाडा फ्रेंच तथा ब्रिटिश राष्ट्र जातियों के संघर्ष में विदीर्ण हो रहा था जिसके कारण बहुत दिनों से चले आ रहे थे।

यहाँ एक शक्तिशाली केन्द्रीय शासन की बड़ी आवश्यकता थी और सन् 1840 के अधिनियम के बाद एकात्मक राज्य की प्रणाली को अपनाने का प्रयत्न भी किया गया था जो सफल नहीं हुआ। एक ओर कठिनाई यह हुई कि यह अधिनियम केवल क्यूबेक और ओन्टेरियो को लागू था जब कि दो या तीन अन्य राज्यों ने भी उन दोनों राज्यों के साथ मिलकर शासन की सामान्य योजना में भाग लेने की इच्छा प्रकट की। इन प्रान्तों के बीच का शिथिल संयोग—एक कॉनफेडरेशन मात्र का निर्माण—निरर्थक से भी बुरा होता उससे कोई भी समस्या हल नहीं होती। इसके विपरीत एकात्मक राज्य व्यवहार्य रूप में सिद्ध होने की सम्भावना नहीं थी। इसके साथ ही एक अन्य बात के कारण भी कि कनाडा का एक बड़ा विस्तृत भाग अब भी अविकसित दशा में पड़ा था इस परिस्थिति में न तो पहली और न दूसरी प्रणाली ही ठीक बैठ रही थी। एक ओर शिथिल कॉनफेडरेशन के कारण बाद में संघर्षों का होना अनिवार्य था, दूसरी ओर एकात्मक प्रणाली भले ही वह उस समय विद्यमान प्रान्तों को लागू कर दी जाती, हालांकि ऐसा हो नहीं सकता था—पूर्णरूपेण विकसित प्रान्तों के हेतु उपयुक्त होते हुए भी ऐसे प्रान्तों के लिए जो तब तक अस्तित्व में नहीं आये थे अनुपयुक्त सिद्ध हो सकती थी।

तो फिर कनाडा ने संयुक्तराज्य अमरीका की भाँति का संघ (फेडरेशन) क्यों नहीं बनाया? इसका उत्तर सन् 1864 67 का समय था जब कनाडा में संघनिर्माण के सम्बन्ध में गम्भीर चर्चा चल रही थी। अमरीका के गृहयुद्ध ने, जो सन् 1861 65 तक चला, बहुतों को और विशेष कर कनाडा निवासियों को जो कि उसे इतने समीप से देख रहे थे, संघवाद के उस रूप की ओर से जो कि संयुक्तराज्य में तब तक क्रियान्वित हो चुका था, निराश कर दिया था। प्रत्यक्ष

रूप से संघवाद टूट चुका था। इसी विश्वास से कनाडा के प्रमुख राजममंत्री, ने एक समाधान निकाला जो कि वास्तविक संघीय प्रणाली में, जो बदनाम हो चुकी थी, और एकात्मक प्रणाली के बीच जो कनाडा के निवासियों की आवश्यकताओं के अनुकूल नहीं थी एक समझौता था। यह समझौता एक संघीय संयोग (Federal Union) था जिससे गम्भीर संघर्ष की सम्भावनाएं कम-से-कम हो सकती थीं।

इस भांति कनाडा-पद्धति के अधीन शक्तियों के वितरण का सिद्धांत, सामान्य रूप से, उस सिद्धांत का उल्टा था जिसका संयुक्तराज्य में प्रयोग हुआ था। कनाडा में प्रांतों की शक्तियां परिगणित की गई हैं और 'रक्षित शक्तियां' संघीय सत्ता के लिए छोड़ दी गई हैं। संघीय सत्ता की शक्तियों की सूची सन् 1867 के मूल अधिनियम में वास्तव में दी ता गई है, किन्तु इसका एकमात्र उद्देश्य उनमें अधिकाधिक स्पष्टता लाना था, न कि संघीय शक्ति को कम करना। प्रांतों को प्रदान की गई शक्तियां पर्याप्त हैं, और इनमें ऐसे विषय भी सम्मिलित हैं जो साधारणत स्थानीय सरकारों के पास नहीं होते, जैसे अपने संविधानों का संशोधन (लफ्टिनेंट गवर्नर के पद की समाप्ति को छोड़कर), प्रांत के भीतर प्रत्यक्ष कराधान दण्ड तथा व्यवहार सम्बन्धी न्याय व्यवस्था तथा प्रांत के भीतर नगर शासन का नियंत्रण।

आस्ट्रेलिया के समान ही कनाडा में गवर्नर जनरल की नियुक्ति नाममात्र में राजा या रानी के द्वारा परन्तु वास्तविक रूप में डामिनियन की सरकार की *सहमति से ब्रिटिश सरकार द्वारा होती है।* परन्तु *आस्ट्रेलिया के विपरीत,* वहां संघनिर्मात्री इकाइयों में से प्रत्येक में राज्य-सरकार के द्वारा नियुक्त गवर्नर न होकर डामिनियन सरकार के द्वारा नियुक्त लफ्टिनेंट गवर्नर होता है। जब हम आस्ट्रेलिया के राज्यों से कनाडा के प्रांतों की तुलना करते हैं तो कनाडा में राज्यों के वैयक्तिक महत्त्व का एक और अभाव सिनेट में दिखाई देता है जिसके सदस्य निर्वाचित नहीं किए जाते बल्कि जीवन भर के लिए नाम निर्दिष्ट किए जाते हैं और यह नाम निर्देशन भी प्रांत के द्वारा न होकर, जैसे जैसे स्थान रिक्त होते जाते हैं, डामिनियन सरकार के द्वारा किया जाता है। इसके अतिरिक्त कनाडा का गवर्नर जनरल डामिनियन सरकार के परामर्श से प्रांतीय संसद् के अधिनियम का निषेध कर सकता है। यह एक ऐसी शक्ति है जो आस्ट्रेलिया के गवर्नर-जनरल के हाथों में वहां के राज्यों की संसदों के अधिनियमों के विषय में नहीं है।

न्यायपालिका के सम्बन्ध में कनाडा में एक सर्वोच्च न्यायालय है, परन्तु उसे संविधान की व्याख्या करने की शक्ति नहीं के बराबर है। ऐसा कोई कारण नहीं दिखाई देता जिससे कनाडा में ऐसी शक्ति हो, क्योंकि (1) 'रक्षित शक्तियां'

सघीय सत्ता के पास है, और (2) सघीय सत्ता के पास, सविधान के अधीन, प्रान्तीय विधियों को निषिद्ध करने का अधिकार है।

आस्ट्रेलिया और कनाडा के सघवाद के अन्तरों का इस भाति सक्षेप मे प्रकट किया जा सकता है कि (1) आस्ट्रेलिया के सविधान मे सघीय सत्ता की शक्तियो का निरूपण किया गया है और रक्षित शक्तिया राज्यो के पास छोड दी गई है। इसके विपरीत, कनाडा के सविधान मे राज्या की शक्तियो को परिगणित किया गया है और शेष सघीय सत्ता के पास छोड दी गई है। (2) आस्ट्रेलिया मे राज्यो के गवनरो की नियुक्ति के प्रश्न को सघीय हस्तक्षेप से पृथक् छोड दिया गया है। इसके विपरीत कनाडा मे प्रातो के लेफ्टिनेण्ट गवनरो की नियुक्ति का अधिकार डामिनियन की सरकार का सौपा गया है। (3) आस्ट्रेलिया मे कॉमनवेल्थ शासन को राज्य के विधि-निर्माण मे हस्तक्षेप करने का कोई अधिकार नही है, जब कि कनाडा मे डॉमिनियन शासन को प्रातीय विधिया पर निषेधाधिकार प्राप्त है। (4) आस्ट्रेलिया का सर्वोच्च न्यायालय सविधान की व्याख्या कर सकता है, परन्तु कनाडा के सर्वोच्च न्यायालय के पास ऐसी शक्ति अत्यन्त अल्प मात्रा मे है। (5) आस्ट्रेलिया की सिनेट मे राज्यो से सदस्य समान सख्या मे निर्वाचित होते है, जब कि कनाडा की सिनेट के सदस्य आजीवन डामिनियन शासन के द्वारा नाम निर्दिष्ट होते है। अत, सामान्यतया आस्ट्रेलिया की कामनवेल्थ कनाडा की डॉमिनियन की अपेक्षा कही अधिक सघीय है। अथवा अन्य रीति से यह कहा जा सकता है कि आस्ट्रेलिया की अपेक्षा कनाडा एकात्मक कह जाने वाले प्रकार के राज्य के बहुत अधिक समीप है। इस भाति यद्यपि कनाडा सयुक्तराज्य के समीप और आस्ट्रेलिया बहुत दूर है, फिर भी कनाडा की अपेक्षा आस्ट्रेलिया के सघवाद मे सयुक्तराज्य के सघवाद से प्रत्येक बात मे बहुत अधिक सादृश्य है।

7. जर्मन संघवाद

जर्मनी मे सघवाद का बडा पुराना इतिहास है। सन् 814 मे महान् चार्ल्स की मृत्यु के पश्चात् उसके साम्राज्य के टुकडे-टुकडे हो गए और जब उसके जर्मन भाग का पुनरुद्धार हुआ तो वह कभी भी उस भाति केन्द्रित न हो सका जैसा कि वह पहले था। सामन्तवाद ने जर्मनी मे बडा विनाश किया। पवित्र रोमन साम्राज्य का इतिहास, विघटन अथवा कम-से-कम विकेन्द्रीकरण के तथ्यो को निर्वाचित साम्राज्यशाही के आवरण से ढकने के प्रयत्न की एक लम्बी कहानी है। सघीय साम्राज्य प्रतीत होने वाले प्रदेश की सीमा के अन्दर वास्तव मे दो बडे प्रतिस्पर्द्धी राज्य--आस्ट्रिया और प्रशा बन गये। मध्य योरोप के विघटन की प्रक्रिया को आगे बढाने वाले नेपोलियन के पतन के पश्चात् भी वे अपने मतभेद

दूर न कर सके और उस समय स्थापित जर्मन कानफेडरेशन वहुतान वाला सम झौता उनके बीच में होने वाले अन्तिम संघर्ष के लिए केवल प्रस्तावना मात्र ही सिद्ध हुआ। सन 1867 में आस्ट्रिया प्रशा युद्ध में अपनी सफलता के पश्चात बिस्मार्क ने आस्ट्रिया को निकाल बाहर किया और उत्तरी जर्मन कानफेडरेशन की स्थापना की जिसमें प्रशा प्रशा युद्ध के दौरान में दक्षिणी जर्मनी के राज्य भी सम्मिलित हो गए। सन 1871 में जर्मन साम्राज्य की जयघोषक उद घोषणा के साथ युद्ध समाप्त हुआ। यह साम्राज्य प्रथम विश्वयुद्ध के अंतिम दिनों तक कायम रहा।

यहां पर हम बिस्मार्क के जर्मन साम्राज्य के अथवा वमर गणतंत्र (सन 1919) के जिसे हिटलर ने समाप्त कर दिया संविधान पर विस्तारपूर्वक विचार नहीं करेंगे। परंतु हम समानता तथा विभिन्नता की कुछ सामान्य बातों का समय लेना है। सन 1871 में स्थापित साम्राज्य को संघवाद के एक अनोखे प्रकार का संघवाद था। वह संघनिर्माती इकाइयों की जो कुछ वर्षों से प्रशा के नेतृत्व में जर्मन सामाशुल्क संयोग (Zollvere n) के आर्थिक लाभों का उपयोग कर रही थीं स्वच्छन्द इच्छा के द्वारा उत्पन्न होता मालूम होता था। किन्तु वास्तव में जिस बात ने उन्हें प्रशा का प्रभुत्व-स्वीकार करने के लिए प्रेरित किया वह राजनीतिक संयोग की इच्छा की अपेक्षा बिस्मार्क का प्राधान्य था। साम्राज्य के संविधान के अधीन वंशानुगत जर्मन सम्राट प्रशा का भी वंशानुगत राजा था। इस बात का कोई अधिक महत्व नहीं होता किन्तु असल में सम्राट की शक्ति नाम मात्र की न होकर वास्तविक थी और जब तक यह बात थी तब तक प्रशा सर्वोच्च था और यह सर्वोच्चता केवल साम्राज्यिक विधानमंडल के दोनों सदनों में उसके सदस्यों की संख्या की दृष्टि से ही नहीं थी। इसके अलावा राइखस्टाग (Reich stag) के पास जो कि जनता के प्रतिनिधियों का सदन था वास्तविक शक्ति नहीं थी। वास्तविक विधायी शक्ति तो बंडसराट (Bundesrat) नामक सदन के पास थी जिसमें राज्यों के दूत भाग लेते थे और उसमें प्रशा का प्रबल प्रभाव था। इस भांति प्राचीन जर्मन साम्राज्य न तो वास्तविक रूप में संघीय ही था और न लोकतंत्रीय ही क्योंकि किसी भी वास्तविक संघीय प्रणाली में एक राज्य की प्रबलता नहीं होती और किसी भी वास्तविक लोकतंत्रीय राज्य में विधि निर्माण का कार्य जनता का प्रतिनिधित्व न करने वाले सदन के हाथ में नहीं होता। परन्तु फिर भी यह साम्राज्य एक वास्तविक संयोग (यूनियन) था। संघीय सत्ता की शक्तियां निरूपित थीं और राज्यों की अनिरूपित। संघीय सत्ता की वर्णित शक्तियां बड़ी विस्तृत थीं और संविधान को जब तक कि चौदह निषेधात्मक मत न हों साधारण विधायी प्रक्रिया में बदला जा सकता था। एक सर्वोच्च न्यायालय भी था जो संघीय सत्ता और राज्यों के बीच अथवा दो राज्यों

के बीच के विवादा को निपटाता था। परन्तु बुडेसराट (Bundesrat) अथवा राज्या की समिति ही यह सर्वोच्च न्यायालय थी और चूकि इसमे प्रशा की प्रमुखता थी और सम्राट् प्रशा का प्राय निरकुश राजा भी था अत यह समझना कठिन न होगा कि प्रथम विश्वयुद्ध के पूर्व जर्मन साम्राज्य मे सच्चा सघवाद कितना प्रभावहीन था।

प्रथम विश्वयुद्ध ने प्रशा की शक्ति का ही नही वल्कि जर्मन साम्राज्य मे सघबद्ध समस्त राज्या के राजवशा को भी नष्ट कर दिया। अतएव, जर्मन राज्य के सम्पूर्ण आधार के पुर्ननिर्माण के लिए परिस्थिति दुगनी अनुकूल बन गई। चूकि अब प्रशिया से डरने की बात ता रही नही थी, अतएव, एकात्मक राज्य के निर्माण के लिए सशक्त प्रयत्न किया गया परन्तु बडे वाद-विवाद तथा अनेक मसौदे बनाने के पश्चात् एक एसे नये सघ की स्थापना का निश्चय किया गया जिसमे प्रबल सघीय सत्ता और निर्वाचित राष्ट्रपति की जिसका पद किसी भी जर्मन नागरिक के लिए खुला रखा गया, व्यवस्था थी। कुछ सीमा सम्बन्धी पुनर्गठन भी हुआ और प्रत्येक नये राज्य (Lander) को लाकतन्त्रात्मक सविधान का निर्माण करने को विवश होना पडा।

वेमर गणतत्र के सविधान मे सघीय सरकार की शक्तिया परिगणित की गई थी, किन्तु दो सूचिया मे। प्रथम सूची (अनुच्छेद 6) एकमात्र रूप मे सघीय सत्ता की शक्तियो की सूची थी। दूसरी सूची (अनुच्छेद 7) ऐसी शक्तियो की सूची थी जिनका सघीय सरकार राज्यो के साथ साथ प्रयोग करती थी। अनुच्छेद 12 म यह उल्लेख किया गया था कि "जब तक और जहाँ तक सघीय सरकार अपनी विधायी शक्ति का प्रयोग नही करती, वह शक्ति राज्यो के पास रहेगी।' यह बात सघीय सत्ता की (अनुच्छेद 6 मे परिगणित) अनन्य विधायी शक्तियो को लागू नही होती थी। सघीय विधि राज्यविधि से अधिक मान्य थी। राज्यविधि सघीय विधि से अविरुद्ध है या नही, इस प्रकार के प्रश्न पर मतभेद होने की अवस्था मे सघीय विधि की अधिक यथार्थ व्याख्या के लिए सर्वोच्च न्यायालय मे अपील करनी होती थी। यह बात ध्यान देने योग्य है कि सर्वोच्च न्यायालय अब उच्च सदन नही बल्कि एक वास्तविक न्यायालय था।

राइखस्टाग वास्तविक विधि-निर्मात्री सभा बन गई। उच्च सदन (राइखस्टाग) के सदस्य अब भी राज्य-सरकारा के दूत होते थे, परन्तु उसकी शक्ति बहुत कम कर दी गई थी। वह सयुक्तराज्य और आस्ट्रेलिया की सिनेट से, जहाँ यद्यपि सदस्य राज्यो से आते है परन्तु उनका लोकतत्रीय रूप से निर्वाचन होता है और जहाँ समस्त राज्यो को समान रूप से प्रतिनिधित्व प्राप्त है, बिलकुल भिन्न थी। गणतत्रीय शासनपद्धति ने अन्य राज्यो के ऊपर प्रशा के सख्यात्मक प्राधान्य पर कोई प्रभाव नही डाला, क्योकि राइखस्टाग मे किसी भी राज्य के प्रत्येक दस

लाख निवासियों के लिए एक सदस्य होना था। किन्तु चूंकि इसकी शक्तियां अत्यन्त सीमित थीं और चूंकि प्रशा तथा साम्राज्य इन दोनों की कार्यपालिका में तादात्म्य लुप्त हो चुका था, इस कारण वेमर गणतन्त्र के अधीन और पुराने साम्राज्य के अधीन प्रशा की शक्ति में वास्तविक अन्तर था। संविधान के आंशिक व्याख्याकार के रूप में सर्वोच्च न्यायालय की रचना से संघवाद के असली तत्त्व का समावेश हो गया। इसमें भी आगे बढ़कर जनमत संग्रह के सिद्धांत को संविधान में अबाध रूप से स्थान दिया गया जिसकी मांग शासन अथवा स्वयं जनता दोनों ही के द्वारा और साधारण विधि निर्माण के साथ ही संविधान में प्रस्तावित संशोधनों व प्रश्नों के सम्बन्ध में भी की जा सकती थी।

इस प्रकार वेमर गणतन्त्र व जर्मनी में संघवाद की ये तीनों आवश्यक विशेषताएं—संविधान की सर्वोच्चता, शक्तियों का वितरण, और शक्तियों को आपस में विभाजित करने वाली सत्ताओं के बीच विवाद की अवस्था में इसकी व्याख्या करने के लिए न्यायालय—मौजूद थीं। परन्तु फिर भी एक संघीय राज्य के रूप में जर्मनी में कुछ अद्वितीय विशेषताएं भी थीं। प्रथम, शक्तियों के पूर्ण विभाजन के बजाय जिसमें या तो संघीय सत्ता की शक्तियां अथवा संघनिर्मात्री इकाइयों की शक्तियां निरूपित की जाती हैं, उसमें शक्तियों का त्रिविध विभाजन किया गया था। प्रथम वे शक्तियां जो अनन्य रूप से संघीय सत्ता के पास थीं, द्वितीय, वे शक्तियां *जिनका प्रयोग संघीय सत्ता राज्यों के साथ-साथ कर सकती थी*, और तृतीय, वे शक्तियां जिनका उल्लेख नहीं है (परन्तु यहां भी संघीय विधि राज्यविधि को रद्द कर सकती थी)। दूसरी विशेषता यह थी कि उच्च सदन को, जो कि समस्त जनता के हितों से पृथक् राज्यों के हितों का प्रतिनिधि होता है, समस्त राज्यों का समान रूप से प्रतिनिधि बनाने के बजाय, जैसा कि आज के समस्त अन्य महत्त्वपूर्ण राज्यों में होता है, जनसंख्या के आधार पर संगठित किया गया, जिसके कारण प्रशा को उससे दूसरे नम्बर के बृहत्तम राज्य (बवेरिया) के सदस्यों की संख्या के दुगने से भी अधिक सदस्य प्राप्त हुए। तीसरी विशेषता यह थी कि राष्ट्रपति का निर्वाचन जनमत से होता था (इस बात में गणतन्त्रीय जर्मनी संयुक्तराज्य के समान किन्तु स्विट्जरलैंड से भिन्न था), परन्तु उसे विधानमंडल के प्रति उत्तरदायी मन्त्रिमण्डल के माध्यम से कार्य करना होता था (इस बात में जर्मनी कनाडा और आस्ट्रेलिया के समान किन्तु संयुक्तराज्य से भिन्न था)।

हमने यहां वेमर गणतन्त्र के संविधान के संघीय रूप पर कुछ अधिक विस्तार से विचार किया है, क्योंकि यही वह संविधान था जिसे हिटलर ने समाप्त कर दिया था और द्वितीय विश्वयुद्ध के उपरान्त अधिकारकर्त्ता शक्तियों को इसी संविधान को अनिवार्य रूप से यह विचार करने के लिए आधार बनाना पड़ा कि जर्मनों को क्रमिक रूप में अपने देश का राजनीतिक नियन्त्रण सबसे अच्छी तरह किस

भाति पुन दिया जा सकता है। उस प्रकार की एकात्मक प्रणाली, जिसे हिट्लर ने सघवाद के प्रत्येक अवशेष को नष्ट करने के पश्चात आरोपित किया था, स्पष्टत ऐसी नही थी जिसे जर्मनी का उदार तत्त्व पुन स्थापित करना चाहता अथवा जिसे अधिकारकर्त्ता शक्तिया सहन कर सकती। निस्सदेह, सन 1947 के प्रारम्भिक महीनो मे मॉस्को मे पर-राष्ट्र मत्रियो के सम्मेलन मे जो विचार-विमर्श हुआ उससे यह स्पष्ट था कि चारो शक्तियो (ब्रिटेन, सयुक्तराज्य, सोवियत रूस और फ्रास) ने अतत एक सघीय समाधान को पसन्द किया था, यद्यपि पश्चिमी शक्तियो ने रूस की अपेक्षा एक अधिक शिथिल सघ का सुझाव दिया था। रूसियो को डर था कि केन्द्र मे सबल सघीय शासन के अभाव से किसी ऐसे भावी बिस्मार्क या हिट्लर के उदय के लिए मार्ग खुला रह जाएगा जो राष्ट्रीय एकता को अपना नारा बना सके।

परन्तु किसी भी अनावश्यक विलम्ब के बिना जर्मन शासन की पुन स्थापना की इच्छा से प्रेरित होकर तीनो पश्चिमी लोकतन्त्रीय राष्ट्रो को सोवियत् रूस से स्वतन्त्र रूप मे कार्य करना पडा और सितबर सन 1948 मे जर्मन राज्यो के सघ के लिए सविधान का प्रथम मसौदा, जिसे विशेषज्ञो की एक समिति ने तैयार किया था, बॉन-स्थित जर्मन सविधान सभा म प्रस्तुत किया गया। यद्यपि इस सघीय योजना की रचना ऐसी की गई थी कि वह अन्त मे समस्त जर्मनी को लागू हो सके परन्तु प्रारम्भ मे वह ग्यारह[1] पश्चिमी राज्यो (Lender) तक ही सीमित रहा जिसकी जनसख्या सम्पूर्ण जर्मन जनसख्या की तीन-चौथाई के लगभग थी। इस नवीन गण तन्त्र मे जिसका आरम्भ सितबर सन् 1949 मे हुआ, दो सदनो का विधानमडल है सघीय सभा (Bundestat) जो निम्न सदन है और सघीय परिषद् (Bundesrat) जो उच्च सदन है। उसका अध्यक्ष राष्ट्रपति है जिसका निर्वाचन दोनो सदनो के सघीय-सम्मेलन (Federal Convention के द्वारा होता है और वह उनके प्रति मत्रिमडल के माध्यम से उत्तरदायी है।

सघीय गणतत्र के सविधान मे जो अब भी मूल विधि (Basic Law) कहलाता है, दो लम्बी सूचियो मे उन विषयो को परिगणित किया गया है। एक सूची मे वे विषय उल्लिखित है जिन के सम्बन्ध मे विधि निर्माण की शक्ति अनन्य रूप मे सघीय सरकार को प्राप्त है और दूसरी सूची मे वे विषय है जिन के सम्बन्ध मे सघीय एव राज्यीय दोनो सरकारो को समवर्ती शक्तियाँ प्राप्त है। सघीय सूची के विषय मे सविधान म यह उल्लेख है कि राज्य को, जहां तक मूल विधि

---

[1] उस समय केवल दस ही राज्य थे। सन 1951 और 1956 मे स्वीकृत सशोधनो के फलस्वरूप कुछ राज्यो का पुनर्गठन हुआ जिसमे सारलैण्ड के नये राज्य का गठन हुआ।

विधायी सत्ता संघ को नहीं देती, विधि-निर्माण का अधिकार है। आगे कहा गया है कि जो विषय संघ की अनन्य विधायी सत्ता के अधीन हैं, उनके सम्बन्ध में राज्य को विधि-निर्माण का अधिकार होगा परन्तु केवल उसी स्थिति में जब कि और उसी सीमा तक जहां तक किसी संघीय विधि ने उन्हें विधि-निर्माण का स्पष्ट रूप मे अधिकार दिया हो। समवर्ती सूची के विषय में राज्य को 'जब तक संघ अपनी विधायी शक्तियों का प्रयोग नहीं करता' तब तक विधि-निर्माण का अधिकार होगा। इस सीमा तक, हालांकि यह बड़ी सकुचित है, रक्षित शक्तियाँ राज्यों के पास है। संविधान ने एक संघीय संविधानी न्यायालय की भी मूल विधि की व्याख्या के सम्बन्ध में निर्णय देने तथा संघ एवं राज्यों के बीच उनके अधिकारों एवं कर्तव्यों के सम्बन्ध में तथा संघीय पर्यवेक्षण के प्रयोग के सम्बन्ध में मतभेदों का निपटारा करने के लिये स्थापना की है। इस प्रकार यह एक लाक्षणिक संघीय राज्य है जिसमें संविधान की सर्वोच्चता, शक्ति-वितरण तथा संघीय और राज्यीय सत्ताओं के बीच के विवादों का निपटारा करने के लिये एक सर्वोच्च न्यायालय—ये तीनों विशेषताएं दृष्टान्त के रूप में मौजूद हैं।

8. सोवियत् रूस और युगोस्लाविया में संघवाद

यद्यपि जैसा कि हम ऐतिहासिक अध्याय में देख चुके हैं, सोवियत् रूस ने, अपनी राजनीतिक संस्थाओं की स्थापना में पश्चिमी संविधानवाद पद्धतियों को अस्वीकार किया है फिर भी सोवियत् रूस एक संघराज्य है और सन् 1936 के स्टालिन-संविधान के संघीय पहलुओं में, कम-से-कम लिखित रूप में, उन संविधानों में से, जिनका हम इस अध्याय में परीक्षण कर चुके हैं, कुछ के साथ मार्के का सादृश्य है। यही बात सन 1946 के युगोस्लाविया के संघीय जनतन्त्रीय गणतंत्र के संविधान के सम्बन्ध में भी सही है जिसका निर्माण मोटे रूप से सोवियत् रूस के संविधान के नमूने पर हुआ था, हालांकि उसका बहुत कुछ रूपान्तरण हो चुका है। फिर भी इन नए और अधिक क्रान्तिकारी संविधानों की पुराने संघों के संविधानों से तुलना करना रुचिकर होगा।

सन 1918 का लेनिन का मूल सोवियत् संविधान केवल योरोप में स्थित मुख्य रूस को लागू था, जो उस समय तक रूसी सोवियत्-संघीकृत समाजवादी गणतन्त्र (Russian Soviet Federated Socialist Republic)—संक्षेप में आर एस एफ एस आर—के नाम से ज्ञात था। सन् 1923 में पहले यूक्रेन के सहित तीन अन्य क्षेत्रों के, जिन्होंने सोवियत् क्रान्ति करली थी, रूसी सोवियत् संघीकृत समाजवादी गणतन्त्र में स्वेच्छा से सम्मिलित होने से सोवियत् समाजवादी गणतन्त्रसंघ (Union of Soviet Socialist Republics) की स्थापना हुई और इसके पश्चात् ऐसे अन्य सोवियत् गणतन्त्रों के, जो योरोप और एशिया दोनों ही में प्राचीन

रूसी साम्राज्य के विभिन्न भागों में स्थापित हो चुके थे सम्मिलित होने से इसका धीरे-धीरे विस्तार हुआ। उक्त संविधान में संघीय सत्ता की शक्तियों का विशिष्ट रूप से निरूपण किया गया था और अवशिष्ट शक्तियों को संघनिर्माता गणतन्त्रों के पास छोड़ दिया गया था। लेनिन के संविधान का स्थान स्टालिन द्वारा तैयार किए गए संविधान ने लिया जिसे मास्को में सोवियतों की अखिल-संघीय कांग्रेस ने सन् 1936 में अंगीकृत किया था।

सन् 1936 के संविधान के दूसरे अध्याय में राज्यसंगठन का वर्णन है। इसके अनुच्छेद 13 में कहा गया है कि सोवियत् समाजवादी गणतन्त्रसंघ (यू. एस. एस. आर.) एक संघीय राज्य है जिसका निर्माण ग्यारह सोवियत समाजवादी गणतन्त्रों (रूसी सोवियत-संघीकृत समाजवादी गणतन्त्र, यूक्रेन, श्वेत रूस, जार्जिया, आर्मीनिया आदि) के जिनमें से कुछ में मुख्य राज्य के अतिरिक्त स्वायत्तशासी गणतन्त्र तथा स्वायत्तशासी प्रदेश भी हैं स्वेच्छा से सम्मिलित हो जाने के आधार पर हुआ है। संघीय सत्ता की शक्तियों का अनुच्छेद 14 में स्पष्ट रूप से वर्णन किया गया है। अनुच्छेद 15 में कहा गया है कि "इन परिसीमाओं से बाहर संघ का प्रत्येक गणतन्त्र अपनी राज्यशक्ति का स्वतन्त्रतापूर्वक प्रयोग करता है।' इससे आगे के अनुच्छेदों में कहा गया है कि "संघ के प्रत्येक गणतन्त्र का अपना संविधान है" (अनुच्छेद 16) "संघ के प्रत्येक गणतन्त्र को सोवियत् समाजवादी गणतन्त्रसंघ से स्वतन्त्रतापूर्वक पृथक् हो जाने का अधिकार है।" (अनुच्छेद 17), और 'संघ के गणतन्त्रों की सीमाएँ उनकी सम्मति के बिना परिवर्तित नहीं की जा सकेंगी।" (अनुच्छेद 18)

अनुच्छेद 47 (1947 में संशोधित रूप में) सदनों के बीच मतभेद की अवस्था में, समझौता-आयोग (Conciliation Commission) की स्थापना करता है, यदि इस व्यवस्था से समझौता न हो सके और सदनों के बीच भी कोई समझौता न हो तो नए निर्वाचन किए जाते हैं।

इस समय संघीकृत सोवियत् गणतन्त्रों की संख्या पन्द्रह है इनके सिवाय बाईस स्वायत्तशासी गणतन्त्र भी हैं। इन पन्द्रह गणतन्त्रों में इस्टोनिया, लैटविया और लिथुआनिया के गणतन्त्र भी हैं जो सन् 1940 में शामिल किए गए थे। ये बाल्टिक राज्य प्रथम विश्वयुद्ध के बाद स्वतन्त्र राज्यों के रूप में स्थापित किए गए थे, परन्तु दो बलवान् पड़ोसी राज्यों के बीच उनका अस्तित्व सदा ही अस्थिर रहा। किन्तु सन् 1939 के रूस-जर्मन शान्ति समझौते में इन पर रूसियों का नियन्त्रण मान्य किया गया था, यद्यपि रूस के जर्मनी के साथ हुए युद्ध के प्रारम्भिक दिनों में जर्मनी ने इन पर कब्जा कर लिया था। बाद में रूसी पश्चिमी अभियान में ये एक बार फिर रूसी प्रभुत्व में आ गए। परन्तु युद्ध की समाप्ति के बाद से सोवियत् रूस ने उन्हें संघ (यूनियन) से पृथक् होने की इजाजत देने का कोई भी

इरादा प्रकट नहीं किया। यहाँ महत्त्वपूर्ण तथ्य सोवियत् संघ की संघीय नम्यता है, जिसके कारण शायद किसी भी पड़ोसी राज्य को अपने संघीय स्वरूप में गड़बड़ डाले बिना वह अपने अन्दर विलीन कर सकता है। सोवियत् समाजवादी गणतंत्र संघ का सांविधानिक सिद्धान्त ऐसा ही है जो कि उसके सत्तावादी व्यवहार से भिन्न है।

युद्धोत्तर युगोस्लाविया साम्यवादी राज्य बन गया। परन्तु उसके प्रथम *संविधान में सोवियत रूस का प्रभाव स्पष्ट होते हुए भी वह रूस का पिछलग्गू* नहीं बना। उसकी स्थापना प्रथम विश्वयुद्ध के पश्चात् सर्बिया के मूल राज्य के साथ कुछ आसपास के क्षेत्रों को जो कि अधिकांश में प्राचीन आस्ट्रिया हंगरी साम्राज्य के पूर्ववर्त्ती प्रान्त थे, मिलाकर की गई थी। इस राज्य के निवासी अत्यधिक भिन्नवर्गीय थे जिनमें से अधिकांश सर्ब, क्रोट और स्लोवीन थे, परन्तु उनका अनुपात अत्यन्त विषम था। इस राज्य में सर्बिया और मोंटीनीग्रो के पिछले राज्य तथा बोसनिया, हर्जीगोविना, क्रोशिया, डैलमेशिया, स्लावोनिया के जिले जो पहले आस्ट्रिया-हंगरी के थे तथा युद्धपूर्व बलगारिया की एक पश्चिमी पट्टी सम्मिलित थे। ऐसे क्षेत्रों और लोगों के क्षमेल से एक सशक्त संयुक्त राज्य बनाने की आशा व्यर्थ ही थी, तो भी उसी के लिए प्रयत्न किया गया। यदि कभी भी एक नए राज्य की स्थापना के पूर्व की किसी भी परिस्थिति में संघीय प्रयोग का परीक्षण आवश्यक था तो वह यही थी। तो भी उसके लिए एकात्मक प्रणाली का ही निश्चय किया गया।

द्वितीय विश्वयुद्ध के अंत के साथ, यह संघीय राज्य जो पहले की परिस्थितियों में वाछनीय था, अस्तित्व में आया। सन 1945 के अंत में एक संविधान सभा ने एकतंत्र को समाप्त करने तथा संघीय लोकगणराज्य की स्थापना करने का निश्चय किया। यह संविधान 31 जनवरी सन् 1946 को कार्यान्वित हुआ। उसके अनुच्छेद 1 में यह कहा गया है कि युगोस्लाविया गणतंत्री रूप का संघीय लोकराज्य है, *ऐसे लोगों का समुदाय है जिन्होंने एक संघीय राज्य में साथ-साथ* रहने की इच्छा प्रकट की है। अनुच्छेद 2 में संघ बनाने वाली इकाइयों का इस प्रकार वर्णन है

"युगोस्लाविया का संघीय लोकगणराज्य, सर्बिया के लोकगणराज्य क्रोशिया के लोकगणराज्य, स्लोवानिया के लोकगणराज्य, बोसनिया-हर्जीगोविना के लोकगणराज्य, मेसीडोनिया के लोकगणराज्य, तथा मोंटीनीग्रो के लोकगणराज्य से मिलकर बना है।" अनुच्छेद 44 की लम्बी सूची में संघीय सत्ता की शक्तियाँ परिगणित हैं। इन शक्तियों में रक्षा तथा राजनय से सबद्ध सामान्य कृत्यों के अलावा श्रम, सार्वजनिक बीमा और सहकारी संस्थाओं, शिक्षा, स्वास्थ्य तथा *सामाजिक कल्याण से सम्बन्धित मौलिक विधिनिर्माण भी सम्मिलित हैं।* रक्षित

शक्तियाँ सर्वनिर्माती इकाइयों के पास है। संघीय विधानमण्डल (Federal Assembly) में दो सदन थे—राष्ट्रजाति-परिषद (Council of Nationalities) जो अन्य इकाइयों के मुकाबले में गण की प्रत्येक इकाई के हितों का प्रतिनिधित्व करती थी और संघीय परिषद (Federal Council) जो समस्त नागरिकों के हितों का प्रतिनिधित्व करती थी। सन् 1953 में प्रख्यापित नये संविधान में केन्द्रीयकरण की ओर प्रवृत्ति दिखाई देती थी क्योंकि उसमें संघीय परिषद् को कायम रखते हुए *राष्ट्रजाति-परिषद के स्थान पर उत्पादक परिषद की व्यवस्था* की गई थी और दोनों परिषदों के निर्वाचन की व्यवस्था सार्वजनीन मताधिकार के आधार पर की गई थी।

सन् 1963 में एक नए संविधान ने संघीय संगठन में मौलिक परिवर्तन कर दिए। राज्य का नया नाम रखा—जुगोस्लाविया का समाजवादी संघीय गणतंत्र और पिछली दोनों परिषदों के स्थान पर पाँच सदनों की स्थापना की गई जो क्रमशः संघीय मामलों, अर्थव्यवस्था, शिक्षा, सामाजिक कल्याण और राजनीतिक संगठन की व्यवस्था करते हैं। इनके अतिरिक्त *राष्ट्र जातियों का एक* सदन भी है जो इसी नाम की एक पिछली संस्था का पुनर्जीवित रूप है। इसके साथ, इन विविध सदनों के बीच पैदा होने वाले *क्षेत्रसम्बन्धी* विवादों पर विचार करने के लिये एक नये संविधानी न्यायालय की भी स्थापना की गई।

9· लैटिन-अमरीका में संघीय राज्य

लैटिन-अमरीका एक ऐसा क्षेत्र है जिसका अभी केवल आंशिक रूप में ही विकास हो सका है और शासन की कला में वह जो भी कुछ हमें शिक्षा दे सकता है, वह वर्तमान तथा भूत की अपेक्षा भविष्य की बात हो सकती है। कोई भी व्यक्ति दक्षिणी अमरीका के राज्यों को लोकतंत्र के लाभप्रद कार्यान्वियन के अथवा दस्तावेजी संविधानों से प्राप्त किए जाने वाले लाभों के उदाहरणों के रूप में ग्रहण नहीं करेगा। अधिकतम प्रेक्षकों ने तो इन्हें उस दुर्गति का भयंकर उदाहरण माना है जो स्वायत्त शासन की कला के अनुभव से रहित होते हुए भी अपने प्राचीन रक्षकों से नाता तोड़ने वालों की हो सकती है, और निश्चित रूप से दक्षिणी अमरीका की राजनीतिक संस्थाओं की अस्थिरता इन चेतावनियों के औचित्य को सिद्ध करती दिखाई देती है। तो भी, जैसा कि ब्राइस ने कहा है, स्पेन (और पुर्तगाल) की अधीनता के जुए को उतार फेंकने के बाद की एक शताब्दी के विकास के दौरान में दक्षिणी और मध्य अमरीका के राज्यों की उलट-फेर और उनके अनुभवों ने, "राजनीति के क्षेत्र में मानव-स्वभाव के कुछ पहलुओं पर पर्याप्त प्रकाश डाला है। हमारी दिलचस्पी तो उस रीति में है जिसमें वे, उन क्षेत्रों में भी, जो कि उचित रूप से परिपक्व नहीं हुए हैं, पाश्चात्य संविधानवाद और विशेषकर

संयुक्तराज्य के संविधानवाद के प्रभाव को प्रकट करते है। जब ये लेटिन अमेरिकन उपनिवेश स्वतत्र हो गये, तो उनमें से प्रत्येक को अपनी आवश्यकताओं के अनुकूल शासन के स्वरूप की खोज करनी पडी। कुछ ने संघीय ढग का सगठन पसन्द किया परन्तु उन राज्यो मे जिन्होने उसे अपनाया, ऐसा नही कहा जा सकता कि संघवाद ने वह राजनीतिक स्थिरता सुनिश्चित करदी है जो ऐसी संविधानी प्रणाली के सफल कार्यान्वयन के लिये अत्यन्त आवश्यक है।

मध्य तथा दक्षिणी अमरीका के बीस गणतत्रों मे चार —अर्जेन्टाइना, ब्रेजील, वेनेजुएला और मेक्सिको—संघीय राज्यो के दिलचस्प उदाहरण हैं। इन चार राज्यो ने स्पेन तथा पुर्तगाल के विरुद्ध विद्रोह के महान् युग (सन् 1810-30) के दौरान मे अपनी स्वतत्रता घोषित कर दी थी। अर्जेन्टाइना को जिसने 1853 मे संयुक्तराज्य के नमूने पर एक संविधान प्रख्यापित किया दूसरा नाम रायोडी ला प्लेटा के संयुक्तप्रांत भी था। इन राज्यो अथवा प्रान्तो के हाथो मे रक्षित शक्तिया हैं, परतु केन्द्र के अधिनायको ने राजनीतिक वाक्छल द्वारा उनके अधिकारो का सामान्यतया दुरुपयोग किया है। किन्तु निरन्तर होने वाली राजनीतिक उथलपुथल के बावजूद अर्जेण्टिना अधिक दृष्टि से उन्नति करता रहा है और वह लैटिन-अमरीका के अत्यन्त सम्पन्न राज्यो म से एक है।

ब्रेजील ने सन् 1822 मे अपने-आपको पुर्तगाल से स्वतत्र घोषित कर लिया था, परतु वह सन् 1889 तक द्वितीय डॉम पेड्रो नामक सम्राट् के द्वारा शासित होता रहा। मरने से दो वर्ष पूर्व जब कि उसने राजपद को त्यागा था, ब्रेजील एक संघीय गणराज्य घोषित किया गया। इसमे राज्य-सरकारो के पास बडी मात्रा मे रक्षित शक्तियां थीं, जिन्हे वे कुछ काल तक भोगती रही। किन्तु वर्तमान शताब्दी मे अनेक विद्रोह और संविधानी परिवर्तन हुए है जिनकी प्रवृत्ति अधिक एकात्मक राज्य तथा सत्तावादी व्यवस्था की ओर है। इसी बीच, ब्रेजील मे बडा आर्थिक विकास हुआ है और मूल रूप मे गणतत्र का संघीय सगठन उस पर होनेवाले प्रहारो को सह कर जीवित बना हुआ है।

वेनेजुएला मे (सरकारी तौर पर इसका नाम वेनेजुएला के संयुक्त राज्य है) 1830 म प्रख्यापित प्रथम संविधान के द्वारा एक संघीय ढग का शासन स्थापित किया गया था, जिसमे संघ का निर्माण करने वाले राज्यों को काफी शक्तियाँ प्राप्त थी। इस संविधान को कई कठिनाइयो का सामना करना पडा और उसमे कई परिवर्तन हो चुके हैं। 1947 मे एक नये संविधान ने राज्यो के अविच्छिन्न अस्तित्व को स्वीकार किया और अधिक उदार प्रजातत्रीय प्रणाली के स्वरूपो का आरभ किया फिर भी 1960 तक गणतत्र का कोई भी प्रजातत्रीय ढग से निर्वाचित राष्ट्रपति अपने पद पर एक वर्ष पूरा नही कर सका।

मेक्सिको ने एक शताब्दी पूर्व संयुक्तराज्य के नमूने पर एक संघीय योजना

को अपनाया था। सन् 1917 में प्रख्यापित एक नये संविधान के अधीन, जिसमें 1929 के बाद कई संशोधन हो चुके हैं घोषणा की गई कि मेक्सिको 28 राज्यों का एक संघीय गणतंत्र है जिनमें से प्रत्येक को अपने स्थानीय मामलों की व्यवस्था करने का अधिकार है मेक्सिको में कई क्रान्तियाँ हुई हैं परन्तु पिछले कुछ वर्षों से रिवोल्यूसनरी इन्स्टीट्यूशनल पार्टी नामक एक राजनीतिक गुट के निरन्तर बने हुए प्राधान्य के कारण राजनीतिक स्थिति पहले से अधिक स्थिर हो गई है।

इन सब बातों से यही परिणाम निकाला जा सकता है कि संघवाद एक ऐसा आदर्श है जिसको तब तक प्राप्त नहीं किया जा सकता जब तक कि उसकी इच्छा को उसे प्राप्त करने के दृढ संकल्प का सहारा न मिले। इसका तात्पर्य यह है कि यदि आवश्यक हो तो संघनिर्मात्री इकाइयों के सम्मिलित बल का भी प्रयोग किया जाय। किसी भी अन्य सांविधानिक रूप की अपेक्षा संघवाद के लिए जनमत के बल की अधिक स्पष्ट और तात्कालिक आवश्यकता है और जहाँ कहीं भी *राजनीतिक अनुभव का अभाव है—और यह उक्ति दक्षिण-अमरीकियों की* अपार बहुसंख्या में किसी भी भाँति की शिक्षा के अथाह अभाव को वर्णन करने का विनम्र तरीका है—संघवाद कदापि सफल नहीं हो सकता। निस्सदेह सभी दक्षिण-अमरीकी राज्यों में बल का कभी अभाव नहीं रहा है, परन्तु इसका प्रयोग कलह-पूर्ण, पक्षपातयुक्त और निरंकुश रहा है। इसका निष्कर्ष स्पष्ट है। जैसा ब्राइस ने कहा है, "इस कोरे विश्वास के बल पर कि जब साधन प्राप्त होंगे तो वे उनका प्रयोग करने वालों को कुशल भी बना देंगे, जनता को वे संस्थाएँ मत दो जिनके वे अयोग्य हैं।" फिर भी अधिक समुन्नत राज्यों में से एक या दो में वास्तविक प्रगति दिखाई देने लगी है और यदि यही क्रम जारी रहा तो संविधानवाद फिर भी कुछ सफलता प्राप्त कर लेगा। अब भी संघवाद ही ऐसा रास्ता हो सकता है जिसके सहारे जब लोग यह अनुभव करने लगेंगे कि *स्थिरता के बिना लैटिन*-अमरीका के विस्तृत आर्थिक साधनों का कभी भी पूर्णरूपेण विकास नहीं किया जा सकता, राजनीतिक स्थिरता कायम रखी जा सकेगी।

6

नम्य संविधान

1 साधारण विवेचन

पहले अध्याय में हमने संविधान की जो सर्वोत्तम परिभाषा दी थी, वह *स्वर्गीय लॉर्ड ब्राइस की है जिसमें उन्होंने कहा है कि संविधान "विधि से और* उसके द्वारा संगठित राजनीतिक समाज का एक ढांचा है, अर्थात् ऐसा जिसमें विधि ने निश्चित अधिकारों और स्वीकृत कृत्यों वाली स्थायी संस्थाओं की स्थापना की है। जब हम यह देखते हैं कि संविधानों के दो बड़े वर्गों के बीच के अन्तर को व्यक्त करने के लिए 'नम्य' (Flexible) और 'अनम्य' (Rigid) ये दो शब्द भी हमें उसी लेखक से मिले हैं, तब हम इस बात पर फिर जोर देते हैं कि लिखित और अलिखित, अथवा, जैसा कि हमने कहा है, दस्तावेजी और गैर-दस्तावेजी संविधानों के बीच कभी-कभी जो अन्तर प्रकट किया जाता है वह मिथ्या है, क्योंकि भले ही किसी संविधान को दस्तावेज रूप में प्रस्तुत न किया जाय, तो भी वह संविधान ही है। इसे अस्वीकार करना अमरीकी लोकतन्त्र के महान् फ्रांसीसी भाष्यकार डी० टोकविल की गलती दुहराना होगा, जिसने इस कारण से कि वह ब्रिटेन का कोई संविधानी दस्तावेज न प्राप्त कर सके, यह कहा कि अँगरेजी संविधान का अस्तित्व ही नहीं है।

दस्तावेजी संविधान उस समुन्नत राजनीतिक चेतना की अभिव्यक्ति है जो शासन की विद्यमान पद्धतियों की अपर्याप्तता के प्रति सजग हो गई है। यदि हम ब्राइस के कथन का विवेचन करें, तो हम कह सकते हैं कि ऐसे संविधान के प्रख्यापन की इच्छा के कारण निम्नलिखित उद्देश्यों में से एक या अधिक हो सकते हैं

(1) नागरिकों को अपने अधिकारों को जब उनके लिए कोई खतरा उपस्थित हो सुरक्षित रखने और शासक के कार्यों पर प्रतिबंध लगाने की इच्छा।

(2) शासितों को अथवा अपनी प्रजा को प्रसन्न रखने के हेतु शासक की शासन की विद्यमान व्यवस्था को, जो कि तब तक अनिश्चित रूप में हो, निश्चित रूप दे देने की इच्छा जिसमें भविष्य में मनमानी कार्यवाहियों की सम्भावना न रहे।

(3) नया राज्य स्थापित करने वालों की शासन के ढाँचे का रूप स्थायी और प्रजा को बोधगम्य बनाने की इच्छा।

(4) अब तक पृथक् रहने वाले समुदायों की, जो अब भी कुछ अधिकारों और हितों को पृथक् रूप से अपने पास रखना चाहते हैं प्रभावपूर्ण संयुक्त कार्य-वाही सुनिश्चित करने की इच्छा।

उसी विद्वान का फिर अनुसरण करते हुए हम यह भी कह सकते हैं कि दस्तावेजी संविधानों का निम्नलिखित चार सम्भव तरीकों में से किसी एक से उद्भव हो सकता है

(1) कोई राजा अपनी प्रजा को स्वयं को तथा अपने उत्तराधिकारियों को नियमित तथा सांविधानिक रीति से शासन करने के तथा पूर्व के दुरुपयोगों के वर्जन के लिए वचनबद्ध करने के लिए संविधान प्रदान कर सकता है। इसका उदाहरण सन् 1814 में फ्रांस में अठारहवें लुई द्वारा जारी किया गया फ्रांसीसी चार्टर है, जिसका सन् 1830 में लुई फिलिप द्वारा कुछ परिवर्तनों के साथ पुनर्नवीकरण किया गया था। सन् 1848 का सार्डीनिया का संविधान और सन् 1850 का प्रशा का संविधान भी ऐसे ही उदाहरण हैं।

(2) ऐसे संविधान एक ऐसे राष्ट्र द्वारा भी अस्तित्व में लाए जा सकते हैं जो शासन के पुराने रूप को नष्ट कर एक नए रूप का सृजन करता है, जैसा सन् 1790 से आगे फ्रांसीसी गणतंत्रों ने तथा अमरीका के संयुक्तराज्य के प्रारम्भिक तेरह राज्यों ने किया।

(3) ऐसे संविधान एक नये समुदाय द्वारा, जो कि अब तक राष्ट्रीय राज्य नहीं रहा है, ऐसे समय में सृजित किए जा सकते हैं, जब कि वह औपचारिक रूप में स्व-शासित राज्य का रूप धारण करता है। इसके उदाहरण स्पष्ट रूप से वे राज्य हैं जो कि योरोप में प्रथम विश्वयुद्ध के पश्चात् अस्तित्व में आए, जैसे पोलैंड तथा चेकोस्लोवाकिया।

(4) अंत में ऐसे संविधानों की उत्पत्ति शिथिल रूप से गठित स्व-शासी समुदायों को मजबूती के साथ संगठित करने वाले बंधन के द्वारा भी होती है। ऐसी प्रक्रिया के द्वारा राज्यों का एक संयोग मात्र संघराज्य बन जाता है और उस संविधान का, जिसके आधार पर ऐसा परिवर्तन होता है, अनम्य होना अनिवार्य ही है। ऐसी प्रक्रिया से उत्तरी अमरीका का शिथिल कॉनफेडरेशन, जैसा कि वह सन् 1783 में ब्रिटेन से पृथक् होने के समय विद्यमान था, बदलकर सन् 1789 में संघराज्य बन गया, जैसा कि वह आज है। विद्यमान स्विट्जरलैंड गणतंत्र इसका दूसरा उदाहरण है। इसी भाँति आधुनिक जर्मन साम्राज्य भी इसका एक उदाहरण है, जिसकी सन् 1815 के जर्मनी के कॉनफेडरेशन से क्रमिक रूप से सन् 1871 में सृष्टि हुई।

आजकल केवल एक अर्थात् ब्रिटेन के संविधान के सिवाय प्रत्येक महत्त्वपूर्ण संविधान इसी कोटि का है। *परन्तु कई संविधान इस अर्थ में ब्रिटिश संविधान* के समान हैं कि उनमें संशोधन के लिए संविधान मे निर्धारित किसी विशेष प्रक्रिया का अनुसरण किए बिना साधारण विधि निर्माण पद्धति से ही परिवर्तन किया जा सकता है। इस भांति लिखित और अलिखित संविधानों के बीच में बताया गया अन्तर तीन तरह से भ्रम में डालने वाला है। प्रथमतः वह हमे यह सुझाव देकर गुमराह करता है कि अलिखित संविधान मे विकास का एकमात्र आधार रूढि तथा पूर्वदृष्टांत का बन है, और लिखित संविधान मे अलिखित प्रथाओ की कोई *गुंजायश नहीं है। परन्तु जैसा हम कह चुके है, इस प्रकार के रूप में कोई भी* संविधान न तो लिखित ही है और न अलिखित। यदि हम 'नम्य संविधान' पद का प्रयोग करे और यदि उस समय हमारा तात्पर्य ऐसे संविधान से हो जिसमे उसे स्थायी रखने के लिए किसी भी लिखित विधि का अस्तित्व न हो तो हमे यह भी स्वीकार करना पडेगा कि आज संसार मे ऐसे नम्य संविधान का एक भी उदाहरण मौजूद नहीं है। जब भी हम, उदाहरण के लिए ब्रिटेन के संविधान की उसे अलिखित संविधान कहकर चर्चा करते है तो हमारा एक क्षण के लिए भी यह मतलब नहीं होता कि उसमे किसी संविधि का समावेश ही नहीं है, क्योंकि जैसा हम बताएंगे ऐसी बहुत-सी संविधियां हैं। इस सम्बन्ध में ब्रिटिश संविधान *के विषय में जो कुछ भी हम कह सकते है वह यही है कि दूसरों की अपेक्षा उसमे* रूढ़ियां और परम्पराएं अधिक है, और समस्त अन्य संविधानों के विषय में भी हम यह कह सकते हैं कि उनमें से कोई भी रूढ़ियां तथा परम्पराओं से अप्रभावित नहीं रहा है।

द्वितीय, लिखित तथा अलिखित संविधान मे अन्तर इस कारण भी भ्रामक है कि उससे यह उपलक्षित होता है कि सिवाय उन विधियो के, जो कि संविधान कहे जाने वाले एक दस्तावेज में एक साथ समाविष्ट कर दी जाती हैं, संविधान की अन्य कोई भी विधियाँ नहीं हो सकती। यदि ऐसा कोई दस्तावेज विद्यमान नहीं है तो इस तर्क का आशय यही है कि संविधान की कोई विधि नहीं है। टोकविल *ने यही उपलक्षित किया था। उसने सन् 1834 में लिखा था, परन्तु यदि वह* बीसवीं शताब्दी मे लिखता तो भी वह सम्भवतः यही कहता, क्योंकि इस मध्यवर्ती काल मे उसके तर्क मे परिवर्तन लाने वाली कोई भी बात नहीं हुई, ब्रिटिश संविधान कहलाने वाला आज भी कोई दस्तावेज नहीं है। यह सच है कि टोकविल के काल से आज तक ब्रिटेन में संविधान का रूपान्तर करने वाली अनेक विधियां पारित हुई हैं, परन्तु, जैसा एक अर्वाचीन लेखक ने कहा है, यह कहना कि सन् 1911 के संसदीय अधिनियम के पारित हो जाने के समय से ब्रिटिश संविधान आंशिक रूप से लिखित संविधान है, उन बहुसंख्यक विधियों की उपेक्षा करना है जिनसे उस

समय से पूर्व सविधान का रूप देने मे सहायता प्राप्त हुई थी। यह वह सन् 1911 से आज तक अशत लिखित ह तो वह उस समय से पूर्व भी अशत लिखित था।

तृतीय, यह अतर इसलिए भी गुमराह करने वाला है कि इसके द्वारा हम यह विश्वास करने लगते है कि विधि अनिवार्यत लिखित रूप म हानी चाहिए। परन्तु यह बात निश्चय ही असत्य है। यदि हम ऐसे किसी सविधान को बता भी सके, जो पूणरूप से रूढि के आधार पर ही विकसित हुआ था, तो भी हम यह बलपूवक कह सकते है कि उसम विधि भी थी, क्योंकि रूढि म भी विधि का बल विद्यमान हो सकता है और इसके अतिरिक्त, यह बात भी है कि विधि किसी विधानी प्रक्रिया से गुजर बिना भी लिखी हुई हो सकती है।

2 विधि का स्वरूप

अपन विषय-प्रवेश सम्बन्धी अध्याय मे हमने विधि के तीन प्रकारो का उल्लेख किया है। प्रथम, सामाजिक आचारो के एव अभ्यासो का वह निकाय है, जिसे हम रूढि कहत है और जो किसी भी औपचारिक वैधिक प्रक्रिया से अछूती है। इनमे से बहुत-सी, आधुनिक परिस्थितियो मे, प्राचीन काल की वसीयत के रूप मे विद्यमान है, परतु वे आधुनिक पश्चिमीय राज्यो जैसे अति सभ्य समाजो मे नैतिकता तथा शिष्टाचार के नियम मात्र है। द्वितीय, विधियो की ऐसी औपचारिक कोटि है, जो सविधि-रूप मे लिखी तो नही गई है, परन्तु उचित रूप से गठित न्यायालयो मे विधि के रूप मे पूर्णरूप से प्रवर्तित होती है। यह वादजन्य विधि या न्यायाधीश निर्मित विधि है और इगलैंड मे वह विधि का बडा पुज है जिसे हम देश विधि (Common law) के रूप मे जानते है। तृतीय, सविधि कहलाने वाली वे लिखित विधिया हैं जो कि विधानमडल अथवा ससद् द्वारा उचित रूप से पारित होती है।

विधि की इन तीनो शाखाओ का अन्तिम बल शाति और उन्नति के लिए समाज की इच्छा है, क्योंकि, जैसा कि हम पहले भी जोर दे चुके है, राज्य केवल राजनीतिक रूप से सगठित समाज है, और समाज को अपने राजनीतिक अस्तित्व की जितनी अधिक चेतना होती है, वह अपने उद्देश्यो के सरक्षण तथा उन्नति के लिए शासन के उपकरण का उतना ही अधिक जान-बूझकर प्रयोग करता है, और उन उपकरणो के दुरुपयोग को भी अधिक रोकता ह। विधि के निमित्त सगठित समुदाय को (यह याद रखना चाहिए कि हमारी राज्य की परिभाषाओ मे से एक यह थी) आगे बढना चाहिए, परन्तु वह यह भी जानता है कि उसे ऐसा अधिक शीघ्रता से नही करना चाहिए। इसका कारण यह है कि समाज के दो पहलू होते है निश्चल अथवा स्थिर और गतिशील। यह एक ऐसा सत्य है जिस पर ऑगस्ट कॉम्ट के इस सिद्धात मे जोर दिया गया है कि "उन्नति व्यवस्था का विकास

है। शासन का प्रधान समस्या यही है कि व्यवस्था को चोट पहुंचाए बिना प्रगति कैसे की जाय। इस भांति तीनों प्रकार की विधियां परस्पर एक-दूसरे पर प्रभाव डालती है। उदाहरण के लिए यदि रूढ़ि अत्यन्त शीघ्रता से विकसित होती दिखाई देती है तो न्यायाधीश निर्मित विधि या संविधि इसके प्रवाह को रोक सकता है। यदि न्यायपालिका का कोई निर्णय लोकमत के विरुद्ध दिखाई देता है तो उस निर्णय को पलटने के लिए विधानमंडल का आह्वान किया जा सकता है। यदि विधानमंडल के विधान समाज के मत का निरादर करते हैं तो लोकमत विधानमंडल को उसे बदलने या निरस्त करने को विवश कर सकता है या उसे मानने से इनकार करके ऐसी विधि को निर्जीव बना सकता है।

यही बात विधि की उस शाखा पर भी लागू होती है जो राज्य के गठन को प्रत्यक्ष रूप से प्रभावित करती है, जिससे हमारा यहाँ विशेष रूप से सम्बन्ध है और जो सामान्यतया सांविधानिक विधि कहलाती है। समस्त राज्यों में विधि की यह शाखा विद्यमान है और विधि निर्माण की तीनों पद्धतियों का—समाज की रूढ़ियां अथवा रिवाजों, न्यायाधीशों के निर्णयों, विधानमंडल के अधिनियमों का उसकी रचना में विभिन्न मात्राओं में उपयोग किया जाता है। जहां तक प्रथम दो पद्धतियों का सम्बन्ध है, विभिन्न संविधानों में केवल मात्रा का ही अन्तर है क्योंकि ऐसा कोई संविधान नहीं है जिसमें ऐसे रिवाज न हों जिनकी स्थापना विधि के आधार पर न होकर रूढ़ि के आधार पर होती है, और न ऐसा ही कोई संविधान है जिसके विकास में न्यायाधीशों के निर्णयों ने कुछ-न-कुछ भाग न लिया हो। संयुक्तराज्य अमरीका या फ्रांस में इस प्रकार संविधान के विकास को प्रभावित करने वाले निर्णय कम हुए हैं और ब्रिटेन में अधिक। जहाँ तक कि तीसरे प्रकार अर्थात् वास्तविक संविधि का सम्बन्ध है, संविधानों में केवल मात्रा का ही नहीं बल्कि प्रकार का भी भेद है। यहाँ हमें सांविधानिक विधि शब्द के दो अर्थों के बीच भेद कर लेना चाहिए। अपने विस्तृत अर्थ में इसका तात्पर्य ऐसी किसी भी संविधि या निर्णय विधि से है जो कि संविधान को प्रभावित करती है। सीमित अर्थ में इससे तात्पर्य केवल उस विधि से है जो कि संविधान कहलाने वाले दस्तावेज में और संविधान में परिवर्तन या संशोधन करने के लिए मूल संविधान में निर्धारित किसी विशेष प्रक्रिया से जो पारित विधियों में समाविष्ट है।

अब यह स्पष्ट है कि ब्रिटेन के संविधान के समान गैर-दस्तावेजी संविधान में इस सीमित अर्थ में कोई सांविधानिक विधि नहीं है। यह भी प्रत्यक्ष ही है कि ऐसे किसी भी दस्तावेजी संविधान में जो अपने संशोधन के सम्बन्ध में कोई भी विशेष शर्त निर्धारित नहीं करता—और जिसका उदाहरण मुसोलिनी द्वारा निर्जीव बना दिए जाने से पूर्व का मूल इटालियन संविधान है—इस अर्थ में कोई भी संशोधन

सांविधानिक विधि नहीं होती। अत, मुख्य अन्तर तो उनमें परिवर्तन करने की पद्धतियों के बीच है। कोई भी प्रेक्षक किसी ऐसे संविधान के सम्बन्ध में जिसकी जड़ें ब्रिटेन के संविधान के सदृश पुरानी हों यह आशा नहीं करेगा कि वह दस्तावेजी रूप का हो, क्योंकि शासन के पुराने रूप अनिवार्यतः अस्थिर तथा अनिश्चित प्रकार के होते थे, और रूढ़ि की सरिता पर समय-समय पर विधि का बाँध बाँध दिया जाता था। कोई यह आशा नहीं कर सकता कि ऐसा समाज जो अपने प्रयोजनों की सिद्धि के लिए अंधे की तरह भटक रहा हो, दस्तावेजी संविधान के सदृश अत्यन्त परिष्कृत उपकरण की रचना कर सकता है। ऐसा उपकरण बहुत आगे चलकर विकसित हुआ और, जैसा कि हम कह चुके हैं, वह उन्नत राजनीतिक चेतना की अभिव्यक्ति है, जिसे किसी क्रांति अथवा उपद्रव के द्वारा आकस्मिक तथा पूर्णरूप में प्रकट होने का अवसर प्राप्त होता है। परन्तु यदि किसी राजनीतिक समाज को एक ही समय तथा एक दस्तावेज में इस प्रकार की आकस्मिक और पूर्ण अभिव्यक्ति की आवश्यकता नहीं हुई तो उससे उसके शासन का उपकरण की प्रामाणिकता किसी भी भाँति कम नहीं हो जाती और साधारण विधियों के रूप में पारित उसके सांविधानिक परिवर्तन बिलकुल वैसे ही स्थायी होते हैं मानो वे दस्तावेज में उल्लिखित प्रक्रिया विशेष के द्वारा पारित किए गए हों।

यही बात ऐसे संविधान के बारे में भी सत्य है जिसमें दस्तावेज के रूप में होते हुए भी विधि-निर्माण की साधारण प्रक्रिया के द्वारा परिवर्तन हो सकते हैं और जिसमें इस प्रयोजन के लिए किसी साधन विशेष की व्यवस्था नहीं होती। यह, जैसा कि हम लिख चुके हैं, उन पद्धतियों के अनुसार जिनके द्वारा सांविधानिक विधि का अधिनियमन होता है, संविधानों के वर्गीकरण का एक साधन है। अनेक संविधानों में यह उल्लिखित रहता है कि इस कोटि की विधि (संविधान-सम्बन्धी) विधि-निर्माण के साधारण कार्य में प्रस्तुत पद्धति से भिन्न पद्धति के द्वारा पारित होनी चाहिए। ऐसे संविधान अनम्य होते हैं। दूसरे संविधान ऐसा कोई भेद नहीं करते। उन संविधानों के अधीन जो निकाय किसी भाँति के विधि-निर्माण के लिए उत्तरदायी होता है वह समस्त भाँति की विधि के निर्माण के लिए, चाहे वह संविधान विधि हो अथवा अन्य प्रकार का, उत्तरदायी होता है। ये संविधान नम्य होते हैं और जो बात उस राज्य को, जिसका ऐसा संविधान होता है, विशिष्टता प्रदान करती है, वह उसकी संसद् की असीमित सत्ता है।

3 नम्य संविधान का वास्तविक स्वरूप

इस भाँति *नम्य संविधान की कसौटी संशोधन की पद्धति से सम्बद्ध है।* यदि संविधानिक विधियों के पारित करने की पद्धति ऐसी साधारण विधियों को,

जो कि सांविधानिक स्वरूप की न हो, पारित करने की पद्धति के समान हो तो संविधान नमनीय है। प्रत्येक आधुनिक संविधानी राज्य में, जैसा कि हम कह चुके हैं, ब्रिटिश संसद् के अनुरूप ही, उचित रूप से गठित विधानमंडल होता है, और संसद की असीमित सत्ता से तात्पर्य यही है कि राज्य में ऐसी और कोई शक्ति नहीं है, जो संसद के अधिकार क्षेत्र को सीमित कर सके अथवा उसके निर्णयों का अतिक्रमण कर सके। सभी संसदों को यह असीमित सत्ता प्राप्त नहीं होती। इस बात पर हम संघीय राज्यों के सम्बन्ध में जोर दे चुके हैं। परन्तु प्रतिनिधिक विधानसभाओं पर इस भांति का निर्बन्धन केवल संघीय राज्यों में ही नहीं दिखाई देता। बहुत-से एकात्मक राज्यों में भी संविधान को विशिष्ट गरिमा वाला दस्तावेज समझा जाता है जिसमें किसी विशेष साधन के द्वारा ही, जो कि साधारण विधि निर्माण प्रक्रिया से बहुत अधिक जटिल होता है, परिवर्तन हो सकता है, अथवा उसे उच्चतर दायित्व वाली विधि माना जाता है जिसमें परिवर्तन करने के लिए विधानमंडल के कार्य पर बंध निर्बन्धन आरोपित रहते हैं।

अनम्य संविधानों वाले राज्यों में सांविधानिक संशोधन की मोटे तौर से चार पद्धतियां प्रचलित हैं। प्रथम, विशिष्ट निबन्धनों के अधीन विधानमंडल के द्वारा, दूसरे, जनमत-संग्रह के अध्ययन से जनता के द्वारा, तीसरे, संघीय राज्यों की विशिष्ट पद्धति के द्वारा जिसके अनुसार संघनिर्मात्री इकाइयों में से समस्त या उनका कोई अनुपात परिवर्तन से सहमत होना चाहिए, और चौथे, इस प्रयोजन के लिए आमंत्रित किसी विशेष सम्मेलन के द्वारा। हम इनके सम्बन्ध में अगले अध्याय में विस्तारपूर्वक विचार करेंगे। यहाँ पर यह बताना आवश्यक है कि नम्य संविधान वाले राज्य में इस भांति के कई भी निर्बन्धन नहीं होते। अपनी पुस्तक '**दी गवर्नमेंट ऑव इंगलैंड**' की भूमिका में महान अमरीकी लेखक ए. लॉरेंस लॉविल ने कहा है कि नम्य और अनम्य संविधान में बहुत कम अन्तर हो सकता है, और यह भेद समय के प्रवाह के साथ धूमिल होता जाता है। उसका कथन है कि उन देशों से जो अपने आधारभूत संविधानों को साधारण विधायी प्रक्रिया से बदल सकते हैं, हम धीरे धीरे अनजान ही उन देशों तक जा पहुँचते हैं जहाँ सांविधानिक और विधिनिर्मात्री शक्तियाँ वास्तविक रूप में विभिन्न हाथों में हैं।

इस आधार पर लेखक का यह कथन है कि संविधानों का नम्य और अनम्य संविधानों में वर्गीकरण किंचित् भी वास्तविक नहीं है। फिर भी वह वास्तविक है। यदि हम एक ओर यूनाइटेड किंगडम के पूर्णतया नम्य संविधान और दूसरी ओर संयुक्तराज्य के अत्यन्त अनम्य संविधान को लेकर आधुनिक जगत् में संविधानों के परिवर्तन की बढ़ती हुई कठिनाइयों के विषय में चिन्तन करें तो क्या यह कह सकना ठीक होगा कि हमें विभाजनकारी रेखा कहीं नहीं मिलती ? निश्चय ही यह रेखा वहाँ स्थित है जहाँ विधानमंडल पर, संविधान-विधि के सम्बन्ध में

कार्य करते समय, रुकावटें लगना आरंभ हो जाता है। इस रेखा के एक ओर ऐसे राज्य हैं जिनकी ससदे, यद्यपि वे दस्तावेजी सविधान के आधार पर स्थापित होती है, इस विषय मे अनिश्चित है। दूसरी ओर वे राज्य हैं जिनकी ससदे असीमित नही है। दूसरे प्रकार के राज्यो की सूची बेलजियम जैसे राज्य से प्रारभ होती है जहाँ सांविधानिक प्रस्थापनाओं (Proposal) पर विचार करते समय सदस्यो की एक विशेष गणपूर्ति की उपस्थिति आवश्यक होती है और उनके विधि रूप म पारित किए जाने के लिए एक विशेष बहुमत की अपेक्षा की जाती है। यह अवस्था आगे बढ़कर उस स्थिति तक पहुँच जाती है जब कि साधारण विधानमडल को स्वत ही सांविधानिक अधिनियम पारित करने का अधिकार नही होता। इसका उदाहरण सयुक्तराज्य है।

अत, नम्य सविधान का वास्तविक स्वरूप स्पष्ट है। नम्यता और अनम्यता वर्गीकरण का पूर्णतया वैध आधार है यद्यपि वास्तव मे सख्या अनम्य सविधानो की ही अधिक है। वास्तव मे महत्वपूर्ण आधुनिक राज्यो मे केवल दो राज्य ही ऐसे है, जहा सांविधानिक प्रयोजनो के लिए कोई भी विशेष प्रक्रिया निर्धारित नही है। ये ग्रेट-ब्रिटेन और न्यूजीलैंड के राज्य है। अत, उन दोनो मे नम्य सविधान है। उनकी ससदे इस विषय मे किसी वैधिक अडचन के बिना कार्य कर सकती है। यूनाइटेड किगडम के समान जिन देशो मे कोई भी दस्तावेजी सविधान नही होता वहाँ ससद् अपनी पृथक् विधियो मे से किसी को या सबको ही निरस्त कर सकती है, किसी भी प्रथागत रूढ़ि को समाप्त करने के लिए विधि निर्माण कर सकती है और यदि वह चाहे तो शासन का बिलकुल ही नया तथा पूर्ण उपकरण स्थापित कर सकती है। यह ठीक है कि ऐसी अनेक गम्भीर बातें है जिनके कारण वह ऐसे विषयो मे बहुत आगे नही बढ़ना चाहती, परन्तु ऐसे कार्य के लिए कोई वास्तविक निषेध नही है। परन्तु जहाँ दस्तावेजी सविधान प्रचलित है, जैसा कि अब विचाराधीन अन्य राज्यों में है, वहाँ या तो सविधान मे उल्लिखित सशोधन की विधि स्पष्ट रूप से साधारण विधानमडल को जैसा वह चाहे वैसा करने को स्वतन्त्र छोड देती है जैसा न्यूजीलैंड मे,[1] अथवा सविधान को बदलने के लिए क्या किया जाय इसके विषय मे उसमे कोई शर्त ही नही होती जैसा पहले इटली मे था। अत, ब्रिटेन की भाति ही न्यूजीलैंड मे इस विषय मे विधानमडल सर्वोच्च है। अब हम ब्रिटेन और न्यूजीलैंड के नम्य सविधानो का सूक्ष्म परीक्षण करेंगे और अगले अध्याय मे कुछ महत्त्वपूर्ण अनम्य सविधानों का विस्तारपूर्वक अध्ययन करेंगे।

---

1 सन् 1956 मे पारित निर्वाचन-अधिनियम (Electral Act) के कारण इस पूर्ण स्वतन्त्रता मे कुछ कमी आ गई है।

4 ग्रेट ब्रिटेन के नम्य संविधान का विकास

ब्रिटिश संविधान बहुत पुराना है परन्तु उसकी आयु के सम्बन्ध में कभी-कभी *अतिशयोक्ति की जाती है। उदाहरणार्थ, आज ग्रेट ब्रिटेन में उस शासन का प्राय* कोई अंश नहीं रह गया है जो अल्फ्रेड महान के समय में प्रचलित था और यदि मैग्नाकार्टा ही ब्रिटिश स्वाधीनता का कवच माना जाय तो इस देश में शासन के प्रचलित सिद्धान्तों में से बहुत थोड़े ही ऐसे होंगे जिनका उद्गम उससे हुआ है। वास्तव में ब्रिटिश संविधान की पुरातनता पर बल देना शायद एक अनुपयुक्त स्थल पर जोर देना है क्योंकि उस संविधान की विशिष्ट शक्ति उसकी पुरातनता में उतनी नहीं है जितनी कि उसकी नम्यता में है जिसके बिना प्राचीन संविधान नाम में भी बहुत पहले उसी तरह लुप्त हो जाता जैसे तथ्य-रूप में वह बहुत-कुछ अंशों में लुप्त हो गया है। इंग्लैंड के राजा के प्रारम्भिक विशेषाधिकार शताब्दियों के दौरान में व्यावहारिक रूप में लुप्त हो गए हैं और वे आज केवल शब्दों के रूप में ही विद्यमान रह गए हैं। यूनाइटेड किंगडम नाममात्र में एक राजतन्त्र है और इस नाममात्रवाद (Nominalism) का प्रयोग अत्यन्त नवीनतम संविधियों के शब्दों में भी किया जाता है जिनका यदि हम शाब्दिक अर्थ ग्रहण करें, तो बिलकुल निरर्थक और आज की अवस्थाओं के बिलकुल ही असंगत होगा। ब्रिटिश संविधान की कोई और ऐसी विशिष्टता नहीं है जैसी कि यह शब्द और भाव की असंगति है, क्योंकि इस विशिष्टता के कारण ही किसी महान् संकट के बिना परिवर्तन और अधिक हिंसा के बिना विकास सम्भव हो सका है और इसमें ही यहाँ का संविधान समाज के स्थायित्व को अभिव्यक्त करने वाली रूढ़िवादी भावना को कुंठित किए बिना अपने को आज के समाज की गतिशील आवश्यकताओं के अनुरूप ढाल सका है।

ब्रिटिश संविधान के विकास की कहानी परिवर्तित होने वाली आवश्यकताओं के साथ अनुकूलता स्थापित करने के निरन्तर प्रयत्नों की गाथा है। यह अनुकूलन का कार्य दो प्रकार से, रूढ़ि तथा विधि के द्वारा, हुआ है। इन दोनों तत्त्वों में सावधानी के साथ भेद करना चाहिए, हालांकि इन दोनों को बहुधा 'संविधान विधि' शीर्षक के अन्तर्गत साथ-साथ रखा जाता है। इनमें प्रथम तत्त्व (रूढ़ि) पारिभाषिक दृष्टि से विधि नहीं है, क्योंकि यह उन नियमों और आचारों से बना है, जो राष्ट्र के सांविधानिक जीवन में मजबूती के साथ जमे हुए तो हैं परन्तु जिन्हें न्यायालय परीक्षा के लिए सामने आने पर मान्य नहीं करेंगे। दूसरा तत्त्व वास्तविक विधि है, जो लिखित हो अथवा अलिखित, न्यायालयों द्वारा प्रवर्तित किया जाएगा। विधि का यह निकाय तीन तत्त्वों का बना हुआ है, यथा (1) अलिखित अथवा देश विधि (Common Law), (2) संविधि (Statutes), (3)

संधियाँ (Treaties)। हमने इस विकास के विषय पर अध्याय 2 में कुछ प्रकाश डाला है। हम यहाँ पर महान संविधानिक इतिहासकार स्टब्ज़ के द्वारा सुझाए हुए पाँच युगों में इस नम्य संविधान के विकास को संक्षिप्त रूप में वर्णन करेंगे। ये युग निम्नलिखित हैं (1) प्राचीनतम काल से प्रथम एडवर्ड की मृत्यु (सन् 1307) तक, (2) प्रथम एलिज़ाबेथ की मृत्यु तक (सन 1307 1603), (3) तृतीय विलियम की मृत्यु तक (सन 1603-1702) (4) ग्लैड्स्टन के सुधार अधिनियमों के पास होने तक (सन 1884-85) और (5) आज तक।

(1) नार्मनों की विजय (सन् 1066) के पश्चात प्रथम विलियम और उसके उत्तराधिकारियों के अधीन सामन्तवाद के (जो कि उक्त घटना से पूर्व ही विद्यमान था) व्यवस्थित हो जाने के कारण शासन की आंग्ल-सैक्सनीय पद्धतियों में पर्याप्त परिवर्तन हुआ। नार्मन-फ्रेंच भाषा के तत्कालीन प्राधान्य के अनुकूल बन कर बहुत-सी पुरानी संस्थाएँ कायम रहीं हालांकि उनके नाम बदल गए। इस युग की सबसे बड़ी विशिष्टता राजा के हाथों में शासन का केन्द्रीयकरण थी, जिससे विघटन की ओर कार्य करने वाली सामन्तवादी प्रवृत्ति आनुपातिक रूप में निर्बल हो गई। सन् 1066 से इस सम्पूर्ण युग के दौरान राजा और सामन्तों के बीच में एक संघर्ष चलता रहा। एक निर्बल राजा के द्वारा धारित मुकुट के विरुद्ध पहले इन सामन्तों के विरोध ने जैसा कि स्टीफेन्सन के शासनकाल में हुआ, बिलकुल अव्यवस्था उत्पन्न कर दी, परन्तु बाद में उस विरोध ने अधिक नियमित रूप धारण किया जैसा कि जॉन के समय के मैग्नाकार्टा कहे जाने वाले प्रलेख से प्रकट होता है। तीस वर्ष पहले सायमन डी मॉण्टफोर्ड के द्वारा प्रस्तुत उदाहरण के अनुसार सन् 1295 में प्रथम एडवर्ड द्वारा संसद को आमंत्रित करना राजा और सामन्तों के पारस्परिक संघर्ष की एक आगे की मंजिल थी, क्योंकि इस घटना से राजा के सलाहकारों में सामान्यजनता का सम्मिलित किया जाना प्रारम्भ हो गया। इसका असर यह हुआ कि संसद में अब तक जो धार्मिक एवं लौकिक सामन्तों का सर्वव्यापी प्रभाव था उसको सन्तुलित करने के लिए एक दूसरा प्रभाव आ गया, हालांकि लोक-सदन (Commons) की स्थापना का मूल उद्देश्य यह नहीं बल्कि अतिरिक्त धनराशि का अनुदान प्राप्त करना ही था।

(2) अगले काल (सन 1307 1603) के प्रथम भाग में संसदीय प्रयोग भंग हो गया। लंकास्टरवंशीय राजतंत्र को (सन् 1399 1461), जिसका कोई रक्तमूलक अधिकार नहीं था, अपने चिरस्थायित्व के लिए इस संस्था पर ही अवलम्बित रहना पड़ा। यह संस्था षष्ठ हेनरी के शासनकाल में अनेक भाँति की कठिनाइयों के बीच में बुरी तरह से कुख्यात हो गई। इस शासनकाल में सामन्तवाद पुनः बगावत कर उठा और उसने गुलाबों के युद्धों में अराजकता का अपना अंतिम

खेल खुलकर खेला। ट्यूडर वंश (सन् 1485-1603) के अधीन फिर व्यवस्था कायम हुई। यद्यपि उनका राजतंत्र निरंकुशतावादी था, परन्तु वह सांविधानिक रूपों के आवरण में छिपा हुआ था। ट्यूडर काल की सारभूत सांविधानिक बात थी—यदा-कदा संसद् का आमंत्रण। यह जानना उतना आवश्यक नहीं है कि इस समय में संसद् ने क्या किया, जितना इस बात को ध्यान में रखना कि वह कायम रही। इससे ही इंगलैंड में संसदीय शासन के रिवाज का वास्तविक प्रारम्भ हुआ। संसद के प्रयोग के द्वारा ट्यूडरों ने स्टुअर्ट काल के दौरान राजा और संसद् के बीच होने वाले संघर्ष का अनजाने ही आधार तैयार कर दिया। ट्यूडर काल के अंत तक निरंकुशतावादी राजतंत्र की आवश्यकता समाप्त हो चुकी थी और उस युग में संसद का न्यूनाधिक *अविच्छिन्न अस्तित्व आगामी युग के लिए* बहुत ही महत्त्वपूर्ण सिद्ध हुआ।

(3) स्टुअर्ट काल में राजा और संसद् के बीच के विवाद का युद्ध के द्वारा निर्णय हुआ। प्रथम जेम्स के शासनकाल के संघर्षों और उनके पुत्र के समय के गृहयुद्ध के पश्चात् ब्रिटिश राज्य ने कुछ समय तक (कॉमनवेल्थ सन् 1649-1660) *ऐसी बात देखी जैसी कि इससे पूर्व उसने कभी नहीं देखी थी और जो उसे* फिर कभी नहीं देखनी थी। यह बात थी दस्तावेजी संविधानों का एक सिलसिला। पुनःस्थापन (Restoration) से पुराने संसदीय रूपों का पुनरुज्जीवन हुआ, परन्तु अब संसद् उन अधिकारों के लिए दावे कर रही थी जो उसे सन् 1688-89 की क्रांति के फलस्वरूप प्राप्त होने थे। इस क्रांति के फलस्वरूप द्वितीय जेम्स राज्यच्युत हुआ और अधिकारों का विधेयक (Bill of Rights) प्राप्त हुआ जिसने वास्तव में राजा के ऊपर संसद् की सर्वोच्चता कायम की, हालांकि औपचारिक रूप में राज्य की प्रभुता संसद् सहित राजा के हाथों में ही बनी रही। अधिकारों का विधेयक उन अनेकानेक संविधियों में से प्रथम था जिनसे आज संविधान की लिखित विधि निर्मित हुई है। उस समय से किसी भी राजा के लिए उस भांति कार्य करना जैसा कि स्टुअर्टों ने किया, केवल रिवाजी तौर से ही अ-सांविधानिक नहीं, वरन् संविधीय रूप से भी अवैध है। अधिकारों के विधेयक के पश्चात् व्यवस्था अधिनियम (Act of Settlement) आया, जिसने राजा पर संसद् की विजय को सुस्पष्ट कर दिया।

(4) अगले युग (सन् 1702-1885) में सांविधानिक प्रथाओं का अत्यंत असाधारण विकास हुआ। ये प्रथाएं इस काल में लिखित रूप में तो नहीं मिलतीं परंतु वे वर्तमान शासन व्यवस्था का आधार बनी हुई हैं। यहीं से मन्त्रिमंडल-प्रणाली (जिसके विषय में हम आगे के एक अध्याय में विचार करेंगे) और आधुनिक संसदीय प्रक्रिया की पूर्णरूपेण स्थापना हुई। इसमें से कुछ संविधान सम्बन्धी प्रथाओं, कुछ अलिखित विधियों, और कुछ संविधीय विधियों से सम्बद्ध हैं।

सविधान की विधि को सशोधित करने वाली सविधियो मे से, जो कि इस काल मे पारित हुई, सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण सन् 1716 का सप्तवर्षीय अधिनियम, और उन्नीसवी शताब्दी के सुधार अधिनियम (सन् 1832, 1867, 1872, 1884, 1885) थे, जिनका मताधिकार, मतपत्र और स्थानो के वितरण पर प्रभाव पडा। अन्त मे, इस काल मे उन सविधियो के भी कुछ महत्त्वपूर्ण उदाहरण मिलते हैं, जिन्हें हमने सधियाँ कहा है और जो स्काटलैंड आयरलैंड और कतिपय उपनिवेशो (जिनके विषय मे हम एकात्मक राज्य के अध्याय मे प्रकाश डाल चुके हैं) के साथ की हुई थी।

(5) अतिम युग हमारे समय का ही है। इस काल का महान् सांविधानिक अधिनियम सन 1911 का ससद अधिनियम (Parliament Act) है, जिसकी उत्पत्ति लॉयड जॉर्ज के सन् 1909 के बजट की लॉर्ड-सभा द्वारा अस्वीकृति पर ससद के दोनो सदनो के बीच हुए विवाद मे हुई। ब्रिटेन के सविधान की नम्यता ओर ब्रिटिश ससद् की असीमित सत्ता इस विवाद और उसके उपरान्त निर्मित सविधि से अधिक अच्छी प्रकार और किसी बात से प्रकट नही होती। ससद् के एक अधिनियम मात्र मे ही दोनो सदनो के बीच के सम्बन्धो मे पर्याप्त परिवर्तन हो गया। लॉर्ड-सभा अपने अधिकारो के मूलभूत परिसीमन से सहमत हो गई, और इन उद्देश्यो की प्राप्ति के लिए विधिनिर्माण की रूढिगत प्रक्रिया का प्रयोग किया गया। इससे भी अधिक, इस घटना से 'रूढियो एव प्रथाओ का अन्तत सविधान की विधि पर अवलम्बन" स्पष्ट होता है। सन् 1909 के पूर्व सदा ही सविधान की एक प्रथा के रूप मे यह माना जाता रहा कि लार्ड लोग धन-विधेयक मे सशोधन नही करेंगे और न उसे अस्वीकृत ही करेंगे। जब उन्होंने ऐसा किया तो इस भय के विरुद्ध प्रथा को शक्तिशाली बनाने के लिए सविधि की आवश्यकता हुई। इसी काल का सन् 1949 का ससद् अधिनियम भी है जिसने मूल अधिनियम द्वारा स्थापित प्रक्रिया की सहायता से सन् 1911 के अधिनियम मे सशोधन किया। इस काल की अन्य बडी सविधिया सन् 1918 का जन-प्रतिनिधित्व अधिनियम (Representation of the People Act), जिसने स्त्रियो को बहुत बडी सख्या मे मतदान का अधिकार दिया, और सन् 1928 का अधिनियम है, जिसने स्त्रियों को उन्ही शर्तों पर मतदान का अधिकार दिया जो कि पुरुषो को प्राप्त है। इनके विषय मे हम बाद मे विस्तारपूर्वक विचार करेंगे।

5 व्यवहार में ब्रिटिश संविधान

युगो के इस लम्बे विकास से उस सविधान का उद्गम हुआ है जिसके अधीन आज ब्रिटेन शासित हो रहा है। अब भी रानी नाम के लिए सर्वोच्च है। वह नागरिकों के लिए विधिप्रदात्री, न्यायाधीश, तथा सशस्त्र सेना की प्रधान सेनापति

उत्तरदायी नही ठहराई जा सकती । अन्तत, इस वचन का उसके बिलकुल शाब्दिक अर्थ मे ग्रहण किया जाना चाहिए, क्योंकि यदि रानी कोई अपराध करती है (डायसी प्रधानमन्त्री को गोली से मार देने का उदाहरण प्रस्तुत करता है) तो विधि मे ऐसी कोई प्रक्रिया नही है जिसके द्वारा उस पर मुकदमा चलाया जासके । इस वचन का यह भी तात्पर्य है कि कोई भी किसी अनुचित कार्य के समर्थन मे रानी के आदेश का आश्रय नही ले सकता । यह विधि है परन्तु लिखित नहीं है ।

(2) राजा या रानी के द्वारा किए गए प्रत्येक कार्य के लिए कोई-न-कोई व्यक्ति वैधिक रूप म उत्तरदायी है।

मन्त्रिया का उत्तरदायित्व इन तथ्यो का परिणाम है कि रानी कोई त्रुटि नही कर सकती, न्यायालय किसी भी कार्य को राजा या रानी के द्वारा किए गए कार्य के रूप मे मान्य नही करेगा, और किसी भी अधिनियम को मुद्रांकित करने वाला मन्त्री ही उसके लिए जवाबदार होता है।

सविधीय विधि (Statute laws) पर अवलम्बित नियमा मे निम्नलिखित अत्यन्त महत्वपूर्ण हैं —

(1) "राजा या रानी मे ऐसी कोई शक्ति नही है कि वह विधि के पालन के कर्तव्य की उपेक्षा कर सके।'

यह अधिकारो के विधेयक (बिल ऑफ राइट्स) म निश्चित रूप से उल्लिखित किया गया है। व्यवहार मे इसका तात्पर्य यह है कि कोई भी सरकार जो सविधि-सहिता मे लिखित विधि की मान्यता को मानने से इनकार करती है, अवैध रूप से कार्य करती है ।

(2)लोक-सदन द्वारा दो क्रमिक सत्रो मे पारित और हर बार लॉर्ड सदन द्वारा अस्वीकृत विधेयक (बशर्ते कि इस क्रिया मे एक वर्ष पूरा हो गया हो और बावजूद इसके कि उस कालावधि मे सामान्य निर्वाचन हो चुका हो) रानी के पास हस्ताक्षर के लिए सीधा भेज दिया जाता है। लोक सदन द्वारा एक बार पारित और लॉर्ड सदन द्वारा अस्वीकृत धन-विधेयक एक महीने के व्यतीत होने के पश्चात् विधि बन जाता है (लोक-सदन का अध्यक्ष यह निश्चित करता है कि कौन-सा विधेयक धन विधेयक है) । सन 1949 के ससद् अधिनियम मे बिलम्बन निषेधाधिकार (Suspensive veto) के काल को निर्धारित किया गया है। इस अधिनियम ने, जैसा कि हम पहले ही देख चुके है, सन् 1911 के ससद् अधिनियम मे सशोधन किया है, जिसमे तीन क्रमिक सत्रो तथा दो वर्षो के अल्पतम काल की आवश्यकता रखी गई थी। सन 1911 के अधिनियम द्वारा निर्धारित प्रक्रिया के अनुसार वेल्स की चर्च को सन् 1920 मे अवस्थापित किया गया और सन् 1949 के ससद् अधिनियम के अधीन लोहा तथा इस्पात उद्योग का राष्ट्रीयकरण सन्

1951 में कर लिया गया, हालांकि दो वर्ष बाद वह निरस्त कर दिया गया था।

(3) सन् 1911 के संसद अधिनियम के अनुसार संसद् को पांच वर्ष तक कार्य कर चुकने के पश्चात अनिवार्य रूप से भंग किया जाना चाहिए।

इन बातों से हम यह देखते हैं कि ब्रिटिश संविधान कितना नम्य है। इन रूढ़ियों इन अलिखित विधियों और इन संविधियों में से कोई भी ऐसी नहीं है जिसे संसद का अधिनियम उन्मूलित या निरसित न कर सकता हो। यद्यपि रूढ़िगत विकास चिरकाल से होता आ रहा है तो भी यह सत्य है कि संसद् सर्वोच्च है और कोई भी न्यायाधीश अथवा विधि-संहिता किसी भी वस्तु को उसकी संविधियों से उच्चतर करार नहीं दे सकती। ब्रिटिश संसद् की सर्वोच्चता का इससे बड़ा कोई भी दृष्टांत नहीं हो सकता कि जब इससे पहली बार सन् 1911 के अधिनियम के अधीन—अर्थात् सन् 1915 में (अंतिम संसद् सन् 1910 में निर्वाचित हुई थी)—अपने-आपको भंग करने को कहा गया तो इसने अपना कार्यकाल बढ़ाने के लिए एक अधिनियम पारित कर दिया। यही बात सन् 1940 में भी हुई। कार्यकाल की ये वृद्धियां, निस्सन्देह, युद्धों के कारण हुईं, परन्तु उन्हें करने के लिए संसद को किन्हीं विशेष शक्तियों की आवश्यकता नहीं हुई, और न उसने अपने से परे किसी न्यायाधिकरण से याचना ही की। इसी भांति की एक कार्यकाल-वृद्धि सन् 1715 के जैकोबाइट विद्रोहसम्बन्धी संकट के समय में हुई थी। ऐसा सन् 1716 में हुआ था जब कि तत्कालीन विद्यमान संसद् के, जो कि सन् 1694 के त्रि-वर्षीय अधिनियम के उपबन्धों के अधीन निर्वाचित की गई थी, कार्यकाल को बढ़ाने के लिए सप्त-वर्षीय अधिनियम पारित किया गया था।

फिर भी, ब्रिटिश संविधान नम्य होते हुए भी, एक ऐसे आदर्श के रूप में ग्रहण किया गया है जिस पर अनेक अनम्य संविधानों की स्थापना हुई है। ब्रिटेन में राजनीतिक संस्थाएं अनुभव के आधार पर अस्तित्व में आईं और उनका विशिष्ट स्थायित्व इसी कारण है कि उनका विकास सूक्ष्म सिद्धान्तों की अपेक्षा अनुभव के आधार पर हुआ है। उन राज्यों की संस्थाओं के अध्ययन से ही, जिन्होंने अपनी संस्थाओं को ब्रिटेन के नमूने पर आधारित किया है, इस प्रश्न का उत्तर दिया जा सकता है कि क्या उस प्रकार की सरकार को जिसका युगों के अनुभव से विकास हुआ है ऐसे समुदाय की नई आवश्यकताओं के अनुकूल बनाया जा सकता है जिसकी अप्रत्याशितरूप से उदित स्वतंत्रता अकस्मात् ही एक पूर्णरूप में विकसित राजनीतिक संविधान की अपेक्षा करती है।

6 न्यूज़ीलैंड का नमनीय संविधान

ब्रिटिश मुकुट के अधीन स्वेत स्व-शासी अधिराज्यों में, केवल न्यूज़ीलैंड संविधान ही नम्य है। वास्तव में एक अर्थ में कुछ वर्ष पहले तक ब्रिटिश स्व-शासी

डामिनियनो के सविधान, बिना किसी अपवाद के, अनम्य थे। चूंकि इनमे से प्रत्येक को सविधान मूल रूप मे वेस्टमिंस्टर मे स्थित साम्राजिक ससद् के द्वारा अर्थात् यूनाइटेड किंगडम की ससद के अधिनियम द्वारा प्रदान किया गया था, अत, उस सविधान मे ब्रिटिश ससद् की अनुमति के बिना कोई भी परिवर्तन नही किया जा सकता था। परन्तु सन 1931[1] के कुछ समय पूर्व से यह निषेधाधिकार व्यवहार मे प्रभावी नही था और न्यूजीलैंड के लिए तो सन 1947 मे वह उस वर्ष के सविधान (सशोधन) अधिनियम के द्वारा विशिष्ट रूप से हटा दिया गया था।

यह हम देख ही चुके हैं कि न्यूजीलैंड का विद्यमान सविधान किस प्रकार अस्तित्व मे आया और किस प्रकार सघीय आधार पर प्रारम्भ होकर सन 1876 मे प्रातीय सरकारो को समाप्त करके वह निश्चित रूप से एकात्मक राज्य बन गया। न्यूजीलैंड का सविधान दस्तावेज के रूप मे सन 1852 के अधिनियम मे, जिसका शीर्षक न्यूजीलैंड उपनिवेश को प्रतिनिधिक सविधान प्रदान करने के लिए अधिनियम है मिलता है। इस अधिनियम के अनुच्छेद 68 मे यह कहा गया है —

'उक्त सामान्य सभा (अर्थात इस अधिनियम के द्वारा स्थापित न्यूजीलैंड के विधानमडल) के लिए किसी भी अधिनियम या अधिनियमो द्वारा समय-समय पर इस अधिनियम के किन्ही भी उपबन्धो को बदल देना विधिसगत होगा।'

इसमे "हर मेजस्टी (सम्राज्ञी) के प्रसाद के सम्बन्ध मे भी तक परन्तुक (Proviso) जोड़ा गया है जो आज प्रभावी नही है, जैसा कि हम देख ही चुके हैं।

मूल अधिनियम मे पर्याप्त परिवर्तन हो चुका है, परन्तु यह विधि निर्माण की सामान्य प्रक्रिया के द्वारा ही हुआ है यहा तक कि सन् 1876 का अधिनियम, जिसने प्रातीय सरकारो को समाप्त किया और न्यूजीलैंड को एकात्मक राज्य बनाया, इस दिशा मे सविधान मे सशोधन करने के लिए न्यूजीलैंड की ससद के द्वारा पारित एक साधारण सविधि ही था। इसी भाति वह अधिनियम भी एक साधारण सविधि ही था जिसने सन 1951 मे द्वितीय सदन को समाप्त किया। तभी से मूल अधिनियम को एक विवेकपूर्ण और उदार अधिनियम समझा जाता रहा है जिसने राष्ट्रीयता की बलवती माग को स्वीकार कर केवल स्वतत्रता ही प्रदान नही की, बल्कि अपनी भाषा के द्वारा सविधान के सशोधन के लिए प्रगतिशील समाज की आवश्यकताओ के उपयुक्त पद्धति की व्यवस्था कर दी।

---

[1] वेस्टमिंस्टर की सविधि का वर्ष। पीछे पृष्ठ 83 देखिये।

मन 1956 मे एक निर्वाचन-अधिनियम के पारित होने से न्यूजीलैंड के सविधान मे कुछ अनम्यता आगई मालूम होती है। इस अधिनियम मे एक उपबन्ध रखा गया है जिसके अनुसार सविधान के कुछ खण्डो का निरसन लोक-सभा के 75 प्रतिशत बहुमत या जनमत सग्रह के बिना नही किया जा सकता। इन खण्डो का सम्बन्ध प्रतिनिधि-आयोग (Representative Commission) के सगठन एव उससे सम्बन्धित निर्देश, निर्वाचन-क्षेत्रो की सख्या, मतदान के लिये आवश्यक आयु, गुप्त मतदान तथा ससद के कार्यकाल से है। किन्तु यह अधिनियम सामान्य विधायी प्रक्रिया द्वारा पारित हुआ था और वास्तव मे इन 'रक्षित खण्डो' की व्यवस्था से ससद् की वैध शक्तियो मे कोई कमी नही आती क्योकि (जैसा न्यूजीलैंड की ऑफिशल ईयरबुक, 1961 मे कहा गया है) "यह नई व्यवस्था वैधिक दृष्टि से इस अर्थ मे प्रभावी नही है कि बाद की ससद् को इसका निरसन करने मे इसके कारण कोई रुकावट नही पैदा होती क्योकि एक ससद् अपनी उत्तरवर्ती ससदो को बाध्य नही कर सकती।" फिर भी (जैसा ईयरबुक मे आगे लिखा है) "इस नये उपबन्ध मे ससद् के दोनो दलो का यह एकमत करार लेखबद्ध किया गया है कि कुछ उपबन्ध शासन-व्यवस्था मे मूलभूत स्वरूप के है और बहुमत मात्र की सनक के अनुसार उनमे परिवर्तन नही होना चाहिये। इस दृष्टि से रक्षित खण्डो की सृष्टि करने वाला यह उपबन्ध एक ऐसी औपचारिक प्रथा आरभ करता है जिसकी साविधानिक दृष्टि से उपेक्षा नही की जा सकती।"

इस भाति न्यूजीलैण्ड का सविधान नम्य सविधानो मे एक अनुपम सविधान है। जब कि यूनाइटेड किंगडम का सविधान, जैसा कि हम देख चुके हैं, गैर-दस्तावेजी है, जिसका किसी विशेष प्रक्रिया के बिना ही सशोधन किया जा सकता है न्यूजीलैंड का सविधान एक ऐसा दस्तावेज है जिसमे सशोधन के साधनो के विषय मे उल्लेख है किन्तु जो इस सम्बन्ध मे सामान्य विधानमडल को (उपयुक्त अपवाद को छोडकर) स्पष्टत सर्वोच्च रहने देता है।

7

अनम्य संविधान

1. सांविधानिक विधि-निर्माण के लिए विशेष यंत्र

जहां नम्य संविधान का विशिष्ट लक्षण उस राज्य की, जिसमें कि वह लागू होता है, संसद् की असीमित सत्ता है वहां अनम्य संविधान का विशिष्ट लक्षण विधानमंडल की शक्ति पर उससे बाहर की शक्ति के द्वारा आरोपित मर्यादा है। *जब कुछ ऐसी विधियां होती हैं, जिन्हें विधानमंडल सामान्य पद्धति से अधिनियमित नहीं कर सकता* तो यह स्पष्ट है कि वह विधानमंडल सर्वोच्च नहीं है। ऐसी अवस्था में साधारण विधानमण्डल की विधि से भी बड़ी एक विधि होती है और यही संविधान की विधि है, जो, जैसा हम कह चुके हैं उच्चतर दायित्व की ऐसी विधि है जिसका नम्य संविधान में कोई स्थान नहीं है। इन दो प्रकारों की विधियों के भेद को समझने का सबसे सरल तरीका यह समझना है कि अनम्य संविधान सामान्यतया किस भांति अस्तित्व में आए हैं। अधिकांश अवस्थाओं में *वे संविधान सभा कही जाने वाली एक विशेष सभा के निश्चयों के फलस्वरूप उत्पन्न* हुए हैं। इस सभा का कार्य साधारण विधि का निर्माण करना न होकर शासन के एक ऐसे उपकरण की व्यवस्था करना होता है जिसकी सीमा के भीतर साधारण विधि-निर्माण का कार्य हो।

संविधान सभा, यह जानते हुए कि उसका विसर्जन हो जाएगा और वह विधि-निर्माण का वास्तविक कार्य अन्य किसी सभा के लिए छोड़ देगी, उस संविधान में, जिसका वह प्रख्यापन करती है, भावी कार्य के सम्बन्ध में यथासंभव *अधिक-से-अधिक पथ-प्रदर्शक बातों का समावेश करने की चेष्टा करती है।* यदि वह संविधान को अपने ही अधिनियम द्वारा परिवर्तित करने की शक्ति को साधारण विधानमंडल के क्षेत्राधिकार से अलग रखना चाहती है, जैसा वह सामान्यतया चाहती भी है, और क्योंकि वह समस्त भावी आकस्मिकताओं का पूर्वानुमान नहीं कर सकती, इसलिए उसे संशोधन की किसी विशेष पद्धति की व्यवस्था करनी होती है। संक्षेप में, वह भविष्य में विचार करने के लिए ऐसे विषयों के *उपस्थित होने की अवस्था में, संविधान-सभा के पुनर्निर्माण की व्यवस्था करने का* प्रयत्न करती है, चाहे वह सभा कुछ निर्बन्धनों के अधीन कार्य करते हुए साधारण

प्रभावी नहीं है, की। दूसरे प्रकार का निर्बन्धन वह है जिसमें विधानमंडल को भंग किए जाने और उस विशिष्ट प्रश्न पर साधारण निर्वाचन की आवश्यकता होती है, जिससे नया विधानमंडल उस प्रस्ताव के पक्ष में जनता से आदेश प्राप्त होने के कारण सार रूप में जहां तक कि उस प्रस्ताव का सम्बन्ध है, एक संविधान सभा ही बन जाता है। यह अतिरिक्त निर्बन्धन बेल्जियम, हालैंड, डेनमार्क तथा नार्वे में (इन सभी देशों में निर्वाचन के बाद संशोधन पारित करने के लिये दो-तिहाई संसदीय बहुमत की आवश्यकता होती है) और स्वीडन में लागू होता है। यह भी कहा जा सकता है कि किसी हद तक ब्रिटेन में भी यही बात है क्योंकि यह असम्भाव्य है कि संविधान में किसी क्रान्तिकारी परिवर्तन के लिए कोई आधुनिक प्रशासन तब तक कोई प्रस्ताव करेगा जब तक पहले जनता से इस सम्बन्ध में अपील न कर लेगा। इस प्रकार की अपील संसदीय विधेयक (Parliament Bill) के पारित किए जाने से पूर्व सन् 1910 में दो बार की गई थी। परन्तु निश्चय ही यह नहीं कहा जा सकता कि ब्रिटिश संविधान विधि अथवा संविधान की प्रथाएँ ऐसी अपेक्षा करती है। उदाहरणस्वरूप सन् 1928 में, संसद् ने एक नवीन मताधिकार अधिनियम पास किया और लार्ड-सभा के सुधार पर विचारविमर्श किया, यद्यपि इन प्रश्नों में से कोई भी प्रश्न सन् 1924 के निर्वाचन के समय जिसमें उस संसद् का निर्वाचन हुआ था, विवादग्रस्त नहीं था। पुनः अभी सन् 1948 में लार्ड-सभा के निलम्बनकारी निषेधाधिकार के काल को दो वर्ष से कम करके एक वर्ष बनाने वाला विधेयक लोक-सदन के द्वारा पारित किया गया था, जिसे इसके गुण-दोष कुछ भी हो, तीन वर्ष पूर्व हुए साधारण निर्वाचन में इसके लिए कोई स्पष्ट आदेश जनता से प्राप्त नहीं हुआ था।

विधानमंडल के द्वारा साविधानिक परिवर्तन की तीसरी पद्धति वह है जिसमें संयुक्त सत्र में अर्थात् जिसमें दोनों सदन एक सदन के रूप में बैठते हैं, बहुमत की अपेक्षा होती है। इसका उदाहरण दक्षिणी अफ्रीका है।

(2) दूसरी योजना वह है जिसमें लोक-मत (Popular Vote), जनमत-संग्रह (Referendum) या लोक निर्देश (Plebiscite) की आवश्यकता होती है। इस युक्ति का प्रयोग फ्रांस में क्रांति के दौरान में और फिर लुई नेपोलियन के द्वारा और जर्मनी में हिट्लर के द्वारा किया गया था। ब्रिटेन में इसका कभी भी प्रयोग नहीं किया गया, हालांकि संसद् विधेयक पर, जो अंत में सन् 1911 में विधि बन गया, होने वाले विवाद से उत्पन्न गत्यावरोध से पार पाने के लिए इसका सुझाव दिया गया था। यह प्रणाली स्विट्ज़रलैंड, आस्ट्रेलिया, आयर, इटली, फ्रान्स (पंचम गणतंत्र में कुछ अध्यक्षीय प्रान्तों के (Presidential Provisos) के साथ) और डेनमार्क (पहले ही उल्लिखित संसदीय नियंत्रण के अतिरिक्त) में है।

(3) तीसरी पद्धति सघो की विशिष्ट पद्धति है। निस्सन्देह ऐसा कोई भी सघ नही है जिसका सविधान किसी-न-किसी रूप मे, सघनिर्मात्री इकाइयो की आधी से अधिक या सभी की सहमति की अपेक्षा नही करता। प्रस्तावित विधेयक पर मतदान या तो जनता द्वारा या सम्बन्धित राज्यो के विधानमडलो द्वारा हो सकता है। स्विटजरलैंड और आस्ट्रेलिया मे जनमत सग्रह का प्रयोग होता है। यूनाइटेड स्टेट मे किसी भी प्रस्तावित सशोधन के लिये तीन-चौथाई राज्यो के विधानमडलो अथवा विशेष सम्मेलनो (जिनका नीचे (4) मे उल्लेख किया गया है) के अनुसमर्थन की आवश्यकता होती है।

(4) अन्त मे वह पद्धति है, जिसमे साविधानिक सशोधन के निमित्त एक विशिष्ट सभा की तदर्थ रचना होती है। जैसा कि हम कह चुके है, एक अर्थ मे ऐसा तब होता है जबकि विधानमडल किसी विशेष निर्बन्धन के अधीन सविधान मे सशोधन करते है, और अधिक स्पष्टतया तब जब कि दोनो सदनो का सयुक्त सत्र होता है। परन्तु कुछ अवस्थाओ मे यह सम्मेलन किसी भी अन्य निकाय से बिलकुल विभिन्न होता है। उदाहरण के लिए अमरीकी सघ के कुछ राज्यो मे राज्य के सविधान के सम्बन्ध मे यह पद्धति उपयोग मे आती है, और ऐसी पद्धति की सघ के सविधान मे,—यदि सघीय काग्रेस ऐसा प्रस्ताव करे, अनुमति है। यह पद्धति लैटिन-अमरीका के कतिपय राज्यो के सविधानो मे भी है।

इस तरह मोटे तौर से साविधानिक सशोधनो की दो पद्धतियां है जिनका अनम्य सविधानो वाले राज्यो मे अधिक प्रयोग होता है। पहली पद्धति विशेष निर्बन्धनो के अधीन विधानमडल द्वारा सशोधन पद्धति है, और दूसरी विशेष प्रस्ताव पर जनता द्वारा। अन्य दो पद्धतियो मे से एक सघीय राज्यो की विशिष्ट पद्धति है, परन्तु फिर भी वह सर्वव्यापक नही है, और दूसरी पद्धति साधारणतया केवल अनुज्ञात्मक है। अब हम अनम्य सविधानो वाले अधिक महत्वपूर्ण राज्यो मे से कुछ की साविधानिक सशोधन-पद्धति का अधिक विस्तार के साथ विश्लेषण करेंगे।

2 फ्रांसीसी गणतन्त्र का अनम्य सविधान

फ्रासीसियो ने 1875 मे तृतीय गणतन्त्र की स्थापना से पूर्व के अस्सी वर्षों के दौरान मे सविधान-निर्माण मे अद्भुत प्रयोग किए थे। सविधान-निर्माण व्यावहारिक राजनीति की एक शाखा है जिसमे ससार ने फ्रासीसियों को सर्वोत्तम कलाकार के रूप मे देखा था, जो अपने ही प्राधिकारियो मे से एक के शब्दो मे, सविधान की कल्पना एक ऐसी दार्शनिक कृति के रूप मे करने के अभ्यस्त थे जिसमे प्रत्येक बात को एक सिद्धान्त से निकाला जाता है, उनके लिए सविधान कला की एक ऐसी कृति थी जिसका क्रम तथा जिसकी समरूपता पूर्ण होनी चाहिए, यह एक

ऐसा वैज्ञानिक उपकरण था जिसकी योजना इतनी यथार्थ हो, जिसका इस्पात इतना उत्तम और मजबूत हो कि उसमें साधारण से साधारण अवरोध भी असम्भव हो जाए। इस राजनीतिक पटुता के प्रयोग मे फ्रांसीसियो ने एक शताब्दी से भी कम समय मे एक दर्जन से अधिक संविधान बना डाले थे। परन्तु वे परिस्थितिया, जिनमे फ्रासीसी जर्मन युद्ध मे फ्रासीसी पराजय के पश्चात तृतीय गणतन्त्र गठित हुआ था ऐसी थी जिनमे फ्रासीसी राजमर्मज्ञ पूर्ण दस्तावेज की इस परम्परा से विचलित हो गए और नए शासन की स्थापना जुलाई सन् 1875 मे पारित तीन पृथक् विधियो के आधार पर हुई।

उस समय संविधान निर्माताओ की वास्तविक आशा यह थी कि नया संविधान अधिक नही चलेगा, क्योंकि उनमे से अधिकाश जरा भी गणतन्त्रवादी नही वरन् राजतन्त्रवादी थे। यद्यपि गणतन्त्र की निश्चित रूप से स्थापना सन् 1875 तक नही हुई थी, तथापि उसका जन्म वास्तव मे तृतीय नेपोलियन और उसकी सेना के सेडान मे बन्दी बनाए जाने के पश्चात सितबर सन् 1870 मे ही हो चुका था। पाच महीनो तक जर्मनो का जी तोडकर मुकाबला करने के पश्चात् पेरिस का पतन हो गया और एक सधि हुई, और फरवरी सन् 1871 मे यह निश्चित करने के लिए कि क्या युद्ध जारी रखा जाए, सार्वलौकिक पुरुष-मताधिकार के द्वारा एक राष्ट्रीय सभा का निर्वाचन हुआ। परन्तु उसने इससे भी अधिक कार्य किया और शाति स्थापना करते हुए फ्रास पर अगले चार वर्षों तक राज्य किया तथा भग होने से पूर्व गणतन्त्रीय संविधान पास कर दिया। यह सभा संविधान-सभा बन गई, क्योकि उसमे विभिन्न भाति के राजतन्त्रवादियो की संख्या गणतन्त्रवादियो से कही अधिक थी और उन्हें दूसरे निर्वाचन मे अपनी शक्ति के छिन जाने का डर था। परन्तु, जैसा कि थियर (Thiers) ने, जो इस सभा का प्रमुख व्यक्ति था और जो गणतन्त्र का प्रथम राष्ट्रपति बनने वाला था, कहा था, सिंहासन एक था, परन्तु उस पर आसीन होने के लिये तीन दावेदार थे। इन तीनों दावेदारो (अर्थात् बूरबो और औरलिए राजवशो तथा कुख्यात बोनापार्ट परिवार के वशजो) के समर्थको ने, आपस मे एकता प्राप्त करने मे असफल होकर अपने मतभेदो को भुलाकर एक समझौता कर लिया और 'रूढिवादी गणतन्त्र' की स्थापना के लिए राजी हो गए। उन्होने आशा की कि उससे भविष्य पूर्णरूप से सुरक्षित हो जाएगा। अधिक उग्र गणतन्त्रवादी इस गणतन्त्र से राजी हो गए क्योंकि उन्हे आशा थी कि इसे एक क्रांतिकारी दिशा मे परिवर्तित किया जा सकेगा। राजतन्त्रवादी गणतन्त्र कहलाने वाले इस राष्ट्रपति-शासन से इस वास्ते सहमत हो गए कि उन्हे उपरात मे राष्ट्रपति को ही राजा या सम्राट् मे बदल देने की आशा थी।

सन् 1875 की इन तीन विधियो का, जो कि उक्त संविधान का आधार थी, सामान्य प्रभाव दो सदनों—सिनेट और प्रतिनिधि-सभा—के एक विधानमडल

से ही स्वीकार किया जाता था तो उसे जनमत-संग्रह के लिए प्रस्तुत करना आवश्यक था और तब उसके अंगीकरण के लिए उसके पक्ष मे मतदान करने वाले लोगो का बहुमत अपेक्षित था।

पंचम फ्रेन्च गणतंत्र के संविधान ने, जो 28 सितम्बर 1958 को जनमत संग्रह द्वारा अंगीकृत और 4 अक्टूबर 1958 को प्रख्यापित हुआ, नई परिस्थिति के अनुकूल अनेक परिवर्तन किये और प्रासंगिक रूप मे उच्च सदन का नाम फिर से सिनेट रख दिया परन्तु अवर (lower) सदन का नाम (जैसा चतुर्थ गणतंत्र मे था) नेशनल एसेम्बली ही रहने दिया। यह नाम तृतीय गणतंत्र में दोनो सदनो के संयुक्त सत्र का था। इस संविधान मे संयुक्त सत्र को कांग्रेस के रूप मे एक साथ बैठना (Meeting in Congress) कहा गया है। कार्यपालिका विभाग मे जो महत्वपूर्ण परिवर्तन किये गये उनके विषय मे आगे (ग्यारहवे अध्याय मे) बहुत कुछ लिखा जायगा। यहाँ तो हम संविधान के अनुच्छेद 89 मे उल्लिखित संशोधन की परिवर्तित पद्धति का वर्णन करना है। इस अनुच्छेद के अनुसार *संविधान मे संशोधन के लिये पहल करने का अधिकार प्रधान मंत्री के प्रस्ताव पर* राष्ट्रपति को तथा संसद् के सदस्यो का है। प्रस्तावित संशोधन को समाविष्ट करने वाला सरकारी या संसदीय विधेयक अभिन्न रूप मे दोनो सदनो द्वारा पारित होना चाहिये। जनमत संग्रह द्वारा अनुमोदित होने पर ही संशोधन निश्चित रूप धारण करता है। फिर भी, यदि गणतंत्र का राष्ट्रपति उसे कांग्रेस के रूप मे संयोजित संसद् के समक्ष प्रस्तुत करने का निर्णय करता है तो उस पर जनमत संग्रह की आवश्यकता नही होती। ऐसी स्थिति मे जितने मत पडे उनके तीन बटे पाँच बहुमत से स्वीकृत होने पर ही संशोधन अनुमोदित माना जाता है। इस अनुच्छेद मे आगे कहा गया है— जब देश की अखण्डता खतरे मे हो तो संशोधन की प्रक्रिया काम मे नहीं लानी चाहिये'। 'इसके साथ ही पिछले दो संविधानो मे विद्यमान यह परन्तु कभी जोडा गया है कि 'शासन के गणतंत्रीय रूप का संशोधन *नही हो सकेगा।'*

3 इटली के गणतंत्र का अनम्य संविधान

सन् 1947 मे प्रख्यापित इटालियन गणतंत्र का संविधान पूर्ववर्त्ती राजतंत्र के संविधान के सदृश ही है, क्योंकि यह भी दस्तावेज के रूप मे है परन्तु अपनी अनम्यता के कारण उससे बिलकुल भिन्न है। इसमे कोई सन्देह नही प्रतीत होता कि सन् 1848 के मूल सार्डीनियन संविधान के निर्माताओ का आशय उसे अंतिम संविधान बनाना था और इसी कारण उसमे उसके संशोधन की पद्धतियो के विषय मे कोई भी निर्देश नही था। किन्तु चूंकि वह सम्पूर्ण इटली मे लागू हुआ और द्रुत विकास एवं परिवर्तन के काल मे क्रियान्वित हुआ, इसलिए उसे नई परिस्थितियो

के अनुरूप बनाने के लिए कुछ साधन निकालना स्पष्टत आवश्यक हो गया था। इस उद्देश्य की प्राप्ति के लिए सशोधन के विषय मे मूल सविधान-निर्माताओ के मौन का यह अर्थ माना गया कि साधारण विधायी प्रक्रिया द्वारा परिवर्तन किए जा सकते हैं। उन्नीसवी शताब्दी के अन्तिम चतुर्थांश के जिम्मेदार इटालियन राजमर्मज्ञो का यही मत था। उदाहरणस्वरूप, उदारदलीय प्रधानमत्री किस्पी न सविधि की अस्पृश्यता को स्वीकार करने से इनकार कर दिया और सन् 1881 मे कहा कि इटली की ससद् 'सदा सविधान-निर्मात्री' है। उन्नीसवी शताब्दी के अन्त की ओर एक अन्य अधिकारी ने लिखा कि "इटली मे आज ससद् की सर्वशक्तिमत्ता का सिद्धान्त ग्रेट ब्रिटेन की अपेक्षा किसी तरह से भी कम सुदृढ नही है।"

दूसरे शब्दो मे, फासिस्ट-पूर्व इटली मे साधारण और सविधानी विधिनिर्माण मे ब्रिटेन के समान कोई अतर नही था। सविधान के मूल पाठ के परिवर्तन पर बहुधा वाद-विवाद तो होता, परन्तु कोई परिवर्तन वास्तव मे किया नही गया। समदे प्रभावपूर्ण साविधानिक परिवर्तन करने वाली सविधिया पारित करती रही, परन्तु उन्होने सविधान के मजमून मे कोई परिवर्तन नही किया यहा तक कि उसमे कोई धाराएँ भी नही जोडी। ऐसे अधिनियमो के उदाहरण न्यायपालिका के सगठन को विनियमित करने वाली विधि, पोप को गारण्टी देने वाली विधि और मताधिकार तथा निर्वाचन-क्षेत्रो के स्वरूप और आकार मे समय-समय पर परिवर्तन करने वाली अनेक विधिया हैं। वास्तव मे इटली का पुराना सविधान इतना नम्य था कि मुसोलिनी अपने अधिनायकतत्र के प्रारम्भिक वर्षों मे उसे तोडे बिना अपनी इच्छा के अनुसार मोडने मे समर्थ हो सका, यद्यपि बाद मे जब उसने निगम राज्य[1] का अन्तिम रूप से सगठन किया तो निश्चित रूप से उसने उसे तोड-मरोडकर ऐसा बना दिया कि वह पहचाना भी नही जा सकता था।

इसके विपरीत नये इटालियन गणतत्र का सविधान स्पष्ट शब्दो मे सशोधन की पद्धति को निर्धारित करता है, और यद्यपि सशोधन के विषय का निरूपण करने वाली सविधान की धारा उतनी पूर्ण नहीं है जितनी कि फ्रासीसी गणतत्र के सविधान की धारा है, तथापि सशोधन-सम्बन्धी इटली की पद्धति भी फ्रास की पद्धति से बिलकुल मिलती-जुलती ही है। अनुच्छेद 138 म कहा गया है कि साविधानिक सशोधन की प्रक्रिया मे निर्वाचकगण तथा ससद् (प्रतिनिधि-सदन और सिनेटर-सदन) दोनो शामिल हो सकते हैं। सविधानी सशोधन की विधि प्रत्येक सदन मे दो वाचनो मे पारित होनी चाहिए, उन दोनो के बीच मे तीन महीने से कम का अतर नहीं होना चाहिए और द्वितीय वाचन मे प्रत्येक सदन के सदस्यों का निरपेक्ष बहुमत उसके पक्ष मे होना चाहिये। यदि उसके

---

1 अध्याय 15 देखिये।

प्रकाशन के तीन महीना के अन्दर जनमत सग्रह के लिए कोई माग दोनों में से किसी भी सदन के पचमाश सदस्यो के द्वारा अथवा 500 000 मतदाताओं के द्वारा अथवा छह प्रादेशिक परिषदो के द्वारा की जाती है तो इस विधि को जनमत सग्रह के लिए प्रस्तुत करना पडता है। परन्तु यदि विधि के द्वितीय वाचन में प्रत्येक सदन के दो तिहाई सदस्यो के बहुमत का उसे अनुमोदन प्राप्त हो जाता है तो यह शर्त लागू नहीं होती।

4 आयर तथा दक्षिणी अफ्रीका में सांविधानिक सशोधन

अब हम आयरलैंड के गणतंत्र (आयर) और दक्षिणी अफ्रीका के जो फ्रान्स और इटली के समान अनम्य संविधान वाले एकात्मक राज्य हैं सांविधानिक सशोधन की प्रक्रियाओं का अध्ययन करेंगे। उन्हें हम सुविधापूर्वक एक साथ ही ले सकते हैं क्योंकि दोनों पुराने ब्रिटिश स्वशासी डोमिनियन रहे हैं जो गणतंत्र बनने पर कॉमनवेल्थ से अलग हो गये।

(1) आयर (आयरलैंड का गणतंत्र)—आयर, जिस नाम से दक्षिणी आयरलैंड सन् 1937 से पुकारा जाता है, सन् 1922 में आयरिश फ्री स्टेट के नाम से उस सधि के फलस्वरूप स्थापित हुआ जो दमन एव गृहयुद्ध जन्य विनाश के बाद ग्रेट ब्रिटेन और आयरलैंड के सम्बन्धित भाग के बीच हुई थी। इस इस सधि के फलस्वरूप दक्षिणी आयरलैंड को स्वशासी डोमिनियन का पद प्राप्त हुआ और दो सदनो (डेल आयरीन और सीनेट) के विधानमडल की तथा उसके प्रति उत्तरदायी कार्यपालिका की स्थापना हुई जो नाममात्र को मुकुट द्वारा नियुक्त एव गवर्नर-जनरल के हाथों में थी, हालांकि जैसा पहले कहा जा चुका है, सन् 1937 के संविधान ने गवर्नर जनरल के पद का समाप्त कर दिया और बाद में सन् 1948 के अधिनियम से आयर एक स्वतंत्र गणतंत्र बन गया। मूल संविधान के अनुच्छेद 50 में सशोधन की पद्धति का स्पष्ट रूप से उल्लेख किया गया है परन्तु उसमें यह भी कहा गया है कि संविधान में निर्धारित व्यवस्थाएँ प्रख्यापन की तारीख से आठ वर्ष तक प्रभावी नहीं होंगी। उसमें निर्धारित सशोधन की पद्धति सार रूप में सन 1937 के संविधान में उल्लिखित पद्धति के समान ही है और आजकल वही प्रवर्तनशील है। नये संविधान के अनुच्छेद 46 (2) में कहा गया है कि 'इस संविधान में सशोधन के लिए प्रत्येक प्रस्ताव का सूत्रपात प्रतिनिधि सभा (डेल आयरीन) में एक विधेयक के रूप में होगा और ओरियेक्टास (ससद्) के दोनों सदनो द्वारा पारित हो जाने या पारित हुआ समझा जाने पर जनता के निर्णय के लिए जनमत सग्रह के विषय में उस समय प्रभावी विधि के अनुसार जनमत सग्रह के लिए प्रस्तुत किया जायगा।' इसके साथ ही अनुच्छेद 47 (1) में कहा गया है कि जनता के समक्ष इस प्रकार प्रस्तुत किया हुआ प्रत्येक

प्रस्ताव जनमत सग्रह मे प्रस्ताव के पक्ष मे बहुमत होने पर अनुमोदित समझा जायगा।

(2) दक्षिणी अफ्रीका—उन्नीसवी शताब्दी मे विद्यमान आग्ल-डच शत्रुता से, जिसका चरम रूप 1899-1902 के युद्ध मे प्रकट हुआ, उत्पन्न समस्याओं का समाधान, 1909 मे पारित साउथ अफ्रीका एक्ट द्वारा 1910 मे चार प्रान्तो के सघ (यूनियन) की स्थापना द्वारा किया गया था। जैसा हम देख चुके है, यह देखने मे ही सघ था, वास्तव मे नही, क्योकि यद्यपि प्रान्तो की शक्तियाँ उल्लिखित थी परन्तु वे स्थानीय सत्ताओ की शक्तिया से बिलकुल भिन्न नही थी और वे उन्हे अपने अधिकार म नही, सघ की ससद् की इच्छा से प्राप्त थी। *ससद् प्रान्तीय परिषद के किसी भी अध्यादेश को, ससद् के किसी अधिनियम* के विरुद्ध होने की हालत मे, अमान्य करार दे सकती थी।

सशोधन की प्रक्रिया दक्षिणी अफ्रीका अधिनियम के खण्ड 152 मे निश्चित रूप से निर्धारित थी। उसमे कहा गया था कि सघ की ससद् सामान्य विधायी प्रक्रिया से अधिनियम के तीन प्रकार के उपबन्धो को छोड किन्ही उपबन्धो को निरसित या परिवर्तित कर सकती है। वे तीन प्रकार के उपबन्ध निम्नांकित है—(अ) जिनका सम्बन्ध सघ मे देशी निवासियो के अधिकारो से है, (आ) जिनके द्वारा डच और अग्रेजी भाषाओ की समानता स्थापित की गई है और (इ) वे उपबन्ध जो उक्त खण्ड के साथ अनुसूची के रूप मे जुडे हुए है और जिनका सम्बन्ध मूल निवासियो के प्रदेशो के प्रशासन मे है। ऐसे प्रदेश बसूटोलैंड, बेचुआनालैंड और स्वाजीलैंड है जो मुकुट द्वारा नियुक्त हाइ कमिश्नर के अधीन *प्रशासित शाही प्रदेश (Imperial Lands) बने हुए है। (अ) और (आ)* मे उल्लिखित उपबन्ध, परन्तु (इ) मे उल्लिखित उपबन्ध नही, जिन पर सघ सरकार की कोई सत्ता नही है, केवल सघीय ससद् द्वारा पारित विधेयक द्वारा ही परिवर्तित किये जा सकते थे। इसके लिये आवश्यक था कि ससद् के दोनों सदन एक साथ बैठें और तीसरे वाचन मे दोनो सदनो के कुल सदस्यों के कम से कम दो-तिहाई सदस्य सहमत हो। दक्षिणी अफ्रीका के यूनियन के सविधान की ऐसी अनम्यता थी।

सन् 1961 के अधिनियम के, जिसके द्वारा गणतत्र की स्थापना हुई, खण्ड 118 मे सशोधन की पद्धति पहले जैसी ही बनी हुई है। रगीन निवासियो के अधिकार तो विशिष्ट विधियो के अधीन हैं। परन्तु अन्यथा इस खण्ड मे यह बात दोहराई गई है कि गणतत्र की ससद् 'विधि के द्वारा इस अधिनियम के किसी भी उपबन्ध का निरसन या परिवर्तन कर सकती है' (*अर्थात् साधारण विधायी* प्रक्रिया द्वारा), केवल डच और अंग्रेजी भाषाओ की स्थापना करने वाले उपबन्ध को उसकी यह सत्ता लागू नही होती। इसी प्रकार ससद् इस खण्ड को भी सामान्य

विधायी प्रक्रिया में निगमित नहीं कर सकती, उसके लिये दोनों सदनों के संयुक्त सत्र में दो-तिहाई बहुमत की आवश्यकता होती है। इन बातों में दक्षिणी अफ्रीका के गणतंत्र का संविधान अनम्य है। शेष बातों में वह नम्य है।

5 कनाडा और ऑस्ट्रेलिया में अनम्य संविधान

इस खण्ड में हम दो आरम्भ के ब्रिटिश स्वशासी डामिनियनों के अनम्य संविधानों पर विचार करेंगे। ये दोनों संघ राज्य हैं हालांकि दोनों की संघीय व्यवस्था भिन्न प्रकार की है, परन्तु जबकि कनाडा के संविधान की अनम्यता मुख्यतः उसके संघीय स्वरूप पर निर्भर है आस्ट्रेलिया के संविधान में उसके संघ के विशिष्ट रूप से आवश्यक रूप में उत्पन्न निर्बन्धनों से अतिरिक्त संशोधन की प्रक्रिया पर प्रभाव डालने वाले और भी निर्बन्धन हैं।

(1) **कनाडा का डॉमिनियन**—कनाडा के डामिनियन की स्थापना जैसा हम देख चुके हैं, सन् 1867 में ब्रिटिश नॉर्थ अमरिका अधिनियम के द्वारा हुई थी जो आरम्भ में चार प्रान्तों के संघ को लागू हुआ था। अब प्रान्तों की संख्या बढ़ कर दस हो गई है। यह अधिनियम, बाद के संशोधनों सहित आम तौर पर कनाडा का संविधान कहा जाता है, हालांकि, व्यापक अर्थ में, संविधान में कुछ ब्रिटिश पार्लामिण्ट द्वारा तथा अन्य कनाडा की पार्लामिण्ट द्वारा पारित सांविधानिक प्रभाववाली कुछ अन्य विधियाँ तथा कालक्रम में विकसित कुछ प्रथाएँ एवं रूढ़ियाँ भी शामिल हैं। सन् 1867 के ब्रिटिश नॉर्थ अमेरिका एक्ट के द्वारा विधायी एवं कार्यपालिका सत्ताएँ डॉमिनियन की सरकार तथा प्रान्तों की सरकारों के बीच विभक्त की गई थीं। अनन्य रूप से प्रान्तों को सौंपी गई शक्तियाँ स्पष्ट रूप से उल्लिखित की गई थीं और इस तरह रक्षित शक्तियाँ संघ सरकार के पास रहीं। अतः कनाडा में सामान्य विधि और संविधान विधि में एक मात्र अन्तर यही है कि सामान्य विधि का सम्बन्ध तो उन सब बातों से है जिनका प्रान्तीय विधि-निर्माण की परिधि के अन्दर स्पष्ट उल्लेख नहीं है और संविधान विधि का सम्बन्ध इस अधिकार-विभाजन में मूलभूत परिवर्तन से है।

मूल ब्रिटिश नॉर्थ अमेरिका एक्ट में कनाडा में स्थित किसी भी विधायी सत्ता द्वारा उसके संशोधन के लिये कोई व्यवस्था नहीं की गई थी। संशोधन डॉमिनियन की संसद् के दोनों सदनों के संबोधन पर केवल वेस्टमिन्स्टर में स्थित पार्लामिण्ट द्वारा ही किया जा सकता था। परन्तु व्यवहार में, सन् 1931 में वेस्टमिन्स्टर की संविधि (Statute of Westminister) के अधिनियमित हो जाने पर यह निर्बन्धन प्रभावहीन हो गया। फिर भी, सन् 1949 में ब्रिटिश नॉर्थ-अमेरिका एक्ट के संशोधन से कनाडा की संसद् को प्रान्तों की विधायी सत्ताएँ और प्रान्तीय विधानमंडलों के अधिकारों एवं विशेषाधिकारों से सम्बन्धित बातों

को छोड अन्य सभी वातो मे सविधान मे सशोधन करने का अधिकार मिल गया। अत स्पष्ट है कि व्यवहार मे, साविधानिक सशोधन के मामले मे कनाडा की ससद पर एकमात्र निर्बन्धन यह है कि वह प्रान्तो को सविधान द्वारा स्पष्ट रूप मे प्रदत्त शक्तियो म उनकी अनुमति के बिना हेरफेर नही कर सकती।

पिछले कुछ वर्षो मे कनाडा मे डॉमिनियन सरकार के प्रान्तीय विधान-मडलो के साथ सम्बन्धो के विषय मे काफी विवाद चला है। सन् 1950 मे इस विषय मे सविधान के सशोधन की पद्धति पर विचार करने के लिये एक सयुक्त सम्मेलन बुलाया गया था। उसने विवाद ग्रस्त मुद्दो को कुछ स्पष्ट करने म कुछ प्रगति तो की पर वह ऐसा कोई सूत्र नही ढूढ सका जिसे सभी सरकारे स्वीकार कर सकती। सन् 1960 मे फिर ऐसा ही प्रयत्न आरभ हुआ जबकि इस प्रश्न पर फिर से विचार करने के लिए अटार्नी-जनरलो का एक सम्मेलन आमत्रित किया गया परन्तु सन् 1962 के अन्त तक भी उसका कार्य पूरा नही हुआ था। इन सब वातो मे ध्यान देने योग्य महत्वपूर्ण बात यह है कि यदि प्रान्त एक बार डामिनियन सरकार के साथ अपने सम्वन्धो मे परिवर्तन करने के लिये सहमत हो जाँय तो ऐसा परिवर्तन कनाडा की ससद् की सामान्य विधायी प्रक्रिया द्वारा ही हो सकेगा। इस प्रकार यद्यपि राज्य के सघीय स्वरूप के कारण कनाडा का सविधान नम्य नही कहा जा सकता, तथापि वह आधुनिक सघीय राज्यो के सविधानो मे सभवत कम से कम अनम्य है।

(2) आस्ट्रेलिया की कामनवेल्थ—जैसा कि हम देख चुके है, आस्ट्रेलिया के कॉमनवेल्थ का सविधान पूर्णरूप से सघीकृत राज्य का सविधान है। इसकी स्थापना सन् 1900 के ससद अधिनियम के द्वारा हुई जो सन् 1901 म प्रवर्तित हुआ। यह सघ छह राज्यो (आस्ट्रेलिया द्वीप के पाच खडो और टसमानिया) से बना है, जिसमे से प्रत्येक का सजीव वैयक्तिक अस्तित्व है। उनके अधिकारो की बडी सुनिश्चितता स सुरक्षा की गई है, क्योकि सविधान म सघीय सत्ता की शक्तियो की सूची दी गई है। सघीय सत्ता मे दो सदनो का विधानमडल और उसके प्रति उत्तरदायी एक कार्यपालिका है और वह नाममात्र क लिए मुकुट द्वारा नियुक्त गवर्नर जनरल के अधीन है। सविधान मे अवशिष्ट शक्तियाँ राज्यो के पास छोड दी गई है, जिनमे से प्रत्येक नाममात्र के लिए गवर्नर के अधीन है जिसकी नियुक्ति कॉमनवेल्थ सरकार के द्वारा न होकर मुकुट द्वारा होती है।

सविधान के अतिम अध्याय (8) म सशोधन के साधन बताए गए हैं। सशोधन का प्रस्ताव करनेवाली प्रत्येक विधि दोनो सदनो के द्वारा पारित होने पर प्रत्येक राज्य क प्रतिनिधि-सदन के निर्वाचको के समक्ष उनके मत के लिए प्रस्तुत की जानी चाहिए। अथवा यदि ऐसी कोई विधि एक सदन के द्वारा पारित की गई हो और दूसरे के द्वारा अस्वीकृत की गई हो और पुन उसी सदन क द्वारा

तीन महीना के अवसान के पश्चात अथवा अगले सत्र मे पारित की गई हो तो गवर्नर-जनरल उस सदन के, जो इस पर आपत्ति करता है, सशोधन के सहित या उसके बिना ही उसे जनमत सग्रह के लिए प्रस्तुत कर सकता है। यदि तब वह अधिकाश राज्यो मे निर्वाचको के बहुमत से और मतदान करने वाले समस्त निर्वाचको के बहुमत के द्वारा स्वीकार कर लिया जाता है, तो वह विधि बन जाता है। परन्तु यदि सशोधन म किसी राज्य की सीमाओ के परिवर्तन का या प्रत्येक सदन के सदस्यो के उसके अनुपात मे कमी करने का या सविधान के अधीन उसके पृथक अधिकारो मे किसी किस्म का परिवर्तन करने का प्रस्ताव किया जाता है तो प्रस्तावित सशोधन को, उल्लिखित शर्तों की पूर्ति के अलावा उस विशिष्ट राज्य म मतदान करने वाले निर्वाचको के बहुमत का अनुमोदन भी प्राप्त होना चाहिए।

सन 1900 से अभी तक केवल चौबीस साविधानिक प्रस्ताव जनमत सग्रह के लिये प्रस्तुत किये गये है और उनमे से केवल चार को ही आवश्यक बहुमत प्राप्त हो सका है। सन 1937 और 1946 के बीच तीन बार प्रस्तावित परिवर्तनो को समस्त कामनवेल्थ के जनमत सग्रह मे तो सभी राज्यो को मिलाकर बहुमत प्राप्त हो गया परन्तु वे अस्वीकृत हो गय क्योकि छ राज्यो मे से केवल तीन राज्यो मे ही राज्य का आवश्यक बहुमत प्राप्त हो सका था। इस कारण साविधानिक पुनर्निरीक्षण के लिय सयुक्त समिति (Joint Committee on Constitutional Review) ने, जिसका उल्लेख पहले किया जा चुका है[1] अपनी सन् 1958 की रिपोर्ट मे यह सुझाव दिया (जिसका सन् 1959 की रिपोर्ट मे समर्थन भी किया गया था) कि भविष्य मे यदि जनमत सग्रह मे सभी राज्यो को मिलाकर बहुमत प्रस्तावित सशोधन के पक्ष मे हो तो उसके अनुमोदन के लिय छ मे से केवल तीन (आधे से अधिक नही) राज्यो मे ही बहुमत पर्याप्त होना चाहिये। किन्तु, जैसा पहले बता चुके है, सन् 1962 के अन्त तक सयुक्त समिति की रिपोर्ट पर कोई कार्यवाही नही हो पाई थी। तिस पर भी, यदि प्रस्तावित सुधार अगीकृत भी हो जाता है, ऑस्ट्रेलिया का सविधान ससार के सर्वाधिक अनम्य सविधानो मे से एक बना रहेगा, क्योकि यह केवल सघीय राज्य की मर्यादाओ मे बधा हुआ नही है, अपितु उसका सशोधन जनमत सग्रह के प्रयोग से सुरक्षित है।

6 स्विट्जरलैंड के संविधान की अनम्यता

स्विट्जरलैंड का वर्तमान सविधान, जैसा कि हम कह चुके हैं, सन् 1874 मे अस्तित्व मे आया था। इसके सघीय स्वरूप की हम पहले ही विवेचना कर चुके हैं। यहा पर हमे उसके सशोधन की पद्धति का ही अवलोकन करना है।

---

[1] पृष्ठ 118 देखिये

किए गए, ग्यारहवें और बारहवें संशोधन क्रमशः सन् 1798 और 1804 में अंगीकृत हुए। इन संशोधनों के उपरांत क्रमशः सन् 1865, 1868 और 1870 में दासों के उद्धारविषयक तीन संशोधनों के अंगीकरण के पूर्व तक इकसठ वर्ष बिना संशोधन के व्यतीत हो गए। तब से केवल आठ संशोधन हुए हैं जिनमें पहले दो सन् 1913 में और अंतिम सन् 1961 में हुआ (अनुच्छेद 23 जिसके द्वारा कोलम्बिया क्षेत्र (District of Columbia) के निवासियों को 1964 में राष्ट्रपति के निर्वाचन में मतदान की योग्यता प्राप्त हुई)। इस भांति 170 वर्षों में केवल तेईस सांविधानिक संशोधन पास हुए और उनमें से एक (सन् 1933 इक्कीसवें) ने तो वास्तव में एक पहले के संशोधन (सन् 1918 अठारहवें) को जिसने मद्यनिषेध स्थापित किया था निरसित किया। ये तथ्य सिद्ध करते हैं कि इस संविधान ने जो विद्यमान दस्तावेजी संविधानों में प्राचीनतम है, अनम्यता होते हुए भी उल्लेखनीय लचीलेपन का परिचय दिया है और यह सब मुख्य रूप से सर्वोच्च न्यायालय के निर्णयों के कारण हुआ है जो कि संविधान का व्याख्याकार है। साथ ही उस लम्बी अवधि के दौरान में रिवाजों के विकास के द्वारा भी व्यवहार में कुछ मात्रा में उस सीमा तक परिवर्तन हुआ है जहां तक कि यह संविधान की भाषा से असंगति उत्पन्न किए बिना सम्भव हो सका है। जिस बात पर हम यहां जोर देना चाहते हैं, वह यह है कि संयुक्तराज्य के विधानमंडल (कांग्रेस) के पास सांविधानिक संशोधनों को अपनी ओर से पारित करने की शक्ति नहीं है, वह केवल संविधान में निर्धारित संशोधन-यंत्र को चालित करने के एक तरीके के रूप में संशोधनों का केवल प्रस्ताव कर सकता है।

इस अतिशय अनम्यता के लिए संविधान की स्थापना का इतिहास उत्तरदायी है। सन् 1775 तक आज के संयुक्तराज्य के पूर्वी समुद्री तट पर बहुत-से पृथक् ब्रिटिश उपनिवेश थे जिनमें से प्राचीनतम उपनिवेश भी 170 वर्ष से अधिक पुराना नहीं था। उन सबकी राजनीतिक संस्थाओं में न्यूनाधिक मात्रा में अपने मूल प्रदेश से, जो उन्हें ऐसे बन्धन में जकड़े हुए था जिसे वे अन्त में असहनीय आर्थिक बन्धन समझने लगे थे, सम्बन्ध विच्छेद करने की प्रवृत्ति थी। इन 13 उपनिवेशों में कोई एक-से राजनीतिक हित नहीं थे। उन्होंने पृथक् रहकर ही अपनी-अपनी संस्थाओं का विकास किया था, हालांकि उनमें आर्थिक एकता की ओर एक अस्पष्ट प्रगति विद्यमान थी। ग्रेट ब्रिटेन के विरुद्ध हथियार उठाने में मैत्री करने के लिए जिस बात ने उन्हें प्रेरित किया वह एकता के लिए कोई निश्चयात्मक प्रवृत्ति नहीं थी बल्कि एक असहनीय बाह्य आधिपत्य से मुक्ति प्राप्त करने की निषेधात्मक प्रेरणा थी। युद्ध छिड़ने के उपरान्त के वर्ष में स्वाधीनता की घोषणा में यह बात बड़ी स्पष्टता के साथ प्रकट होती है। इस घोषणा में कहा गया है, "ये संयुक्त उपनिवेश स्वतन्त्र और स्वाधीन राज्य हैं, और अधिकारस्वरूप उन्हें

ऐसा ही होना चाहिए।" इसमे सामान्य सरकार से सम्बन्ध रखने वाला कोई भी शब्द नहीं है, *और जब सन 1781 में युद्ध वास्तविक रूप से समाप्त हो गया,* तब एक लम्बा आन्तरिक सघर्ष इस विषय पर छिड गया कि सघीय के सविधान का कौन-सा रूप होना चाहिए। यह एक ऐसा सघर्ष था जो सन् 1783 की सधि के पश्चात भी, जिसके द्वारा अमरीकियों को उनकी स्वतन्त्रता और प्रभुता औपचारिक रूप से प्राप्त हुई जारी रहा।

सन 1781 के कॉनफेडरेशन के अनुच्छेद, जिनके अधीन सयुक्तराज्य अगले आठ वर्ष तक शासित रहे, सार-रूप मे "अन्तर्राष्ट्रीय अभिसमय से शायद ही कुछ अधिक थे और कॉनफेडरेशन को केन्द्रीय सत्ता की अपनी खुद की कोई प्रभावकारी इच्छा नही थी। अपनी वैयक्तिक स्वतन्त्रता के प्रति राज्यो के मोह के कारण वे किसी भी केन्द्रीय सत्ता को ऐसी कार्यपालिकाशक्ति प्रदान करने से डरते थे जो *उन्हें अन्तत अपने समस्त अधिकारो से वचित कर देती। अन्त मे, मई सन् 1787* मे फिलाडेल्फिया मे एक सम्मेलन बुलाया गया जिसने एक ऐसे सविधान का निर्माण किया जो "सृजन की अपेक्षा चयन का परिणाम था।" यह बात प्रस्तावना मे पर्याप्त रूप से स्पष्ट है, इसमे कहा गया है —

"हम सयुक्तराज्य के लोग अधिक पूर्ण सघ बनाने, न्याय की स्थापना करने, *आन्तरिक शान्ति सुनिश्चित करने, सामान्य रक्षा की व्यवस्था करने, सामान्य* कल्याण का वर्द्धन करने और अपने तथा अपनी भावी पीढ़ियो के लिए स्वतन्त्रता का वरदान सुरक्षित करने के निमित्त, सयुक्तराज्य अमरीका के लिए इस सविधान को आदिष्ट तथा स्थापित करते है।"

इसका प्राथमिक उद्देश्य राज्यों के अधिकारो की सुरक्षा और इसके साथ ही *सयुक्त कार्यवाही के लाभ प्राप्त करना था। इस हेतु यह सविधान,* जो सन् 1789 मे प्रभावी हुआ, सावधानी के साथ उन शक्तियों को परिगणित करता है जिनका प्रयोग सामान्य अर्थात सघीय सत्ता द्वारा किया जा सकता है। जिन शक्तियो का वर्णन नही है, वे राज्यो के पास रह जाती हैं। उसमे शासन के तीन प्रमुख विभागो की स्थापना हुई, जो ये हैं —

(1) **कार्यपालिका**—राष्ट्रपति, जिसका निर्वाचन निश्चित रूप से निर्धारित नियमो के अनुसार चार वर्षों के लिए होता है।

(2) **विधानमडल**—सिनेट और प्रतिनिधि-सदन नाम के दो सदनो से निर्मित काग्रेस (महासभा)।

(3) **न्यायपालिका**—न्यायाधीशो का एक सर्वोच्च न्यायालय जिसे शासन के इस उपकरण (सविधान) के निर्वाचन की शक्ति दी गई है।

यह एक समझौता था जिसे राज्यो ने इस कारण स्वीकार कर लिया कि इसके द्वारा समस्त राज्यो को, उनके क्षेत्रफल तथा जनसख्या का लिहाज किए

छिना, सिनेट मे समान प्रतिनिधित्व अर्थात् प्रत्येक राज्य के लिए दो प्रतिनिधियों की गारटी प्राप्त है, जब कि प्रतिनिधि-सदन में विभिन्न राज्यों के सदस्यों की सख्या उनकी जनसख्या के अनुपात में रखी गई है। वह महान् शक्ति जिसका राज्यों ने त्याग किया—सधि तथा युद्ध करने का अधिकार—सक्षेप में, राजनयिक शक्ति थी। परन्तु जहा युद्ध की घोषणा का सम्पूर्ण काग्रेस द्वारा अनुमोदन होना चाहिए वहा सधि करने के लिए सिनेट का, अर्थात् उस सदन का जिसमें सब राज्यों का समान प्रतिनिधित्व है, अनुसमर्थन आवश्यक है। काग्रेस को कौन-कौन-सी शक्तिया प्राप्त है इसके स्पष्ट निरूपण के बाद सविधान मे इनके ब्योरों का कोई उल्लेख नहीं मिलता। उसका सबध इतनी बात से ही है कि वे क्या करे, न कि वे उसे कैसे करेगे। सविधान केवल इस प्रणाली के महान् आधारो को ही प्रस्तुत करता है, परतु इस दिशा में वह पूर्ण है और दुरुपयोग से सुरक्षित भी है, क्योंकि उसमें सविधान को सशोधित करने के साधनों को निश्चित तथा स्पष्ट रूप से निर्धारित कर दिया गया है।

सशोधन दो तरीको मे से किसी एक से प्रस्तावित किए जा सकते है (क) या तो काग्रेस के प्रत्येक सदन के समस्त सदस्यो (मात्र उपस्थित सदस्य नही) के दो-तिहाई सदस्य सहमत हो कि कुछ सशोधन आवश्यक हैं, या (ख) काग्रेस, दो-तिहाई राज्यों के विधानमडलों द्वारा सशोधनों के लिए प्रार्थना किए जाने पर, उन पर विचार करने के लिए एक विशेष सम्मेलन आमंत्रित करेगी। *यह ध्यान रखना चाहिए कि इन शर्तों का सम्बन्ध केवल सशोधनो के प्रस्तावो से ही है। सशोधनों का इस भाति प्रस्ताव हो जाने पर उन पर राज्यों के तीन-चौथाई का सहमत होना आवश्यक है। ऐसा अनुसमर्थन प्राप्त होने पर सशोधन सविधान का अग बन जाता है।*

इस प्रकार अमरीकी सघ मे सविधीय विधि तथा सविधान विधि के बीच एक अत्यन्त निश्चित भेद है। सविधान विधि की यह विशिष्ट प्रक्रिया बडी जटिल है, उसे चालित करना कठिन है, और उसे सफल परिणाम तक ले जाना तो और भी कठिन है। राज्यों की सख्या, जो कि प्रारम्भ मे तेरह थी, बढकर आज पचास हो गई है। अत समय की गति ने और सयुक्तराज्य की विस्मयकारी वृद्धि ने सशोधन को और भी अधिक कठिन बना दिया है, क्योंकि आज कोई भी सशोधन 38 राज्यों की सहमति के बिना नही किया जा सकता है। परन्तु अमरीकी लोगों के सामने, जैसा कि हम देख चुके हैं, अपने पृथक्-पृथक् राज्यों मे, जिनमे प्रत्येक का अपना सविधान है, अपने राजनीतिक क्रियाकलाप के लिए सविधान मे निर्धारित द्वारो के अतिरिक्त अन्य द्वार भी खुले हुए हैं।

8 जर्मन संविधानों की अनम्यता

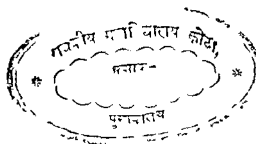
सन् 1949 मे पश्चिमी जर्मनी मे सविधानी शासन की पुन स्थापना हो जाने के कारण इस अध्याय के उपसहार के रूप मे वर्तमान सघीय गणतन्त्र पर

दृष्टिपात करने के पहले-पहले के सविधानो के अनन्य स्वरूप की ओर सकेत करना लाभदायक होगा। वेमर गणतत्र का सविधान, जैसा हम देख चुके हैं, सन् 1919 मे प्रख्यापित हुआ था। सम्पूर्ण जर्मनी मे राजतत्र के उन्मूलन के अलावा गणतत्रीय सविधान जर्मन साम्राज्य के, जिसे प्रथम विश्वयुद्ध ने पलट दिया, सविधान से कई बातो मे भिन्न था। जर्मन साम्राज्य मे, जिसकी स्थापना फ्रास-प्रशा युद्ध की समाप्ति पर सन 1871 मे हुई थी, सविधान का सघवत स्वरूप, उच्च सदन या बडेस्राट म सबसे अधिक स्पष्ट था। उच्च सदन, जैसा कि हम देख चुके है, वास्तव मे ऐसे विभिन्न राज्यो से जिनका उस सभा मे अ-समान रूप से प्रतिनिधित्व था, आए हुए राजदूतो का सदन था। उसमे सत्रह छोटे राज्यो का एक-एक सदस्य था। कोई भी प्रस्तावित सावैधानिक सशोधन उच्च सदन मे चौदह मतो से अस्वीकार किया जा सकता था। इस भाति इन छोटे राज्यो के प्रतिनिधि (अथवा दूत) मिलकर किसी भी ऐसे परिवर्तन को रोक सकते थे जो साम्राज्य मे उनकी स्थिति के लिए हानिकारी हो सकता था, अथवा प्रशा ही, जिसके अपने सत्रह स्थान थे, किसी ऐसे परिवर्तन को रोक सकता था।

जर्मनी मे प्रथम विश्वयुद्ध के पश्चात् परिस्थिति बिलकुल ही भिन्न थी क्योकि राइखस्टाग अर्थात् अवर सदन, का ऐसा वास्तविक अस्तित्व और बल था जो पूर्व म उसे प्राप्त नही था, क्योकि पुराने साम्राज्यिक सविधान के अधीन किसी भी सावैधानिक सशोधन पर राइखस्टाग विचार नही कर सकती थी। सशोधन की पद्धति (वेमर सविधान के अनुच्छेद 76 के अनुसार) निम्न प्रकार की थी। इसमे कहा गया है कि सविधान मे अधिनियमन द्वारा परिवर्तन किया जा सकता है, परन्तु तभी जब कि सशोधन राइखस्टाग की गणपूर्ति अर्थात् दो-तिहाई सदस्यो के दो-तिहाई बहुमत से और राइखस्राट (पहले का बडेस्राट) मे डाले गए मतो के दो-तिहाई बहुमत से पारित कर दिया जाए। इसके अतिरिक्त यदि मतदान करने वालो का दशमाश जनता के सामने प्रस्तुत करने के लिये स्वय ही सशोधन का प्रस्ताव करता तो उसे उसके समक्ष प्रस्तुत करना पडता था और मतदाताओ का बहुमत उसके पक्ष या विपक्ष मे निश्चय कर सकता था। यदि राइखस्राट मे आवश्यक बहुमत नही हो पाता और वह दो सप्ताह के भीतर सशोधन को जनता के समक्ष प्रस्तुत करने की माग करता, तो सशोधन को वर्णित रीति से जनता के अनुमोदन के लिए प्रस्तुत करना पडता था।

इस भाति वेमर सविधान के अधीन जर्मनी मे सशोधन जनमत सग्रह के बिना साधारण विधायी पद्धतियो द्वारा सदनो मे बहुमतविषयक कतिपय निर्बन्धनो के अधीन पारित किया जा सकता था, परन्तु या तो उच्च सदन या जनता क्रमश समय और सख्या के निर्बन्धनो के अधीन जनमत सग्रह की प्रक्रिया को चालू कर सकते थे।

सघीय गणतत्र का सविधान भी, जो प्राविधिक दृष्टि से मूल विधि कहलाता है और जिसके अधीन पश्चिमी जर्मनी पर सन् 1949 से शासन हो रहा है, ससदीय दृष्टिकोण से उतना ही अनम्य है क्योकि इसमे भी सशोधन के लिए दोनो सदनो मे दो-तिहाई मतो की आवश्यकता है, यद्यपि इसमे सामान्य सशोधन प्रक्रिया के सम्बन्ध मे जनमत सग्रह के उपयोग के लिए कोई निर्देश नही है। यह सविधान केवल ऐसी विधि द्वारा ही सशोधित हो सकता है जो कि मूल विधि के पाठ को स्पष्ट रूप से बदलता या वर्द्धित करता हो परन्तु उसमे ऐसे किसी सशोधन की गुजायश नही है जो कि सघ के लैडर (राज्यो) मे सगठन को, अधिनियमन मे लैडर (राज्यो) के मूल सहयोग को या सविधान मे निर्धारित मानव अधिकारो से सम्बन्धित मूल सिद्धातो को और गणराज्य के लोकतत्रात्मक, सामाजिक और सघीय स्वरूप को प्रभावित करता हो। अधिकार-सविधि (Occupation Statute) अनुच्छेद 5 के द्वारा एक और निबन्धन अधिरोपित किया गया था, जिसमे मूलविधि मे किसी भी सशोधन के लिए अधिकारी शक्तियो की स्पष्ट सम्मति की आवश्यकता अनिवार्य रखी गई थी। परन्तु यह निबन्धन अपने आप ही सन् 1955 मे समाप्त हो गया जब पश्चिमी जर्मनी को पूर्ण प्रभुत्व के अधिकार पुन प्राप्त हो गये।



8

विधानमंडल

1 मताधिकार और निर्वाचन-क्षेत्र

1 विषय-प्रवेश

हम प्रथम अध्याय मे बता चुके है कि शासन के कृत्य विधायक कार्यपालक और न्यायपालक अर्थात् क्रमश विधियो के निर्माण, उन्हे कार्यान्वित करने, और निर्माण के पश्चात् उनके प्रवर्तन से सबधित तीन विभागो मे विभाजित किए जाने चाहिए। आधुनिक शासन मे विधिनिर्माण के कार्य का महत्व लोकतत्र की प्रगति के अनुपात मे बहुत अधिक बढ गया है। विधिनिर्माण, जिस रूप मे हम उसे आज समझते हैं, वास्तव मे अपेक्षाकृत नवीन वस्तु है। प्रारभ के राजनीतिक समाज म विधायी और कार्यपालिका-सबधी कामो मे कोई अन्तर नही था। शासन जिन विधियो को आवश्यक समझता था उनकी घोषणा करता था और उनका क्रियान्वित करता था। उदाहरण के तौर पर, ब्रिटेन मे ससद् के प्रारभिक दिनो मे उसका निर्वाचित अश अर्थात् लोक-सदन विधिनिर्माण के कर्तव्य को टालने का प्रयत्न करता था और उसे वास्तविक रूप मे राजा और उसकी परिषद् के हाथो मे छोड देना चाहता था जो कि उसे सदा से करते आए थे। जैसा हम पहले बता चुके हैं, लोक-सदन का प्रारभिक काम विधिनिर्माण नही बल्कि धन का अनुदान था। किन्तु विधिनिर्माण की आधुनिक धारणा ने, जो जन-समूह की, जिसके सामूहिक हित मे आजकल अधिकतर विधियाँ पारित की जाती हैं, बढती हुई राजनीतिक चेतना से पैदा होती है, विधिनिर्माण करने वाली सस्था को एक बिलकुल ही नया जनतात्रिक महत्व प्रदान कर दिया है और इसके साथ ही यह प्रश्न भी उपस्थित कर दिया है कि उस सस्था मे नागरिको की सक्रिय सम्मति के साथ काम कराने का सर्वोत्तम उपाय क्या होगा। अत आधुनिक विधानमडलो के अध्ययन के अन्तर्गत उनके निर्वाचन की पद्धतियो, द्वितीय सदनो के स्वरूप एव उनकी शक्तियो मे तथा विधान-कार्य पर कुछ राज्यो मे प्रयोग मे आने वाले प्रत्यक्षलोक-नियत्रणो का अध्ययन भी अपेक्षित है। इस अध्याय मे हम आधुनिक निर्वाचन-प्रणालियो का मताधिकार और निर्वाचन-क्षेत्र इन दो बातो के दृष्टिकोण से अध्ययन करेंगे।

2 राजनीतिक लोकतंत्र का विकास

लोकतंत्र से हमारा तात्पर्य "शासन के उस स्वरूप से है जिसमे राज्य की शासन-शक्ति वैध रूप से समस्त समुदाय के सदस्यो मे, न कि किसी विशिष्ट वर्ग या वर्गों मे, निहित होती है।' निर्वाचनसबधी प्रश्नो के अध्ययन के प्रारभ मे ही इस तथ्य पर जोर देना आवश्यक है क्योकि कभी-कभी लोकतंत्र को 'वर्गों के विपरीत जनता' का शासन समझा जाता है। वास्तव मे यूनानी भाषा के शब्द 'डिमास' का, जिससे 'डिमॉक्रेसी' (लोकतंत्र) शब्द की व्युत्पत्ति हुई है, प्रयोग यूनानियो द्वारा समष्टि रूप मे जनता का नही, बल्कि 'अल्पजन' से भिन्न 'बहुजन' का, वर्णन करने मे किया जाता था और, जैसा हम पहले बता चुके हैं, अरस्तू ने लोकतंत्र को गरीबो के शासन के रूप मे परिभाषित किया है, क्योकि अनिवार्यत गरीब ही बहुसख्यक वर्ग मे होते थे। किन्तु यहा पर हम 'लोकतंत्र' शब्द का प्रयोग सपूर्ण समुदाय की बहुसख्या के शासन के अर्थ मे करते है, जिसके अन्तर्गत 'वर्ग' और 'बहुजन' (यदि ऐसा अन्तर अब भी कोई अर्थ रखता है) दोनो है। क्योकि हम यह निर्धारित करने के लिए कि किसी राजनीतिक समाज की, जिसमे सब लोगो का एकमत नही है, इच्छा क्या मानी जा सकती है अभी तक केवल इसी पद्धति का खोज पाये है। यह इच्छा प्रतिनिधियो के निर्वाचन के द्वारा अभिव्यक्त की जाती है। इस लोकतत्रात्मक पद्धति का विकास आधुनिक काल मे राष्ट्रीय राज्य की परिधि के अन्दर हुआ है जिसमे प्रतिनिधिक-प्रणाली की आवश्यकता उत्पन्न हुई है। तात्पर्य यह है कि लोकतंत्र की प्रगति मताधिकार के निरन्तर विस्तार से और निर्वाचन-क्षेत्रो के आकार-प्रकार और वितरण के सबध मे इस आशा से किए गए अनेक प्रयोगो के द्वारा हुई है कि निर्वाचको के मत का सर्वाधिक प्रतिनिधित्व करने वाले विधानमडल की रचना हो सके।

यह विकास बिलकुल ही आधुनिक है क्योकि यद्यपि प्राचीन काल मे लोकतंत्र विद्यमान थे—विशेषकर यूनान मे और कुछ हद तक रोम के गणराज्य मे भी—किन्तु आधुनिक काल की लोकतत्रात्मक प्रवृत्ति का निरूपण करने वाले तत्त्व उस समय विद्यमान नही थे। सक्षेप मे, ये तत्त्व धार्मिक विचार, अमूर्त्त सिद्धात, समानता का समर्थन करने वाली सामाजिक और राजनीतिक अवस्थाए और कुशासन के प्रति असन्तोष है। जहां तक इनमे से कोई भी बात, प्राचीन काल मे विद्यमान थी, वह आधुनिक युग के कारणो से बिलकुल भिन्न कारणो से उत्पन्न हुई थी। इस सबध मे मध्ययुग के बारे मे कहा जा सकता है कि इटली के कुछ मध्ययुगीन नगरो मे समानता के कुछ धुधले प्रयत्नो को छोडकर उस युग मे कही भी लोकतत्रीय राजनीति मे किसी भी प्रकार की अभिरुचि नही थी। यह परिस्थिति पुनरुत्थान तक बनी रही जिसके फलस्वरूप आधुनिक युग का आरम्भ

हुआ। ध्यान रहे कि लोकतंत्र और ऐसे गणतन्त्रीय उत्साह को एक ही बात नहीं समझना चाहिए, जैसा उत्साह स्विट्ज़रलैंड के कानफेडरेशन के प्रारंभिक दिनों में, या 14 वीं तथा 15 वीं शताब्दियों में, ब्रिटेन में राजा की थैली भरने में सहायता देने के लिए संसद में साधारण जनता के कुछ लोगों को शामिल करते समय देखा गया था, क्योंकि ऐसी बातें तो कुलीनतन्त्र और निरंकुशतन्त्र में भी आसानी से हो सकती हैं।

धर्मसुधार आन्दोलन के पश्चात् ही धार्मिक विचार राजनीतिक अधिकारों के प्रतिपादन में प्रयुक्त होने लगे, क्योंकि धार्मिक स्वतन्त्रता प्राप्त करने का एकमात्र साधन राजनीतिक अधिकार ही समझे जाने लगे। इसका सर्वोत्तम उदाहरण ब्रिटेन में स्टुअर्ट काल में राजा के साथ हुए संघर्ष में मिलता है। धार्मिक अधिकारों के उपभोग के प्रयत्न से ही न्यू इंगलैंड उपनिवेशों की स्थापना हुई और चार्ल्स प्रथम के शासनकाल का गृहयुद्ध उतना ही राजनीतिक सिद्धान्तों का युद्ध भी था जितना वह धार्मिक सिद्धान्तों का युद्ध था। अठारहवीं शताब्दी के इतिहास में अमूर्त सिद्धान्त ने महत्वपूर्ण योग दिया जिसके प्रमाण अमरीकी और फ्रांसीसी क्रांतियों के दस्तावेज हैं। स्वतन्त्रता की घोषणा तथा मानव के अधिकारों की घोषणा के रचयिता जब यह प्रतिपादित कर रहे थे कि सब मनुष्य जन्म से स्वतन्त्र और समान हैं तब वे प्राचीन काल के ईसाई सन्तों की तरह ईश्वर की दृष्टि में सब मनुष्यों की समानता का अभिव्यंजन मात्र न करते हुए वास्तव में व्यावहारिक राजनीति के भवन की नींव डालने का प्रयत्न कर रहे थे। समानता के सिद्धान्त का मताधिकार पर बड़ा प्रबल प्रभाव पड़ा, क्योंकि उसका सर्वाधिक स्पष्ट प्रयोग 'एक व्यक्ति, एक मत' के आदर्श की प्राप्ति के प्रयास में किया गया था।

उन्नीसवीं शताब्दी में भौतिक परिस्थितियों में सुधार और जन-शिक्षा की प्रगति के फलस्वरूप सामान्य स्थिति मताधिकार के विस्तार के अनुकूल हो गई। पाश्चात्य उदारवाद की यह मान्यता थी कि "नागरिकों का सिद्धान्तरूप में निर्दोष समाज विद्यमान है जिसके सदस्यों के बीच मतदान के संबंध में कोई भेदभाव नहीं हो सकता।" इसके अतिरिक्त, संसदीय प्रणाली स्वयं भी निर्वाचकों के क्षेत्र को बढ़ाने की ओर अग्रसर हो रही थी, क्योंकि राजनेता, समर्थकों की अधिकाधिक संख्या का प्रतिनिधित्व करने के इच्छुक थे। उदाहरणार्थ, डिजरेली के सन् 1867 के सुधार विधेयक तक के पक्ष में कोई विशेष जन-आन्दोलन नहीं हुआ जिसे स्वयं डिजरेली के दल ने ही 'अंधेरे में छलांग' कहा था, किन्तु राजनीतिक स्थिति और सामाजिक वातावरण ने 'निवासी मत' (Lodger vote) की स्थापना को समयोचित बना दिया था। अन्त में, कुशासन के प्रति असन्तोष भी सदा ही मताधिकार के विस्तार का एक फलदायक आधार रहा है। यह सच है कि मताधिकार-विस्तार से सदा ही वह अवस्था पैदा नहीं हुई जिसका अभाव उसके

समर्थको को खटकता था, किन्तु एक बार ससद् का मन प्राप्त होने पर, जहा कि शिकायतें प्रकाश मे लाई जा सकती थी, (क्रातिकारियो से भिन्न) राजनीतिक सुधारवादियो की दृष्टि अपने समाज की परिस्थितियो को सुधारने के साधन के रूप मे, सदा अनिवार्यत निर्वाचनसबधी सुधार की ओर ही रही है। सन् 1837 से 1848 तक ब्रिटेन मे चार्टिस्टो, एकीकरण से पूर्व इटालियनो, जार-कालीन रूस मे उदारवादियो और प्रथम विश्वयुद्ध से पूर्व के दिनो मे आस्ट्रो-हगेरियन साम्राज्य के पीडित अल्पसख्यको ने ऐसा ही किया था।

अत समस्त विद्यमान सविधानी राज्यो का विशिष्ट लक्षण बडा व्यापक मताधिकार है। पुराने राज्यो ने निर्वाचनसबधी सुधार किए है जिनके फलस्वरूप वयस्क अथवा पुरुष मताधिकार स्थापित हो गया है और नए राज्यो मे से लगभग सभी ने अपने सविधानो मे किसी प्रकार के लिंगभेद के बिना सार्वलौकिक मताधिकार प्रदान करने वाली धारा सम्मिलित की है। इस प्रगति के साथ, प्रथम विश्वयुद्ध के पश्चात निर्वाचन-क्षेत्रो से सबधित समस्याए पैदा हुई। औद्योगिक प्रगति से और अब तक प्रतिनिधित्व से वचित क्षेत्रो मे बसे हुए लोगो को मताधिकार प्राप्त होने से उत्पन्न ससद् के स्थानो के पुनर्वितरण के प्रश्न के अतिरिक्त इन परिवर्तनो से उत्पन्न नए अल्पसख्यक वर्गों के उदय से एक नई समस्या भी पैदा हो गई है। इन वर्गों ने ऐसे सुधारो की माग की है जिनसे निर्वाचित सभा या सभाओ मे उनकी आवाज को भी सुन जाने का आश्वासन प्राप्त हो। इस प्रश्न की उग्रता का अन्दाज किसी ऐसे राज्य के, जिसमे इस प्रकार का सुधार नही हुआ है, किसी भी निर्वाचन के परिणामो मे मतो और स्थानो के तुलनात्मक आकडो को देखने से लगाया जा सकता है। इस समस्या को तुरन्त सुलझाने की आवश्यकता का अनुभव करते हुए बहुत-से राज्यो ने निर्वाचन-क्षेत्र सबधी सुधार किए है और अन्य राज्यो मे अभी केवल इस दोष को जिसे सभी लोग प्रतिनिधिक प्रणाली की कमजोरी स्वीकार करते है, दूर करने के सम्भव उपाय खोजने के प्रयत्न हो रहे हैं।

3 मताधिकार और तत्सम्बन्धी अन्य प्रश्न

मताधिकार की दृष्टि से हम यह कह सकते हैं कि राज्य दो वर्गों मे अर्थात् सशर्त वयस्क-मताधिकार वाले और लिंगभेद के बिना वयस्क-मताधिकार वाले राज्यो मे विभाजित किए जा सकते है, हालाकि इस निरपेक्ष विभाजन को सशोधित करना कभी-कभी आवश्यक हो जाता है। कुछ समय पूर्व तक कुछ राज्यो मे पुरुष-मतदाताओं के लिए भी कतिपय अर्हताए आवश्यक होती थी और कुछ अन्य राज्यो मे, जिन्होने पुरुषो को प्रतिबन्ध रहित मताधिकार प्रदान किया था, केवल ऐसी स्त्रियो को, जो कुछ शर्तें पूरी करती थी, मताधिकार प्राप्त था। कुछ और राज्यो

के विरुद्ध कोई किसगत दलील दिखाई नही देती। वास्तव मे स्त्रियो का मताधिकार तो लोकतंत्र के तर्क मे निहित है और उसे फ्रासीसियो ने चतुर्थ गणराज्य के सविधान मे स्वीकार कर लिया और उसे पचम गणतत्र के सविधान मे भी मान्य किया है। सक्षेप मे 'मनुष्य के अधिकारो और मानव जाति के अधिकारो के बीच विभेद करना कठिन है। योरोप के बाहर केवल पुरुष-मताधिकार वाले सविधानी राज्यो की सख्या वयस्क मताधिकार वाले राज्यो से कम है। ब्रिटेन की सभी स्वशासित डामिनियनो मे स्त्रियो को मताधिकार प्राप्त हैं।

मताधिकार की आयु अलग अलग राज्यो मे अलग-अलग है। अधिकाश राज्यो मे, जैसे, उदाहरणार्थ ब्रिटेन, यूनाइटेड स्टेटस फ्रान्स इटली डेनमार्क और नार्वे मे वह इक्कीस वर्ष है दक्षिणी अफ्रीका (1960 से) सोवियत रूस और यूगोस्लाविया मे अठारह तथा स्विटजरलैंड और जापान मे बीस वर्ष। कुछ राज्य मतदान को अनिवार्य बनाते हैं या बनाने का प्रयत्न करते हैं, परन्तु यह चाल व्यापक रूप मे प्रचलित नही है। गुप्त मतदान, कम से कम सिद्धान्त रूप मे, सभी सविधानी राज्यो मे मान्य है। इस सम्बन्ध मे इतिहास की दृष्टि से रोचक बात यह है कि ग्रेट ब्रिटेनमे, 1948 तक, जब कि विश्वविद्यालयो के स्थान समाप्त कर दिये गये, विश्वविद्यालय के स्नातको को अपने मतपत्र पर हस्ताक्षर करने पडते थे और उन पर साक्षी के भी हस्ताक्षर आवश्यक थ।

वयस्क मताधिकार वाले राज्यो मे ब्रिटेन, सन् 1918 और 1928 के दौरान मे, बीच की स्थिति मे था। सन् 1832, 1867 और 1884-85 मे किए गए निर्वाचनसबधी सुधारो के द्वारा पुरुष-मताधिकार की प्रणाली का आरम्भ किया गया, किन्तु इनके अन्तर्गत अर्हताओ की विभिन्नता थी जो सन् 1918 मे जन-प्रतिनिधित्व अधिनियम द्वारा समाप्त कर दी गई। इस अधिनियम से ससदीय मताधिकार इक्कीस वर्ष की आयु के प्रत्येक ऐसे पुरुष को प्राप्त हो गया जिसमे कोई वैध अनर्हता न हो, जो किसी निर्वाचन-क्षेत्र मे छह महीने तक रह चुका हो या जो कम-से-कम दस पौंड वार्षिक मूल्य की भूमि या स्थान पर कब्जा रखता हो। इसी अधिनियम के द्वारा स्त्रियो के मताधिकार के सिद्धान्त को भी व्यापक मान्यता प्राप्त हुई, हालाकि यह मान्यता सम्पूर्ण नही थी। तीस वर्ष से अधिक आयु वाली स्त्रियो को, यदि वे निर्वाचको की पत्नियो के रूप मे या पाच पौंड वार्षिक मूल्य की भूमि या स्थान मे दखलकार के रूप मे स्थानीय शासन के लिए निर्वाचक हो, ससदीय मताधिकार प्रदान किया गया। दूसरे शब्दो मे, इस अधिनियम ने स्त्रियो के सबध मे 'निवासी मत' के सिद्धान्त को स्वीकार करते हुए भी तीस वर्ष से अधिक की आयुवाली स्त्रियो को निवास मात्र की अर्हता से वचित कर दिया।

सन् 1918 के अधिनियम के अनुसार ऐसे पुरुषो को, जिनका निवास की अर्हता के अतिरिक्त कम-से-कम दस पौंड वार्षिक मूल्य के अन्य स्थान या भूमि

पर स्वामी या किराएदार के रूप में कब्जा हो, और विश्वविद्यालयों के (स्त्री और पुरुष) स्नातकों को छोड़कर सबके लिए बहुल मतदान (Plural voting) समाप्त कर दिया। इन दोनों वर्गों को एक द्वितीय मत प्रदान किया गया किन्तु कोई भी व्यक्ति दो से अधिक मत नहीं दे सकता। इस अधिनियम का सामान्य प्रभाव यह हुआ कि पुरुष-मतदाताओं की संख्या 8,357,000 से बढ़कर 10, 449,820 हो गई और रजिस्टर में 7,831,580 स्त्रियों के नाम जुड़ गए। यह अनुभव किया गया कि यदि स्त्रियों को भी उन्हीं शर्तों पर मताधिकार दे दिया जाए जिन पर पुरुषों को प्राप्त है तो स्त्री-निर्वाचकों की संख्या पुरुषों से कहीं अधिक हो जाएगी और अधिकार-समानता की निरंतर मांग के काफी लंबे समय तक पूरी न किए जाने का शायद यही कारण था। किन्तु प्रथम विश्वयुद्ध से पूर्व, जब कि स्त्री-मताधिकार आंदोलन पूरे जोर पर था, जिस बात का डर समझा जाता था अब वह डर नहीं रहा। डर इस बात का था कि यदि यह सुधार किया गया तो संसदीय प्रणाली में उथल-पुथल हो जाएगी। किन्तु अब यह भय नहीं रहा क्योंकि यह नहीं कहा जा सकता था कि स्त्रियों को आंशिक मताधिकार प्रदान करने का राजनीतिक शक्तियों के सन्तुलन पर कोई बहुत अधिक प्रभाव हुआ है। इस निरंतर मांग को और इसके विरोध में किसी युक्ति के अभाव को देखते हुए ब्रिटिश सरकार ने सन् 1927 में सन् 1918 के अधिनियम को विस्तारित करने की संभावनाओं की जांच गंभीरता के साथ आरम्भ कर दी और साधारणतया यह धारणा हो गई थी कि स्त्रियों और पुरुषों के लिए समान अर्हताएं निर्धारित करके और मताधिकार की तलाशील दो उम्रों के बीच कोई आयु—यथा पच्चीस वर्ष—निश्चित करके समझौते का मार्ग निकाल लिया जाएगा। किन्तु सन् 1928 में एक विधेयक प्रस्तुत किया गया जिसका उद्देश्य स्त्रियों को ठीक उन्हीं शर्तों पर मताधिकार देना था जिन पर पुरुषों को मताधिकार प्राप्त था और यह विधेयक सन् 1929 के साधारण निर्वाचन के लिए अधिनियम भी बन गया। विधेयक को प्रस्तुत करने के समय का यह सुझाव कि समस्त नए मतदाताओं, स्त्रियों और पुरुषों की मतदान आयु पच्चीस वर्ष कर दी जाए, केवल एक संशोधन के रूप में सामने आया और वह सहज ही अस्वीकार हो गया। इस अधिनियम के फलस्वरूप ब्रिटेन में मतदाताओं की कुल संख्या 26,750,000 अर्थात् 12 250,000 पुरुष और 14,500,000 स्त्रियां हो गई।

ब्रिटेन में प्रथम सुधार अधिनियम से लेकर अंतिम सुधार अधिनियम तक, मताधिकार के विस्तार के विकास की, जांच करते हुए हम देखते हैं कि सन् 1832 के सुधार-अधिनियम से पूर्व निर्वाचकों की संख्या 435,391 थी और उस सुधार ने निर्वाचकों के रजिस्टर में 217,386 मतदाताओं के नाम जोड़ दिए। सन् 1867 के अधिनियम के फलस्वरूप विद्यमान निर्वाचकों की 1,056,659 की

संख्या मे 938,427 मतदाता और जुड़ गए। सन् 1884 के अधिनियम ने 1,762,087 नाम और जोड दिए और सन् 1918 मे 13,000,000 नए मतदाता रजिस्टर किए गए। सन 1928 के अधिनियम के अधीन 5,240,000 स्त्रियो को मताधिकार दिया गया। अब इस बात को कहने मे कोई आपत्ति नही होनी चाहिए कि निर्वाचनसबधी सुधार *की कम परम्परागत पद्धतियों से भिन्न केवल मात्र मताधिकार के विस्तार की प्रक्रिया* ब्रिटेन मे उस सीमा तक पहुच चुकी है जहा तक कि सभव है। लोकतत्रीय सुधार के अन्य सम्भव तरीके भी है जिन पर हम बाद मे विचार करेंगे।

ब्रिटेन की ही तरह अमरीका मे भी स्त्रियो को मताधिकार, स्त्रियो द्वारा लम्बे अर्से तक किए गए आन्दोलन के फलस्वरूप, प्रदान किया गया। अमरीका मे सघीय मताधिकार तीन विभिन्न प्रकार के पदो—अर्थात् प्रतिनिधि, सिनेटर और राष्ट्रपति—के निर्वाचनो मे बहुत महत्वपूर्ण हो *गया है*। इन निर्वाचनो *के लिए मूल सविधान ने कोई निश्चित नियम निर्धारित नही किए थे*। प्रतिनिधियो के सबध मे उसमे केवल यही कहा गया था कि वे "विभिन्न राज्यो की जनता द्वारा प्रत्येक दूसरे वर्ष निर्वाचित होगे और प्रत्येक राज्य मे निर्वाचको की अर्हताए वही होगी जो राज्य के विधानमडल की बहुसख्यक शाखा के लिए अपेक्षित होगी।" सिनेट, "प्रत्येक राज्य से दो सिनेटरो से जो कि उसके विधानमडल द्वारा निर्वाचित होगे, गठित" होगी। राष्ट्रपति के निर्वाचन के सबध मे यह व्यवस्था की गई थी कि प्रत्येक राज्य "ऐसी रीति से जैसी कि उसका विधानमडल निर्देशित करे" *आवश्यक सख्या मे निर्वाचको की नियुक्ति करेगा*। स्पष्ट है कि उपर्युक्त तीनो अवस्थाओ मे वरण की पद्धति के ब्यौरे की बातें वैयक्तिक रूप से प्रत्येक राज्य पर छोड दी गई थी। किन्तु सविधान के लागू किए जाने के पश्चात् मे कुछ महत्वपूर्ण परिवर्तन कर दिए गए है जिनका मतदाता पर बडा प्रभाव पडा है। सर्वप्रथम, निर्वाचको को, उस पद के लिए उनकी योग्यता के आधार पर नही बल्कि उम्मीदवार विशेष का समर्थन करने के लिए वचनबद्ध होने के कारण निर्वाचित करने की प्रथा के विकास के साथ, अर्थात् राष्ट्रपति के चुनाव के प्रभावत *जनता का कार्य बन जाने के साथ, मतदान राष्ट्रपति के निर्वाचन का एक महत्व*-पूर्ण अग बन गया। दूसरे, सत्रहवे सावैधानिक सशोधन (सन् 1913) के द्वारा सिनेटरो का लोक-निर्वाचन सब राज्यो के लिए अनिवार्य कर दिया गया। इस सशोधन मे यह भी उल्लेख किया गया कि 'प्रत्येक राज्य मे निर्वाचको की योग्यताए वही होगी जो राज्य-विधानमडल की बहुसख्यक शाखा के निर्वाचको के लिए अपेक्षित है।"

अतएव, सन् 1913 के अत मे अमरीका मे स्थिति यह थी कि जिस व्यक्ति को किसी राज्य मे अवर सदन के निर्वाचन के लिए *मताधिकार था उसको* काग्रेस

क्षेत्रो मे जनसख्या के शीघ्रतापूर्वक घटते-बढते रहने के कारण स्थानो का निरतर पुर्नवितरण आवश्यक रहता था। किन्तु विस्तारशील औद्योगिक युग मे अधिकतर अवस्थाओ मे यह सम्भव नही था कि जनसख्या की अविकल वृद्धि और हेर-फेर के साथ-साथ इस व्यवस्था मे जल्दी-जल्दी पुर्नवितरण किया जा सके। एक-सदस्य निर्वाचन क्षेत्रो मे क्षेत्रिक विभाजन की इस प्रणाली के विरुद्ध केवल यही आपत्ति नही थी। दूसरी और उससे अधिक उग्र, समस्या थी मतदान की ऐसी प्रणाली ढूढना जिससे निर्वाचित प्रतिनिधियो से ऐसी सभा का निर्माण हो सके जिसमे निर्वाचन-क्षेत्र के मत का सतुलन पर्याप्त रूप से प्रतिबिम्बित हो।

एकलसदस्य निर्वाचन क्षेत्र प्रणाली आजकल अपेक्षाकृत कम ही महत्वपूर्ण राज्यो मे प्रचलित है। ऐसे राज्यो के ब्रिटेन न्यूजीलैंड, कनाडा और सयुक्त राज्य उदाहरण है। ब्रिटेन मे एक या दो के सिवाय समस्त निर्वाचन-क्षेत्रो से एक सदस्य निर्वाचित किया जाता है और किसी भी निर्वाचन-क्षेत्र मे दो से अधिक सदस्य निर्वाचित नही किए जाते। सभी पुर्नवितरण अधिनियमो ने इस प्रणाली को बनाए रखा है। उदाहरण के तौर पर, दिसम्बर सन 1910 का लोक-सदन का चुनाव 643 निर्वाचन-क्षेत्रो से हुआ जिनमे से केवल 27 निर्वाचन-क्षेत्रो से (जिनमे तीन विश्वविद्यालय निर्वाचन-क्षेत्र भी सम्मिलित थे) दो-दो सदस्यो का निर्वाचन हुआ। सन 1918, 1928 और 1944 के जन प्रतिनिधित्व अधिनियमो ने इस अवस्था मे कोई मौलिक परिवर्तन नही किया यद्यपि स्थानो की सख्या घटती-बढती रही और सन 1948 के जन प्रतिनिधित्व अधिनियम ने विश्वविद्यालय के स्थानो और बहुल मतदान के अन्य समस्त अवशेषो को समाप्त कर दिया। सयुक्तराज्य मे सिनेट तथा प्रतिनिधि-सदन दोनो के समस्त निर्वाचन-क्षेत्र एकलसदस्य निर्वाचन-क्षेत्र है। अतएव, ये ही वे दो देश है जिनमे निर्वाचन-क्षेत्र सबधी सुधार पर अत्यत बल दिया जाता है, क्योकि इन दोनो मे से किसी के विषय मे यह नही कहा जा सकता कि निर्वाचन-प्रणाली से निर्वाचको के विचारो का पर्याप्त प्रतिनिधित्व प्रतिबिम्बित करने का उद्देश्य प्राप्त हो सका है।

वास्तविकता तो यह है कि इससे कम-से-कम ब्रिटेन मे स्पष्टत बहुत ही विषम परिस्थिति उत्पन्न हो गई है, क्योकि इसके द्वारा यह सुनिश्चित नही हो सका है कि देश का बहुसख्यक दल लोक-सदन मे बहुमत प्राप्त कर सकेगा, जब कि यह सम्भव हो सकता है कि कोई बहुत बडा अल्पसख्यक दल अपर्याप्त प्रतिनिधित्व प्राप्त करे। उदाहरणस्वरूप, सन् 1922 के सामान्य निर्वाचन मे अनुदार दल को 296 स्थान और 5,381,433 मत, मजदूर दल को 138 स्थान और 4 237,490 मत, और उदार दल को 53 स्थान और 2,621,168 मत, प्राप्त हुए। इसका यह अर्थ हुआ कि अनुदार दल को प्रति स्थान के लिए 18,180 मत, मजदूर दल को प्रति स्थान के लिए 30,706 मत, और उदार दल को प्रति

बाद के निर्वाचना मे यही स्थिति रही। मन् 1959 के सामान्य निर्वाचन मे सरकारी दल (अनुदार) को सन् 1955 के निर्वाचन मे प्राप्त मतो से अधिक मत मिले परन्तु कुल मतो का, जिनकी सख्या मे वृद्धि हो गई थी, कम भाग मिला (1955 मे 49 8 प्रतिशत और 1959 मे 49 4 प्रतिशत)। मन् 1959 के निर्वाचन मे जितने मत पड उनके आधे मे भी कम मत प्राप्त करने पर भी सत्तारूढ दल का लाक सभा मे बहुमत 60 स्थाना (1955 मे) से बढकर 100 स्थान (1959 मे) हो गया। उसी 1959 म निर्वाचन मे पार्लामेण्ट के 80 सदस्य (47 अनुदार, 31 मजदूर और 2 उदार) उनके दो या अधिक विरोधियो न जितने मत प्राप्त किय थे उनसे भी कम मत प्राप्त कर निर्वाचित हुए। दूसरे शब्दो मे उस निर्वाचन के परिणामस्वरूप 80 निर्वाचन-क्षेत्रो से वहा के मतदाताओ की अल्पसख्या के प्रतिनिधि निर्वाचित हुए थे।[1] अन्त मे 1964 के सामान्य निर्वाचन मे मजदूर दल न 12 205,576 मत स 317 स्थान प्राप्त किये और अनुदार दल न 12,002,407 मत से 303 स्थान परन्तु उदार दल को 30,93,316 मत प्राप्त हाने हुए भी केवल 9 स्थान मिले।

कनाडा और न्यूजीलैंड मे भी इसी प्रकार के उदाहरण मिलते है। कनाडा मे 1949 के सामान्य निर्वाचन म उदार दल को कुल डाले गय मता के आधे मत मिले परन्तु उसने 73 5 प्रतिशत स्थान प्राप्त किये जब कि अनुदार दल को 30 प्रतिशत मत प्राप्त करने पर भी केवल 15 5 प्रतिशत स्थान ही मिल सके। सन् 1958 मे स्थिति उलट गई। उस वर्ष अनुदार दल ने 54 प्रतिशत मतो पर 79 प्रतिशत स्थान प्राप्त किये जब कि उदार दल को 33 प्रतिशत मतो पर केवल 18 प्रतिशत स्थान मिले। न्यूजीलैंड मे द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद के एक सामान्य निर्वाचन मे, जिसमे दोनो प्रमुख दलो ने मिलकर 99 प्रतिशत प्राप्त किये थे, एक दल (नेशनलिस्ट) को 54 प्रतिशत प्राप्त हुए थे पर उसे 63 प्रतिशत स्थान मिले थे।[2]

सयुक्त राज्य मे द्विवर्षीय काग्रेसी निर्वाचनो मे डाले गये मतो और प्राप्त हुए स्थानो के बीच विषमता उतनी नही है जितनी यूनाइटेड किंगडम मे लोक सभा के निर्वाचनो मे दिखाई देती है। परन्तु दोनो देशो मे, निर्वाचन के सम्बन्ध मे एक बात समान रूप से विद्यमान है, दोनो ही देशो मे कुछ क्षेत्रो के निर्वाचन-क्षेत्रो मे मतदाताओ के ऐसे सुदृढ समूह हैं जिनकी दलनिष्ठा कभी नही बदलती।

1. ये अक लन्दन की इलेक्टोरल रिफॉर्म सोसायटी द्वारा प्रकाशित एक पत्रिका से लिये गये हैं।

2 ये अक Lakeman and Lambert *Voting in Democracies* लिये से गये हैं।

दोनो देशो मे हर निर्वाचन मे ये समूह सफल रहते हैं और इस तरह बड़े विस्तृत क्षेत्रो मे दूसरे निर्वाचको को अपने प्रतिनिधि चुनने की आशा नही रहती। निर्वाचन-पद्धति का यह प्रभाव संयुक्त राज्य मे अधिक स्पष्ट है जहाँ 'ठोस दक्षिण' (Solid South) एक लोकतन्त्रीय गढ है और उत्तर मे भी ऐसे बड़े-बड़े क्षेत्र हैं जहाँ गणतन्त्रीय दल का एकाधिकार भी उतना ही मजबूत है।

दोनो देशो मे सभी दल इस प्रणाली से उत्पन्न अन्यायो के प्रति जागरूक हैं किन्तु उन्हें किस प्रकार दूर किया जाए यह प्रश्न विवादास्पद है। सन् 1909-10 मे इगलैंड मे 'निर्वाचन-सुधार पर एक राजकीय आयोग' ने इस प्रश्न पर विचार किया किन्तु परिवर्तन के लिए उसने जो एकमात्र व्यावहारिक सिफारिश प्रस्तुत की थी वह अंगीकार नही की गई। तत्पश्चात् सन् 1916-17 मे एक संसद्-अध्यक्ष सम्मेलन हुआ परन्तु उसकी सिफारिशें भी दबा दी गईं। संयुक्त राज्य में एक काफी बड़ी और प्रभावपूर्ण संस्था ने इन विरोधो को दूर करने के लिए प्रयत्न किया है, किन्तु इन प्रयत्नों को कभी भी सरकारी समर्थन या मान्यता प्राप्त नही हुई। सामान्यतया जिस सुधार का सुझाव दिया जाता है वह 'आनुपातिक निर्वाचन-पद्धति' के नाम से ज्ञात है। अतएव, इस प्रश्न पर विस्तारपूर्वक विचार करना आवश्यक है।

5 बहुसदस्य निर्वाचन-क्षेत्र

बहुत-से राज्यो ने अब 'आनुपातिक निर्वाचन-प्रणाली' को या तो अपनी विद्यमान राजनीतिक व्यवस्थाओ मे सम्मिलित कर लिया है या उसे एक नए संविधान का अभिन्न अंग बना लिया है। किन्तु अपने-आपमे इस शब्द का कोई विशेष अर्थ नही है क्योकि इसके अनेक रूप है। वास्तविकता तो यह है कि इसके उतने ही रूप हैं जितने राज्यो ने इसे अपनाया है और सैद्धान्तिक दृष्टि से तो और भी अधिक, परन्तु सभी विभिन्न रूपो मे कम-से-कम एक बात मिलती है जो मतदान की इस पद्धति के लिए निश्चय ही अनिवार्य है और जो यह है कि आनुपातिक प्रतिनिधित्व की कोई भी प्रणाली एकलसदस्य निर्वाचन-क्षेत्र के आधार पर क्रियान्वित नही की जा सकती। आनुपातिक प्रतिनिधित्व प्रणाली के अधीन किसी निर्वाचन-क्षेत्र मे किसी भी उम्मीदवार का उद्देश्य सामान्य अर्थ मे बहुमत प्राप्त करना नही, बल्कि एक नियत संख्या (Quota) मे मत प्राप्त करना है। सरल भाषा मे यह नियत संख्या किसी निर्वाचन मे दिए गए कुल मतो को निर्वाचित किए जाने वाले स्थानो की संख्या मे विभाजित करने से प्राप्त मतो की संख्या है। इस प्रणाली का सबसे सरल रूप वह है जिसे फ्रास मे 'जनरल टिकट (Scrutin de Liste or general ticket)' (जो अमरीका की एकलसदस्य निर्वाचन-क्षेत्र मे 'टिकट द्वारा मतदान' की प्रणाली से भिन्न है) कहा जाता है। वास्तव में

फ्रान्स के पिछले चालीस-पचास वर्ष का निर्वाचनीय इतिहास आनुपातिक निर्वाचन प्रणाली के रूपान्तरों का एक रोचक उदाहरण है। फ्रांस में सन् 1919 की एक निर्वाचन विधि के फलस्वरूप **डिपार्टमेंट** (Department) निर्वाचन-क्षेत्र बन गए जब कि इससे पहले **एरॉनडाइजमेंट** (Arrondissement) निर्वाचन के क्षेत्र थे। एरानडाइजमेंट एक एकसदस्य निर्वाचन-क्षेत्र होता था। नई विधि के अनुसार यह हुआ कि डिपार्टमेंट के निर्वाचक उतने सदस्यों के लिए मत देते थे जितने कि उस डिपार्टमेंट में स्थान होते थे (अर्थात् **एरॉनडाइजमेंटों** की संख्या के बराबर)। उम्मीदवार अकेले या भरे जाने वाले स्थानों की संख्या के बराबर संख्या तक की सूची या टिकट में मिलकर निर्वाचन के लिए खड़े हो सकते थे, और अधिकतर उम्मीदवार निर्वाचन के लिए ऐसी ही सूचियों के द्वारा अपने को पेश करते थे। बहुमत प्राप्त करने वाला उम्मीदवार निर्वाचित हो जाता था और चूंकि साधारण मतदाता सम्पूर्ण सूची के पक्ष में मतदान करता था इसलिए व्यावहारिक रूप में इसका अर्थ यह हुआ कि सामान्यतया सबसे बड़ा दल सम्पूर्ण **डिपार्टमेंट** में पूरी बाजी मार लेता था। अतएव फ्रेंच प्रणाली ने उस समय तक अल्पसंख्यकों को प्रतिनिधित्व प्रदान करने में कोई सफलता प्राप्त नहीं की थी।

किन्तु सन् 1919 की विधि ने यह भी उपबन्धित किया था कि यदि निरपेक्ष बहुमत प्राप्त न हो सका तो स्थानों को उन उम्मीदवारों में बांट दिया जाए जिन्होंने मतों की नियत संख्या (अर्थात् स्थानों की संख्या से मतों की संख्या के विभाजन से प्राप्त संख्या) प्राप्त की हो। प्रत्येक सूची का भाग, 'औसत' (अर्थात् उसके सब उम्मीदवारों द्वारा प्राप्त समस्त मतों का उसके उम्मीदवारों की संख्या से विभाजित करने पर प्राप्त भजनफल) में नियत संख्या का भाग देने से प्राप्त संख्या द्वारा निश्चित होता था। उदाहरण के तौर पर, मान लीजिए कि किसी डिपार्टमेंट की जनसंख्या 450,000 है, उसके रजिस्टर में मतदाताओं की संख्या 100,000 है, और इनमें से 78,000 ने वास्तव में मतदान किया और निर्वाचन-क्षेत्र ने छह सदस्य निर्वाचित किए। ऐसी स्थिति में नियत संख्या 78,000 को छह से विभाजित करके प्राप्त हुई संख्या अर्थात् 13,000 हुई। प्रत्येक दल ने इस भागफल के अनुसार स्थान प्राप्त किए। इस प्रकार, 40,000 मत प्राप्त करने वाले दल को तीन स्थान, 30,000 मत प्राप्त करने वाले दल को दो स्थान मिले। इसके आगे भी यही क्रम जारी रहा और यदि कोई स्थान शेष रहा तो वह सर्वोच्च औसत वाले दल को मिला।

सन् 1919 की प्रणाली अच्छी तरह नहीं चली और जुलाई सन् 1927 में फ्रांस में फिर से एकलसदस्य निर्वाचन-क्षेत्र की प्रणाली (Scrutin d'Arrondissement) आरम्भ हो गई। किन्तु संविधान-सभा के निर्वाचनों में, जिसने सन् 1946 में जनमत संग्रह के लिए प्रस्तुत संविधान तैयार किया, सामान्य टिकट

(Scrutin de Liste) जैसी एक प्रणाली फिर अपनाई गई। इसका कारण यह था कि जनता को अपने उम्मीदवारों को, तीन मुख्य दलों (समाजवादी, साम्यवादी और एम आर पी) का आनुपातिक प्रतिनिधित्व सुनिश्चित करने के लिए आविष्कृत एक व्यवस्था के अधीन समूहों में मत देना था।

जून, सन 1951 के सामान्य निर्वाचन के लिए एक और भी जटिल प्रणाली का आविष्कार किया गया जिसका प्रयोजन घोर वामपक्षियों और घोर दक्षिण-पक्षियों दोनों को शक्ति से अपवर्जित करना था। परिस क्षेत्र के सिवाय, जहाँ कि *आनुपातिक निर्वाचन की विशुद्ध प्रणाली काम में आई*, नई विधि से दलों और समूहों को ऐसी अवस्था में जब कि बहुल सदस्य निर्वाचन-क्षेत्र में कोई भी एक दल 51 प्रतिशत मत प्राप्त न कर सके, मिलकर ब्लाक (Bloc) बनाने की अनुमति मिल गई। उस अवस्था में यदि ब्लाक को बहुमत होना था तो वह सब स्थान ले लेता था और दूसरों को कोई स्थान नहीं मिलते थे। ब्लॉक बनाने वाले दलों में स्थानों का विभाजन अनुपात के अनुसार होता था। यदि कोई भी दल या ब्लॉक बहुमत प्राप्त नहीं कर सकता था तो स्थानों की बाट सीधे *आनुपातिक प्रतिनिधित्व द्वारा की जाती थी*। पंचम गणतंत्र में एकल-सदस्य निर्वाचन-क्षेत्र पुन प्रचलित हो गये है।

जिस प्रणाली का सामान्यतया आनुपातिक प्रतिनिधित्व के साथ सम्बन्ध है उसमें एकल-संक्रमणीय मत समाविष्ट है और उसे अक्सर 'हेयर प्रणाली' भी कहते हैं, क्योंकि इसका सर्वप्रथम सुझाव एक अंगरेज यामस हेयर ने 'प्रतिनिधित्व का यंत्र' (The Machinery of Representation) (1857) नामक पुस्तिका में दिया था और अपने बाद के एक ग्रंथ 'प्रतिनिधियों का निर्वाचन' (1859) में उसका विस्तृत विवेचन किया था। जॉन स्टुअर्ट मिल ने अपनी पुस्तक 'प्रातिनिधिक शासन' (Representative Government) (1861) में उसका समर्थन किया और पश्चात्वर्ती सुधारकों ने भी उसे स्वीकार किया और उसमें कुछ परिवर्तन भी किए। *बहुसदस्य निर्वाचन-क्षेत्र के सिद्धांत को समझ लेने पर* यह प्रणाली बड़ी आसानी से समझ में आ जाती है। कल्पना कीजिए कि आप चार विद्यमान एकलसदस्य निर्वाचन-क्षेत्रों को मिलाकर एक निर्वाचन-क्षेत्र *बना लेते हैं तब उम्मीदवार को निरपेक्ष बहुमत प्राप्त करने के बजाय केवल* नियत संख्या (Quota) अर्थात कुल मतदान की संख्या को भरे जानेवाले स्थानों की संख्या से विभाजित करने से प्राप्त संख्या प्राप्त करनी आवश्यक होगी। मतदाता उम्मीदवारों के लिए क्रमानुसार अपने अधिमान (Preference) को प्रकट करता है। उसका केवल एक ही प्रभावी मत होता है, किन्तु वह जिस व्यक्ति का निर्वाचित होना सबसे अधिक पसन्द करता है उसके अतिरिक्त अन्य उम्मीदवारों के नामों के आगे भी एक संख्या लिख सकता है जिससे कि वह

निर्वाचन-क्षेत्र के लिए निश्चित सदस्यो की सख्या तक यह सकेत दे सके कि वह,उस उम्मीदवार के बाद जिसे वह पसन्द करता है, किन-किन उम्मीदवारो का निर्वाचन किया जाना पसन्द करेगा। इस प्रकार यदि उम्मीदवार दस हो और स्थान चार हो तो मतदाता अपना अधिमान व्यक्त करने के लिए चार नामो के आगे 1, 2, 3, 4 सख्याए दे सकता है। यदि पर्याप्त उम्मीदवारो द्वारा नियत सख्या मे मत प्राप्त न किए जाने के कारण सब स्थान न भरे जा सके तो अन्य स्थान उन मतदाताओ के जो सफल उम्मीदवार या उम्मीदवारो के लिए मत दे चुके है और जिन्हे उन मतो की अब आवश्यकता नही रही, द्वितीय अधिमान और तदुपरान्त तृतीय अधिमान के अनुसार भरे जाते है। यह क्रम उस समय तक जारी रखा जाता है जब तक कि सब स्थान नही भर जाते। किन्तु मतो का स्थानान्तरण दूसरी तरह भी किया जा सकता है। यदि सफल उम्मीदवार या उम्मीदवारो के अतिरिक्त मतो को अन्य उम्मीदवारो को देकर भी पर्याप्त उम्मीदवार विशिष्ट सख्या तक नही पहुच पाते है तो सबसे कम सख्या वाले उम्मीदवार का (या यदि आवश्यक हो तो एक से अधिक का) नाम हटाकर उसके या उनके मत अधिमानो के अनुसार अन्य उम्मीदवारो को दे दिए जाते है। इस प्रकार मतदाता जिस उम्मीदवार को सबसे अधिक पसन्द करता है वह तो नही चुना जाता परन्तु फिर भी वह अपने दूसरे या तीसरे या चौथे नम्बर के उम्मीदवार के निर्वाचन मे सहायक हो सकता है।

हाल ही के वर्षों मे किसी-न-किसी रूप मे आनुपातिक निर्वाचन-प्रणाली व्यापक रूप मे स्वीकार कर ली गई है। स्वय थॉमस हेयर तो किसी भी सम्पूर्ण देश को एक विशाल निर्वाचन-क्षेत्र बना देता। किन्तु असल मे अव्यावहारिक समझकर यह योजना छोड दी गई है, हालाकि कुछ अर्थों मे इटली मे मुसोलिनी की निर्वाचन-सम्बन्धी विधियो मे यही सिद्धान्त समाविष्ट था यद्यपि वहा उसके समर्थको का आशय दलो का आनुपातिक प्रतिनिधित्व प्राप्त करने से बिलकुल भिन्न था। अगरेजी भाषा-भाषी जिन देशो ने इस प्रणाली को अगीकार किया है उनके निर्वाचनो मे सामान्यतया एकल सक्रमणीय मत का प्रयोग किया जाता है। योरोप महाद्वीप के अधिकतर राज्यों मे किसी-न-किसी प्रकार का 'टिकट द्वारा मतदान' अपनाया जा चुका है जिससे कि इन देशो मे उम्मीदवार, केवल मात्र बहुमत-निर्वाचन के विरुद्ध अनेक प्रकार की सुरक्षाओं के साथ, अपने-आपको निर्वाचन के लिए सूचियो मे प्रस्तुत करते हैं। ग्रेट ब्रिटेन मे सन् 1948 के जन-प्रतिनिधित्व अधिनियम द्वारा विश्वविद्यालय के स्थानो के समाप्त कर दिए जाने तक कुछ विश्वविद्यालयो के लिए ससद् के सदस्यो के निर्वाचन के लिए सन् 1918 से एकल सक्रमणीय मत का प्रयोग किया जाता था। चर्च ऑफ इगलैंड की राष्ट्रीय सभा के लिए, तथा उत्तरी आयरलैंड मे सीनेट के लिए एकल सक्रमणीय मत का अब

भी प्रयोग होता है। ब्रिटिश कामनवेल्थ के देशों में एकल सत्रमणीय मत की पद्धति आस्ट्रेलिया और भारतवर्ष में काम आती है, आस्ट्रेलिया में कॉमनवेल्थ की सीनेट के लिये, न्यू साउथ वेल्स में विधान-परिषद् (उच्च सदन) और टसमानिया में हाउस आफ एसम्बली (अवर सदन) के लिये तथा भारतवर्ष के गणतंत्र में निर्वाचक मण्डलों (Electoral colleges) द्वारा विभिन्न निर्वाचनों में। आयरलैंड के गणतंत्र में उसकी संसद् के दोनों सदनों के निर्वाचन में और दक्षिणी अफ्रीका में सीनेट के निर्वाचन में प्रयोग होता है। संयुक्त राज्य में आनुपातिक निर्वाचन केवल कुछ नगरों में ही होता है। इनमें से भी कई में, उदाहरणार्थ न्यूयार्क में, कुछ वर्षों तक प्रयोग करने के बाद उसका परित्याग कर दिया गया। एकल सत्रमणीय मत का प्रयोग अब भी संयुक्त राज्य में पाँच नगर पारिषदों (City Councils) के निर्वाचनों में होता है।

पश्चिमी और उत्तरी महाद्वीपीय योरोप के अधिकांश संविधानी राज्यों ने आनुपातिक निर्वाचन का कोई न कोई रूप ग्रहण कर रखा है। वास्तव में, उनमें से कुछ ने तो उन्नीसवीं शताब्दी में ही उसका आरंभ कर दिया था और प्रथम विश्वयुद्ध के बाद बनने वाले सभी नये राज्यों ने उसे अपने-अपने संविधानों में स्थान दिया है। आजकल उसका प्रयोग बेल्जियम में प्रतिनिधि सदन के सदस्यों के निर्वाचन के लिये तथा सीनेट के उन सदस्यों के निर्वाचन के लिये होता है जिनका प्रत्यक्ष निर्वाचन होता है, डैनमार्क में फोकटिंग (एक सदनी संसद्) के चुनावों के लिये, नार्वे में अवर सदन के लिये (जो स्वयं अपने सदस्यों में से चतुर्थांश का निर्वाचन कर उच्च सदन का निर्माण करता है), स्वीडेन और नेदरलैंड में दोनों सदनों के लिये और फिनलैंड में उसकी एक सदनी संसद् के लिये इस पद्धति का प्रयोग होता है। इटली में भी गणतंत्रीय संविधान के अधीन प्रतिनिधि सदन के निर्वाचन के लिये यह पद्धति प्रयोग में लाई जाती है। संघीय राज्यों में स्विट्जरलैंड राष्ट्रीय परिषद् (National Council) तथा अधिकांश कैण्टन परिषदों के निर्वाचन के लिये आनुपातिक निर्वाचन का प्रयोग करता है और पश्चिमी जर्मनी में 1949 की मूल विधि के अधीन संघीय सत्ता तथा राज्यों (Lauder) ने उसे अंगीकार किया है—संघीय सत्ता ने बुण्डेस्टाग (अवर सदन) और राज्यों ने अपने विधानमण्डलों के निर्वाचन के लिये।

इस सम्बन्ध में एक अन्य सिद्धान्त का भी उल्लेख किया जाना चाहिए जिसे 'द्वितीय मतदान' (Second Ballot) कहते हैं। यह निरपेक्ष बहुमत प्राप्त करने का एक तरीका है। ज्यों-ज्यों निर्वाचन का जोर बढ़ता जा रहा है, त्यों-त्यों निर्वाचनों में भाग लेने वाले राजनीतिक दलों की संख्या में वृद्धि होने की प्रवृत्ति दिखाई दे रही है। परिणामस्वरूप, पुराने दो दलों के उम्मीदवारों के संघर्ष के बजाय अधिकतर यह देखा जाता है कि एकसदस्य निर्वाचन-क्षेत्र में तीन, चार,

पाच या कभी-कभी छह उम्मीदवार भी मैदान मे उतर आते है। यदि इस परिस्थिति मे कोई एक उम्मीदवार पूर्ण बहुमत द्वारा निर्वाचित नही होता, तो कुछ राज्यो मे दूसरी बार निर्वाचन किया जाता है जो सामान्यतया प्रथम निर्वाचन मे सबसे अधिक मत प्राप्त करनेवाले दो उम्मीदवारो के बीच होता है। उदाहरण के तौर पर, जब कभी भी फ्रास फिर से एकलमद य निर्वाचन क्षेत्र की ओर लौटा है, उसने द्वितीय मतदान के सिद्धात को अपनाया है। किन्तु वास्तव मे द्वितीय मतदान पद्धति मे ऐसी कोई बात नही है जो कि एक ही निर्वाचन द्वारा प्राप्त नही की जा सकती। वास्तव मे ऐसी निर्वाचन प्रणालिया भी है जिनके द्वारा द्वितीय मतदान की असुविधा के बिना ही उसके उद्देश्य प्राप्त हो सकते है। ऐसा उस प्रणाली के द्वारा होता है जो सामान्यतया वैकल्पिक मतदान (Alternative vote) कहलाती है। इस प्रणाली के अधीन मतदाता मतपत्र मे अपना द्वितीय अधिमान भी व्यक्त करता है, जिसे उस समय काम मे लाते है जब कि पहली गिनती मे कोई भी उम्मीदवार पूर्ण बहुमत प्राप्त नही कर पाता और जब कि वह उम्मीदवार, जिसे मतदाता सबसे अधिक चाहता है, सर्वाधिक मत प्राप्त करने वाले पहले दो मे से एक नही होता। उदाहरणार्थ, यह प्रणाली आस्ट्रेलिया मे राष्ट्रीय निर्वाचनो के लिए और कुछ पृथक् राज्यो के निर्वाचनो के लिए भी प्रचलित है।

ग्रेट ब्रिटेन मे आनुपातिक निर्वाचन के समर्थको के प्रयत्नो का सरकारी आयोगो मे केन्द्रित करने के दो बडे प्रयास हुए है। पहला बार सन् 1909-10 के राजकीय आयोग ने केवल एक निश्चयपूर्ण सिफारिश की। सिफारिश यह थी कि मतपत्र पर एक वैकल्पिक मत भी दिया जाना चाहिए, सक्रमणीय मत के उद्देश्य की प्राप्ति के लिए नही बल्कि द्वितीय मत के उद्देश्य—अर्थात् निरपेक्ष बहुमत—प्राप्त करने के लिए जैसा कि ऊपर आस्ट्रेलिया के सम्बन्ध मे बताया गया है, किन्तु यह मामूली सिफारिश भी निरर्थक ही सिद्ध हुई। दूसरी बार सन् 1916-17 के अध्यक्षीय सम्मेलन (Speaker's Conference) ने यह सिफारिश की कि आशिक परीक्षण के रूप मे लोकसभा के एक-तिहाई स्थानो के लिए सक्रमणीय मत के सिद्धात को अपनाया जाए। इसे भी ससद् ने अस्वीकार कर दिया और (सन् 1948 के अधिनियम द्वारा विश्वविद्यालय के स्थानो के समाप्त कर दिए जाने के बाद से) अब ब्रिटेन मे आनुपातिक निर्वाचन का एकमात्र रूप, जैसा कि हम देख चुके है, चर्च आफ इग्लैंड की राष्ट्रीय सभा के, और उत्तरी आयरलैंड की ससद के निर्वाचनो मे सक्रमणीय मत के सिद्धात के प्रयोग मे ही विद्यमान है।

6 सिद्धान्त और व्यवहार मे आनुपातिक निर्वाचन

आनुपातिक निर्वाचन के सिद्धात के पक्ष और विरोध मे बहुत-कुछ कहा जा सकता है। जहा तक सिद्धात का सबध है, सभी बाते उसके पक्ष मे है, किन्तु

व्यवहार मे ऐसी बात नही है। इसमे सदेह नही कि आनुपातिक निर्वाचन की वास्तविक प्रणाली से सिद्धात और व्यवहार दोनो दृष्टियो से वह बात होती है जो वह करना चाहती है। निस्सदेह इस प्रणाली के द्वारा अल्पसख्यको को प्रतिनिधित्व प्राप्त होता है और वे आपत्तियाँ भी दूर हो जाती है जो सामान्य बहुमत-निर्वाचन के विरुद्ध हमने देखी है। यही कारण है कि हाल के वर्षो मे अनेक सविधानो राज्यो मे इस सिद्धात को अधिकाधिक समर्थन मिलता रहा है। किन्तु उसको अपनानेवाले अधिकतर देश उसे केवल बातो तक ही सीमित रखते है। विशेष रूप से फ्रास मे ऐसा हुआ है जहा वह उसके समर्थको का मुह बन्द करने के लिए एक समझौता मात्र रहा है। कुछ अन्य राज्यो मे भी प्रथम विश्वयुद्ध के समाप्त होने पर इसका समारम्भ किया गया, किन्तु वहा भी (यह आशका है) उसका समारम्भ केवल सधियो की उन धाराओ का पालन करने के लिए ही किया गया था जिनका उद्देश्य अ-राष्ट्रीय अल्पसख्यको के अधिकारो की सुरक्षा करना था।

व्यावहारिक आपत्तिया बहुत-सी हैं,—कुछ साधारण महत्व की और कुछ बहुत गम्भीर। यह सच है कि आनुपातिक निर्वाचन के द्वारा अल्पसख्यको को प्रतिनिधित्व प्राप्त होता है किन्तु इससे यह डर भी हो जाता है कि समाज मे अल्पसख्यको के दृष्टिकोण से ही विचार होने लगे और अवाछित उम्मीदवार खडे होने लगे। ऐसी बाते स्वस्थ सामाजिक जीवन के लिए वास्तव मे हानिकारक हो सकती है। उदाहरणस्वरूप, यह सम्भव हो सकता है कि जुआबाजो और सूदखोरी जैसे समाज-विरोधी कार्य करनेवाले लोगो के दल निर्वाचन-क्षेत्र के विस्तार के फलस्वरूप, एक साथ मिल कर, प्रतिनिधित्व प्राप्त कर लें। निर्वाचन-क्षेत्र का विस्तार स्वय ही एक खतरा है, क्योकि इससे उम्मीदवार या सदस्य और निर्वाचक के बीच व्यक्तिगत सम्पर्क अनिवार्यत नष्ट हो जाता है, और क्योकि इससे उम्मीदवारो की सख्या इतनी बढ सकती है कि निर्वाचक को अपना उम्मीदवार पसद करने मे परेशानी हो (उदाहरण के तौर पर, बेलजियम मे द्वितीय विश्वयुद्ध से पूर्व सबसे बडे निर्वाचन-क्षेत्र से 22 सदस्य निर्वाचित हुए)। इसके अतिरिक्त, तीसरी बात यह है कि सक्रमणीय मत का सिद्धात मतदाताओ के लिए भ्रातिजनक और मतगणना के कार्य मे इतना जटिल हो सकता है कि उससे निर्वाचक मतगणना करनेवाले अधिकारी की कृपा पर निर्भर हो जाए, किन्तु यह, कम-से-कम उन देशो मे जहा सामान्यतया अच्छी राजनीतिक चेतना है, एक ऐसी आपत्ति है जो मतदाता का उस अधिकारी पर पूर्ण विश्वास होने की अवस्था मे दूर हो सकती है। परन्तु इस अडचन के मुकाबले मे इससे एक लाभ भी होता है जो यह है कि एकलसक्रमणीय मत का प्रयोग स्वय ही राजनीतिक शिक्षा है, क्योकि निर्वाचक के लिए अपना अधिमान व्यक्त करना तब तक असम्भव है जब तक कि वह गम्भीरतापूर्वक विचार न करे, किन्तु यदि केवल दो उम्मीदवारो मे

से एक को ही निर्वाचित करना हो तो फिर सोचने की आवश्यकता ही नहीं होती।

आनुपातिक प्रतिनिधित्व के पक्ष मे यह पुराना सैद्धांतिक तर्क कि उससे दल के अन्तरग गुट्ट (काकस Caucus) समाप्त हो जाएगे, व्यवहार मे बिलकुल ही गलत सिद्ध हुआ है। ऐसी व्यवस्था मे तो दल का यत्र और भी शक्तिशाली होना है। निर्वाचन-क्षेत्र का जितना अधिक विस्तार होता है, अदृश्य बागडोर भी उतनी ही अधिक प्रभावशाली हो जाती है। इस तथ्य की सचाई इटली में *मुसोलिनी की निर्वाचन-विधियो के अधीन स्पष्ट रूप से देखी गई थी।* इसके विरुद्ध सबसे बडी आपत्ति तो यह है कि दो बडे विरोधी दलो की बजाय अनेक छोटे-छोटे समूहो को विधानमडल मे लाने की इसकी प्रवृत्ति से शासन अस्थिर हो जाता है, अनेक दलो की उपस्थिति के फलस्वरूप दुर्बल सयुक्त सरकारें बनानी पडती है जो उनमे सम्मिलित किसी भी समूह के बिगड उठने से समाप्त हो जाती है। उदाहरणस्वरूप, *अर्न्तयुद्ध काल मे बेलजियम म आनुपातिक निर्वाचन* ऐसी सूक्ष्मता से क्रियान्वित किया गया कि राजनीतिज्ञो को, विभिन्न प्रकार के हितो और उनके बीच एक समान नीति अभिनिश्चित करने की कठिनाई के कारण, मत्रिमडल का निर्माण करने मे अत्यन्त कठिनाई का अनुभव हुआ।

दूसरी ओर, यह बात बुरी भी नहीं है कि मत्रिमडल के निर्माण मे विभिन्न प्रतिनिधि भावनाओ का ध्यान रखा जाए। ऐसे सयुक्त मत्रिमडलो ने कुछ अवस्थाओं मे जीवित रहने की उल्लेखनीय शक्ति का प्रदर्शन किया है। विशेष रूप से स्वीडेन मे ऐसा हुआ जहाँ कि अर्न्तयुद्धकाल मे एक मत्रिमडल दो या तीन वर्षों तक सत्तारूढ रहा। आनुपातिक निर्वाचन के इस प्रभाव से फिर यह प्रकट हुआ है कि यह प्रणाली सत्रान्तिकालीन कठिन अवस्था मे गुजरने वाले राज्यो मे अच्छी तरह से काम मे लाई जा सकती है, हालाकि वेमर गणतत्र के अधीन जर्मनी को इसके द्वारा सुरक्षित स्थिति मे पहुचाने की आशा निश्चय ही सफल न हो सकी।

यह बात अच्छी हो या बुरी, ऐसा प्रतीत होता है कि आनुपातिक निर्वाचन प्रणाली का अनिवार्य परिणाम यह है कि बडे दलो और एकचित्त मत्रिमडल की बजाय अनेक ससदीय गुट्ट और उनके फलस्वरूप सयुक्त मत्रिमडल की स्थापना होती है। *यही कारण है कि यह प्रणाली ब्रिटेन मे नही अपनाई गई जहा दल-प्रणाली इतनी गहरी जमी हुई है, और जहा, जैसा कि एक बार डिज़रेली ने कहा था,* 'सयुक्त मत्रिमडलो से घृणा' की जाती है। यह बात महत्वहीन नही है कि जिन दो बडे राज्यो, अर्थात् ब्रिटेन और सयुक्तराज्य ने आनुपातिक निर्वाचन की प्रणाली का अभी तक प्रयोग नही किया है, वे दो राज्य ही ऐसे है जिनमे दो बडे विरोधी दलो की परम्परा सदा से प्रबल रही है, और जिन राज्यो ने इसे अपनाया है, वे सामान्यतया ससदीय शासन को समूहो के सयोग स्थापित करके ही बनाये

हुए हैं। ब्रिटेन और संयुक्तराज्य में आनुपातिक निर्वाचन को पूर्णरूप से अपनाने में निर्वाचन प्रणाली के परिवर्तन का तो डर नहीं, बल्कि इस बात का डर भी है कि दलों की परम्परा बड़े वेग से टूट जाएगी। कदाचित यही कारण है कि इन राज्यों के विधानमण्डल इस प्रणाली को प्रवर्तन करने में हिचकते हैं।

7 प्रतिनिधिक प्रणाली से सम्बन्धित समस्याएं

प्रतिनिधिक सिद्धान्त के विकास में पैदा होने वाली समस्याएं बहुत हैं। सबसे पहली समस्या तो ऐसी व्यवस्था करना है कि मताधिकार प्राप्त नागरिकों की संख्या राष्ट्रीय इच्छा का सब रूप दे सके। किन्तु क्या इसका यह अनिवार्य निष्कर्ष है कि प्रतिनिधिक शासन अवास्तविक है क्योंकि अनिबन्धित सार्वलौकिक मताधिकार का सिद्धान्त व्यवहार में नहीं आता? अनेक समझदार व्यक्तियों ने कहा है और कहते हैं कि लोक-शासन का अर्थ सिरों की गणनामात्र ही नहीं है। सन 1861 में जॉन स्टुअर्ट मिल ने लिखा था कि समान मतदान सिद्धान्ततः गलत है। यह बात आपत्तिजनक ही नहीं बल्कि हानिकारी है कि देश का सविधान ज्ञान के बराबर ही अज्ञान को भी उतनी ही राजनीतिक शक्ति का हकदार घोषित करे। उसका कहना था कि प्रत्येक निर्वाचक को पढ़ने लिखने और 'त्रैराशिक नियम के हिसाब लगाने' की योग्यता होनी चाहिए। उसका अनुरोध था कि सार्वजनीन मताधिकार से पूर्व सार्वजनीन शिक्षा होनी चाहिए, सभी निर्वाचक प्रत्यक्ष करदाता होने चाहिए चाहे कर कितना ही कम क्यों न हो, और मतदान गुप्त नहीं होना चाहिए क्योंकि गुप्त मतदान से मताधिकार की भावना भ्रष्ट होती है जिसके अनुसार मतदाता जनता का धरोहरधारी है, और उसके कार्य सर्वविदित होने चाहिए।

जैसा हम इस अध्याय में पहले कह चुके हैं, मिल के काल से सामान्यतया सुधारों ने उस प्रतिक्रियापूर्ण मार्ग का अनुसरण नहीं किया है, जो कि उसने निर्दिष्ट किया था। इसके विपरीत, प्रवृत्ति दूसरी ही ओर रही है अर्थात् मताधिकार को प्रत्यक्ष, समान और सार्वजनीन बनाना, सम्पत्तिसम्बन्धी अर्हताओं को घटाना या हटाना, मतदान को गुप्त बनाना, और पंजीकरण को सरल करना। यह सच है कि ब्रिटेन, ब्रिटिश स्वशासी डोमिनियनों, संयुक्तराज्य और स्कैंडिनेवियाई देशों जैसे अधिक प्रगतिशील राज्यों में, मिल की शिक्षासम्बन्धी शर्तें अधिकतर पूरी हो गई हैं, किन्तु यूरोप के बहुत-से राज्यों ने, विशेषकर द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद बने हुए राज्यों ने, अपनी जनसंख्या के एक विशाल भाग के निरक्षर होने के बावजूद वयस्क मताधिकार अंगीकार कर लिया है। किन्तु लोकतन्त्र, शासन की एक पद्धति ही नहीं, बल्कि समाज की एक अवस्था भी है। प्रश्न तो बस इतना है। जो इसे केवल शासन की पद्धति समझते हैं वे प्रतिनिधिक सिद्धान्त को ही उसका

मार ममझते है। जो लोग उसके यत्र की बजाय उसकी भावना को और अधिक ध्यान देते है उनके लिए शासन की प्रणाली प्राथमिक महत्व की नही है बशर्ते कि उससे लोकतन्त्रीय भावना की स्वच्छद गति मे बाधा न पड़े। किन्तु क्या पूर्ण प्रतिनिधिक शासन के यत्र के बिना उस भावना की स्वच्छन्द गति सुनिश्चित हो सकती है? यदि कुछ आधुनिक राज्यो के लोगो को सार्वजनीन और समान मताधिकार की प्रणाली आरम्भ करने से पूर्व सम्पत्ति और स्थायित्व की उचित अवस्थाओ के लिए प्रतीक्षा करनी पड़ती तो यह निश्चित है कि उन्हे न तो एक के प्रारम्भिक फायदे ही प्राप्त होते और न दूसरे के अन्तिम लाभ ही।

मताधिकार के प्रश्न से सम्बद्ध एक अन्य समस्या प्रतिनिधि-पद के लिए ऐसे उम्मीदवारो को प्राप्त करना है जो योग्य होने के साथ ही शुद्ध आचरण के भी हो। मताधिकार की कोई भी प्रणाली चाहे वह अधिकतर निरक्षर समाज मे हो या किसी सुसस्कृत राष्ट्र मे प्रचलित हो तब तक किसी प्रकार लाभप्रद नही हो सकती जब तक कि ऐसे कार्य के लिए वास्तव मे योग्य व्यक्तियो का ढूढ निकालने का कोई साधन नही मिल जाता। प्रतिनिधिक व्यवस्था मे यह आवश्यक है कि प्रतिनिधि या प्रतिनियुक्त (Deputy) की इतनी स्वतन्त्रता हो कि वह अपने-आपको सार्वजनिक सेवा मे लगा सके, किन्तु ऐसी स्वतन्त्रता साधारण नागरिक को निश्चय ही प्राप्त नही है। दूसरे शब्दो मे, सदलीय उम्मीदवार अनिवार्यत पेशेवर राज-नेता होना चाहिए चाहे उसकी सेवा के लिए उसे कुछ दिया जाए या न दिया जाए। आजकल लगभग प्रत्येक सविधानी राज्य ने अपने विधि-कर्ताओ को कुछ-न कुछ देने की योजना अपना ली है। इससे सभाव्य प्रतिनिधियो के वरण का क्षेत्र पर्याप्त रूप से विस्तृत हो गया है, हालाकि यह नही कहा जा सकता कि इससे दल के कॉकस (अन्तरग गुट) का कुटिल प्रभाव, जो कि सर्वोत्तम प्रकार के स्वतन्त्र प्रतिनिधि का अस्तित्व बहुत कठिन बना देता है, घट गया है। वास्तव मे ऐसा प्रतीत होता है कि दलीय यत्र राजनीतिक लोकतत्र के विकास के साथ-साथ चलने वाली एक अनिवार्य बात है। इसकी शक्ति, जैसा कि हम कह चुके हैं, आनुपातिक निर्वाचन की प्रणाली के अधीन भी घटती नही है।

यह नही भूलना चाहिए कि विधानमडल के अस्तित्व का प्रयोजन देश के मत को प्रतिबिम्बित करना ही नही, बल्कि अच्छा शासन बनाए रखना भी है। अत एव, निर्वाचनसबधी सुधारो की जिन योजनाओ का उद्देश्य सर्वोत्तम प्रकार का विधानमडल प्रस्तुत करना है उनको आदर्श निर्वाचक-मडल के कुछ न-कुछ अश का बलिदान करना ही पडेगा। विधानमडल मे निर्वाचको के मतो का प्रति बिम्बित होना केवल आशिक रूप मे ही सभव है और सदा ही वाछनीय नही है। निर्वाचन की कोई भी प्रणाली, जिसकी कि कल्पना की जा सकती है, अधिक-से अधिक, निर्वाचको और निर्वाचित सभा के बीच अनुरूपता लाने का एक मनमाना

प्रयास है। शासन अन्ततः शासित किए जाने वाले समाज की अवस्थाओं से सापेक्ष होना चाहिए और जिन लोगों को वह लागू होता है उनकी विशिष्टताओं का भी ध्यान रखा जाना चाहिए। फिर भी, कुछ राज्यों में प्रतिनिधिक व्यवस्था की पर्याप्तता के संबंध में कुछ सन्देह प्रकट हो रहा है और इस अविश्वास के फलस्वरूप उसके कार्य पर जनमत संग्रह और उपक्रम जैसे कुछ प्रत्यक्ष लोकतन्त्रीय नियन्त्रणों का प्रयोग किया जा रहा है। इनके विषय में और अधिक हम दसवें अध्याय में बताएंगे।

9

विधानमंडल

(2) द्वितीय सदन

1 द्विसदनी सविधानवाद सम्बन्धी सामान्य विचार

आधुनिक सविधानी राज्यो के विधानमडलो के सबध मे कोई भी चर्चा, जिसमे दूसरे या उच्च सदन के स्वरूप पर विचार न हो, अपूर्ण ही रहेगी। स्व लॉर्ड ब्राइस ने एक बार कहा था कि सविधानी इतिहास की कोई भी शिक्षा इतनी प्रभावशाली नही हुई है जितनी कि दूसरे सदन के उपयोग से सबधित शिक्षा। बडे-बडे राज्यो के इतिहास मे एकसदनी सविधानवाद अपेक्षाकृत दुर्लभ और सामान्यतया अस्थायी रहा है, जब कि द्विसदनी सविधानवाद एक ऐसी पद्धति है जो आज के सभी महत्वपूर्ण राज्यो का एक विशिष्ट लक्षण बन गई है। यह सच है, जैसा हम पहले बतला चुके हैं, कि न्यूजीलैंड, डेनमार्क और फिनलैंड जैसे प्रगतिशील लोकतत्री राज्यो मे एक सदनी विधानमडल उनके प्रयोजन के लिये पर्याप्त सिद्ध हुआ है। परन्तु वे नियम को सिद्ध करने वाले अपवाद है और इस सम्बन्ध मे यह स्मरण करना रुचिकर होगा कि टर्की के गणतत्र ने, जिसने 1923 मे कमाल अतातुर्क द्वारा स्थापित होते समय एकसदनी विधानमडल की व्यवस्था की थी। 1961 के सविधान के अन्तर्गत दो सदनो—नेशनल एसेम्बली और सिनेट—से युक्त विधानमडल स्थापित करने का निश्चय किया।

एकसदनी पद्धति के प्रयोग सामान्यतया क्रांतिकारी पुनर्निर्माण के काल मे किये गये हैं, किन्तु उसके बाद होने वाली प्रतिक्रिया के काल मे अथवा यदि क्रांतिकारी शासन चलता रहा तो उसके दौरान मे ही, दूसरे सदन की पुन स्थापना द्वारा उसका अत हो गया है, जैसा कि, उदाहरण के तौर पर, क्रॉमवेल के अधीन इगलैंड मे हुआ। फ्रास मे अठारहवी शताब्दी के अत मे और उन्नीसवी शताब्दी के मध्य मे प्रथम और द्वितीय गणतत्रो के सविधान एकसदनी सिद्धान्त पर आधारित थे। किन्तु प्रथम गणतत्र मे ऐसा मुख्यतया स्वय क्रांति के रवैये के कारण हुआ जिससे बहुत शीघ्र ही पादरियो, सामतो और सामान्य जनो के तीन सदनो वाली व्यवस्था की दुर्बलता प्रकट हो गई थी। ऐसी बात नही है कि फ्रासीसी क्रांति एक से अधिक सदनो के विरुद्ध सैद्धान्तिक युक्तियो से रहित हो। उस काल के प्रमुख एव प्रतिभा-

शानी संविधानकार एबे सेईज का, जिसका प्रथम क्रांति में संबद्ध संविधानी प्रयोगों के स्वरूप पर बड़ा प्रभाव पड़ा था, यह तर्क था कि यदि द्वितीय सदन प्रथम से सहमत हो तो उसका अस्तित्व निरर्थक है और यदि वह सहमत नहीं हो तो वह अपकारक है। मोटे तौर पर आजकल भी द्विसदनी सिद्धान्त का विरोध करने वाले विचारकों का यही तर्क है। किन्तु जिम्मेदार राजमर्मज्ञों में ऐसे विरोधी शायद ही कभी मिलते हैं। सेईज के बाद के समय का यह निर्णय है कि उसने एक *भ्रान्तिपूर्ण तर्क का प्रतिपादन किया है। उसके पश्चात् प्रख्यापित सभी महत्त्वपूर्ण* संविधानों ने अपने द्वारा स्थापित विधानमंडलों में द्वितीय सदन को सम्मिलित किया है। फिर भी, एक प्राचीन संस्था के सम्बन्ध में जिसका बदलते हुए समय के अनुकूल पुनर्गठन नहीं किया गया है सेईज की आलोचना उचित ही जान पड़ती है। एक ऐसे द्वितीय सदन की रचना करना राजनीतिक शिल्पी की शक्ति के बाहर नहीं है जो वैज्ञानिक पुनर्निरीक्षण के न्यायालय के रूप में काम करे बशर्ते कि उसे अवर सदन के साथ समान शक्ति दी जाए। किन्तु यदि ऊपरी सदन के सदस्यों का चुनाव लोकतन्त्रीय नियंत्रण से परे हो तो इसका अनिवार्य परिणाम यह होगा कि ज्यों-ज्यों निर्वाचकगण के दावे अधिक जोर पकड़ते जाएंगे त्यों-त्यों ऐसे द्वितीय सदन की शक्ति के क्षीण होने की प्रवृत्ति बढ़ती जाएगी, समान शक्ति का अस्तित्व समाप्त हो जाएगा, और द्वितीय सदन के उन्मादन या सुधार की मांग की जाएगी, क्योंकि जैसा कि गोल्डविन स्मिथ ने कहा है, "यह कल्पना करना कि सत्ता महत्त्वपूर्ण विषयों में अपने-आपको एक निर्बल संस्था द्वारा नियंत्रित होने देगी, व्यर्थ है।"

अतएव, द्वितीय सदनों के पक्ष में दी गई युक्तियों पर उन तरीकों के साथ-साथ विचार करना चाहिए जिनके अनुसार ऊपरी सदन का संगठन किया जाता है। *ये युक्तियां इस प्रकार हैं कि द्वितीय सदन का अस्तित्व केवल एक सदन द्वारा* ऐसे विधान के पारित किए जाने को रोकता है, जिसमें जल्दबाजी की गई हो और जिस पर भली प्रकार विचार न किया गया हो, कि केवल एक सभा के हाथों में जिसमें यह चेतना भी है कि उसे केवल अपने-आपसे परामर्श करना है, अनियंत्रित शक्ति की भावना शक्ति के दुरुपयोग एवं निरंकुशता की ओर अग्रसर कर सकती है, कि राज्य में किसी भी समय प्रभावपूर्ण शक्ति के विरुद्ध कोई-न-कोई विरोध-केन्द्र होना चाहिए चाहे वह शक्ति संपूर्ण जनता हो अथवा मतदाताओं के बहुमत का समर्थनप्राप्त कोई राजनीतिक दल। संघीय राज्य में द्वितीय सदन के पक्ष में एक विशेष युक्ति यह है कि उसकी व्यवस्था इस प्रकार की होती है कि उसमें संघीय सिद्धान्त का समावेश होता है अथवा समस्त संघ की इच्छा से पृथक् प्रत्येक राज्य की लोक-इच्छा प्रतिष्ठित होती है।

इस अध्याय के शेष विभागों में विभिन्न प्रकार के विद्यमान द्वितीय सदनों की जो विवेचना हमने की है, उसमें हम देखेंगे कि उनके अनेक नाम हैं—ब्रिटेन में

हाउस ऑफ लॉर्ड्स, स्विटजरलैंड में कौंसिल ऑफ स्टेटस (स्टेण्डरार), जर्मनी के सघीय गणतत्र मे फेडरल कौसिल (बंडेसराट), और अधिकतर अन्य राज्यो मे जिनमे आस्ट्रेलिया कनाडा, आयर, फ्रास इटली, दक्षिणी अफ्रीका और यूनाइटेड स्टेट्स शामिल है, सिनेट। किंतु हम इनका वर्गीकरण इनके नामकरण के आधार पर नही, बल्कि उनके वास्तविक स्वरूप के आधार पर करते है—अर्थात् वे अनिर्वाचित (वशानुगत या नाम निर्देशित) हैं अथवा निर्वाचित (अशत या पूणत) है। किन्तु इतन से ही हमारा पूरा काम नहीं चल सकता जब तक कि हम यह भी पता न चला ले कि जिस ऊपरी सदन का चुनाव सभी प्रकार के लोक नियत्रण के बाहर है उसमे कहा तक कोई वास्तविक शक्तिया हैं दूसरे अशत निर्वाचित सदन मे निर्वाचित तत्व समस्त समूह को किस सीमा तक प्रभावित करता और शक्ति देता है, तीसरे यदि, अवर सदन के स्वतन्त्र कार्य मे बाधा डालने के लिए ऊपरी सदन की शक्ति पर्याप्त रूप से वास्तविक हो, तो दानो सदनो के बीच उत्पन्न गत्यावरोध किस रीति से दूर किए जाते हैं, और चौथे, निर्वाचित द्वितीय सदन को ऐसी प्रतिष्ठा जैसी अवर सदन को प्राप्त नही है किस प्रकार प्रदान की जाती है। अनिर्वाचित और निर्वाचित-की कोटियो मे विभक्त करने वाला हमारा वर्गीकरण, जैसा कि हम कह चुके है, सर्वागपूर्ण नही है, क्योकि ये दो प्रकार भी पुन दो मे विभाजित किए जा सकते है। अतएव, जिन द्वितीय सदनो को हमने छाटा है उनकी रचना तथा उनके कृत्यो का विश्लेषण हम इस क्रम से करेगे वशानुगत, नाम निर्देशित, अशत निर्वाचित, और पूर्णत निर्वाचित। अत मे, हम स्विटजरलैंड, जर्मनी सोवियत समाजवादी गणतत्र सघ और युगोस्लाविया की विशेष स्थितियो की चर्चा करेंगे।

2. हाउस ऑफ लॉर्ड्स : पूर्व कालीन और वर्तमान

वशानुगत उच्च सदन आज की अपेक्षा पहले बहुत अधिक प्रचलित था। अधिकतर राज्यो मे वशानुगत द्वितीय सदन, जन-वर्गो (Estates) द्वारा शासन की मध्यकालीन प्रणाली का अवशेष था। सामान्यतया ये जनवर्ग तीन—पादरी, अभिजातवर्ग और सामान्य जन—होते थे, किन्तु कुछ स्थानो मे इनमे एक चौथा जनवर्ग—व्यापारी—भी शामिल होता था। कालातर मे अधिकतर स्थानो मे ये जनवर्ग दो सदनो मे एकत्रित कर लिये गए जिनमे से उच्च सदन मे लार्ड और बडे पादरी होते थे। अनेक राज्यो ने, जिनके विधानमडल इस प्रकार दो सदनो के होते थे, विभिन्न सावैधानिक सशोधनो के द्वारा उन्नीसवी शताब्दी के अन्त तक या तो वशानुगत सदन का सशोधित रूप अगीकार कर लिया, उदाहरणस्वरूप कतिपय सदस्यो को आजीवन नाम निर्देशित करके, जैसा सन् 1896 से लेकर 1911 की क्राति तक पुर्तगाल मे हुआ (जिसके पश्चात् वह पूर्णरूपेण

निर्वाचित सदन हो गया)[1] अथवा उन्होंने एक पूर्णरूपेण निर्वाचित उच्च सदन की प्रथा को अंगीकार कर लिया जैसा सन 1848 में संविधान के संशोधन के पश्चात नीदरलैंड्स में हुआ। इसके पश्चात भी आस्ट्रिया (Herrenhaus) और हंगरी (Table of Magnates) जैसे देशों में वंशानुगत द्वितीय सदन चलते रहे किन्तु प्रथम विश्वयुद्ध के पश्चात ये भी समाप्त हो गए[2] और अब एकमात्र महत्वपूर्ण वंशानुगत उच्च सदन ब्रिटेन का हाउस आफ लार्ड्स ही रह गया है।

हाउस आफ लार्ड्स का वास्तविक आरम्भ मुख्य सामंतो और उच्च धर्माधिकारियों के उस निकाय में पाया जाता है जो सामन्त राजाओं से वर्ष में तीन बार परिषद के रूप में मिला करता था। यह महान या सामान्य परिषद कहलाता था। *सामान्य परिषद नाम उदाहरणस्वरूप मग्नाकार्टा (महाधिकार पत्र) में आता* है। सन 1295 की आदर्श संसद में एडवर्ड प्रथम ने इस निकाय में प्रत्येक शायर से दो नाइट (वीरता की उपाधि प्राप्त व्यक्ति) और कुछ नगरों, कस्बों एवं शहरों से निर्वाचित प्रतिनिधि सम्मिलित कर दिए। कुछ समय तक ये सब लोग एक ही स्थान पर सम्मिलित होते थे परन्तु वास्तव में उनके दो सदन थे। और *सामाजिक और सरकारी विभिन्नताओं के अतिरिक्त जिस पद्धति के द्वारा वे* आमंत्रित किए जाते थे उससे उनकी विभिन्नता प्रकट होती थी। सामन्त और धर्माधिकारी व्यक्तिगत रूप से बुलाए जाते थे जबकि सामान्य जन शरिफों के द्वारा बुलाए जाते थे। शरिफों द्वारा आमंत्रण की प्रथा से ही चुनाव पदाधिकारी

---

1 सन 1933 में पुर्तगाल में एक नए संविधान के द्वारा एकसदनी विधान मंडल (नेशनल एसेंबली) की स्थापना की गई हालांकि इसके साथ ही साथ कार्पोरेटिव चेंबर नामक एक परामर्शदाता निकाय की भी रचना की गई। (अध्याय 15 देखिये)।

2 सन *1920* के संविधान के अधीन आस्ट्रिया निर्वाचित द्वितीय सदन (बंडसराट) वाला संघीय गणतन्त्र बन गया। इस सदन में उन प्रांतों के प्रतिनिधि होते थे जिनसे संघ का निर्माण हुआ था। किन्तु सन 1938 में हिटलर द्वारा आस्ट्रिया को जर्मनी में मिला दिए जाने से आस्ट्रिया की यह व्यवस्था भी उसकी अन्य संस्थाओं के साथ लुप्त हो गई। सन 1945 में *जब गणतन्त्र की पुनःस्थापना हुई तब द्विसदनी विधानमंडल की पुनःस्थापना* की गई। हंगरी में सन 1920 के संविधान द्वारा एकसदनी विधानमंडल की प्रतिष्ठा की गई थी परन्तु सन 1926 में पुनः एक उच्च सदन की स्थापना की गई जो उसके पिछले द्वितीय सदन की ही तरह का था। किन्तु युद्धोत्तर हंगरी में जिसकी संस्थाएं अब शक्तिशाली सोवियत् प्रभाव के अधीन हैं उसकी पुनः प्रतिष्ठा नहीं की गई।

के पद का सूत्रपात हुआ। तृतीय एडवर्ड के समय से उनके अधिवेशन पृथक् सदनों के रूप मे होने लगे। लॉर्ड और बडे पादरी लॉर्डसभा मे (हॉउस ऑफ लॉर्ड्स) और *ग्राम्य एव नागरिक क्षेत्रो के प्रतिनिधि लोकसभा (हाउस ऑफ कॉमन्स)* मे एकत्रित होने लगे। निम्नवर्ग के पादरियो ने, जो पहले साधारण सभा मे उपस्थित होते थे इन सदनो मे उपस्थित होना बन्द कर दिया और कनवोकेशन नामक अपनी स्वय की सभा मे ही वे व्यस्त रहने लगे।

प्रथम एडवर्ड के शासन काल से ब्रिटेन के इतिहास मे केवल एक छोटी-सी अवधि मे ही ऐसा विधानमडल विद्यमान रहा जिसमे उच्च सदन का अभाव था। यह स्थिति सन 1649 मे प्रथम चार्ल्स की हत्या के तुरन्त पश्चात् पैदा हुई जबकि वहा अल्पकालीन कॉमनवेल्थ की स्थापना हुई थी। एकसदनी प्रयोग उस क्राति का तार्किक परिणाम सा ही था जिसने एक ही प्रहार मे मुकुट लार्डसभा और पादरी-मडल तीनो को समाप्त कर दिया। किन्तु क्रामवेल के प्रोटेक्टोरेट के अन्त से पूर्व ही उसे लार्डसभा का पुन स्थापित करने के लिए राजी कर लिया गया था *हालाकि उसका रूप बडा वरणात्मक था और उस समय से इसका अस्तित्व निरन्तर बना हुआ है।*

इसका गठन परिस्थितियो के अनुसार सदस्यो की सख्या के घटने-बढने से समय-समय पर परिवर्तित होता रहा है। यहा पर हमे उस विवादास्पद और उत्तररहित प्रश्न को फिर नही उठाना चाहिए कि लॉर्डों को हाउस ऑफ लॉर्ड्स मे बैठने का अधिकार मूलत किस आधार पर प्राप्त हुआ। इतना ही कह देना पर्याप्त है कि बाद के वर्षो मे बैरन पद की प्राप्ति से उच्च सदन मे स्थान ग्रहण करने का अधिकार भी आवश्यक रूप मे प्राप्त हो जाता था और आज भी यही स्थिति है। किसी भी सामत-परिवार का केवल एक ही सदस्य लॉर्डसभा मे बैठ सकता है, हालाकि उसके पुत्र लॉर्ड की उपाधि को धारण कर सकते हैं, किन्तु यदि उन पुत्रो मे से कोई स्वय ही बैरन बना दिया जाता है तो दूसरी बात है। बैरन-परिवार के अन्य सदस्य, चूकि वे सामतसभा मे नही बैठ सकते, लोकसभा के लिए उम्मीदवारो के रूप मे खडे हो सकते है।[1] सन् 1707 के सयोग अधिनियम (Act of

---

1 इसका एक सुन्दर दृष्टात स्वर्गीय मार्क्विस ऑफ सेल्जबरी के परिवार से मिलता है। प्रारम्भ में सामन्तसभा मे केवल मार्क्विस ही बैठते थे जब कि उनके दो भाई लॉर्ड ह्यू सेसिल और लॉर्ड रॉबर्ट सेसिल लोकसभा के लिए निर्वाचित हुए। बाद मे राज्य की सेवा करने के लिए अपने स्वय के अधिकार के रूप मे इन दोनो भाइयो को सामन्त-पद प्रदान किया गया और लॉर्ड रॉबर्ट, लॉर्ड सेसिल ऑफ चेलवुड के रूप मे तथा लॉर्ड ह्यू, लॉर्ड क्विक्सवुड के रूप मे सामन्तसभा मे सम्मिलित हुए।

union) के पारित हो जाने पर लार्डसभा में स्कॉटलैंड के सोलह पीयर (Peer) और सम्मिलित हो गए। यह व्यवस्था की गई कि प्रत्येक नई संसद् के अवसर पर स्कॉटलैंड के समस्त पीयरों का सम्मेलन हो जो उस संसद् की अवधि के लिए अपने सोलह सदस्य निर्वाचित करें। किन्तु इस अधिनियम से यह भी व्यवस्था की गई कि भविष्य में कोई भी स्कॉटलैंड-निवासी स्कॉटलैंड का पीयर नहीं बनाया जाएगा उसे यूनाइटेड किंगडम का पीयर-पद मिल सकेगा, जिससे वह स्वत ही लार्डसभा में स्थान प्राप्त कर लेगा। चूंकि किसी नई संसद् के लिए स्कॉटलैंड का कोई भी पीयर अपने सहयोगियों द्वारा चुना जा सकता था, इसलिए यह भी उपबन्धित किया गया कि किन्हीं भी परिस्थितियों में वह लोकसभा के लिए निर्वाचित नहीं किया जा सकेगा। सन् 1800 के संयोग अधिनियम के द्वारा आयरलैंड के सत्ताईस पीयर (पादरी-मित्र) और चार विशप भी इस सदन में सम्मिलित होने लगे। ये सत्ताईस पीयर आयरलैंड के पीयरों द्वारा जीवन भर के लिए निर्वाचित किए जाते थे। अतएव, आयरलैंड का कोई भी पीयर जो कि लॉर्डसभा के लिए निर्वाचित नहीं हुआ हो, लोकसभा के लिए निर्वाचित होने के लिए स्वतन्त्र छोड़ दिया गया, हालाकि स्कॉटलैंड के सबंध में ऐसी व्यवस्था नहीं की गई थी। इसका दृष्टान्त लॉर्ड पामर्स्टन हैं। आयरलैंड संबंधी ये व्यवस्थाए सन् 1922 में आयरिश स्वतन्त्र राज्य की स्थापना के साथ समाप्त हो गई, और तब से आयरलैंड में कोई चुनाव नहीं हुए। स्कॉटलैंड संबंधी व्यवस्थाए भी प्रचलित हैं, हालाकि अब स्कॉटलैंड के तौर में भी कम पीयर रह गये हैं।

इन वंशानुगत और निर्वाचित पीयरों के अतिरिक्त दो अविशप (कैंटरबरी और यार्क के) और इक्कीस विशप अपने पद के आधार पर और पद पर बने रहने की अवधि तक लार्डसभा में सम्मिलित होते हैं। इनके अतिरिक्त कुछ कानूनी लॉर्ड अर्थात् साधारण अपील के लॉर्ड भी हैं जो केवल जीवन भर के लिए सदस्य होते हैं जब तक कि वे इस पदेन अधिकार से अलग, साधारण रीति से, पीयर नहीं बना दिए जाते जिस अवस्था में उनकी उपाधि वंशानुगत हो जाती है। वंशानुगत पीयरों की संख्या की कोई सीमा नहीं है। नाममात्र के लिए राजा के द्वारा किन्तु वास्तविक रूप से तत्कालीन मन्त्रिमंडल के द्वारा वे इच्छानुसार बनाए जा सकते हैं। पीयर-पद प्रदान करने की साधारण पद्धति एक सम्मान-सूची में घोषणा करना है, किन्तु कभी-कभी यह कार्य विशेष परिस्थितियों में अन्य अवसरों पर भी किया जाता है। इतिहास में ऐसा एक प्रसिद्ध अवसर हुआ है जबकि हाउस ऑफ लॉर्ड्स में वास्तव में एक विधि को पारित करने के लिए पीयर बनाए गए थे। ऐसा तब हुआ था जबकि सन् 1713 में हाउस ऑफ लार्ड्स ने यूट्रेक्ट की संधि का अनुसमर्थन करने से इनकार कर दिया था। यह संधि लोकसभा में टोरीदल के बहुमत द्वारा पारित हो गई थी, किन्तु लॉर्डसभा में ह्विगदल का बहुमत

था। संतुलन को ठीक करने के लिए टोरी मंत्रिमंडल ने रानी एन को बारह पीयर बनाने के लिए राजी कर लिया और इस प्रकार संधि का अनुसमर्थन प्राप्त हो गया। इसी प्रकार के दो अन्य संकटपूर्ण अवसरों पर ऐसी ही कार्यवाही की धमकी दी गई थी एक बार सन् 1832 के सुधार विधेयक और दूसरी बार सन् 1911 के संसद् विधेयक के संबंध में, किन्तु इन दोनों अवसरों पर केवल धमकी से काम चल गया और दोनों विधेयक लार्ड सभा ने पारित कर दिए क्योंकि इस धमकी से लार्ड सभा के सामने यह स्पष्ट हो गया था कि विधेयकों का विरोध करना निरर्थक है।

सन् 1911 तक हाउस ऑफ लार्ड्स की शक्तियां सिद्धांतरूप में लोक सभा (हाउस ऑफ कॉमन्स) के समान ही थीं। एक समय में तो वास्तविक रूप में भी ऐसा ही था। उदाहरणस्वरूप, सन 1784 में समस्त मंत्रिमंडल में, छोटा पिट ही एकमात्र ऐसा व्यक्ति था जो उसका प्रधानमंत्री भी था, और जो लोकसभा का सदस्य था। अन्य सब मंत्री लार्ड सभा के सदस्य थे। किन्तु इस समय से पूर्व ही शक्ति का केन्द्र लार्डसभा से लोकसभा की ओर सरक रहा था और उन्नीसवीं शताब्दी में मंत्रिमंडल के अधिकतर सदस्य अवर सदन से लिए जाने लगे थे। इस प्रक्रिया के फलस्वरूप विधि निर्माण कार्य में लार्डसभा की वास्तविक शक्तियां का ह्रास होने लगा, हालांकि सिद्धांतरूप में उनकी वैसी ही स्थिति बनी रही जैसी कि सदा से थी। अध्याय 6 में हम बता चुके हैं कि वित्त संबंधी विधेयक का संशोधित या अस्वीकार करने में लॉर्ड सभा की असमर्थता को मान्यता देने वाले रिवाज को किस प्रकार सन् 1909 में धृष्टतापूर्वक तोड़ा गया था और किस प्रकार उसके फलस्वरूप सन् 1911 तथा 1949 के संसद् अधिनियमों के द्वारा लॉर्ड सभा की वास्तविक गौणता को संविधानी रूप दिया गया था।

यहां इस प्रकार के सुधार के आधारों के बारे में सुझाव देने का भी प्रयत्न करना संभव नहीं है। किन्तु लार्डसभा के इतिहास, गठन और उसकी शक्तियों की इस संक्षिप्त रूपरेखा से कुछ बातें स्पष्ट होती हैं, जिनका ध्यान उस पर विचार करते समय रखना चाहिए। पहली बात यह है कि लॉर्डसभा की शक्तियां, जैसी कि वे संसद् अधिनियमों के पश्चात रह गई हैं, अब भी कुछ परिस्थितियों में वास्तविक सिद्ध हो सकती हैं। निलम्बन-निषेधाधिकार, जिससे लॉर्ड सभा किसी भी अवित्तीय विधेयक के पारण को एक वर्ष तक[1] स्थगित कर सकती है, ऐसे विधेयक के पारण को ही आसानी से रोक सकती है, क्योंकि उस एक वर्ष के दौरान में लोकसभा में अनेक परिवर्तन हो सकते हैं। ऐसी अवधि के दौरान में किए गए साधारण

1 अर्थात् जैसा कि सन् 1949 के विधेयक के अधीन होता है जिसने सन् 1911 के अधिनियम में निश्चित दो वर्ष की अवधि को घटा दिया था।

इसके अनुसार अब नये बेरन और नई बेरनेस (कानूनी लार्डों का छोड़कर) उनके जीवन-काल के लिये ही बनाये जा सकते हैं। इस प्रकार इस अधिनियम ने केवल एक नये प्रकार के पीयर पद का ही आरम्भ नहीं किया बल्कि लार्ड सभा में उसके लम्बे इतिहास में प्रथम बार महिलाओं को भी स्थान दिया। इस अधिनियम के अधीन 1961 तक 11 बेरन और 9 बेरनेस नियुक्त हो चुकी थीं। आनुवंशिक अधिकार को बनाये रखा जाय यह साधना के इस प्रकार भंग हो जाने पर 1960 में अनिच्छुक पीयर के मामले (Case of the Reluctant Peer) में बड़ी खल-बलि उत्पन्न हुई जिससे यह आनुवंशिक समस्या उलटे रूप में सामने आई। उस वर्ष वाइकाउण्ट स्टन्सगेट की मृत्यु हो गई और उनके पुत्र एवं उत्तराधिकारी एण्टनी वेजवुड बेन को स्वतः ही पीयर पद तथा हाउस ऑफ लार्ड्स में स्थान प्राप्त हो गया। परन्तु वह 1950 से पूर्वी ब्रिस्टल से निर्वाचित होकर लोकसभा का सदस्य चला आ रहा था। लोकसभा में उसका स्थान रिक्त घोषित कर दिया गया और उप-चुनाव की व्यवस्था की गई। वेजवुड बेन ने केवल अपना पीयर पद और हाउस ऑफ लार्ड्स में अपना स्थान ही नहीं छोड़ा वह उस रिक्त स्थान के लिए प्रत्याशी बनकर खड़ा भी हुआ और पहले से भी अधिक बहुमत से निर्वाचित हुआ। इस पर पराजित प्रत्याशी ने निर्वाचन न्यायालय में याचिका प्रस्तुत की। सन् 1962 में न्यायाधीशों ने निर्णय देते हुए कहा कि नये लार्ड स्टेन्सगेट का निर्वाचन उचित रीति से नहीं हुआ और ऐसी स्थिति में उनके सामने पराजित विरोधी का निर्वाचित घोषित करने के अतिरिक्त कोई चारा नहीं था। वेजवुड बेन (वह इसी नाम से पुकारा जाता रहा था) के लोकसभा के सदस्य बने रहने के अधिकार के लिये संघर्ष के लिये संसद् के भीतर और बाहर दोनों क्षेत्रों में सहानुभूति प्रकट की गई और उसकी बड़ी प्रशंसा भी हुई और सरकार ने दोनों सदनों की एक संयुक्त प्रवर समिति (Joint Select Committee) हाउस आफ लार्ड्स के गठन में सुधार सम्बन्धी विभिन्न प्रश्नों पर विचार करने के लिये नियुक्त की। आशा की जाती थी कि इस समिति की रिपोर्ट से अन्ततः मौलिक सुधार हो सकेगा क्योंकि वर्तमान स्थिति से कोई भी सन्तुष्ट नहीं है। एक ओर तो यह हालत है कि लॉर्डसभा के 900 सदस्यों में से अधिकतर सदस्य औपचारिक अवसरों के सिवाय कभी भी उसकी बैठकों में उपस्थित नहीं होते और राजनीतिक यथार्थवाद की माग है कि ऐसी परिस्थिति नहीं बनी रहनी चाहिए। दूसरी ओर, जो सदस्य उसके अधिवेशनों में भाग लेते हैं उनके वाद-विवाद का स्तर वास्तव में बहुत ऊंचा होता है और यह अनुचित है कि राष्ट्र के राजनीतिक जीवन में ऐसी प्रतिभा घटनाओं के क्रम को प्रभावित करने में शक्तिहीन रहे। इस उच्च सदन में राष्ट्रीय लाभ के लिए फिर से शक्ति-संचार करने की क्या विधि हो सकती है? कदाचित् कुछ अन्य विद्यमान द्वितीय सदनों के परीक्षण से हम इस प्रश्न का उत्तर ढूंढने में सहायता प्राप्त होगी।

3. कनाडा का नाम निर्देशित द्वितीय सदन

दूसरे प्रकार का द्वितीय सदन, जिस पर हम विचार करेंगे, नाम निर्देशित सदस्यों से गठित होता है। वंशानुगत द्वितीय सदन और इस सदन में स्पष्ट *अन्तर यह है कि जहां वंशानुगत पीयर का पद पिता से पुत्र को प्राप्त होता है,* जब तक कि उसका परित्याग नहीं किया जाता वहां नाम निर्देशित सिनेटर का पद उसकी मृत्यु के साथ अथवा यदि उस पद का धारक चाहे तो उससे भी पूर्व अथवा यदि संविधान के द्वारा पद की कोई निश्चित अवधि निर्धारित हो तो *तदनुसार समाप्त हो जाता है। पूर्णरूपेण नाम निर्देशित द्वितीय सदनों में सबसे* अधिक महत्वपूर्ण वे सदन हैं जिनके सदस्य जीवन भर के लिए पद धारण करते हैं। इस प्रकार के द्वितीय सदनों में कनाडा का द्वितीय सदन सबसे अधिक दिलचस्प है।

कनाडा में सिनेट का नाम निर्देशन मुकुट, गवर्नर-जनरल के द्वारा किन्तु व्यावहारिक रूप में तत्कालीन मन्त्रिमंडल की सलाह से, करता है। इसकी सदस्य-संख्या सीमित है और चूंकि कनाडा एक संघवत राज्य है, एकात्मक नहीं, अतः सख्याओं और प्रांतों के बीच एक अनुपात के आधार पर सिनेटरों की नियुक्ति *के संबंध में कुछ प्रादेशिक प्रतिबन्ध है। यह नाम निर्देशित सिनेट कनाडा को लागू* होने वाले सभी क्रमिक सांविधानिक अधिनियमों में सन् 1791 के पिट के अधिनियम, सन् 1840 के कनाडा अधिनियम और सन् 1867 के उत्तरी अमरीका अधिनियम में जो कनाडा के वर्तमान संविधान का आधार है विधानमंडल का एक *अंग रही है। इस अन्तिम अधिनियम के द्वारा 72 सदस्यों—तीनों मूल प्रान्तों* में से प्रत्येक के लिए चौबीस सदस्यों (इस प्रयोजन के लिए दोनों समुद्री प्रांत एक ही माने गए थे)—की एक सिनेट का संगठन किया गया था। किन्तु डामिनियन के विस्तार और नए प्रांतों के सम्मिलित किए जाने के साथ समानता का *यह सिद्धान्त कायम नहीं रखा गया। अधिनियम में कहा गया था कि जब प्रिंस* एडवर्ड द्वीप संघ में सम्मिलित हो तब उसका प्रतिनिधित्व चार सिनेटरों द्वारा होना चाहिए और अन्य दोनों समुद्री प्रान्तों की सदस्य-संख्या बदलकर दस-दस हो जानी चाहिए। ऐसा ही गया है।

सन् 1871 के एक अधिनियम द्वारा कनाडा की संसद् को किसी नए प्रांत के लिए जो बनाया जाए और डॉमिनियन में सम्मिलित किया जाए, नए सिनेटर सम्मिलित करने का अधिकार दिया गया था। इसके अतिरिक्त गवर्नर-जनरल (अर्थात् मन्त्रिमंडल) को प्रदत्त एकमात्र शक्ति यही है कि वह तीन से छह तक *सदस्य और सम्मिलित कर सकता है, जो तीनों मूल प्रांतों में से समान रूप से* लिए जाएंगे। दूसरे शब्दों में, छह अतिरिक्त सदस्य निर्देशित किए जा सकते हैं

किन्तु इससे अधिक नही और सभवत उनकी सख्या की सीमा यही रह सकती है। इन व्यवस्थाओ का परिणाम यह हुआ है कि आज कनाडा की सिनेट मे 102 सदस्य है, किन्तु विभिन्न प्रातो के प्रतिनिधियो की सख्या चौबीस से चार तक है। सिनेटर का नाम निर्देशन जीवन भर के लिए किया जाता है किन्तु इसमे कुछ शर्तें होती है। उसकी आयु कम-से-कम तीस वर्ष होनी चाहिए, उसे उस प्रात का निवासी होना चाहिए जिसके लिए वह नियुक्त किया जाना है रानी की जन्मना या देशीकृत प्रजा और कम से-कम 4 000 डालर मूल्य की सपत्ति का स्वामी होना चाहिए। वह जब कभी चाहे त्यागपत्र दे सकता है और यदि वह लगातार दो सत्रो मे अनुपस्थित रहे, अपनी निष्ठा बदल दे, दिवालिया हो जाए, किसी सगीन अपराध का दोषी सिद्ध हो, या अर्हताओ से वचित हो जाए तो उसे अपना स्थान रिक्त कर देना पडता है।

कनाडा की सिनेट असभव को सभव करने का प्रयत्न करती है। सविधान ने वशानुगत सिद्धात के स्थान पर आजीवन नाम निर्देशन की योजना को अगीकार करते हुए सिनेट को हाउस ऑफ लॉर्ड्स के नमूने पर गठित करने का प्रयत्न किया। इसके साथ ही उसने ऐसी बात करनी चाही जिसे वह केन्द्रीय शक्ति द्वारा वरण की प्रणाली को रखते हुए नही कर सकता था—अर्थात् सघीय तत्व को बनाए रखना। ऐसा तो सघ का निर्माण करने वाले राज्यो के बीच समानता के आधार पर ही किया जा सकता है, जिसके अनुसार प्रत्येक राज्य अपने सिनेटरो का वरण स्वय करता है। सविधान ने जो कुछ किया है वह इतना ही है कि तीनो मूल प्रातो की चौबीस-चौबीस सदस्यो की सख्या बढाई या घटाई नही जा सकती। किन्तु अब तीसरे मूल प्रात मे तीन—अर्थात् न्यू ब्रसविक, नोवास्कोशिया और प्रिंस एडवर्ड द्वीप हैं, जिनमे से दो के दस दस सिनेटर और तीसरे के चार सिनेटर होते है जब कि न्यूफाउडलैंड सहित शेष प्रातो मे से प्रत्येक के छह सिनेटर होते है। इन विरोधी प्रयोजनो का असर कनाडा की सिनेट की प्रतिष्ठा पर पडा है जिसे न तो निर्वाचित द्वितीय सदन की जैसी शक्ति और न सघीय तत्व को समाविष्ट करने वाले उच्च सदन की उपयोगिता ही प्राप्त है। इस प्रकार का उच्च सदन कैसा होना चाहिए, यह हम आगे के एक खड मे देखेंगे।

4 अंशत निर्वाचित उच्च सदन

(क) दक्षिणी अफ्रीका मे सिनेट

अशत निर्वाचित सिनेट का एक दिलचस्प उदाहरण दक्षिणी अफ्रीका मे पाया जाता है। सन् 1909 के अधिनियम द्वारा, जिसके अनुसार सन् 1910 मे वर्तमान सविधान अस्तित्व मे आया, पहले दस वर्षों के लिए अस्थायी व्यवस्था

की गई जिसके पश्चात् यदि दक्षिणी अफ्रीका की संसद् ने सिनेट के गठन का परिवर्तन करने के लिए कोई अधिनियम पारित न किया तो सिनेट में चालीस सदस्य होने थे। इनमें से आठ स-परिषद गवर्नर-जनरल द्वारा नाम निर्देशित किए जाते थे। संघ के चारों प्रान्तों में से प्रत्येक प्रान्त आठ सदस्य भेजता था जिनका निर्वाचन प्रान्तीय परिषद और संसद्ध प्रान्त से संघ की व्यवस्था के लिए निर्वाचित सदस्य मिलकर करते थे। समय-समय पर सिनेट की सदस्य-संख्या में वृद्धि होती रही जिसके अनुसार उसमें दो नाम निर्देशित सदस्य, देशी हितों के चार प्रतिनिधि और दक्षिण पश्चिमी अफ्रीका से दो प्रतिनिधि और बढ़ जाने से 1950 तक कुल सदस्य संख्या 48 हो गई। उस समय में दक्षिणी अफ्रीका की जातीय समस्या के बढ़मान् सांविधानिक प्रभाव हुए और 1955 में सिनेट अधिनियम के अनुसार सिनेट की संरचना एवं उसके निर्वाचन में मौलिक परिवर्तन हो गये। सदस्य-संख्या 48 से बढ़ाकर 89 कर दी गई जिनमें से 19 नाम निर्देशित रहे। प्रान्तों का प्रतिनिधित्व समान नहीं रहा और उसका सम्बन्ध प्रत्येक प्रान्त के मतदाताओं की संख्या से जुड़ गया और सिनेटरों के निर्वाचन भी, विभिन्न प्रान्तीय परिषदों में दलीय शक्ति के अनुपात में नहीं, बल्कि बहुमत दल के प्रत्यक्ष मतदान द्वारा व्यवस्था हुई। सरकार के वक्तव्य के अनुसार इस अधिनियम का प्रयोजन संसद् की प्रभुता को असंदिग्ध बना देना और रंगीन निवासियों के लिए पृथक् प्रतिनिधित्व की व्यवस्था करना था।

सन 1961 के अधिनियम में जिसके द्वारा गणतन्त्र गठित हुआ, 28-39 खण्डों में सिनेट की संरचना एवं शक्तियों का वर्णन है। इस अधिनियम में सिनेट के गठन में कई परिवर्तन हो गये परन्तु अंशतः नाम निर्देशित एवं अंशतः निर्वाचित द्वितीय सदन का सिद्धान्त बना रहा। उसमें कहा गया है कि, प्रथम, प्रत्येक प्रान्त से दो-दो, इस प्रकार आठ सिनेटरों का नाम निर्देशन प्रेसीडेण्ट करेगा। नाम निर्देशन करते समय ऐसे व्यक्तियों के वरण के महत्त्व का ध्यान में रखेगा जिन्हें उन प्रान्तों के जिनके लिए वे नाम निर्देशित किये जायेंगे, मामलों की जानकारी हो और उन दोनों में से कम-से-कम एक ऐसा हो जिसे रंगीन आबादी के हितों का ध्यान हो। निर्वाचित सदस्यों के विषय में अधिनियम में कहा गया है कि प्रत्येक प्रान्त से उतने सदस्य, परन्तु आठ से कम नहीं निर्वाचित होंगे जितने उन निर्वाचन-क्षेत्रों, जिनमें प्रान्त हाउस आफ एसेम्बली के निर्वाचन के लिए विभक्त हो तथा उन क्षेत्रों की, जिनमें प्रान्त प्रान्तीय सभासदों (Councillars) के निर्वाचन के लिए विभक्त हो, संख्या के बराबर होंगे। प्रत्येक प्रान्तों में इन सिनेटरों का निर्वाचन हाउस आफ एसेम्बली में उस प्रान्त के सदस्य तथा प्रान्तीय परिषद् के सभासद मिलकर करेंगे और निर्वाचन एकल संक्रमणीय मत की पद्धति से आनुपातिक निर्वाचन के सिद्धान्त के अनुसार होगा। नाम निर्देशित एवं

निर्वाचित दोनो प्रकार के सिनेटर श्वेत व्यक्ति होगे[1] जिनकी आय कम से कम 30 वर्ष की हो जा गणतन्त्र की सीमाओ के अन्दर कम से कम पाच वर्ष रह हो और जिनकी अवधि पाच वर्ष की होगी (यदि इसके पहले सिनेट भग न हो)।

सिनेट वित्त विधेयक का उपक्रम या सशोधन नही कर सकता। अ वित्तीय विधेयको के सम्बन्ध मे व्यवस्था यह है कि यदि सिनेट हाउस आफ एसेम्बली द्वारा प्रेषित ऐसे विल का अस्वीकार करे तो यह अस्वीकृति प्रथम ससद अधिनियम (1911) द्वारा ब्रिटिश हाउस आफ लार्ड स को प्रदत्त निलम्बन निषेधाधिकार के समान प्रभावी निलम्बन निषेधाधिकार बन जाती है। परन्तु इस सम्बन्ध म प्रेसीडेण्ट को महत्वपूर्ण शक्ति प्राप्त है जिसके द्वारा दोना सदनो क बीच के गतिरोध को दूर किया जा सकता है क्योकि यह दोना सदनो को एक साथ (या सिनेट को हाउस आफ एसेम्बली के भग के 120 दिन के अन्दर) भग कर सकता है ऐसी स्थिति मे सिनेट के सभी स्थान नाम निर्देशित एव निर्वाचित, रिक्त हो जाते है।

(ख) आयर का सिनेट

सन 1937 के सविधान के अधीन आयर की सिनेट का आकार वैसा ही है जैसा कि आयरिश स्वतन्त्र राज्य (सन 1922) क सविधान द्वारा स्थापित सिनेट का था, किन्तु उसके निर्माण की रीति मे एक बडा अन्तर है। पहली सिनेट पूर्णरूपेण निर्वाचित थी जब कि वर्तमान सिनेट अशत नाम निर्देशित है। इसके अतिरिक्त आयर की सिनेट मे वृत्तिमूलक (Functional) हितो का प्रतिनिधित्व भी होता है जब कि मूल सविधान के अनुसार य हित राष्ट्र के सामाजिक और आर्थिक जीवन की विभिन्न शाखाओ का प्रतिनिधित्व करने वाली तदर्थनिर्मित परिषदो मे ही केन्द्रित थे। यह योजना अब त्याग दी गई है।

आयरिश स्वतन्त्र राज्य की सिनेट मे साठ सदस्य होते थे जो बारह वर्ष तक पद धारण करत और जिनमे से एक चौथाई हर तीसरे वर्ष अलग हो जाते थे। उनका आनुपातिक निर्वाचन के सिद्धान्त के आधार पर प्रत्यक्ष निर्वाचन होना था और समस्त राज्य एक निर्वाचन-क्षेत्र होना था। किन्तु निर्वाचन के लिए उम्मीदवार बनने की शर्तें बहुत कडी थी। सविधान मे निर्धारित किया गया था कि केवल वे ही नागरिक उम्मीदवार हो सकेंगे जो पैंतीस वर्ष के हो चुके हो और जिनसे राष्ट्र को सम्मान प्राप्त हुआ हो या जो विशेष अर्हताओ या सफलताओ के बल पर राष्ट्रीय जीवन के महत्वपूर्ण पहलुओ का प्रतिनिधित्व करते हो। प्रत्यक निर्वाचन से पूर्व निर्धारित योग्यता वाले नाम निर्देशित व्यक्तियो की एक सूची तैयार की जाती थी जिसमे दिए गए नामो की सख्या निर्वाचित किए जानेवाले

[1] सन् 1930 से दक्षिणी अफ्रीका मे महिलाओ को मताधिकार प्राप्त है।

सदस्यों की संख्या से तिगुनी होती थी। इनमें से दो-तिहाई का नाम निर्देशन प्रतिनिधि-सभा द्वारा और एक-तिहाई का सिनेट द्वारा आनुपातिक निर्वाचन-प्रणाली के अधीन मतदान द्वारा किया जाता था। इस सूची में सिनेट के किसी ऐसे पिछले या निवृत्त होनेवाले सदस्य का नाम भी जोड़ दिया जाता था जो प्रधान मन्त्री को लिखित रूप में खड़े होने की अपनी इच्छा की सूचना देता था।

सन् 1922 के संविधान के अधीन सिनेट की योजना उस समय अत्यधिक सैद्धांतिक प्रतीत हुई। उसकी शक्तियां भी बहुत सीमित थीं चूंकि वित्तीय विधि-निर्माण में उसका कोई हाथ नहीं था और अ-वित्तीय विधेयकों के संबंध में भी उसे केवल विलंबन-निषेधाधिकार प्राप्त था जो प्राय: ग्रेट ब्रिटेन की लॉर्डसभा के वैसे ही अधिकार के समान था। नए संविधान द्वारा किए गए सबसे अधिक महत्त्व-पूर्ण परिवर्तन मुख्य रूप से दो अनुच्छेदों में हैं। अनुच्छेद 18 के अधीन, सिनेट के साठ सदस्यों में से ग्यारह (प्रधान मन्त्री द्वारा) नाम निर्देशित किए जाते हैं और उनन्चास निर्वाचित होते हैं। कोई भी नागरिक अर्थात् इक्कीस वर्ष का कोई भी पुरुष अथवा स्त्री जो प्रतिनिधि-सदन का सदस्य निर्वाचित होने योग्य है, सिनेट के लिए निर्वाचित होने योग्य भी है। उनन्चास निर्वाचित सदस्यों में से छह दो विश्वविद्यालयों द्वारा निर्वाचित किए जाते हैं और बाकी तैंतालीस कुछ नियमों के अनुसार निर्मित उम्मीदवारों की सूचियों में से निर्वाचित किए जाते हैं। प्रत्येक निर्वाचन से पूर्व संस्कृति, साहित्य, कला और शिक्षा, कृषि एवं तत्संबंधी हितों, बैंकिंग, वास्तुकला और इंजीनियरी समेत श्रम, उद्योग और वाणिज्य, लोक प्रशासन और सामाजिक सेवाओं के क्षेत्र में विख्यात व्यक्तियों की पांच सूचियां बनाई जाती हैं। एक सूची में से अधिक-से-अधिक ग्यारह और कम-से-कम पांच सदस्य निर्वाचित किए जा सकते हैं। सिनेट के लिए साधारण निर्वाचन प्रतिनिधि-सभा (Dail) के विघटन के पश्चात् अधिक-से-अधिक नब्बे दिन में हो जाना चाहिए और प्रत्येक सदस्य, यदि उसकी पहले ही मृत्यु नहीं हो जाती या वह त्यागपत्र नहीं दे देता या उसमें अनर्हता पैदा नहीं हो जाती, प्रतिनिधि-सभा के साधारण निर्वाचन के मतदान दिवस से पूर्व के दिन तक पद धारण करेगा।

वृत्तिमूलक प्रतिनिधित्व भी शामिल करने के लिये निर्वाचन की उपर्युक्त प्रणाली के आधार में परिवर्तन के लिए अनुच्छेद 19 द्वारा अनुमति दी गई है इस अनुच्छेद में कहा गया है —

> "विधि किसी वृत्तिक या व्यावसायिक समुदाय, या संस्था या परिषद् द्वारा सिनेट के इतने सदस्यों के, जितने उस विधि द्वारा नियत किए जाए, इस संविधान के अनुच्छेद 18 के अधीन निर्मित उम्मीदवारों की तदनुरूपी (उन वृत्तियों, व्यवसायों आदि से सम्बन्धित) सूचियों में से निर्वाचित

किए जाने वाले सदस्यों की उतनी ही संख्या के स्थान पर प्रत्यक्ष निर्वाचन के लिए व्यवस्था कर सकती है।

(ग) स्पेन की पुरानी सिनेट

सन् 1932 के स्पेन के गणतंत्रीय संविधान के अधीन, जिसे फ्रांको ने समाप्त कर दिया था, एकसदनी विधानमंडल की स्थापना हुई थी, यद्यपि सन् 1876 के संविधान के अधीन द्विसदनी प्रणाली चल रही थी। मूल संविधान के अधीन द्वितीय सदन सिनेट था जो वर्तमान अधिनायकशाही के स्थान पर पुनः राजतंत्र की स्थापना की अवस्था में फिर से प्रवर्तित हो सकता है। ऐसा हो या न हो, किन्तु स्पेन की पुरानी सिनेट का अध्ययन हमारे लिए रोचक है क्योंकि यह कहा जाता है कि उसका गठन ऐसा है जो ब्रिटेन में संशोधित हाउस ऑफ लार्ड्स के लिए शायद नमूने का काम दे सकता है। स्पेन की मूल सिनेट में 360 सदस्य थे जिनमें से आधे अपने स्वयं के अधिकार से सिनेटर (राजकुमार, कुछ निश्चित आय वाले सरदार आदि) पदेन सदस्य (जैसे आर्चबिशप, सर्वोच्च न्यायालय का प्रधान आदि) और जीवन भर के लिए राजा (अर्थात् मंत्रिमंडल) द्वारा नाम निर्देशित सदस्य होते थे। इन शीर्षकों के अधीन कुल संख्या 180 से अधिक कभी भी नहीं हो सकती थी, और नाम निर्देशित सदस्य तथा शेष 180 जो कि निर्वाचित किए जाते थे, कुछ विशिष्ट श्रेणियों में से ही लिए जा सकते थे। निर्वाचित सदस्यों का वरण इस प्रकार होता था (1) नौ आर्चबिशप क्षेत्रों में से प्रत्येक के पादरियों द्वारा एक, (2) छह राजकीय विद्वत्परिषदों में से प्रत्येक द्वारा एक, (3) दस विश्वविद्यालयों में से प्रत्येक द्वारा एक, (4) कतिपय आर्थिक समाजों द्वारा पांच, (5) शेष 150 सिनेटर स्पेन के प्रत्येक प्रान्त में निर्वाचक मंडलों द्वारा निर्वाचित होते थे जिनमें नगरपालिका के सदस्यों और शहरी एवं नगरपालिका-प्रदेशों में सबसे अधिक कर देने वालों में से वरण किए गए प्रतिनिधि होते थे। सिनेट का निर्वाचित भाग अवर सदन के साथ विघटित हो जाता था, चाहे उसकी वैध अवधि पूरी हुई हो या न हुई हो। मंत्रिगण स्पेन के विधानमंडल के दोनों सदनों में बोल सकते थे। इससे साधारण समयों में सिनेट को कुछ अधिक प्रतिष्ठा प्राप्त रहती थी, जैसी उसको अन्यथा प्राप्त नहीं हो सकती थी।

5 दो एकात्मक राज्यों में निर्वाचित द्वितीय सदन

इस शीर्षक के अन्तर्गत जिन दो निर्वाचित द्वितीय सदनों का हम वर्णन कर रहे हैं वे फ्रांस और इटली के हैं। फ्रांस की सिनेट अप्रत्यक्ष रीति से निर्वाचित है और इटली की प्रत्यक्ष रीति से।

(क) फ्रांस

फ्रांस के सन 1875 के बाद स्थापित तीनों गणतन्त्रों—तृतीय, चतुर्थ और पंचम—में से प्रत्येक के संविधान में द्विसदनी विधानमंडल की व्यवस्था की गई थी जिसमें अवर सदन का (जिसे तृतीय गणतन्त्र में चेम्बर आफ डिप्यूटीज और शेष दोनों गणतन्त्रों में नेशनल एसेम्बली कहते थे) लोक-निर्वाचन द्वारा प्रत्यक्ष निर्वाचन होता था और उच्च सदन (जिसका नाम तृतीय गणतन्त्र में सिनेट, चतुर्थ में कौंसिल ऑफ द रिपब्लिक और पंचम में पुन सिनेट था) अप्रत्यक्ष रीति से निर्वाचित होता था। तृतीय गणतन्त्र में सिनेट में 300 सदस्य होते थे जिनमें से प्रत्येक की सदस्यावधि 9 वर्ष होती थी और जिनमें से एक तिहाई सदस्यों की जगह प्रति तीन वर्ष में नये सदस्य निर्वाचित होते थे। निर्वाचन विभिन्न डिपार्टमेंटो एवं उपनिवेशों में तदर्थ गठित निर्वाचक-मण्डलों द्वारा होता था। प्रत्येक अवस्था में निर्वाचकमण्डल में डिपार्टमेंट के डिपुटी, जनरल कौंसिल—(अर्थात् स्थानीय सत्ता) के सदस्य, एरॉन्डिजमट की कौंसिलों के सदस्य और प्रत्येक कम्यून में कम्यून की कौंसिलों से वरण किये हुए प्रत्यायुक्त (Delegates) होते थे। सदस्यों की संख्या डिपार्टमेंट की जनसंख्या के आधार पर निर्धारित की जाती थी। सिनेट की शक्तियां, वित्तीय विधि निर्माण को छोड़ शेष बातों में सांविधानिक दृष्टि से चेम्बर ऑफ डिपूटीज की शक्तियों के समान थीं। विधि-निर्माण में सिनेट का कार्य काफी महत्वपूर्ण होता था।

चतुर्थ गणतन्त्र के संविधान में अप्रत्यक्ष प्रणाली से निर्वाचित द्वितीय सदन का सामान्य सिद्धान्त कायम रहा परन्तु कौंसिल ऑफ द रिपब्लिक की सदस्य संख्या एवं कार्यावधि सम्बन्धी ब्यौरे की बातें विधिनिर्माण की सामान्य प्रक्रियाओं के लिये छोड़ दी गईं। समय समय पारित[1] विधियों के अनुसार यह व्यवस्था की गई थी कि कौंसिल ऑफ द रिपब्लिक के, एक तिहाई स्थानों (जैसा पहले होता था) की जगह आधे स्थानों के लिये नये निर्वाचन होंगे और उसकी सदस्य संख्या *नेशनल एसेम्बली की सदस्य संख्या की एक-तिहाई से कम और आधी से अधिक* नहीं होगी। उसका गठन भी पहले की सिनेट के गठन से भिन्न था। अन्तिम

[1] उदाहरणार्थ, 1946 में पारित अधिनियम के अनुसार कौंसिल ऑफ द रिपब्लिक की सदस्य-संख्या 315 रखी गई थी। जिसका वितरण इस प्रकार किया गया था—(1) मेट्रोपॉलिटन फ्रांस के प्रत्यायुक्तों द्वारा निर्वाचित 200 सदस्य, (2) नेशनल एसेम्बली द्वारा निर्वाचित 50 सदस्य, (3) अलजीरियन क्षेत्रों से निर्वाचित 14 सदस्य (4) डिपार्टमेण्टों की जनरल कौंसिलों एवं प्रादेशिक एसेम्बलियों तथा समुद्रपार के फ्रेंच प्रदेशों द्वारा निर्वाचित 51 सदस्य।

रूप मे कौंसिल ऑफ द रिपब्लिक मे 320 सदस्य होते थे। जिनमे मेट्रोपॉलिटन फ्रान्स के डिपार्टमेंटो के लिये निर्वाचित 200 सदस्य, नेशनल एसेम्बली द्वारा निर्वाचित 50 सदस्य शामिल थे और शेष सदस्य फ्रांस के समुद्रपार के प्रदेशो तथा बाहर निवास करने वाले फ्रेन्च नागरिको के प्रतिनिधि होते थे। कौंसिल की सदस्यता के लिये आयु कम से कम 35 वर्ष निर्धारित की गई थी। उसे अ-वित्तीय विधेयकों को पुनः स्थापित करने का अधिकार था और अवर सदन द्वारा प्रेषित किसी विधेयक पर बहस करने मे उतना ही समय (उससे अधिक नही) ले सकती थी जितना एसेम्बली ने उसमे लिया था।

पचम गणतत्र मे 1958 के सविधान से सिनेट के गठन मे कोई मूलभूत परिवर्तन नही हुए। सिनेट के गठन की ब्यौरे की बातो को उल्लिखित करने वाले अध्यादेश मे उन तीनो सिद्धान्तो का विचार रखा गया था जिन पर पूर्व कौंसिल ऑफ द रिपब्लिक आधारित थी—अर्थात् (1) सिनेट मे, देश के प्रादेशिक विभागो के समुदायो को उनकी सामूहिक हैसियत मे प्रतिनिधित्व प्राप्त होना चाहिये, (2) फलत सिनेट का अप्रत्यक्ष मतदान द्वारा निर्वाचन होना चाहिये और (3) फ्रान्स के बाहर के फ्रेन्च नागरिक अधिवासियो को भी प्रतिनिधित्व प्राप्त होना चाहिये। प्रत्येक सिनेटर का निर्वाचन 9 वर्ष के लिये होना था, परन्तु नये सविधान मे तृतीय गणतत्र की प्रणाली पुन स्वीकार की गई अर्थात् चतुर्थ गणतत्र मे जैसे आधे सदस्य निवृत्त होते थे उसके स्थान मे एक तिहाई सदस्यो के निवृत्त होने की व्यवस्था रखी गई।

पचम गणतत्र मे स्थापित सिनेट की सदस्य-सख्या पूर्व कौंसिल ऑफ द रिपब्लिक की सदस्य-सख्या से कुछ कम (320 के स्थान पर 307) रखी गई। इनमे से 255 स्थान मेट्रोपॉलिटन फ्रान्स के डिपार्टमेंटो को दिये गये, 6 प्रवासी फ्रेन्च नागरिको के समूहो को और शेष उपनिवेशो एव समुद्रपार के प्रदेशो को दिये गये। (समुद्रपार के प्रदेशो मे अल्जीरिया को, जो अब स्वतन्त्र हो गया है, 32 स्थान प्राप्त थे)। सिनेटरो का अप्रत्यक्ष निर्वाचन निर्वाचक-मण्डलो मे मतदान की परम्परागत पद्धति द्वारा प्रत्येक डिपार्टमेंट मे होता है। निर्वाचक मण्डल मे डिपार्टमेंट के डिप्यूटी (अर्थात् नेशनल एसेम्बली के सदस्य), जनरल कौंसिलर (डिपार्टमेंट के), और नगरपालिका परिषदो के प्रत्यायुक्त होते हैं। प्रत्येक डिपार्टमेंट के स्थान जनसख्या के आधार पर निर्धारित किये जाते हैं। स्थानीय और अप्रत्यक्ष होने हुए भी ये निर्वाचन केन्द्रीय शासन राजनीतिक शक्तियो का सन्तुलन निर्धारित करने मे कुछ प्रभाव डाल सकते हैं, क्योकि निर्वाचक मण्डलो मे मुख्यकर नगरपालिकाओ के मुख्यायुक्त होते है और फलत उनके मतो मे नगरपालिका-परिषदो के बहुमत के राजनीतिक विचार प्रतिबिम्बित होते है। किन्तु वास्तव मे, सिनेट की शक्तियाँ, निरपेक्ष रूप मे या नेशनल एसेम्बली

की तुलना मे, पचम गणतन्त्र की अध्यक्षीय व्यवस्था मे उतनी अधिक नही है जितनी पूर्व के दोनो गणतन्त्रो की ससदीय पद्धति मे थी।

(ख) इटली

इटली के नए गणतंत्र में समद् का द्वितीय मदन मूल संविधान के अधीन द्वितीय मदन से मौलिक रूप मे भिन्न है, क्योंकि पहले इटली की सिनेट नाम निर्देशित होती थी और अब वह निर्वाचित होती है। राजतन्त्र के अधीन सिनेट मे राजवश के राजकुमार और राजा द्वारा केवल कुछ वर्गों मे से जीवनभर के लिए नाम निर्देशित सदस्य ही होते थे। उनमे गिरजा के धर्माधिकारी, कुछ निश्चित वर्षो तक निम्न मदन मे सेवा किए हुए सदस्य, विज्ञान और साहित्य मे ख्यातिप्राप्त व्यक्ति, और वे व्यक्ति भी होते थे जिन्होंने राज्य की विशिष्ट सेवा की हो। सिनेटरो की सख्या की कोई सीमा नही थी और चूकि उनकी नियुक्ति वास्तव मे तत्कालीन मन्त्रिमडल के हाथो मे थी, इसलिए कभी-कभी इस शक्ति का प्रयोग सिनेट से विधियां पारित कराने के लिए किया जाता था। उदाहरणस्वरूप, सन् 1890 मे एक ही समय मे 75 सिनेटर नियुक्त किए गए थे। यही कारण है कि मुसोलिनी को निगम-राज्य के निर्माण के लिए सिनेट के स्वरूप मे कोई क्रान्तिकारी परिवर्तन करने की आवश्यकता नही पडी जैसा उसने प्रतिनिधि-मदन मे किया, क्योकि राजा ने कृपापूर्वक सिनेट को फासिस्टो से भर दिया। राजतन्त्र के अधीन इटली मे सिनेट की शक्तियां कानूनी दृष्टि से प्रतिनिधि-मदन के समान थी, किन्तु व्यवहार मे, नियुक्ति की पद्धति के कारण, अवर मदन द्वारा पारित किसी व्यवस्था के लिए उच्च मदन की सम्मति बलपूर्वक प्राप्त की जा सकती थी। वास्तविकता तो यह है कि फासिस्ट अधिनायकतन्त्र के प्रादुर्भाव से पूर्व ही सिनेट प्रतिनिधि-मदन के साथ अपनी समानता खो चुकी थी।

नए गणतन्त्रीय संविधान के द्वारा प्रतिनिधि-मदन (Chamber of Deputies) और सिनेट से युक्त ससद की स्थापना की गई है। ये दोनो मदन गणतन्त्र के राष्ट्रपति के निर्वाचन (इस समय उसमे प्रादेशिक परिषदो (Regional Councils) के प्रतिनिधि भी शामिल हो जाते हैं।) पद-ग्रहण करते समय प्रेसीडेंट के शपथ-ग्रहण और आवश्यकता होने पर उस पर महाभियोग लगाने जैसे प्रयोजनो के लिए एक सयुक्त अधिवेशन म समवेत होते हैं। सिनेटर-मदन का निर्वाचन प्रादेशिक आधार पर होता है,[1] प्रत्येक प्रदेश का अपनी जनसख्या के प्रति दो लाख (या एक लाख से ऊपर किसी भिन्न (Fraction) के लिए एक सिनेटर होता है किन्तु किसी भी प्रदेश के सिनेटरो की सख्या (ला वाले द' ओस्ता La Valle D' Aosta)

---

[1] गणतन्त्रीय इटली के प्रादेशिक संगठन के लिए पीछे पृष्ठ 98 देखिए

को छोड कर जो बहुत ही छोटा है) छह से कम नही होती। सिनेट सार्वलौकिक एव प्रत्यक्ष मतदान के आधार पर निर्वाचित होती है और 25 वर्ष या उससे अधिक आयु वाले सभी नागरिक इसके निर्वाचन मे मत दे सकते हैं। चालीस वर्ष से अधिक आयु वाला कोई भी निर्वाचक सिनेटर बन सकता है।

किन्तु इटली की सिनेट के गठन मे निर्वाचन सिद्धान्त के दो छोटे से अपवाद है जिनका उद्देश्य राजनीतिक सेवाओ को पुरष्कृत करना तथा राष्ट्रीय जीवन के अन्य क्षेत्रो मे विशिष्ट योगदान को मान्यता प्रदान करना है। इनके सम्बन्ध में सविधान मे कहा गया है कि 'गणतन्त्र के पूर्व प्रेसीडेण्टो को, यदि उन्होंने इस अधिकार का परित्याग न कर दिया हो, सिनेटर बनने का अधिकार है', और '*इटली के गणतन्त्र का राष्ट्रपति ऐसे पाँच नागरिको को जीवन भर के लिये सिनेटर नियुक्त कर सकता है जिन्हे सामाजिक, वैज्ञानिक, कला के या साहित्यक क्षेत्रो मे विशिष्ट स्थान प्राप्त है।*

सिनेट की सामान्य अवधि 6 वर्ष की है, जबकि चेम्बर ऑफ डिप्यूटीज की 5 वर्ष है। परन्तु चेम्बर के समान सिनेट उसकी अवधि की समाप्ति के पहले ही भग की जा सकती है। उदाहरणार्थ 1958 मे दोनो सदन एक साथ भग कर दिये गये थे और दोनो के लिये सामान्य निर्वाचन हुआ था। डिप्युटिओ के समान सिनेटरो को भी वेतन मिलता है जो समय-समय पर विधि द्वारा निर्धारित किया जाता है। दोनो सदनो को विधेयकों का सूत्रपात करने के समान अधिकार हैं। यही अधिकार उपक्रम-सिद्धान्त के आधार पर जनता को भी प्राप्त हैं[1]। परन्तु विस्तृत बहस के लिये दोनो सदनो मे से किसी भी सदन के समक्ष आने के पहले विधेयक को परीक्षा के लिये एक आयोग के समक्ष प्रस्तुत करना आवश्यक है। इसके अतिरिक्त इटली की सिनेट को शासन के विरुद्ध निन्दा अथवा अविश्वास का प्रस्ताव प्रस्तुत करने का अधिकार है। चूंकि फ्रान्स की सिनेट इस अधिकार से वचित है, यह स्पष्ट है कि गणतत्रीय इटली मे पचम गणतन्त्र के आधीन फ्रान्स की अपेक्षा दोनो सदनो की समानता अधिक वास्तविक है।

6 दो संघीय राज्यो में निर्वाचित सिनेट

जिन दो पूर्ण सघीकृत राज्यो अर्थात् अमरीका के सयुक्तराज्य और आस्ट्रेलिया की हम पहले चर्चा कर चुके हैं, उनकी सिनेटो मे तीन विशिष्ट लक्षण पाए जाते हैं। पहला, दोनो राज्यो मे सिनेट मे सघ का निर्माण करने वाले राज्यों के प्रतिनिधि बराबर होते हैं। यह समानता एक अत्यावश्यक लक्षण है क्योकि वास्तविक सघ मे वह प्रभुता, जिसका सघबद्ध होने वाली इकाइयो ने त्याग किया है

---

1 अध्याय 10 देखिए।

ऐसे निकाय के हाथों में नहीं छोड़ दी जानी चाहिए जो उनके नियंत्रण के बाहर हो या जिसमें उनमें से किसी एक की शक्ति औरों के मुकाबले में अत्यधिक हो। दूसरे, दोनों राज्यों में सिनेटर पृथक् रूप से सदस्य-राज्यों में और उन्हीं में निर्वाचित होते हैं। और यह निर्वाचन संघीय सत्ता के हस्तक्षेप के बिना ऐसी रीति से होता है जिसमें लोक-निर्वाचन और राज्यों की वैयक्तिकता दोनों के लाभ प्राप्त हो जाते हैं। तीसरे, सिनेटर की अवधि इस प्रकार निर्धारित होती है कि सिनेट के अस्तित्व की निरन्तरता सुनिश्चित हो जाती है। ऐसी निरन्तरता अमरीका में पूरी तरह प्राप्त है, हालांकि आस्ट्रेलिया में ठीक ऐसी स्थिति नहीं है। इसके कारणों का हम अभी वर्णन करेंगे। एक समय पर सिनेट के केवल एक भाग के निवृत्त होने की यह पद्धति ही ऐसे राज्यों में उच्च सदन को निम्न सदन से भेदित करती है और उच्च सदन को जन-नियन्त्रण और जन-सम्पर्क से हटाए बिना आदरणीयता से संबद्ध प्रतिष्ठा प्रदान करती है।

[क] संयुक्तराज्य

संयुक्तराज्य की सिनेट में, जैसा कि हम पहले कह चुके हैं, 100 सदस्य होते हैं (50 राज्यों में से प्रत्येक के दो)। सिनेटरों की पदावधि छह वर्ष है और प्रति दो वर्ष बाद एक-तिहाई सिनेटर निवृत्त होते हैं। इस प्रकार छह वर्ष की प्रत्येक अवधि में किसी एक राज्य में दो बार सिनेट संबंधी निर्वाचन होते हैं, अर्थात् दो वर्ष की प्रत्येक अवधि के अन्त में और बाद में एक निर्वाचन नहीं होता। उदाहरण-स्वरूप, यदि न्यूयार्क राज्य में (सन् 1957 में प्रारम्भ होने वाली कांग्रेस के लिए) सन् 1956 में एक सिनेटर का निर्वाचन हुआ हो तो वह सन् 1963 तक निवृत्त नहीं होगा। इसलिए यदि उसी राज्य ने (सन् 1959 के लिए) सन् 1958 में भी एक सिनेटर निर्वाचित किया हो तो (सन् 1961 के लिए) सन् 1960 में उस राज्य में सिनेट संबंधी कोई निर्वाचन नहीं होगा। मूल संविधान में यह व्यवस्था मूल सिनेट को गुप्त मतदान द्वारा तीन समान समूहों में विभाजित करके प्राप्त की गई, जिनमें से पहला समूह दो वर्ष के पश्चात् और दूसरा समूह चार वर्ष के पश्चात् निवृत्त होना था। इस प्रकार संयुक्तराज्य की सिनेट में सन् 1789 से अब तक किसी भी एक समय एक-तिहाई से अधिक नए सदस्य निर्वाचित नहीं हुए। यही वह तथ्य है जिसके कारण उसे सदा से अपनी विशिष्ट प्रतिष्ठा प्राप्त है, ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार कि अपेक्षाकृत हाल की लोक-निर्वाचन की पद्धति ने उसे उसकी महान् शक्ति और स्फूर्ति प्रदान की है। प्रारम्भ में सिनेटरों का वरण प्रत्येक राज्य के विधानमंडल द्वारा होता था, किन्तु, जैसा हम बता चुके हैं, सत्रहवें संशोधन (सन् 1913) द्वारा समस्त यूनियन में जनता द्वारा निर्वाचन की पद्धति प्रवृत्त कर दी गई। सिनेटर कभी किसी भी समय और निश्चय ही

इस समय किसी भी अर्थ मे अपने राज्य की सरकार का प्रत्यायुक्त नही है, बल्कि राज्य के रूप मे सगठित जनता का प्रतिनिधि है। इसके अतिरिक्त, प्रत्येक सिनेटर पृथक् रूप मे, साझे मे नही, अपने राज्य का प्रतिनिधित्व करता है और उसमे यह आशा की जाती है कि वह स्वय अपनी व्यक्तिगत राय के अनुसार मत देगा। ऐसा ही होना भी चाहिए क्योकि यह बात सहज ही सभव है कि किसी राज्य के दो सिनेटर, अलग-अलग समयो पर निर्वाचित होने के कारण, विरोधी दलो मे से हो।

सयुक्तराज्य मे सिनेटर के पद के लिए अर्हताए बहुत थोडी और सादी हैं। उम्मीदवार ऐसा होना चाहिए जो कम-से-कम नौ वर्ष तक सयुक्तराज्य का नागरिक रह चुका हो, तीस वर्ष की आयु पूरी कर चुका हो, और अपने निर्वाचन के समय उस राज्य का निवासी हो जिसका प्रतिनिधित्व करने के लिए वह निर्वाचित किया जाता है।

सिनेट की शक्तिया बहुत अधिक हैं। स्यात् आज के विश्व मे किसी भी अन्य द्वितीय सदन का प्रभाव इतना वास्तविक और प्रत्यक्ष नही है केवल विदेशी मामलो जैसे सर्वाधिक स्पष्टरूपेण राष्ट्रीय मामलो मे ही नही बल्कि वित्तीय मामलो सहित सघीय विधिनिर्माण के सूक्ष्म-से-सूक्ष्म कार्य तक मे उसका बडा भारी प्रभाव रहता है। वास्तव मे सिनेट इतनी शक्तिशाली है कि कुछ लोग इसे ही सयुक्तराज्य मे एकमात्र प्रभावपूर्ण सघीय सदन मानते हैं। निश्चय ही कोई भी ऐसी बात, जिसे करने की कार्यपालिका अथवा प्रतिनिधि-सदन मे वैध रूप से सामर्थ्य है, उन अधिकारो मे परिवर्तन नही कर सकती जिनको सिनेट सांविधानिक रूप से धारण ही नही करती बल्कि जिनका वास्तविक रूप से प्रयोग भी करती है। स्थायी समितियो के द्वारा, जिनमे वह अपने-आपको विभाजित कर लेती है, सिनेट अपने समक्ष आने वाली विभिन्न समस्याओ का समाधान करने और कार्यपालक विभाग से, जो, जैसा कि हम बाद मे बताएगे, विधानमडल से पृथक् कार्य करता है, सम्पर्क रखने मे समर्थ होती है। सिनेट की सर्वाधिक शक्तिशाली समिति विदेशी मामलो की समिति है, क्योकि इस विभाग मे अन्तत सिनेट ही राष्ट्रपति के कार्यों पर नियत्रण रखती है। सधियो का अनुसमर्थन सपूर्ण काग्रेस द्वारा नही, बल्कि सिनेट द्वारा होता है।[1] और यह बात बिलकुल युक्तिसगत है, क्योकि प्रतिनिधि-सदन मे राज्यो का-प्रतिनिधित्व अत्यधिक विभिन्न अनुपातो मे है। अमरीकी सिनेट की राजनयिक शक्ति स्पष्टतम रूप मे प्रथम विश्वयुद्ध के अन्त मे प्रकट हुई जबकि उसने पेरिस मे राष्ट्रपति विल्सन के द्वारा हस्ताक्षरित राष्ट्रसघ (लीग ऑफ नेशन्स) की प्रसविदा और अन्य सधियो मे से किसी भी शातिमवधी

---

[1] युद्ध की घोषणा का अनुसमर्थन समस्त काग्रेस द्वारा किया जाना आवश्यक है।

दस्तावेज पर राष्ट्रपति के हस्ताक्षरो को मानने से इनकार करके उसका सारा काम ही बिलकुल समाप्त कर दिया।

[ख] आस्ट्रेलिया

अमरीका की सिनेट की तरह आस्ट्रेलिया की सिनेट भी सघीय आदर्श की प्रतीक है। यह बात इससे स्पष्ट होती है कि सविधान-निर्माण के समय द्वितीय सदन के लिए दो वैकल्पिक नाम 'राज्यो का सदन' और 'राज्य-सभा' प्रस्तुत किए गए थे। उस समय के अधिक महत्वपूर्ण राज्यो के विरोध के बावजूद समानता सुरक्षित की गई और इस प्रकार आस्ट्रेलिया की सिनेट मे कॉमनवेल्थ के छह राज्यो मे से प्रत्येक द्वारा भेजे गए दस अर्थात कुल मिलाकर साठ सदस्य होते हैं। इसके अतिरिक्त, सविधान मे यह भी उपबन्धित किया गया है कि यद्यपि ससद् प्रत्येक राज्य के लिए सिनेटरो की सख्या बढा या घटा सकती है किन्तु उसकी कार्यवाही द्वारा राज्यो का समान प्रतिनिधित्व नष्ट नही किया जा सकता।[1] सिनेट के लिए निर्वाचकगण ठीक वे ही हैं जो कि प्रतिनिधि-सदन के लिए हैं, किन्तु निर्वाचन-क्षेत्र भिन्न हैं। सिनेट के निर्वाचनो के लिए समस्त राज्य ही निर्वाचन-क्षेत्र होता है और प्रत्येक निर्वाचक के उतने ही मत होते हैं जितने कि स्थान भरे जाने होते हैं। सिनेटरो की पदावधि छह वर्ष है, जिनमे से आधे प्रति तीन वर्ष बाद निवृत्त होते हैं। किंतु निवृत्त होने की इस व्यवस्था से सिनेट की निरन्तरता अनिवार्यत सुनिश्चित नही होती जैसा कि अमरीका मे होता है। इसका कारण यह है कि सविधान मे एक अन्य उपबन्ध भी है जिसके अनुसार दोनो सदनो के बीच गत्यावरोध की अवस्था मे गवर्नर-जनरल दोनो को भग कर सकता है और ऐसी अवस्था मे एक सपूर्ण नई सिनेट और एक सपूर्ण नए प्रतिनिधि-सदन का निर्वाचन होता है। परन्तु वास्तव मे, दोनो सदनो के तीव्र मतभेद के कारण ऐसा कॉमनवेल्थ के इतिहास मे केवल दो बार ही हुआ है, पहली बार 1914 मे और दूसरी बार 1951 मे।

आस्ट्रेलिया की सिनेट के काम अमरीका की सिनेट के विपरीत केवल विधि-निर्माण-सबधी हैं और उसे वित्तीय विधेयको के सिवाय अन्य "समस्त प्रस्तावित विधियो के सबध मे प्रतिनिधि-सदन के समान शक्तिया प्राप्त हैं।" वित्तीय विधेयको का सूत्रपात निम्न सदन मे ही हो सकता है और सिनेट उनमे सशोधन नही कर सकती हालाकि वह उन्हें अस्वीकृत कर सकती है। सस्थापको ने सिनेट को जान-बूझकर एक 'राज्यो की सभा' के रूप मे गठित किया था, किन्तु व्यवहार

[1] प्रत्येक राज्य के लिए सिनेटरो की मूल सख्या छह थी। सन् 1948 के अधिनियम ने उसे बढ़ाकर दस कर दिया।

वह निम्न सदन की तरह राजनीतिक आधार पर ही विभाजित होती है और उसमे भी सभी विषयो पर विचारविमर्श दल के दृष्टिकोण से होता है न कि राज्य के। इसके फलस्वरूप जो दल लगातार दो साधारण निर्वाचनो मे जीतता है, वह सिनेट के अधिकाश स्थानो पर भी अधिकार रखता है।

7 स्विट्जरलैंड और जर्मनी में द्वितीय सदन

स्विस कॉनफेडरेशन की राज्य-परिषद् (Standerat) मे अमरीका और आस्ट्रेलिया की सिनेटो से बडी मार्के की विभिन्नताए प्रदर्शित होती हैं, अतएव सघीय गणतत्र के द्वितीय सदन के रूप मे उसका सूक्ष्म अध्ययन आवश्यक है। इसके अतिरिक्त, हिट्लर द्वारा जर्मन राज्य के सघीय स्वरूप के नष्ट कर दिए जाने से पूर्व वेमर गणतत्र के अधीन जर्मनी की साम्राज्य-परिषद (Raichsrat) के स्वरूप और कृत्यो का विश्लेषण करना भी लाभदायक होगा, क्योंकि उसका पाश्चात्य आधिपत्यकर्त्ता शक्तियो के तत्त्वावधान मे सन् 1949 मे प्रवर्तित बान सविधान के अधीन जर्मनी के सघीय गणतत्र की सघीय परिषद् (Bundesrat) के लिए कुछ हद तक आदर्श के रूप मे प्रयोग किया गया है।

[क] स्विस कॉनफेडरेशन

स्विट्जरलैंड की राज्य-परिषद् एक बात मे अमरीका और आस्ट्रेलिया के कॉमनवेल्थ की सिनेट के समान है, क्योकि उसमे केण्टनो (अर्थात् राज्या) को समान प्रतिनिधित्व प्राप्त है। स्विस राज्य-परिषद् मे चौवालीस सदस्य हैं अर्थात् उन्नीस केण्टनो मे से प्रत्येक से दो और शेष तीन केण्टन जिन अर्द्ध-केण्टनो मे विभाजित है, उनमे से प्रत्येक से एक-एक। किन्तु और किसी भी बात मे स्विट्जरलैंड की राज्य-परिषद् अमरीका और आस्ट्रेलिया की सिनेट के समान नही है। सविधान मे निर्वाचन और सदस्य की पदावधिसबधी सारी ब्यौरे की बातें केण्टनो पर ही छोड दी गई है। इसलिए किसी केण्टन से सदस्य एक वर्ष के लिए, किसी से दो वर्ष के लिए, किसी से तीन वर्ष के लिए और किसी-किसी से तो चार वर्ष के लिए निर्वाचित होते हैं। अधिकतर केण्टनो मे सदस्यो का निर्वाचन अब जनता द्वारा होता है, किन्तु सात केण्टनो मे वे प्रत्येक केण्टन की विधानसभा द्वारा चुने जाते है। किन्तु स्विस राज्य-परिषद् साधारण अर्थों मे यथावत सघीय सदन या द्वितीय सदन नही है, क्योकि यदि वह वास्तव मे सघीय सदन होती तो उसका आशिक काम उस सत्ता के हाथो से, जिसको कि राज्यो ने अपनी प्रभुता दी है, राज्यो के हितो की रक्षा करना होता और यदि वह सामान्य द्वितीय सदन होती तो उसे विधिनिर्माण के सबध मे पुनरीक्षण या निषेध के कुछ निश्चित कृत्य प्राप्त होते।

वास्तविकता यह है कि स्विट्जरलैंड मे दोनो सदन सभी मामलो मे समकक्ष है। प्रत्येक ससदीय अधिवेशन के प्रारम्भ पर दोनो सदनो के अध्यक्ष विधिनिर्माण-सबधी प्रस्तावो के सूत्रपात के विषय पर आपस मे प्रबन्ध करके निश्चय कर लेते हैं। जैसा कि हम बाद मे बताएगे, मत्रीगण किसी भी सदन के प्रति उत्तरदायी नही हैं और किसी भी सदन मे मतदान नही करते, किन्तु उनको दोनो सदनो मे पूछे गए प्रश्नो का समान रूप से उत्तर देना होता है। अन्तिम बात यह है कि कुछ प्रयोजनो के लिए (असाधारण नही) दोनो सदन एक सदन के रूप मे समवेत होते हैं और मतदान करते हैं। इस प्रकार स्विट्जरलैंड का विधानमडल स्विट्जरलैंड की कार्यपालिका के समान ही अद्वितीय है, विश्व भर मे यही एक ऐसा विधानमडल है, जिसके उच्च सदन के कृत्य उसके अवर सदन के कृत्यो से किसी भी प्रकार भिन्न नहीं हैं। सघीय विधानमडल की सामर्थ्य के अन्तर्गत किसी भी बात के लिए दोनो सदनो की सहमति आवश्यक है। किन्तु शासन के दोनो सघीय उपकरण—कार्यपालिका और विधानमडल—लोक-निर्देशन के साधन के द्वारा समान रूप से राष्ट्रीय इच्छा के अधीनस्थ किए जा सकते हैं। इस विषय पर हम आगे के अध्याय मे अधिक चर्चा करेंगे।

[ख] जर्मन गणराज्य

सन् 1919 के जर्मन सविधान के साठवे अनुच्छेद मे स्पष्ट रूप से कहा गया है कि "राज्य के विधिनिर्माण और प्रशासन मे जर्मन राज्यो के प्रतिनिधित्व के उद्देश्य से एक परिषद् (Reichsrat) का गठन किया जाता है। आगे यह भी कहा गया है कि परिषद् मे राज्यो का प्रतिनिधित्व उनके शासनो के सदस्यो द्वारा होगा। यह पुराने साम्राज्य के अधीन प्रचलित प्रणाली को जीवित रखना था, किन्तु जहा उस काल मे परिषद् (Bundesrat) विधि-निर्माण का वास्तविक उपकरण थी, वहा अब परिस्थिति पूरी तरह उलट दी गई और वेमर सविधान के अधीन परिषद् पर लोकसभा (Reichstag) छा गई। परिषद् को विधि-निर्माण का सूत्रपात करने की कोई शक्ति नहीं थी। यह कार्य केवल कार्यपालिका और लोकसभा के ही हाथो मे था। विधि को पारित करने के लिए भी परिषद् की सम्मति आवश्यक नहीं थी, हालाकि सरकार द्वारा लोकसभा मे किसी विधेयक को प्रस्तुत करने के लिए उसकी सम्मति आवश्यक थी। किन्तु यह सब होते हुए भी परिषद् को एक महत्वपूर्ण और विशिष्ट निषेधाधिकार प्राप्त था। यदि उसे लोकसभा द्वारा पारित किसी विधेयक पर आपत्ति होती तो उसे अवर सदन मे अन्तिम मतदान के दो सप्ताहो के अन्दर सरकार के पास अपनी आपत्ति प्रस्तुत करनी होती थी। तब यदि दोनो सदन सहमत न होते तो राष्ट्रपति उस विधेयक पर जनमत सग्रह के लिए आदेश दे सकता था। यदि वह तीन महीनो के अन्दर

ऐसा नही करता और यदि लोकसभा (समस्त सदन के) दो-तिहाई बहुमत से विधेयक को स्वीकार कर लेती तो राष्ट्रपति को या तो उस विधि को प्रख्यापित करना पडता था या फिर जनता के समक्ष अपील करने का आदेश देना पडता था।

इस प्रकार जर्मन परिषद् निश्चित रूप से अलग-अलग राज्यो के दृष्टिकोण का प्रतिनिधित्व तो करती थी, किन्तु उसे पृथक्-पृथक् राज्य की प्रभावपूर्ण आवाज उठाने की शक्ति पहले की तरह प्राप्त नही थी। इसके अतिरिक्त जहा वह सघवाद के सुरक्षा सिद्धान्त—अर्थात् उच्चसदन मे राज्यो के समान प्रतिनिधित्व की आवश्यकता—को समाविष्ट करने मे असफल रही वहा यह बडे राज्यो के प्रबल प्रभाव के द्वारा छोटे राज्यो के विरुद्ध अथवा जनता द्वारा निर्वाचित निम्न सदन की अपेक्षा श्रेष्ठ शक्ति के बल पर समस्त राइख के विरुद्ध कार्य करने से भी वचित थी। किन्तु इसके साथ ही, ऐसे विधेयक के लिए जिस पर कि उसे आपत्ति हो, प्रतिनिधि-सदन के भारी और अक्सर अप्राप्य बहुमत की सम्मति बाध्य कर सकने अथवा स्वय जनता के समक्ष अपील के लिए बाध्य कर सकने की उसे जो शक्ति दी गई थी उसके फलस्वरूप उसने द्वितीय सदन के योग्य गौरव प्राप्त कर लिया और वास्तविक प्रभुताधारक जनता का अपने प्रतिनिधियो पर अतिम नियत्रण सुरक्षित कर दिया।

सन् 1949 के बॉन सविधान के अधीन सघीय (Bundesrat) मे, पहले की परिषद् के समान ही, सघनिर्माता विभिन्न राज्यो की सरकारो के प्रतिनिधि होते हैं और वेमर गणतत्र के समान ही इन प्रतिनिधियो की सख्या राज्य की जनसंख्या के अनुसार विभिन्न होती है। इस प्रकार साठ लाख से अधिक जनसख्या वाले राज्य के छह, साठ लाख से कम किन्तु बीस लाख से अधिक जनसख्या वाले प्रदेश के चार, और बीस लाख से कम जनसख्या वाले प्रदेश के तीन सदस्य होते हैं। सघीय परिषद् जर्मनी के सघीय गणतत्र मे कितना महत्वपूर्ण भाग ले सकेगी, यह बात उन राजनीतिक परिस्थितियो पर निर्भर है जिनके विषय मे किसी प्रकार की भविष्यवाणी करना कठिन है।

8 सोवियत समाजवादी गणतंत्रसंघ और युगोस्लाविया के संघीय गणराज्य की विशेष स्थितियां

यद्यपि सोवियत समाजवादी गणतत्रसघ और युगोस्लाविया के सघीय लोकगणतत्र का निर्माण सामान्यतया पाश्चात्य नमूनो के आधार पर नही हुआ है, फिर भी सघीय राज्यों के रूप मे वे कुछ हद तक पश्चिमी प्रभावो के ऋणी है और इन दोनो देशो मे से प्रत्येक के द्वितीय सघीय सदन के स्वरूपो और कृत्यो की उन द्वितीय सदनो के स्वरूपो एव कृत्यों से, जो साधारणतया सांविधानिक सगठन

माने जाते है और जिन पर हम विचार कर चुके है, तुलना बडी दिलचस्प और महत्वपूर्ण होगी ।

सोवियत समाजवादी गणतत्रसघ के स्टालिन सविधान (सन् 1936) के अध्याय 3 मे सघ मे राज्यशक्ति के सर्वोच्च उपकरणो की चर्चा की गई है। मुख्य उपकरण सर्वोच्च परिषद् (Supreme Soviet) है जो सघ की पुरानी सोवियत महासभा के स्थान पर बनी है। सर्वोच्च परिषद् मे, सघ-परिषद् (Soviet of the Union) और राष्ट्र-परिषद् (Soviet of Nationalities) नाम के दो सदन होते हैं। इनमे से पहले सदन के सदस्य सोवियत समाजवादी गणतत्रसघ के नागरिको द्वारा, प्रति 300,000 के लिए एक प्रतिनिधि के आधार पर, निर्वाचित किए जाते हैं, और इस प्रकार उसमे 600 सदस्य होते हैं। दूसरे सदन के सदस्य सघ के गणतत्रो के आधार पर मतदान करते हुए नागरिको द्वारा सापेक्ष सख्याओ मे[1] नियुक्त किए जाते हैं—दोनो परिषदें चार वर्ष के लिए निर्वाचित होती है। इनकी विधि-निर्माण-सबधी शक्तिया समान है और किसी भी विधि के अनुमोदन के लिए प्रत्येक सदन मे साधारण बहुमत पर्याप्त होता है। इनके अधिवेशन सर्वोच्च परिषद् (Supreme Soviet) के *अध्यक्ष-मडल* (Presidium) द्वारा (साधारणतया) एक वर्ष मे दो बार बुलाए जाते हैं और विशेष प्रयोजनो के लिए असाधारण अधिवेशन भी किए जा सकते हैं।

यूगोस्लाविया के सघीय लोकगणतत्र (सन् 1946) के सविधान के अध्याय 7 मे, जो अट्ठाईस अनुच्छेदो वाला एक लम्बा अध्याय है, राज्यसत्ता के सर्वोच्च सघीय उपकरणो की चर्चा की गई है। सघीय ससद् को गणतत्र की लोकसभा (People's Assembly) कहा गया है और उसमे दो सदन हैं अवर सदन—सघीय परिषद् (Federal Council), और उच्च सदन—राष्ट्र-परिषद् (Council of Nationalities) सघीय परिषद् का निर्वाचन प्रति 50,000 निवासियो के लिए एक प्रतिनिधि के आधार पर होता था। राष्ट्र-परिषद् का निर्वाचन विभिन्न गणतत्रो (प्रत्येक से तीस डिपुटी), स्वायत्त प्रान्तो (प्रत्येक से बीस डिपुटी), और प्रदेशो (प्रत्येक से पन्द्रह डिपुटी) के नागरिको द्वारा किया जाता था। दोनो सदन चार वर्ष के लिए निर्वाचित होते थे और दोनो को समान अधिकार प्राप्त थे। साधारणतया दोनो सदनो की बैठकें अलग-अलग होती थी, किन्तु सविधान मे नियत विशेष अवसरो पर जैसे कार्यपालिका के, जो रूस के अध्यक्ष- मडल के समान है, निर्वाचन और सविधान मे किसी सशोधन की घोषणा के लिए उनका सयुक्त अधिवेशन भी होता था।

---

[1] अर्थात् 1947 के सशोधन के अनुसार सघ के प्रत्येक गणतत्र (Union *Republic*) से 25 डिपुटी, प्रत्येक स्वायत्त गणतत्र (*Autonomus Republic*) से 11 और प्रत्येक स्वशासी प्रदेश (Autonomus Region) से 5 डिपुटी।

सयुक्त अधिवेशन मे निर्णय बहुमत द्वारा होते हैं किन्तु तभी जबकि प्रत्येक सदन के सदस्यो का बहुमत विद्यमान हो। विधेयक किसी भी सदन मे प्रस्तुत किये जा सकते है, *और वहाँ पारित होने के उपरात दूसरे सदन को भेजे जाते हैं* यदि अन्य सदन किसी विधेयक को पारित नही करता तो दोनो सदनों की समान सख्या वाली समन्वयकारी समिति (Co-ordinating Committee) को भेजा जाता है। यदि इस समिति की रिपोर्ट पर भी समझौता नही होता, तब दोनो ही सदन भग करके नवीन निर्वाचन होते है।[1]

सोवियत् रूस और यूगोस्लाविया के द्वितीय सदन के इस सक्षिप्त वृत्तात से स्पष्ट है कि समसामयिक विश्व मे सर्वाधिक क्रातिकारी परिस्थितियो के *अधीन स्थापित सघीय राज्यो मे भी द्वितीय सदन का कार्य महत्वपूर्ण समझा* जाता है। हो सकता है कि इन दोनो राज्यो मे राजनीतिक व्यवहार उन उच्च साविधानिक उद्देश्यो से जो कि कागज पर प्रकट किए गए है, पूरी तरह मेल न खाता हो किन्तु भविष्य के लिए यह बात शायद महत्वपूर्ण है कि कम-से-कम उद्देश्य तो लेख मे विद्यमान है।

9 निष्कर्ष

यह विश्लेषण, जो कि बहुत-कुछ विस्तृत और कदाचित् क्लिष्ट प्रतीत हुआ हो, फिर भी बहुत सक्षिप्त है, क्योकि इसमे अनेक रोचक बाते अनिवार्यत छोड दी गई है। हमारा मुख्य उद्देश्य विद्यार्थी का ध्यान उन मुख्य विषयो की ओर आकर्षित करना रहा है, जो उन द्वितीय सदनो के, जो कि विश्लेषण के योग्य है, साविधानिक कृत्यो पर बल देते हैं। ऐसे विश्लेषण से प्राप्त होने वाले निष्कर्ष इस प्रकार हैं —प्रथम, आज बहुत कम राज्य एकसदनी विधानमडल से सतुष्ट हैं, द्वितीय, *द्वितीय सदन का निर्वाचन जितना ही लोक-नियत्रण से दूर रहता है* उतना ही वह सदन राजनीति की वास्तविकताओ से विलग हो जाता है और शक्ति खो देता है, तृतीय, ऐसी अवस्था मे यह भावना पाई जाती है कि द्वितीय सदन को निष्क्रिय न होने दिया जाए, बल्कि उसे सुधार के द्वारा फिर से सजीव बनाया जाए, और चतुर्थ, सघीय प्रणाली के सफल सचालन के लिए वास्तविक शक्ति वाला द्वितीय सदन आवश्यक है, हालाकि कुछ हाल ही मे उत्पन्न परिस्थितियो को ध्यान मे रखते हुए, विशेष रूप से आस्ट्रेलिया के *सघवाद के सबध मे, यह कथन कुछ रक्षको के सहित ही किया जा सकता है।* तुलनात्मक राजनीति के किसी भी विद्यार्थी के लिए निश्चय ही इन प्रश्नो का बडा महत्व है, और ब्रिटेन के हाउस ऑफ लॉर्ड्स के सम्भाव्य सशोधित रूप के बारे मे विचार करते समय ब्रिटेन के नागरिक के लिए इनका विशेष महत्व है।

---

[1] अध्याय 5 देखियेगा।

10

विधानमंडल

[3] प्रत्यक्ष लोक नियन्त्रण

1. प्रचलित प्रथा की पृष्ठ भूमि

तर्क का तकाजा है कि पिछले दो अध्यायों में विधानमंडलों का जो विश्लेषण किया गया है उसके बाद हम विधानमडलों के कार्य पर उन प्रथाओं का भी विवेचन कर जिन्हें हम अधिक उपयुक्त पदावली के अभाव में प्रत्यक्ष लोक-नियन्त्रण (Direct popular checks) कह सकते हैं, क्योंकि सार रूप में ये अति-लोकतन्त्रीय प्रथाएँ विधान प्रक्रिया को सदनों से बाहर उन सदनों के सृष्टिकर्ता निर्वाचकों तक पहुँचा देती है और इस प्रकार विधानमंडलों के कार्य को और कभी-कभी विधायकों के कार्यकाल को भी परिसीमित करती है। आजकल विभिन्न राज्यों में ऐसी तीन प्रथाएँ हैं जिनके द्वारा जनता विधि निर्माण के कार्य में भाग लेती है। वे हैं—जनमत सग्रह (Reerendum), उपक्रम (Initiative) और प्रत्याह्वान (Recall) उनमें से सबसे अधिक प्रयुक्त होनेवाली प्रथा जनमत सग्रह की है जिसका उल्लेख हमने कुछ राज्यों में सांविधानिक संशोधन में किया है। अब हम सामान्य विधि निर्माण में भी उसके प्रयोग का वर्णन करेंगे। उपक्रम ऐसी प्रक्रिया है जिसके द्वारा निर्वाचकों को संविधान द्वारा सामान्य विधियों या संविधान के संशोधन का या दोनों का सूत्रपात करने की अनुमति प्राप्त होती है। प्रत्याह्वान से असन्तुष्ट निर्वाचकों को निर्वाचनों के मध्य-काल में यह प्रस्ताव करने का अधिकार प्राप्त होता है कि उनका प्रतिनिधि हटा दिया जाय और उसके स्थान पर ऐसा व्यक्ति रखा जाय जो लोक-इच्छा के अधिक अनुकूल हो।

जनमत सग्रह (Referendum) का जो लोकनिर्देश (Plebiscite) भी कहा जाता है, जैसा समझा जाता है उससे भी लम्बा इतिहास है। रोम के गण-तन्त्रीय युग में प्लेबिसिटम (Plebiscitum) से यथार्थ में उस विधि का आशय था जो कामिटिया ट्रिब्यूटा अर्थात् प्लेब लोगों अर्थात् साधारणजना (Plebs) की सभा में पारित हुई हो, फिर भी इससे आधुनिक काल में जनता के मत के लिये अपील के अर्थ में फ्रेन्च भाषा के शब्द प्लेबिसिट का प्रयोग समुचित मालूम होता है। परन्तु पिछले कुछ वर्षों से प्लेबिसिट शब्द अप्रचलित हो गया है और उसकी जगह

रेफरेण्डम शब्द का प्रयोग होता है जिसे अब फ्रेन्च लोग भी पसन्द करने लगे हैं। (वास्तव मे, पचम गणतत्र के सविधान मे इस शब्द का बहुवचन मे प्रयोग हुआ है —les Referendums)। जिन दिनो प्रथम नेपोलियन ने शासन के तत्कालीन यत्र की प्रवचना करने के साधन के रूप मे शक्ति प्राप्त करने के क्रम मे इसका कई बार प्रयोग किया था उन दिनो इस प्रथा को प्लेबिसिट की कहते थे। उसके भतीजे तृतीय नेपोलियन ने भी इसी प्रकार प्लेबिसिट द्वारा पहले 1848 मे द्वितीय गणतत्र के प्रेसिडेण्ट के पद के लिये निर्वाचन कराया, 1851 मे विप्लव द्वारा गणतत्र का अन्त (Coup d'etat) इसी विधि से किया, अगले वर्ष द्वितीय साम्राज्य का अनुमोदन प्राप्त किया और अन्त मे 1870 मे साम्राज्य के 'उदारीकरण' के लिये भी, जिसके साथ एमिलो ओलिविए का नाम जुडा हुआ है, अनुमोदन प्राप्त किया।

लोकनिर्देश (प्लेबिसिट) का ऐसा ही दुरुपयोग, जो दोनो नेपोलियनो की चालो मे स्पष्ट दिखाई देता था, जर्मनी मे हिट्लर के सत्तारोहण के प्रयत्नो मे भी दिखाई देता है, क्योकि हिट्लर ने अपने राजनीतिक कार्यों के लिए कार्य होने के बाद मे जनता की अनुमति प्राप्त करने के लिए ऐसे लोकनिर्देश या जनमत सग्रहो का कई बार आयोजन किया। प्रथम जनमत सग्रह जर्मनी द्वारा राष्ट्रसघ (लीग ऑफ नेशन्स) और नि शस्त्रीकरण सम्मेलन के परित्याग के लिए जनता का अनुमोदन प्राप्त करने के लिये नवम्बर 1932 मे हुआ। द्वितीय जनमत सग्रह अगस्त सन् 1934 मे हुआ, जिसमे हिंडनबर्ग की मृत्यु के उपरात चासलर और राष्ट्रपति दोनो पदो को फ्यूरेर मे (अपने मे) शामिल कर लेने के हिट्लर के कार्य का अनुमोदन करने की राष्ट्र से माग की गई थी। इन दोनो अवसरो पर 90 प्रतिशत से भी अधिक मत हिट्लर के पक्ष मे प्राप्त हुए। इन जनमतो के परिणामो के आधार पर ही नाजियो का यह दावा था कि हिट्लर की विजय बलपूर्वक शक्ति हथियाने से नही हुई बल्कि जनता के वैध मत के परिणामस्वरूप हुई, और इस बात से इनकार भी नही किया जा सकता कि इसके द्वारा जर्मनो ने नाजी निरकुशतत्र को वैध रूप प्रदान कर दिया और चार वर्ष के बाद जब, सन् 1938 मे, जर्मनो और आस्ट्रियनो ने 99 प्रतिशत से भी अधिक मत के द्वारा आस्ट्रिया के जर्मनी के साथ सयोजन का अनुमोदन किया, तब भी इस तर्क मे कोई दुर्बलता नही आई।

अलग-अलग समय पर लोकनिर्देश (प्लेबिसिट) का अधिक उचित प्रयोग इटली के एकीकरण की आरभिक अवस्थाओं मे हुआ था। सन् 1859 मे पारमा, मोडीना और टुस्कनी की डचियो (ड्यूको द्वारा शासित राज्यो) की जनता ने सार्डिनिया के राज्य मे अपने विलय के पक्ष मे भारी बहुमत से निर्णय किया था और 1860 मे दोनो सिसिलियो (Two Sicilies) ने भी ऐसा ही किया था। नॉर्वे और स्वीडन के पृथक्करण के लिये भी 1905 मे इसका प्रयोग हुआ था।

उस अवसर पर नॉर्वे की संसद् (Storting) ने 1814 से संदिग्ध रूप में प्रवर्तमान एक ही राजा के अधीन स्वीडन के साथ संयोग के अन्त की घोषणा करते हुए एक प्रस्ताव पारित किया और नॉर्वे की जनता ने लोक निर्देश द्वारा एक विशाल बहुमत से इस निर्णय का अनुमोदन किया।

प्रथम विश्वयुद्ध के पश्चात् भी जनता के उन छोटे-छोटे समूहों के द्वारा, जो महायुद्ध के फलस्वरूप मुक्ति प्राप्त करने पर भी अपनी पूर्ण राजनीतिक स्वतन्त्रता की स्थापना मे असमर्थ थे, राजनीतिक भविष्य को निश्चित करने के लिए लोक-निर्देश के साधन का अबाध रूप से प्रयोग किया गया था। यह उस आत्मनिर्णय की माग का तार्किक परिणाम था जो युद्ध विराम के दिनो मे राष्ट्रपति विल्सन के शांति कार्यक्रम का एक अत्यन्त महत्वपूर्ण अग थी। उसके कथनानुसार यदि सम्मिलन (Annexations) नही किया जाना था तो यह अनिवार्य था कि कुछ जन-समूह, जिनके लिए अपने-आपको प्रभुत्व सम्पन्न राज्यो के रूप मे स्थापित करना सम्भव नही था, जो कई समूहो के सम्बन्ध मे सत्य भी था स्वय इस बात का निर्णय करे कि उन्हें किस राज्य से सम्बद्ध किया जाए। उदाहरणस्वरूप श्लेस्विग को, जो कि पहले प्रशा का अग था, यह निश्चित करना था कि वह उसकी अधीनता मे रहना चाहता है या डेनमार्क की अधीनता मे, एलेन्स्टीन को, जो कि पहले जर्मन था, पूर्वी प्रशा और पोलैंड मे से, दक्षिणी साइलेशिया को, जो कि पहले प्रशियन था, जर्मनी और पोलैंड के बीच मे से, और क्लेगनफुर्ट नामक जिले को आस्ट्रिया तथा यूगोस्लाविया के बीच मे से किसी एक के पक्ष मे निश्चय करना था। इन सबके सबध मे लोकनिर्देश लिए गए और दक्षिणी साइलेशिया के सिवाय, जिसका विभाजन बाद मे पच-निर्णय के द्वारा जर्मनी और पोलैंड के बीच मे किया गया, लोकनिर्देश के निर्णयो को बडी शक्तियो ने मान लिया।

ऐसे जनमत से राजनीतिक निष्ठा के तात्कालिक प्रश्नो का समाधान भले ही हो गया हो, परन्तु उससे वास्तव मे योरोप के नए अथवा अभिवर्द्धित राज्यो मे अल्प-सख्यको की समस्या हल नही हो सकी। इस सम्बन्ध मे लोकनिर्देश ने उसी तरह की कमजोरी दिखाई जैसी कि हम पहले मासीसी लोकनिर्देश के सम्बन्ध मे देख चुके हैं। मतदान हो जाने के पश्चात् यह प्रतीत होता था कि जनता को इस भाति की गई व्यवस्था का सदैव के लिए समर्थन करते रहना चाहिए। राजनय के द्वारा एक बार लोकनिर्णय का प्रबन्ध भले ही कर लिया जाए, किन्तु इस बात की पक्की व्यवस्था किस प्रकार हो सकती थी कि जिस राज्य मे अल्पसख्यक-वर्ग सम्मिलित हुए हो उसम उन्हें मूल नागरिको के साथ अधिकारो की समानता प्राप्त होती रहेगी। निससदेह अल्पसख्यकों की समस्या प्रथम विश्वयुद्ध के द्वारा छोडी हुई अत्यन्त विषम राजनीतिक समस्याओ मे प्रमुख थी और इसको हल न

कर रखने के कारण योरोप और विश्व को बड़ी हानि उठानी पड़ी। उस समय लोकनिर्देश ही आत्मनिर्णय का एक आदर्श उपकरण और लोकतंत्र के लिए विश्व को निरापद बनाने का सुनिश्चित साधन प्रतीत होता था। परन्तु वास्तव में *उनके परिणामों को ऐसे निरंकुश शासक के आक्रमणों ने विफल कर दिया* जिसने स्वयं इस पद्धति का प्रयोग अपनी निरंकुशता को वैधानिक रूप देने के लिए किया था।

2 वर्तमान में जनमत संग्रह

आजकल जनमत संग्रह का प्रयोग कुछ नये संविधानों में और पुराने संविधानों की धाराओं के संशोधन में होता है। जैसा हमने कहा है, उसका प्रयोग एक या दोनों प्रयोजनों के लिए अर्थात् सांविधानिक संशोधनों के अनुमोदन और *सामान्य विधान की लोक-स्वीकृति के लिये हो सकता है। कुछ संविधानों में* जनमत संग्रह इनमें से किसी एक या दोनों के लिये अनिवार्य है, अन्य संविधानों में वैकल्पिक है या वह कुछ प्रकार की बातों के लिए, चाहे वे सांविधानिक कोटि की हों या सामान्य विधि-निर्माण सम्बन्धी हों, अनिवार्य और अन्य बातों में वैकल्पिक हो सकता है।

जैसा हम पहले देख चुके हैं, ऑस्ट्रेलिया, डेन्मार्क, आयर, फ्रान्स, इटली, स्विट्जरलैंड, न्यूजीलैंड (हालांकि वहाँ इसका प्रयोग बहुत ही सीमित ढंग से होता है), और यूनाइटेड स्टेट्स के कुछ व्यक्तिगत राज्यों में जनमत संग्रह का *प्रयोग सांविधानिक संशोधन के लिये होता है।* जर्मनी के वेयर गणतंत्र के संविधान में भी उसकी व्यवस्था थी, परन्तु जर्मनी के संघीय गणतंत्र (1949) की मूल विधि में जनमत संग्रह का एकमात्र निर्देश अनुच्छेद 29 में है जिसका सम्बन्ध मूल विधि के अंगीकार के समय निर्धारित विभिन्न राज्यों की सीमाओं में परिवर्तन से है। उसमें कहा गया है कि एक राज्य से दूसरे राज्य को भूमि का अन्तरण *सम्बन्धित राज्य में और सम्पूर्ण संघीय गणतंत्र में जनमत संग्रह में जनता के* बहुमत के बिना नहीं हो सकेगा।

आजकल सामान्य विधि-निर्माण के लिये जनमत संग्रह कई राज्यों में जिनमें इटली, फ्रान्स, स्विट्जरलैंड और संयुक्त राज्य के कुछ व्यक्तिगत राज्य भी *शामिल हैं, सांविधानिक व्यवहार का अंग है। आयर, ऑस्ट्रेलिया और न्यूजीलैंड* के संविधानों में भी इसकी व्यवस्था है, हालांकि पिछले दोनों राज्यों में इसका प्रयोग वर्तमान शताब्दियों में बहुत ही कम हुआ है।

इटली के गणतंत्र में, 1947 के संविधान के अनुच्छेद 75 के अनुसार, 500,000 मतदाता या पाँच प्रादेशिक परिषदों की माँग पर (वित्तीय विधियों या संधियों को छोड़) किसी भी विधि के पूर्ण या आंशिक निरसन का निर्णय

करने के लिये जनमत संग्रह होना है। यदि बहुमत पक्ष में हो तो प्रस्ताव अनुमोदित हो जाता है, बशर्ते कि जो मतदाता उसमें भाग लेने के अधिकारी है उनकी बहु-संख्या मतदान करें। पंचम गणतन्त्र के संविधान (1952) के अधीन जनमत संग्रह की अवस्थाएँ इसी तरह से सीमित की गई हैं। ये मर्यादाएँ अनुच्छेद 11 में दी गई हैं जो इस प्रकार है—

'संसदीय सत्रों के दौरान में सरकार के प्रस्ताव या दोनों सदनों के संयुक्त प्रस्ताव पर, *जिसका प्रकाशन सरकारी गजट (Journal official)* में हो चुका हो, गणतन्त्र का प्रेसीडेण्ट किसी ऐसे विधेयक को जनमत संग्रह के लिये प्रस्तुत *कर सकता है, जिसका सम्बन्ध सरकारी सत्ताओं के संगठन, जिसमें समाज (अर्थात्* मेट्रोपॉलिटन फ्रान्स और उसके समुद्रपार के प्रदेश) के करार का अनुमोदन आवश्यक हो या जो ऐसी संधि के अनुसमर्थन को प्राधिकृत करने की व्यवस्था करता हो जिसका, संविधान का उल्लंघन न करते हुए वर्तमान संस्थाओं के कार्य पर प्रभाव पड़ता हो।

स्विट्जरलैंड में संघीय विधानमंडल द्वारा पारित समस्त विधियों और स्वीकृत प्रस्तावों के लिए लोक निर्देशन अनिवार्य होता है यदि उसकी माँग या तो 30,000 नागरिकों द्वारा या किन्हीं भी आठ केण्टनों (प्रांतों) के विधान मंडलों द्वारा की जाए, और यदि संघीय विधानमंडल उस प्रस्ताव को 'अत्यावश्यक' घोषित न कर दे। यदि जनमत संग्रह होता है और जनता का बहुमत प्रस्तुत विधि के विरोध में हो, तो वह विधि प्रभावशून्य हो जाती है। इसी भांति, आठ केण्टनों में सभी विधियाँ, अनिवार्य रूप से, जनमत संग्रह के लिए प्रस्तुत की जानी चाहिए। यह अनिवार्य जनमत संग्रह कहलाता है। अन्य सात केण्टनों में, यदि नागरिकों *की एक निश्चित संख्या (जो कि विभिन्न केण्टनों में विभिन्न है) जनमत संग्रह* की माँग करे, तो जनमत संग्रह होना ही चाहिए। यह वैकल्पिक जनमत संग्रह है। तीन अन्य केण्टनों में यह व्यवस्था है कि विशिष्ट प्रकार की कुछ विधियाँ तो किसी भी दशा में, और अन्य विधियाँ नागरिकों की संख्या के एक निश्चित अनुपात द्वारा माँग होने पर जनता के समक्ष प्रस्तुत करनी पड़ती हैं। शेष केण्टनों के अधिकांश में जनसंख्या इतनी कम है कि वहाँ प्रत्यक्ष लोकतन्त्र वर्तमान है (अर्थात् वहाँ समस्त जनता में ही विधानमंडल का निर्माण होता है) और ऐसी अवस्थाओं में, निश्चय ही, जनमत संग्रह अनावश्यक होगा।

संयुक्तराज्य में संघीय विषयों में किसी भी प्रयोजन के लिए जनमत संग्रह का प्रयोग नहीं किया जाता, परन्तु उसके अनेक राज्यों में, पिछले वर्षों में जनमत संग्रह और साथ ही लोकोपक्रम तथा प्रत्याह्वान का प्रयोग किया जाने लगा है। *जनमत संग्रह, एक रूप में, अमरीकी राज्यों में कोई नई बात नहीं है,* क्योंकि गणतन्त्र के प्रारम्भिक दिनों में राज्यों के संविधानों का अधिनियमन प्रायः लोकमत

से हुआ था, और विधानमडल अथवा विशिष्ट सम्मेलन द्वारा प्रस्तावित सशोधनो को जनता के समक्ष प्रस्तुत करने की प्रथा तब से ही चालू रही है। परन्तु बाद के वर्षों मे इस पद्धति का अधिक विकास हुआ है और अनेक राज्यो मे ऐसी व्यवस्था की जा चुकी है जिसके अधीन नागरिको की एक निर्दिष्ट सख्या (जो कि निर्वाचको के पाच से दस प्रतिशत तक होती है) यह माग कर सकती है कि विधानमडल द्वारा पारित अधिनियम जनता की स्वीकृति या अस्वीकृति के लिए प्रस्तुत किया जाए। यह व्यवस्था सामान्य रूप से ओरेगान, कोलारेडो और कैलीफ़ोर्निया जैसे पाश्चात्य राज्यो मे है हालाकि मेसचूसेटस सदृश पुराने राज्य ने भी इस व्यवस्था और इसके साथ ही लोकोपक्रम का भी अगीकार किया है। स्विट्जरलैड के समान, यूनाइटेड स्टेट्स मे भी अधिकाश राज्य, विधानमडल द्वारा अत्यावश्यक समझे जाने वाले अधिनियमो को जनमत सग्रह की प्रक्रिया से मुक्त कर देते हैं। इस शक्ति का प्राय दुरुपयोग हो सकता है और अत्यावश्यकता का ठप्पा बहुधा बिना किसी औचित्य के किसी भी विधि पर उसे लोक-अस्वीकृति की सम्भावना से बचाने के लिये लगा दिया जाता है।

3 उपक्रम और प्रत्याह्वान

उपक्रम, जिसका उद्देश्य जनता को ऐसी विधि का सूत्रपात करने या उसे प्रस्तावित करने की शक्ति प्रदान करना है जिस पर विधानमडल को विचार करना ही चाहिए, सविधानवाद की परिधि के अन्दर जनमत सग्रह से भी बढकर अतिलोकतन्त्रीय प्रथा का विकास है। यह आवश्यक है कि उपक्रम का अध्ययन जनमत सग्रह से पृथक् किया जाए, क्योकि यद्यपि इन दोनो का सैद्धान्तिक मूलाधार एक ही है तो भी जिन परिस्थितियो मे इनका प्रयोग होता है, वे विभिन्न हैं, क्योकि, जैसा एक विद्वान् का कथन है, जहा जनमत सग्रह विधानमडल के अनुचित कामो के अभिशाप से जनता की रक्षा करता है, वहा उपक्रम उसके कार्य न करने के अभिशाप का उपचार है। जनमत सग्रह के पक्ष मे दी जाने वाली युक्तियो के अलावा उपक्रम के लिए यह युक्ति भी दी जाती है कि विधानमडल उपयुक्त रूप से जनता के दृष्टिकोण का प्रतिनिधित्व नहीं करते हैं और चूकि जनमत सग्रह का सम्बन्ध केवल विधानमडल द्वारा किए गए प्रस्तावो से ही है, इसलिए केवल उससे बुराइयो के खिलाफ पर्याप्त गारटी नहीं प्राप्त होती। परन्तु हम कभी-कभी उपक्रम और जनमत सग्रह दोनों को साथ-साथ काम करते हुए देखते हैं जिसमे जनता द्वारा उपक्रमित प्रस्ताव, विधानमडल के द्वारा पारित हो जाने के पश्चात् अन्तिम अनुमोदन के लिए उसके पास वापस आते हैं। ससार मे ऐसा कोई देश नहीं है, जहा जनमत सग्रह के बिना उपक्रम विद्यमान हो।

स्विट्जरलैंड मे, जैसा कि हम बता चुके हैं, जनमत सग्रह का प्रयोग साविधानिक सशोधनो, विधियो और प्रस्तावो के लिए केण्टन के तथा सघीय दोनो मामलो मे किया जाता है, वहा लोकोपक्रम का भी दोनो मे प्रयोग होता है, परन्तु यह सघीय मामलो मे इतना पूर्ण नही है जितना कि केण्टनो के मामलो मे। जैसा हम देख चुके हैं, कॉनफेडरेशन मे कोई भी 50 000 नागरिक सघीय सविधान के सशोधन अथवा पूर्ण परिशोधन का प्रस्ताव कर सकते हैं। केण्टनो (प्रातो) मे लोकोपक्रम के प्रयोग के लिए विनियम और भी व्यापक हैं और उनके अन्तर्गत केवल साविधानिक विषय ही नही वरच साधारण विधिया और प्रस्ताव भी सम्मिलित हैं। जेनेवा के सिवाय (जिसके सविधान का प्रत्येक पन्द्रह वर्षों मे अपने-आप ही परिशोधन होता है) समस्त केण्टनो मे नागरिको की एक निर्दिष्ट सख्या, जो विभिन्न केण्टनो मे विभिन्न है, या तो सविधान के सामान्य परिशोधन को माग कर सकती है अथवा विशिष्ट सशोधनो का प्रस्ताव कर सकती है। इसके अलावा, सब से छोटे तीन के सिवाय समस्त केण्टनो मे नागरिको की एक निर्दिष्ट सख्या या तो पूर्णरूप से तैयार किए गए मसौदे के रूप मे एक नई विधि या प्रस्ताव प्रस्तुत कर सकती है, या केण्टन की परिषद् द्वारा मसौदा तैयार कराने के लिए किसी विधि या प्रस्ताव का सिद्धान्त प्रस्तुत कर सकती है। पहली दशा मे विधेयक सीधे ही जनता के समक्ष प्रस्तुत किया जाता है, दूसरी दशा मे परिषद् जनमत सग्रह द्वारा जनता से पूछती है कि क्या विधेयक का मसौदा तैयार करने का काम हाथ मे लिया जाए, और, यदि वह सहमत हो जाती है तो, विधेयक तैयार करके जनता के अनुमोदन या अस्वीकृति के लिए अतिम रूप से उसके समक्ष प्रस्तुत किया जाता है।

सयुक्तराज्य मे उपक्रम का प्रयोग उतने राज्य नही करते जितने जनमत सग्रह का करते है। कुछ राज्यो मे उपक्रम विधियो के लिए और अन्य राज्यो मे साविधानिक सशोधनो के लिए प्रचलित हैं। उपक्रम की व्यवस्था के अधीन प्रस्ताव को प्रस्तुत करने वाले नागरिको की सख्या किसी भी सम्बन्धित राज्य के निर्वाचको की पाच से लेकर पन्द्रह प्रतिशत तक होती है, परन्तु कुछ राज्यो मे एक *निश्चित सख्या निर्दिष्ट है*। उन राज्यो मे जो उपक्रम का प्रयोग साविधानिक तथा साधारण दोनो विधियो के लिए करते हैं, प्रक्रिया के सम्बन्ध मे कोई भी अन्तर नही है। फलस्वरूप, प्राय साधारण विधियो को साविधानिक सशोधनो के रूप मे रखा जाता है, और इस भाति, यदि वे पारित हो जाती हैं, तो वे बाद मे विधानमडल की मामूली कार्यवाही से निरस्त नही की जा सकती।

वेमर गणतत्र के अधीन जर्मनी के सविधान मे उपक्रम के सिद्धान्त को स्थापित करने वाली एक मार्के की धारा (73) थी। उसमे कहा गया था कि यदि मतदान के *अधिकारी व्यक्तियो का दशमाश* किसी विधेयक के (जिसका मसौदा पूरी तरह तैयार किया हुआ होना चाहिए) पेश किए जाने के लिए निवेदन करता है,

तो सरकार को उसे राइखस्टाग मे प्रस्तुत करना पड़ेगा। यदि राइखस्टाग उसे पारित कर देती थी तो विधि को बिना किसी अन्य कार्यवाही के प्रख्यापित कर दिया जाता था किन्तु यदि वह वह इसे पारित नही करती थी तो विधेयक को जनमत सग्रह के लिए प्रस्तुत करना पड़ता था। उपक्रम का एक इसी प्रकार का उदाहरण इटली के गणतन्त्र के नए सविधान मे है। उस सविधान के अनुच्छेद 71 के अनुसार कोई भी पचास हजार निर्वाचक उचित रूप से तैयार किया हुआ कोई भी विधेयक विचार के लिए प्रस्तुत कर सकते हैं।

प्रतिनिधियो या अन्य निर्वाचित पदाधिकारियो का प्रत्याह्वान आधुनिक राजनीति मे अभिनव जनशक्ति है, हालांकि यह बिलकुल ही नई पद्धति नही है। उदाहरणस्वरूप फ्रासीसी क्रान्ति के दौरान मे असतोपजनक प्रतिनिधि के उसके निर्वाचको द्वारा हटाए जाने के लिए व्यवस्था करने का एक सुझाव दिया गया था, यद्यपि वह फलीभूत नही हुआ था। परन्तु वर्तमान समय मे सयुक्तराज्य के कुछ राज्यो मे ही इसका पूणरूप से प्रयोग हुआ है। उदाहरण के तौर पर ऑरेगान राज्य की विधि मे यह व्यवस्था है कि यदि निर्दिष्ट सख्या मे नागरिक किसी निर्वाचित पदाधिकारी की चाह वह विधानमडल का हो या कार्यपालिका का पदच्युति की माग करते हुए आवेदनपत्र प्रस्तुत करे, तो इस विषय पर जनमत लिया जाएगा और यदि मतदान मे बहुमत उस अधिकारी के विरुद्ध हो, तो वह पदच्युत किया जाएगा और उसके पद की अवधि के शेष भाग के लिए उसके स्थान की पूर्ति के लिए नया निर्वाचन होगा। इस प्रक्रिया को अन्य अमरीकी राज्यो ने भी अगीकार किया है और उसे प्राय सफलता प्राप्त हुई है, यद्यपि विधानमडल के सदस्यो के मामले मे वह बहुत कम सफल हुई है। अन्य राज्यो मे इसका प्रयोग और भी व्यापक है तथा यह न्यायाधीशो को भी लागू की गई है जो निर्वाचित होते हैं, यहा तक कि एक राज्य (कोलोरेडो) मे तो न्यायाधीशो के निर्णयो के सम्बन्ध मे भी इसका प्रयोग किया जाता है। किन्तु न्यायाधीशो के निर्णय के सम्बन्ध मे यह प्रयोग असावैधानिक घोषित कर दिया गया था। जनमत सग्रह और उपक्रम की भाति प्रत्याह्वान भी, साधारण रूप से, पश्चिमी अमरीकी राज्यो तक मे सीमित है।

ससार मे किसी भी अन्य राष्ट्र ने प्रत्याह्वान को इस रूप मे नही अपनाया है। यह सत्य है कि रूसी सोवियत गणतत्र के मूल सविधान मे इसकी व्यवस्था थी, परन्तु सोवियत रूस के सन् 1936 के सविधान मे इसका कोई उल्लेख नही है। स्विट्जरलैंड मे एक योजना है जो व्यवहार मे प्रत्याह्वान से कुछ मिलती-जुलती है। वहा के सात केण्टनो मे जनता एक विशिष्ट बहुमत के द्वारा यह माग कर सकती है कि केण्टन की विधानसभा का उसकी अवधि की समाप्ति के पूर्व ही विघटन और पुनर्निर्वाचन किया जाए।

4 इन साधनों के पक्ष और विपक्ष मे दलीलें

जनमत सग्रह, उपक्रम और प्रत्याह्वान के, उन राज्यो मे, जिनमे इनका प्रयोग हुआ है, प्रयोग से हम किन निष्कर्षों पर पहुचते हैं ? प्रथम, जनमत सग्रह विधानमडला को, जो स्पष्ट रूप से या अपने निर्वाचको द्वारा दिए गए आदेश की उपेक्षा करते हुए कार्य करते है, त्रुटियो को ठीक करता है। द्वितीय, यह निर्वाचितो और निर्वाचको के बीच एक लाभदायक और स्वस्थ सम्पर्क कायम रखता है जो कभी-कभी ही होने वाले सामान्य निर्वाचनो द्वारा सर्वदा सुनिश्चित नही होता है। तृतीय इससे यह सुनिश्चित हो जाता है कि ऐसी कोई भी विधि जो लोक-भावना के विरुद्ध हो पारित नही होगी। उपक्रम के पक्ष मे भी यही तर्क दिए जा सकते हैं, *परन्तु उसके उपयोग के लिए एक कारण और भी है। जनमत सग्रह से विधान-*मडल द्वारा विचारित विषयो पर ही लोगो को मतदान करने की अनुज्ञा प्राप्त होती है परन्तु उसमे प्रतिनिधि-सस्था से स्वतत्र रूप मे जनता के प्रस्तावो के लिए कोई अवकाश नही मिलता। यह तर्क दिया जाता है कि यदि जनता किसी विधि का अनुमोदन या अननुमोदन करने के लिए समर्थ है तो वह स्वय ही प्रस्तावो को प्रस्तुत करने के लिए भी समर्थ क्यो नही समझी जाती ? यही बात प्रत्याह्वान के सम्बन्ध मे भी है। यदि लोगो को प्रतिनिधि चुनने की शक्ति दी गई है तो उन्हें उसे हटाने का भी अधिकार क्यो न दिया जाए यदि उनके मत मे वह अपने कर्तव्यपालन मे असफल हो। क्या यह अधिकार पहले अधिकार मे उपलक्षित नही है ?

दूसरी ओर, इन साधनो के उपयोग के विरुद्ध कई तर्क प्रस्तुत किए जा सकते हैं। जहा तक जनमत सग्रह की बात है, यदि बडे राज्य मे उसका बारबार प्रयोग किया जाए, तो सभव है कि इससे विधियो के प्रख्यापन मे इतना विलम्ब हो जाए, *जिससे समाज उन लाभो से वचित रह जाएगा, जिनके लिए उन विधियो का* निर्माण किया गया है, अथवा वे बुराइया, जिनको दूर करना विधियो का आशय है, चालू रहेगी। दूसरी आपत्ति यह है कि सघन औद्योगिक समाज मे इस बात की सभावना रहेगी कि वे विभिन्न मत, जो प्रस्तुत विधियो के सम्बन्ध मे इसके कारण *प्रकट किए जा सकेंगे, अन्त मे एक-दूसरे को निष्फल कर देंगे, और इस भाति समस्त* प्रगतिशील विधि-निर्माण पूर्णतया निरर्थक हो जाएगा। इसके साथ ही, आधुनिक परिस्थितियो मे, विधि निर्माण इतनी उच्च सीमा तक एक विशिष्ट विषय बन गया है कि एक सुविज्ञ नागरिक भी जनता के विचार के लिए प्रस्तुत समस्त विधेयकों के ब्योरो को समझने की आशा नही कर सकता, जिन पर विधानमडल मे सावधानी के साथ विचार विमर्श हो चुका होता है। फलस्वरूप, इससे या तो अज्ञान प्रतिष्ठित होगा या उदासीनता उत्पन्न होगी जिससे यह सारी योजना

ही बेकार हो जाएगी। इनके अतिरिक्त उपक्रम के विरुद्ध अन्य आपत्तिया भी हैं। एक लेखक का कथन है कि "यह लोगों के सामने ऐसे विधेयक प्रस्तुत करता है, जो ससदीय आलोचना की कसौटी पर नही कसे गए है। ऐसी स्थिति मे यदि उनका मसौदा असावधानी से या अव्यवस्थित रूप से तैयार किया गया हो, और यदि उन्हे अधिनियम बना दिया जाए, तो वे विधि मे उलझन और अनिश्चितता उत्पन्न कर देंगे और मुकदमेबाजी को बढ़ावा मिलेगा।' इसके अतिरिक्त उपक्रम से विचारहीन नेताओ अथवा भ्रष्ट गुटो को ऐसे अवसर प्राप्त होगे जिससे वे जनसमूह के अज्ञान और उसकी गैरजिम्मेदारी का अनुचित लाभ उठाकर राज्य को भारी हानि पहुचा सकेंगे।

उपक्रम के सम्बन्ध मे ये आपत्तिया और भी अधिक सबल बन जाती है जब कि उसका प्रयोग साविधानिक विधि के सम्बन्ध मे किया जाता है। जैसा कि हम पहले बता चुके है सविधान एक मूलभूत वस्तु होता है, और उसमे केवल बडे विचार-विमर्श के पश्चात् ही परिवर्तन करना चाहिए। यदि वह जनता के द्वारा तैयार किए गए मसौदे और मतदान के द्वारा जोडे गए विधियो का सकलन बन जाता है, तो वह अपने सारभूत रूप को खो बैठेगा और अव्यावहार्य उपबन्धो का एक झमेला बन जाएगा। ऐसी परिस्थिति सभवतया पहले अराजकता को और फिर निर-कुशवाद को जन्म देगी, और उस स्थिति मे यह लोकप्रिय साधन अपने लक्ष्य को ही निष्फल कर देगा। साविधानिक प्रश्नो के लिए उपक्रम की अपेक्षा जनमत सग्रह अधिक उपयुक्त है तथा इसका एक और अच्छा उपयोगी प्रयोग उन गत्यावरोधो को दूर करने के लिए हो सकना है, जो द्विसदनी विधानमडलो मे सदनो के बीच उत्पन्न हो जाते हैं, इगलैंड मे सन् 1909 मे जब लॉर्ड-सभा ने बजट को पारित करने से इनकार कर दिया और सकट उत्पन्न हो गया, उस समय एक बार इसका प्रस्ताव *किया गया था, हालाकि वह स्वीकृत नही हुआ।*[1]

प्रत्याह्वान के सम्बन्ध मे आपत्तिया बहुत है। अमरीका मे ऐसे उदाहरण है जिनमे इसने अच्छा और राज्य के हित मे काम किया है, परन्तु इसके विरोधी यह कहते हैं कि इससे कर्मचारियो मे भीरुता तथा दासत्व की भावना उत्पन्न होती है। यदि विधान-निर्माताओ पर इसका प्रयोग किया जाए तो यह खतरा है कि प्रतिनिधि प्रत्यायुक्त मात्र बनकर रह जाएगा, वह किसी भी सक्रिय तथा कपटपूर्ण गुट्ट के

[1] ब्रिटेन मे जनमत सग्रह के एक रूप का प्रयोग कभी कभी स्थानीय समस्याओ पर जनमत की अभिव्यक्ति के लिये किया गया है। उदाहरणार्थ, ऐसा १९६१ मे वेल्स मे हुआ था जब कि जनता ने काउण्टियो और काउण्टीबरो (County boroughs) के सम्बन्ध मे रविवार के दिन मधुशालाओ को खुले रखने के प्रश्न पर मतदान किया था।

दूषित प्रहारो का शिकार बन जाएगा और इससे लोकसेवा की भावना वाले व्यक्ति सार्वजनिक जीवन से हट जाएगे। यदि इसका प्रयोग कार्यपालिका पर किया जाए तो इससे निश्चिय ही सत्ता निर्बल हो जाएगी और श्रेष्ट व्यक्ति सरकारी पद ग्रहण नही करेंगे। न्यायाधीशो के सम्बन्ध मे तो इसके प्रयोग करने का कोई औचित्य ही नही दिखाई देता, क्योकि उनका क्षेत्र शासन के अन्य दो विभागो से अधिक विशिष्ट है। यदि प्रत्याह्वान का प्रयोग न्यायाधीशो के सम्बन्ध मे किया जाए तो वे जनसमूह की सनक के शिकार बन जाएगे और इससे उनकी पदावधि की वह सुरक्षा समाप्त हो जाएगी, जो, जैसा हम कह चुके हैं, राज्य के कल्याण के लिए आवश्यक है।

अपने अध्ययन के इस अश से हमारा यह निष्कर्ष निकलता है कि सभ्यता की वर्तमान अवस्था मे सावैधानिक लोकतन्त्र ने जितना भार वह सहन कर सकता है उससे कही अधिक भार ले लिया है। लॉर्ड ब्राइस ने ठीक ही कहा है कि "नागरिक कर्तव्य के स्तर को ऊचा उठाना सस्थाओ मे परिवर्तन करने की अपेक्षा अधिक कठिन और लम्बा कार्य है।" राजनीतिक सस्थाओ की उपयोगिता तथा उनका स्थायित्व उस समाज की स्थिति पर निर्भर है जिसे वे लागू होती हैं और यह बात महत्वपूर्ण है कि सस्थाए उनको क्रियान्वित करनेवाली जनता की सामर्थ्य से आगे नही होनी चाहिए।

11
संसदीय कार्यपालिका

1 कार्यपालिका : दृष्ट और वास्तविक

आधुनिक शासन-व्यवस्था मे विधि निर्माण का अत्यधिक महत्व है, फिर भी उसमे कार्यपालिका द्वारा आच्छादित होने की प्रवृत्ति प्रतीत होती है। इसके दो कारण हैं पहला यह कि आधुनिक कार्यपालिका का सम्बन्ध केवल विधियो को कार्यान्वित करने से ही नही किन्तु अनेक अवस्थाओ मे विधानमडल द्वारा स्वीकृत की जाने वाली नीति का सूत्रपात करने से भी रहता है, और दूसरा यह कि समष्टिवादी विधान, जिसकी कि हम पहले चर्चा कर चुके हैं, इतना अधिक होता है कि विधियो के पारण पर विधानमडल का नियत्रण होने के बावजूद विधियो को कार्यान्वित करने वालो के हाथो मे अपने विवेक से काम करने की काफी शक्ति छोड देना आवश्यक होता है। इस प्रकार लोकतत्र के विकास ने आधुनिक सविधानी राज्यो मे एक विरोधाभास पैदा कर दिया है—जनता द्वारा, जिसकी आवश्यकता के लिए विधि-निर्माण अपेक्षित है, निर्वाचित विधानमडल द्वारा पारित विधियाँ जितनी बढती जा रही हैं, इस प्रकार बनाई गई विधियो को कार्यान्वित करने मे अनियत्रित कार्यपालिका शक्ति का क्षेत्र भी उतना ही बढता जा रहा है।

अत, कार्यपालिका आधुनिक सविधानी राज्य मे कई बातो मे शासन का सबसे अधिक महत्वपूर्ण विभाग है, और जहा एक ओर शासन की शक्तियो को सीमित करने और शासितो के अधिकारो को सरक्षित करने के प्रयत्न मे सविधान-वाद ने कार्यपालिका-शाखा को परिभाषित किया है और उचित सीमाओ के अन्दर रखा है,वहा दूसरी ओर लोकतत्र के विकास ने कार्यपालिकासम्ब धी कर्तव्यो और उनका निष्पादन करने वाले पदाधिकारियो एव विभागो की सख्या को बहुत अधिक बढा दिया है। आज के साधारण सविधानी राज्य मे कार्यपालिका की शक्तियो को सक्षेप मे निम्न प्रकार से व्यक्त किया जा सकता है —

(1) राजनयिक शक्ति—विदेशी मामलो के सचालन से सबधित।
(2) प्रशासनिक शक्ति—विधियों के निष्पादन और शासन के सचालन से सबधित।

(3) सैनिक शक्ति—युद्ध-सचालन और सशस्त्र बल के सगठन से सबधित।
(4) न्यायिक शक्ति—सिद्धदोष अपराधियो को प्रविलम्वन, क्षमा आदि के दान से सबधित।
(5) विधान शक्ति—विधेयको के प्रारूप बनाने और विधि के रूप मे उनको पारित कराने से सबधित।

जैसा कि हम पहले बता चुके हैं, 'कार्यपालिका' शब्द का प्रयोग दो अर्थो मे किया जाता है। पहले अर्थात् व्यापक अर्थ मे, इसका तात्पर्य मन्त्रियो, असैनिक सेवा, पुलिस, यहा तक कि सशस्त्र सेनाओ के भी सम्पूर्ण निकाय से है। दूसरे अर्थात् सकीर्ण अर्थ मे, इसका तात्पर्य कार्यपालिका विभाग के सर्वोच्च अधिकारी से है। वर्तमान और अगले अध्याय मे हमारा सम्बन्ध कार्यपालिका के इस द्वितीय अर्थ से ही रहेगा। हमको केवल नाम से ही भ्रम मे नही पडना चाहिए, जिसके आधार पर कार्यपालिकाओ को अक्सर वशानुगत और निर्वाचित इन दो वर्गो मे विभाजित किया जाता है जिसके आधार पर राज्यो को एकतन्त्रो और गणतन्त्रो मे विभाजित किया जाता है। जैसा कि हम कह चुके हैं, इससे कोई बात स्पष्ट नही होती। हमको तो इससे आगे बढकर यह पूछना चाहिए कि क्या वशानुगत कार्यपालिका अथवा निर्वाचित कार्यपालिका वास्तविक है या केवल नाममात्र ? प्रथम विश्वयुद्ध से पूर्व कतिपय योरोपीय राज्य—उदाहरणार्थ जर्मनी, आस्ट्रिया हगरी और रूस—ऐसे थे जिनमे विभिन्न कोटि की निरकुश शक्तियो वाली वास्तविक वशानुगत कार्यपालिकाए विद्यमान थी। किन्तु ये सब वशानुगत कार्यपालिकाए युद्ध के फलस्वरूप समाप्त हो गई और आज वास्तविकता यह है कि पाश्चात्य विश्व मे नाममात्र वशानुगत कार्यपालिकाए होते हुए भी वास्तविक वशानुगत कार्यपालिका का कही नाम निशान भी नही है।

किन्तु एक और तथ्य की ओर भी ध्यान देना आवश्यक है। निर्वाचित कार्यपालिकाए अपने वास्तविक स्वरूप को एक बाहरी आवरण के पीछे छिपा भी सकती हैं और जिस प्रकार कि आज सभी पाश्चात्य एकतन्त्रो मे राजा कही भी वास्तविक कार्यपालक नही है उसी प्रकार कुछ गणतन्त्रो मे भी राष्ट्रपति वास्तविक नही बल्कि नाममात्र कार्यपालक होता है। विद्यमान सविधानी राज्यो मे सकीर्ण अर्थ मे, अर्थात् कार्यपालिका विभाग के सर्वोच्च अधिकारी के अर्थ मे, कार्यपालिकाए केवल दो प्रकार की है—एक तो वह जो ससद् द्वारा नियत्रित होती है अर्थात् ससदीय कार्यपालिका , और दूसरी वह जो ससदीय नियन्त्रण से परे होती है अर्थात् अ-ससदीय अथवा स्थायी कार्यपालिका। यह आवश्यक है कि विद्यार्थी किसी राज्य के नाम या उसकी परम्परा के आधार पर स्थिर कार्यपालिका के स्वरूप मात्र से ही भ्रम म न पड जाए। उसे तो कार्यपालिका के वास्तविक कार्य

को गभीरता से देखना चाहिए जिससे यह पता लग सके कि वह वास्तव मे इन दो प्रकारो मे से किस प्रकार की है।

2 शक्तियों के पृथक्करण का सिद्धांत

शासन के तीन विभागो—विधानमडल, कार्यपालिका और न्यायपालिका—का अस्तित्व कृत्यों के विशिष्टीकरण की एक सामान्य प्रक्रिया के फलस्वरूप हुआ है। यह विशिष्टीकरण की प्रक्रिया सभ्यता की प्रगति, उसके कार्यक्षेत्र की वृद्धि और उसके उपकरणों की बढती हुई जटिलता के साथ ही सिद्धान्त और व्यवहार की समस्त शाखाओं मे दृष्टिगोचर होती है। प्रारभ मे राजा ही विधि का निर्माता, निष्पादक और निर्णायक था। किन्तु एकतत्र की इन शक्तियो को दूसरो को सौंपने की प्रवृत्ति का अनिवार्य विकास हुआ और उसका परिणाम इस त्रिविध विभाजन मे प्रकट हुआ। इस प्रक्रिया के अन्तर्गत प्रभु-सत्ता का विभाजन नहीं होता यह तो राज्य के बढते हुए कार्य को निपटाने के लिए एक सुविधाजनक साधन मात्र है। कृत्यो का विशिष्टीकरण एक सीधी-सादी आवश्यकता थी और उसके परिणामस्वरूप प्रत्यायोजन (Delegation) एक सीधा-सादा तथ्य था। किन्तु जब राजा की शक्ति नियत्रित की जाने लगी और सावैधानिक विचारों का प्रचार होने लगा तो इस सीधे-सादे तथ्य ने एक सिद्धान्त का रूप धारण कर लिया—इस सिद्धान्त का कि स्वतन्त्रता का आधार इन कृत्यो के सुविधाजनक विशिष्टीकरण मे ही नही, बल्कि विभिन्न हाथो मे सौंपकर इनमे पूर्ण विभेद स्थापित करने मे है। शासन के विकास की एक साधारण प्रक्रिया मे स्वतत्रता और अधिकारो के एक सिद्धान्त का दर्शन करने का यही सयोग है जिसने कतिपय सविधानो को अजीब तरह से मोड दिया है और ससदीय एव अ-ससदीय कार्यपालिकाओं के बीच का आधुनिक भेद प्रस्तुत कर दिया है।

शक्तियो के पृथक्करण के इस सिद्धान्त के प्रादुर्भाव के सम्बन्ध मे सबसे विचित्र बात यह है कि प्रारभ मे इसे ब्रिटिश सविधान की स्थिरता के विशेष आधार के रूप मे प्रस्तुत किया गया था जो कि बिलकुल ही असत्य है और जो उस पर बिलकुल भी लागू नही होता। यह धारणा सबसे पहले सन् 1748 मे प्रकाशित मॉण्टेस्क्यू की पुस्तक *'स्पिरिट ऑफ लॉज'* मे प्रकट हुई थी, जिसमे लेखक ने ब्रिटिश सविधान का सार प्रस्तुत करने का प्रयास किया था। उसका निष्कर्ष यह था कि "जब विधायी और कार्यपालिका शक्तिया एक ही व्यक्ति या व्यक्तियों के निकाय मे सयुक्त होती हैं तब स्वतत्रता नही हो सकती, क्योंकि इस बात का खतरा बना रहता है कि वही राजा या सिनेट कठोर विधिया बनाएगे और कठोरतापूर्वक उनको क्रियान्वित करेंगे।" ब्रिटेन के सविधान के बारे मे यह विचित्र विचार इस फ्रांसीसी विचारक तक ही सीमित नही था, क्योंकि उसके लगभग बीस वर्ष

पश्चात् अगरेज विधि विशेषज्ञ ब्लेक्स्टन ने अपनी पुस्तक 'कमेंटरीज ऑन दी लॉज ऑफ इगलैंड' (सन् 1765) मे लगभग उसी प्रकार के विचार प्रकट किए। इस लेखक न कहा है 'जहां कही भी विधियो का निर्माण करने और उनको कार्यान्वित करन का अधिकार एक ही व्यक्ति या व्यक्तियो के निकाय मे निहित होता है वहा लोक-स्वतन्त्रता नही हो सकती।"

यह विचारधारा अठारहवी शताब्दी के उत्तरार्ध के राजनीतिक दर्शन का निश्चित अग बन गई और क्रांति युग के फ्रासीसी सविधानो मे समाविष्ट की गई। मॉण्टेस्क्यू और ब्लेक्स्टन के सिद्धान्त को अमरीकन सविधान के निर्माताओ ने भी अपनाया और व्यवहार मे लिया, क्योकि उस समय वे वास्तव मे विश्वास करते थे कि व ब्रिटिश सविधान के एक उत्तम लक्षण का अनुकरण कर रहे हैं। ब्रिटेन की वर्तमान कार्यपालिका-प्रणाली का उस समय तक पूर्णरूपेण विकास नहीं हो पाया था और अब वह अपनी गुप्त शक्ति की ऐसी व्याख्या की सम्भावना से दूर हट गया है। किन्तु फिर भी यह उस भावना की, जो कि उस समय ब्रिटिश सविधान के विकास मे निहित थी, मिथ्या धारणा ही थी। फिर भी इस धारणा की जडें इतनी पक्की हो चुकी थी कि वे सन् 1867 मे वाल्टर बेजहाट की महान् पुस्तक 'दी इगलिश कॉस्टीट्यूशन' के प्रकाशन के पश्चात् ही समाप्त हो सकी।

किसी भी सविधानी राज्य के बारे मे यह नही कहा जा सकता कि उसमे विधायी और कार्यपालिका कृत्य बिलकुल एक ही व्यक्ति या निकाय के हाथो मे है, क्योकि, जैसा हम पहले बता चुके हैं, कार्यपालिका सदा ही विधानमडल से छोटी सस्था होती है। किन्तु शक्तियो के पृथक्करण का सिद्धान्त इस भेद की ओर सकेत नही करता। इस सिद्धान्त के प्रयोग का केवल यही मतलब नही होता कि कार्यपालिका और विधानमडल अलग-अलग निकाय होगे, बल्कि यह भी होना है कि ये दोनो एक-दूसरे से बिलकुल ही पृथक् होगे जिससे कि एक का दूसरे पर कोई नियत्रण न रहे। जिस किसी राज्य न इस सिद्धान्त को व्यवहार मे पूरी तरह अपनाया है और बनाए रखा है उसमे कार्यपालिका विधानमडल के नियत्रण से बिलकुल ही मुक्त होती है। ऐसी कार्यपालिका को हम 'अ-समदीय' या 'स्थायी' कहते हैं। इस प्रकार की कार्यपालिका अब भी सयुक्तराज्य मे विद्यमान है, जिसके सविधान मे इस विषय मे आरम्भ मे अब तक कोई परिवर्तन नही हुआ है। किन्तु फ्रास ने जिसन, जैसा कि हम कह चुके हैं, इस सिद्धान्त को क्रांति से उत्पन्न अपने प्रथम सविधानो मे अगीकार किया, बाद मे ब्रिटेन की कार्यपालिका-प्रणाली को अपना लिया और यह बात फ्रास के तृतीय एव चतुर्थ गणतत्र के सविधान मे प्रकट थी। और बहुत बडे रूपान्तर के साथ पचम गणतत्र मे भी विद्यमान है। यह ऐसी प्रणाली है जिसमे मन्त्रिमडल अपने अस्तित्व के लिए उस विधानमडल

पर, जिसका कि वह एक अग है, निर्भर करता है, और कार्यपालिका के सदस्य विधानमडल के भी सदस्य होते हैं।

इस प्रणाली को, जो साधारणतया मत्रिमडलीय (केबिनट) प्रणाली' के नाम से ज्ञात है, उसके मोटे रूप मे अधिकाश योरोपीय राज्यो ने अपना लिया है और यह बात नगण्य है कि वे एकतत्र कहलाते हैं या गणतत्र। ब्रिटेन के नये और पुराने स्व-शासी डामिनियना का भी यह विशिष्ट लक्षण है। दूसरी ओर अ-ससदीय प्रणाली सयुक्तराज्य और उसके सविधान के आधार पर अपने सविधान बनाने वाले लैटिन-अमरीकी गणतत्रा की विशिष्टता है। वर्तमान और अगले अध्याय मे आधुनिक विश्व के कुछ प्रमुख राज्यो की उनकी कार्यपालिका प्रणालियो की दृष्टि से विवेचना की जाएगी। हमारा प्रयाजन इस बात का पता लगाना है कि उन राज्यो मे प्रणाली ससदीय है या अ-ससदीय हालाकि एक या दो अनिश्चित उदाहरण भी है और उन पर भी हम विचार करेंगे।

3 ब्रिटेन मे मत्रिमडलीय प्रणाली का इतिहास और उसका वर्तमान स्वरूप

ब्रिटेन मे मत्रिमडलीय प्रणाली के विकास का इतिहास शासन-विज्ञान के समस्त क्षेत्र मे सबसे अधिक लाभदायक अध्ययन है। यह प्रणाली, जिसका ससार के विभिन्न भागो के अन्य राज्या के दस्तावेजी सविधाना मे व्यापक रूप से अनुकरण किया गया है, सन् 1937 तक ब्रिटेन की विधि को बिलकुल ही अज्ञात थी, क्योंकि तब तक यह साविधानिक या अन्य प्रकार के किसी वैध दस्तावेज मे नही पाई जाती थी। किन्तु उस वर्ष 'राजा के मत्रिगण अधिनियम' (Ministers of the Crown Act) पारित किया गया, जिसके अनुसार मत्रिया के वेतनो मे वृद्धि हुई और स्थिरता आई तथा विधिसहिता मे पहली बार 'केबिनेट' और 'केबिनेट मत्री', ये शब्द सम्मिलित किए गए तथा प्रधानमत्री को वैध हैसियत प्राप्त हुई। इस अधिनियम के अनुसार प्रधानमत्री का वेतन 10,000 पौंड प्रति वर्ष निश्चित हुआ जब कि तब तक उसे प्रधानमत्री के रूप मे कोई वेतन नही मिलता था। उस समय तक 5,000 पौंड प्रति वर्ष का जो वेतन उसे मिलता था वह उसे कोष के प्रथम अध्यक्ष (First Lord of the Treasury) के कर्तव्य-रहित पद अथवा किसी अन्य पद के बल पर मिलता था, जिसे वह धारण करता हो। इस अधिनियम ने 2,000 पौंड प्रति वर्ष वेतन सहित विरोधी दल के नेता का स्थान भी सरकारी तौर पर निश्चित कर दिया है। इस तथ्य से कि मत्रिमडल और प्रधानमत्री को साविधानिक स्थिति को विकास की तीन शताब्दियो से अधिक समय तक वैध आधार नही मिला, ब्रिटिश सविधान के उस रूढिगत या परम्परागत तत्व की शक्ति प्रकट होती है जिसकी हम चर्चा कर चुके है। अत, इस

राजनीतिक प्रक्रिया के विषय मे, जिसका प्रभाव इतना सार्वत्रिक रहा है, जानकारी प्राप्त करना तुलनात्मक राजनीति के विद्यार्थी के लिए बहुत महत्वपूर्ण है।

आधुनिक ब्रिटिश मन्त्रिमडल के उद्भव का वालपोल (सन् 1721-42) के अधीन ह्विग दल की प्रधानता से सम्बन्ध जोड़ा जाता है। यद्यपि यह सच है कि इस प्रणाली मे उन कुछ निश्चित तत्वों का, जो तब से बहुत साधारण विराम के साथ उसकी विशेषताएं बन हुए हैं, उसी समय समावेश हुआ, किन्तु इस प्रणाली के वास्तविक आरभ के लिए हमको उस काल से बहुत पीछे जाना पड़ेगा। पिछले विभाग मे हम बता चुके हैं कि राज्य की प्रारम्भिक अवस्था मे राजा ही विधि का निर्माता उसका निष्पादक और निर्णायक होता था, अर्थात् उसके पद मे राज्य के तीनों विभाग अर्थात् विधानमडल, कार्यपालिका और न्यायपालिका समाविष्ट थे। इस त्रिविध कर्तव्य मे राजा को सहायता देने के लिए इगलैण्ड मे प्रथम विलियम के अधीन महापरिषद् (Great Council) का सगठन किया गया। इस निकाय म ही ब्रिटेन की आधुनिक सस्थाओ के बीज विद्यमान थे, क्योंकि ब्रिटेन की वर्तमान शासन-व्यवस्था का समस्त प्रभावी सगठन—ससद्, मन्त्रिमडल और न्यायालय—परिवर्तन और विकास की प्राय अदृश्य अवस्थाओं म से होकर इसी से प्रस्फुटित हुआ है। किन्तु महापरिषद् की बैठक साधारणतया एक वर्ष म केवल तीन बार होती थी, अत उसमे से एक ऐसे विशेष निकाय का, जिसकी लगातार बैठकें होती रहे, विकसित होना स्वाभाविक ही था। इस निकाय मे कैंटरबरी और यार्क के आर्चबिशप, मुख्य न्यायाधिकारी (Justiciar), कोषाध्यक्ष और चासलर जैसे राज्य के कुछ उच्च पदाधिकारी होते थे और उसका नाम 'स्थायी परिषद्' था। किन्तु यह भी राजा के साथ घनिष्ठ सम्पर्क के प्रयोजन के लिए बहुत बड़ा सिद्ध हुआ और षष्ठ हेनरी (सन् 1422-61) के शासनकाल मे इसके स्थान पर सभासदा (Councillors) की एक अन्य अतरग समिति आ गई जो प्रिवी कौंसिल कहलाई और शासन की मुख्य कार्यपालिका बन गई।

ट्यूडर काल म इस कौंसिल का पुनर्गठन हुआ और इसने बहुत-सी मनमानी शक्तिया धारण कर लीं। इसके आकार म भी उत्तरोत्तर वृद्धि होते रहने के कारण जब उसकी प्रभावी शक्ति उसकी भी एक अन्य अतरग समिति के हाथो म चली गई तो उसके द्वारा इन शक्तिया का प्रयोग और भी अधिक निरकुश हो गया। इस विशिष्ट 'आन्तरिक परिषद्' (Interior Council) की (यह नाम इसे मैकॉले ने दिया है) बैठक राजा के साधारण परिषद्-भवन मे नहीं, बल्कि उस प्रयोजन के लिए पृथक् रूप से निर्धारित एक छोटे कमरे या 'केबिनेट' मे होती थी। यह स्थिति प्रथम चार्ल्स (सन् 1625-49) के शासनकाल तक उत्पन्न हो चुकी थी। अब यदि हम यह बता सकें कि राजा के विशेषाधिकार अत म ससद् के हाथो मे चले गए तो हम यह भी बता सकेंगे कि इगलैंड मे

कार्यपालिका अन्त में किस प्रकार संसदीय कार्यपालिका बन गई। यह महान् परिवर्तन मोटे तौर से तीन प्रक्रमों में हुआ। पहला प्रक्रम प्रथम चार्ल्स के शासनकाल में घटित सन् 1642 का महान् विद्रोह था। यह सिद्ध करने के लिए कि इस संघर्ष में संसद् के प्रति मंत्रियों के उत्तरदायित्व का प्रश्न किस प्रकार समाविष्ट था, विद्रोह के पूर्व के वर्ष में सशस्त्र संघर्ष को टालने के अनेक प्रयत्नों में से एक के रूप में राजा के समक्ष प्रस्तुत किए गए महान् विरोध (Grand Remonstrance) नामक दस्तावेज से एक अंश उद्धृत करना काफी होगा। इसमें यह प्रार्थना की गई है—

"परमश्रेष्ठ अपने महान् एवं लोक-कार्यों में ऐसे व्यक्तियों को नियुक्त करने और विश्वासयुक्त स्थानों में अपने निकट ऐसे व्यक्तियों को लेने की कृपा करेंगे जिन पर विश्वास करने के लिए आपकी संसद् के पास आधार हो।"

संसद् विजयी हुई और राजा का वध कर दिया गया, किन्तु उसके पुत्र द्वितीय चार्ल्स के अधीन एकतंत्र के पुनःस्थापन से कुछ पुरानी बुराइयां फिर लौट आईं और विद्यमान कार्यपालिका प्रणाली के विकास का दूसरा प्रक्रम सन् 1688 की क्रांति के रूप में आ पहुंचा। तृतीय विलियम (सन् 1689-1702) और एन (सन् 1702-14) के शासनकालों में मंत्रिमंडल (केबिनेट), विधि में अज्ञात होते हुए भी, वास्तव में "राज्य में एकमात्र सर्वोच्च परामर्शदात्री परिषद् एवं कार्यपालिका सत्ता" बन गया। किन्तु तब भी राजा इस मंडल का अध्यक्ष था। उसे राजा की शक्ति से बिलकुल बाहर करने और एक मंत्री-प्रधान मंत्री-को उसका अध्यक्ष बनाने के लिए एक और अवसर की आवश्यकता थी। यह कार्य एन की मृत्यु पर हेनोवर वंश के उत्तराधिकारी बन जाने के संयोग से सम्पन्न हुआ। धर्म के मुकाबले में राष्ट्रीयता का त्याग करते हुए अंगरेजों ने अंगरेज कैथोलिक (द्वितीय जेम्स के पुत्र) के स्थान पर एक जर्मन प्रोटेस्टेंट को पसन्द किया। प्रथम जॉर्ज और द्वितीय जॉर्ज अंगरेजी बोलने में असमर्थ थे और इसलिए उन्होंने मंत्रिमंडल की बैठकों में भाग लेने की प्रथा को बिलकुल ही छोड़ दिया। इसके फलस्वरूप मंत्रिमंडल की अध्यक्षता मुख्यमंत्री को प्राप्त हो गई।

अतः, मंत्रिमंडल के विकास की रूपरेखा प्रस्तुत करना और प्रधानमंत्री के पद के विकास की रूपरेखा प्रस्तुत करना एक ही बात नहीं है। किन्तु वालपोल के समय में ये दोनों बातें मिल गईं। उसके लम्बे प्रशासन में मंत्रिमंडल को उसका मूलभूत स्वरूप प्राप्त हुआ और सन् 1742 में वालपोल के पतन और उसके फलस्वरूप ह्विग दल के कमजोर पड़ जाने के बाद की जिसका फायदा उठाते हुए जॉर्ज तृतीय ने राजकीय विशेषाधिकारों को पुनः प्राप्त करने का प्रयत्न किया, अस्पष्ट अवधि के बाद अठारहवीं शताब्दी के अंतिम वर्षों में मंत्रिमंडल ने फिर से स्थायी रूप ग्रहण कर लिया। एच. डी. ट्रेल ने मंत्रिमंडल की राजनीतिक

संकल्पना को संक्षेप में प्रस्तुत करते हुए कहा है कि वह एक ऐसा निकाय है, जिसमें आवश्यक रूप से ऐसे व्यक्ति होते हैं—

"(क) जो विधानमंडल के सदस्य हों,
"(ख) जिनके राजनीतिक विचार समान हों और जो लोकसभा में बहुमत प्राप्त दल से चुने गये हों,
"(ग) जो एकीकृत नीति पर चलें,
(घ) जिनका समान उत्तरदायित्व हो जो संसद् द्वारा निन्दा की जाने की अवस्था में सामूहिक त्यागपत्र द्वारा व्यक्त होता है;
'(ङ) जो समान रूप से एक प्रधान मंत्री की अधीनता स्वीकार करते हों।'

इन लक्षणों को और भी संक्षेप में हम तीन शब्दों में व्यक्त कर सकते हैं— समरूपता, एकता और एक प्रधान के प्रति समान निष्ठा।

इस कार्यपालिका प्रणाली का सार यह है कि, अंतिम विश्लेषण में, मंत्रिमंडल संसद् की एक समिति है जिसमें लोकदल की प्रगति के साथ-साथ लोकसभा की समिति बन जाने की प्रवृत्ति है।[1] कार्यपालिका पर संसद् के प्राधान्य के ऐतिहासिक विकास का दल प्रणाली के विकास से सम्बन्ध है। अभी कुछ पहले तक *इन दो विकासों में से किसी का भी संविधान की विधि से कोई सम्बन्ध नहीं* था। जैसा हम पहले कह चुके हैं, मंत्रिमंडल सन् 1937 से पूर्व ब्रिटेन की विधियों में उस रूप में कहीं भी वर्णित नहीं था और आज भी कोई भी व्यक्ति प्रिवी कौंसिल का सदस्य हुए बिना मंत्रिमंडल का सदस्य नहीं हो सकता, जिसमें से, जैसा कि हम बता चुके हैं, मंत्रिमंडल का विकास हुआ है। राजा द्वारा प्रिवी कौंसिल का दुरुपयोग ही संसद् के प्रति उत्तरदायी मंत्रिमंडल के विकास का वास्तविक कारण था। मॉण्टेस्क्यू और ब्लैकस्टन के कथनानुसार विधायी और कार्यपालिका कृत्यों के पूर्णतम पृथक्करण के द्वारा स्वतन्त्रता के उद्देश्य की प्राप्ति की बात तो दूर रही, ब्रिटेन के इतिहास ने इसके विपरीत यह सिद्ध किया है कि स्वतन्त्रता इनके निकट सम्बन्ध से ही सुनिश्चित हो सकती है। ब्रिटेन के इतिहास की एक छोटी अवधि में विधि वहां के संविधान के इस प्रथागत विकास की सम्पूर्ण भावना के विरुद्ध रही। सन् 1701 के एक्ट ऑफ़ सेटिलमेंट की एक धारा के अनुसार

---

[1] वास्तव में मिनिस्टर्स ऑफ़ द क्राउन एक्ट (*1937*) से लॉर्ड-सभा के लिये मंत्रियों की न्यूनतम आनुपातिक संख्या निर्धारित हो गई है। इस व्यवस्था *का सामान्य प्रभाव यह हुआ है कि कम से कम तीन विभागाध्यक्ष मंत्री लॉर्ड-*सभा के सदस्य होने चाहिये।

कोई भी पदधारी लोकसभा मे नही बैठ सकता था। छह वर्ष बाद यह धारा निरस्त कर दी गई किन्तु न तो इस धारा के सम्मिलित करने के समय और न उसका निरसन करने के समय ही राजमर्मज्ञ इस बात को समझ सकते थे कि शासनयंत्र के भविष्य पर इसका क्या और कितना प्रभाव होगा। मन्त्रिमडलीय प्रणाली का प्रादुर्भाव तभी हो गया था जब कि राजकीय विशेषाधिकार पूरी तरह समाप्त भी नही हुए थे और एक्ट आफ सेटिलमेंट की उपर्युक्त धारा का प्रयोजन यह था कि कार्यपालिका-कृत्य वृहत्तर निकाय—प्रिवी कौसिल को—पुन सौंप दिए जाए। यह अनुमान था कि कौसिल के सदस्यो को लोकसभा से हटा लेने से भ्रष्ट ससदीय व्यवस्था के द्वारा राजा की षड्यन्त्र करने की शक्ति घट जाएगी।

निरसन अधिनियम—सन 1707 के प्लेस एक्ट—ने सविधान को इस खतरे से तो बचा लिया, किन्तु उक्त धारा दो दिशाओ मे प्रभावी बनी रही। प्रथम, धारा का जो भाग शेष रहा उसके एक अश के अनुसार कोई भी पदधारी सरकारी अनुबन्धो को धारण नही कर सकता। इसका तात्पर्य यह हुआ कि मन्त्रिमडल के किसी भी सदस्य को ऐसे अनुबन्धो से सम्बन्धित किसी कम्पनी मे किसी भी प्रकार की सक्रिय दिलचस्पी नही होनी चाहिए। द्वितीय, उक्त धारा स्थायी अ-सैनिक सेवा पर अब भी लागू होती है जिसका कोई भी सदस्य ससद् मे नही बैठ सकता। प्रिवी कौसिल विधि की दृष्टि से विद्यमान है, किन्तु अब उसकी कोई भी राजनीतिक शक्ति नही है। जैसा कि हम पहले कह चुके है, मन्त्रिमडल का सदस्य पद ग्रहण करने पर प्रिवी कौसिल का शपथप्राप्त सदस्य होना चाहिए, किन्तु एक बार प्रिवी कौसिल का सदस्य हो जाने पर वह सदा ही उसका सदस्य बना रहता है। फलस्वरूप प्रिवी कौसिल मे तत्कालीन मत्री ही नही, बल्कि और सदस्यो के साथ-साथ सभी भूतपूर्व मत्री भी होते हैं, अतएव वह पुरुषो और आजकल कभी-कभी स्त्रियो का भी एक बहुत बडा निकाय होती है, जिसका प्रत्येक सदस्य सम्मानित सदस्य (राइट ऑनरेबुल) की उपाधि से विभूषित होता है।

इस प्रकार, ब्रिटेन मे मन्त्रिमडल का जीवन ससद् की सद्भावना पर निर्भर है जिसका अर्थ आधुनिक अवस्थाओ मे लोकसभा का विश्वास है। इसका मतलब यह हुआ कि अतिम नियन्त्रण निर्वाचकगण के हाथो मे है। जैसा कि वाल्टर बेजहॉट ने बडी सूक्ष्मता के साथ बताया है, मन्त्रिमडल एक जीव है, किन्तु, अन्य जीवो के विपरीत, उसमे अपने स्रष्टा अर्थात् लोकसभा को नष्ट करने की शक्ति है, क्योकि यदि लोकसभा मे मन्त्रिमडल की हार हो जाए तो वह त्यागपत्र देने के स्थान पर रानी को उस सभा को, जिस पर वह स्वय निर्भर है, भग करने के लिए परामर्श दे सकता है। तब इस बात का निर्णय निर्वाचकगण करते हैं कि वह दल

जिसके मन्त्रिमण्डल ने अपील की है, बहुमत प्राप्त करेगा या नहीं।[1] इससे यह पता चल जाता है कि मन्त्रिमण्डलीय शासन की स्थिरता किस अनिवार्य रूप से दल-प्रणाली पर निर्भर है। ब्रिटेन के इतिहास में ऐसे अवसरों पर, जब कि सरकार को लोकसभा के, अपने दल से पृथक्, अन्य भागों की सहायता पर निर्भर रहना पड़ा है, उसका अस्तित्व सदा ही अनिश्चित रहा है, जैसा कि, उदाहरणस्वरूप, सन् 1924 में मजदूर सरकार के मामले में और एक बार फिर सन् 1929-31 के दौरान में सिद्ध हुआ।[2]

यदि यह दल प्रणाली मन्त्रिमण्डल को उसकी एकरूपता प्रदान करती है तो प्रधान मन्त्री की स्थिति में उसको दृढ़ता प्राप्त होती है। वास्तव में साररूप में इंगलैंड में मन्त्रिमण्डल समिति की अपेक्षा एक व्यक्ति का शासन अधिक है। उस व्यक्ति को लोकसभा के समक्ष संयुक्त मन्त्रिमण्डल के समर्थन के साथ पहुंचना चाहिए। किन्तु यह संयुक्त मोर्चा स्वयं उसके ऊपर निर्भर है। मन्त्रिगण एक साथ ही पद ग्रहण करते हैं और एक साथ ही पदत्याग करते हैं, किन्तु यदि मन्त्रिमण्डल में मतभेद हों तो प्रधानमन्त्री को यह शक्ति होती है कि वह या तो मतभेद रखनेवाले मन्त्रियों को व्यक्तिगत रूप से त्यागपत्र देने के लिए बाध्य करे या समस्त मन्त्रियों के सहित स्वयं भी त्यागपत्र दे दे। यही तरीका है जिससे इंगलैंड में मन्त्रिमण्डलीय प्रणाली दल-प्रणाली के साथ अविच्छिन्न रूप से गुंथी हुई है। ऐसे राज्यों में जहां मन्त्रिमण्डलीय प्रणाली को अपनाया गया है, किन्तु उसको बल देने वाली शक्तिशाली दल प्रणाली—अर्थात् निर्वाचित सभा में समर्थन करने वाले ठोस बहुमत—का अभाव है, वहां शासन कभी भी उतना स्थिर नहीं होता और वह अवस्था, जिसे मन्त्रिमण्डलीय संकट कहा जाता है, इंगलैंड की अपेक्षा बहुत अधिक आती रहती है।

---

[1] किन्तु इस विषय पर एल० एस० एमरी की पुस्तक 'थॉट्स ऑन दि कांस्टीट्यूशन' (सन् 1947) देखिए। इसमें लेखक ने इस बात से इनकार किया है कि "राजनीतिक शक्ति नागरिक की ओर से विधानमंडल के द्वारा एक कार्यपालिका को, जो कि उस विधानमंडल पर निर्भर है, सौंपी जाती है।" लेखक का कहना है कि ब्रिटेन की व्यवस्था "मुकुट और राष्ट्र का संयोग" है। इनमें प्रथम को मन्त्रिमंडल और मन्त्रिसमूह में प्रतिनिधित्व प्राप्त है जो कि शासन और सूत्रपात करते हैं; दूसरे को संसद् में प्रतिनिधित्व प्राप्त है जिसका काम आलोचना करना और सम्मति प्रदान करना है।

[2] अंतिम वर्ष में प्रधान मन्त्री रेमजे मेक्डॉनेल्ड अपने पद की रक्षा तभी कर सका जब कि उसने अपने अनुयायियों के विशाल बहुमत को छोड़ दिया और मुख्यतः अनुदार दल के सदस्यों को मिलाकर एक राष्ट्रीय सरकार की स्थापना की।

संक्षेप मे, ब्रिटिश कार्यपालिका-प्रणाली की उल्लेखनीय बातें मे हैं–वह अपने अस्तित्व के लिए निर्वाचित सदन के बहुमत के समर्थन पर निर्भर रहती है, उसके (राष्ट्रीय सकट की अवस्थाओ को छोड) सदस्य एक ही दल मे से लिए जाते हैं, प्रधान मन्त्री की स्थिति उसे दृढ बनाती है, सन् 1937 मे 'राजा के मन्त्री अधिनियम' के पारण तक मन्त्रिमडल और प्रधानमन्त्री के पद की विधि मे कोई चर्चा नही थी और उस सस्था का जिसका विधि मे सदा से उल्लेख था अर्थात् प्रिवी कौंसिल का, जिसमे कि पिछले और वर्तमान सभी मन्त्रिमडल के सदस्य होते है, अब कोई वास्तविक राजनीतिक महत्व नही है। इस विकास ने मुकुट के पुराने विशेषाधिकार बिलकुल ही समाप्त कर दिए हैं और वे विशेषाधिकार समस्त कार्यपालिका-शक्ति के सहित विधानमडल के नियत्रण के अधीन हो गये हैं।

4 डॉमिनियन पद और केबिनेट शासन

कालान्तर मे ससदीय कार्यपालिका का सिद्धान्त, जैसा वह ब्रिटेन मे विकसित हुआ था, उसके कुछ उपनिवेशो मे प्रवर्तित किया गया जब उत्तरदायी शासन के प्रदान स्वरूप उन्हे डॉमिनियन पद प्राप्त हुआ। उत्तरदायी शासन का अर्थ सार रूप मे उन उपनिवेशो मे,जिनमे कार्यपालिका-कृत्य पहले साम्राज्यिक सरकार के हाथो मे थे, मन्त्रिमडलीय प्रणाली को लागू करना ही है। उत्तरदायी शासन का अर्थ केवल यही नही है कि जिस डॉमिनियन मे उसका प्रयोग किया जाता है वह अपने हितो से सम्बन्द्ध मामलो मे विधानसबधी स्वतन्त्रता का उपभोग करेगा बल्कि यह भी है कि उसकी कार्यपालिका जनता के निर्वाचित प्रतिनिधियो द्वारा प्रत्यक्षत एव पूर्णरूपेण नियन्त्रित होगी। इस प्रकार, प्रत्येक स्व शासी डॉमिनियन मे भी ठीक वैसा ही हुआ है जैसा कि ब्रिटेन मे, अन्तर केवल यही रहा है कि वहा यह विकास बहुत थोडे समय मे हो गया। पुरानी व्यवस्था के अधीन उपनिवेश का गवर्नर-जनरल मुकुट अर्थात् ब्रिटिश सरकार का प्रतिनिधित्व करता था। किन्तु जिस प्रकार ब्रिटेन मे राजा की वास्तविक राजनीतिक शक्ति ससद् के प्रति उत्तरदायी मन्त्रिमडल के विकास द्वारा प्रारभ मे रोकी और अत मे नष्ट कर दी गई, उसी प्रकार उपनिवेशो मे भी गवर्नर-जनरल की शक्ति, उसको निर्वाचित सभा मे बहुमतप्राप्त दल से अपने परामर्शदाताओ को चुनने के लिए बाध्य करके, नष्ट कर दी गई। ऐसा हो जाने पर कार्यपालिका शक्ति वस्तुत ब्रिटिश सरकार के हाथो से निकलकर स्वय डॉमिनियन को प्राप्त हो गई।

ब्रिटेन और उसके उपनिवेशो के बीच निरतर सबध बनाए रखने की कठिन समस्या को हल करने का यह तरीका उस सीमा से बहुत आगे बढ गया है जिस तक इसका आविष्कार करनेवाले जाना चाहते थे। इसका आरभ कनाडा मे सन

1837 के विद्रोहों के फलस्वरूप हुआ जिनके पश्चात् लॉर्ड डरहम को गवर्नर-जनरल बनाकर कनाडा भेजा गया था। उसको कनाडा की अवस्था के बारे में रिपोर्ट देने और भविष्य में उसके शासन के लिए सुझाव प्रस्तुत करने का विशेष कार्यभार सौंपा गया था। सन् 1839 की उसकी रिपोर्ट का ब्रिटिश साम्राज्य के इतिहास में बड़ा महत्व है, क्योंकि उसने उत्तरदायी शासन की ओर प्रगति सम्भव कर दी। किन्तु डरहम ने कार्यपालिका-कृत्य के सम्बन्ध में स्थानीय और साम्राज्यिक प्रश्नों के बीच भेद करने का प्रयत्न किया था और कुछ ऐसे विषय निर्धारित कर दिए थे जो ब्रिटेन में स्थित सरकार के लिए स्थायी रूप से रक्षित होने चाहिए थे। इंगलैंड में उस समय अनेक योग्य व्यक्तियों को संदेह था कि इस प्रकार का भेद बनाए रखना सम्भव होगा या नहीं और उन्हें विश्वास था कि एक ऐसा समय आएगा जब कि सब शक्तियां डॉमिनियनों को प्राप्त हो जाएंगी। इतिहास ने इस सन्देह और इस विश्वास को सही सिद्ध कर दिया है। किन्तु डरहम की रिपोर्ट का उन आलोचकों के मतानुसार क्रियान्वित न करने के बजाय अंगीकार करना पर्याप्त रूप से उचित सिद्ध हुआ है। इसका कारण यह है कि एक बार व्यावहारिक राजनीति के रूप में ग्रहण कर लिए जाने पर उत्तरदायी शासन के कारण वह समस्त विकास सम्भव हो सका जिससे डॉमिनियनों को निर्बन्ध शक्ति प्राप्त हो सकी, जिसके बिना राष्ट्रमंडल (कॉमनवेल्थ) कायम नहीं रह सकता था।

सन् 1840 के कनाडा अधिनियम से कनाडा में मन्त्रिमंडलीय प्रणाली की स्थापना नहीं हुई, किन्तु उसके कारण डरहम के उत्तराधिकारी गवर्नर-जनरलों, विशेषकर लॉर्ड सिडेनहम और लॉर्ड एलगिन, की राजमर्मज्ञता के द्वारा उसका विकास सम्भव हो गया। इन पदाधिकारियों ने विधानमंडल के उन सदस्यों में से जो निम्न सदन में बहुमत दल के होते थे, कार्यपालिका परिषद् का निर्माण करना आरम्भ कर दिया जिसने धीरे-धीरे प्रथा का रूप धारण कर लिया, और यद्यपि ब्रिटेन की सरकार ने प्रतिक्रियावादी गवर्नर-जनरल नियुक्त करके इस विकास को रोकने के प्रयत्न किए तथापि यह नीति इतनी सफल हुई कि सन् 1849 में तत्कालीन ब्रिटिश प्रधानमंत्री लॉर्ड जॉन रसल लोकसभा में यह कहने में समर्थ हो सका कि—

"यदि कनाडा के वर्तमान मन्त्रिमंडल को लोकमत और सभा का समर्थन प्राप्त है तो वह पदारूढ़ रहेगा। इसके विपरीत यदि प्रान्त की राय उसके विरुद्ध हो तो गवर्नर-जनरल अन्य सलाहकारों को नियुक्त करेगा और यहां अंगीकार किए गए नियम के अनुसार ही कार्य करेगा।"

ब्रिटेन की संसद् के दोनों सदनों ने बहुमत द्वारा इस नीति को स्वीकार कर लिया और उस समय से अपनी कार्यपालिका पर अपने विधानमंडल द्वारा नियन्त्रण रखने के कनाडा के अधिकार पर कभी कोई प्रश्न नहीं उठाया गया है। कनाडा

डॉमिनियन की स्थापना करने वाले सन् 1867 के अधिनियम ने मंत्रिमंडलीय प्रणाली के अस्तित्व को मान लिया जब कि उसके ग्यारहवें अनुच्छेद में यह कहा गया कि "कनाडा की सरकार को सहायता और सलाह देने के लिए एक परिषद् होगी जो महारानी की कनाडा की प्रिवी कौंसिल कहलाएगी", और व्यवहार में यही मंत्रिमंडल है।

इसी बीच उत्तरदायी शासन का सिद्धान्त न्यूजीलैंड और आस्ट्रेलिया के पृथक उपनिवेशों को भी प्रदान कर दिया गया था। इस प्रकार, जब आस्ट्रेलिया की कॉमनवेल्थ की स्थापना का समय आया तब पूर्ववर्ती पृथक इकाइयों में पहले से ही स्वीकृत मंत्रिमंडलीय प्रणाली नए अधिनियम के अधीन कार्यपालिका-व्यवस्थाओं का एक आवश्यक अंग बन गई। सन् 1900 के कॉमनवेल्थ अधिनियम के अनुच्छेद चौंसठ में कहा गया है—

"प्रथम सामान्य निर्वाचन के पश्चात् राज्य का कोई भी मंत्री तीन महीने से अधिक की अवधि के लिए तब तक पद धारण नहीं कर सकेगा जब तक कि वह या तो सिनेटर या प्रतिनिधि-सभा का सदस्य न हो या न बन जाए।"

इस उद्धरण में इस बात का स्पष्ट संकेत है कि आस्ट्रेलिया के कॉमनवेल्थ में संसदीय कार्यपालिका है। यही बात दक्षिणी अफ्रीका में भी हुई जब 1910 में वहाँ संघ की स्थापना हुई। 1909 के साउथ अफ्रीका एक्ट के अनुच्छेद 14 में उपर्युक्त कॉमनवेल्थ अधिनियम के अनुच्छेद 62 की प्रायः अक्षर प्रत्यक्षर पुनरावृत्ति हुई है। जब 1960 में दक्षिणी अफ्रीका गणतंत्र बनकर ब्रिटिश कॉमनवेल्थ से हट गया, तब भी संसदीय कार्यपालिका का सिद्धान्त बना रहा। सन् 1961 के अधिनियम में जिसके द्वारा गणतंत्र का गठन हुआ स्पष्ट उल्लिखित है कि 'कार्यपालिका प्रेसीडेन्ट में निहित है जो कार्यपालिका परिषद् (या केबिनेट) के परामर्श से कार्य करेगा'। उसमें आगे कहा गया है कि कोई भी मंत्री तब तक तीन महीने से अधिक पद धारण नहीं कर सकेगा जब तक वह संसद् के किसी भवन का सदस्य न हो या न बन जाय।

जब दक्षिणी आयर्लैंड स्वशासी डोमिनियम बना तब भी संसदीय कार्यपालिका का यही सिद्धान्त प्रख्यापित किया गया। यद्यपि अब आयर गणतंत्र बन चुका है और कॉमनवेल्थ छोड़ चुका है, फिर भी आयरिश फ्री स्टेट कॉन्स्टीट्यूशन अधिनियम (1922) के अनुच्छेद 51 में केबिनेट शासन के सिद्धान्त की इतनी स्पष्ट व्याख्या हुई है कि वह यहाँ उद्धृत करने योग्य है। उसमें कहा गया है—

"आयरिश स्वतंत्र राज्य की कार्यपालिका-सत्ता एतत्द्वारा राजा में निहित घोषित की जाती है और कनाडा डॉमिनियन में कार्यपालिका-सत्ता के प्रयोग को नियमित करने वाली विधि, प्रथा और सांविधानिक रिवाज के अनुसार, मुकुट के प्रतिनिधि द्वारा प्रयुक्त होगी। आयरिश स्वतंत्र राज्य के शासन

मे सहायता और सलाह देने के लिए एक परिषद् होगी जो कार्यपालिका परिषद् कहलाएगी। कार्यपालिका परिषद, प्रतिनिधि-सदन के प्रति उत्तरदायी होगी और उसमे कम-से-कम पाच और अधिक-से-अधिक सात मत्री होगे जो मुकुट के प्रतिनिधि द्वारा कार्यपालिका परिषद् के अध्यक्ष के नामनिर्देशन पर नियुक्त किए जाएगे।"

दक्षिणी अफ्रीका के गणतंत्र की भाति आयरलैंड के गणतत्र ने भी ससदीय कार्यपालिका के सिद्धान्त को कायम रखा है। सन 1937 के सविधान मे जो सरकारी तौर पर आयर्लैंड का सविधान कहलाता है, अनेक समुचित अनुच्छेदो मे यह सिद्धान्त स्पष्ट रूप मे समाविष्ट है। उसमे कहा गया है कि प्रेसीडेण्ट डेल *आयरीन* के (*जिसका सरकारी अनुवाद हाउस आफ रिप्रेजेण्टेटिव्स है*) नामनिर्देशन पर प्रधान मत्री की नियुक्ति, और प्रधान मत्री के नामनिर्देशन पर शासन के अन्य सदस्यो की नियुक्ति करेगा, 'शासन डेल आयरीन के समक्ष उत्तरदायी होगा' और 'शासन के सदस्यो द्वारा प्रशासित राज्य के विभागो के लिये सामूहिक रूप मे उत्तरदायी होगा।' कनाडा, आस्ट्रेलिया तथा न्यूजीलैंड के श्वेत डॉमिनियनो मे उत्तरदायी शासन का विकास 1926 के साम्राज्यिक सम्मेलन के निर्णयो और 1931 की वेस्टमिन्स्टर सविधि के पारित होने से, जिसके द्वारा उनकी पूर्ण स्वतत्रता मान्य हुई, पूरा हो गया। यह समझना कठिन है कि उपनिवेशो मे यदि कोई दूसरी कार्यपालिका प्रणाली लागू होती तो ब्रिटिश राष्ट्रमडल *कैसे बना रह सकता था जो इस बडी तेजी से बदलनेवाले ससार मे स्वतत्र* राष्ट्रो के समुदाय के रूप मे अद्वितीय बना हुआ है।

5 फ्रेञ्च गणतंत्र मे मंत्रिमंडल

तृतीय गणतत्र के प्रारभिक दिनो मे सर हेनरी मेन ने लिखा था कि "कोई भी ऐसा विद्यमान पदाधिकारी नही है जिसकी स्थिति फ्रासीसी राष्ट्रपति से अधिक दयनीय हो। फ्रास के पुराने राजा राज्य करते थे और साथ ही शासन भी करते थे। दीयर के अनुसार, सावैधानिक राजा राज्य करता है किन्तु शासन नही करता। अमरीका का राष्ट्रपति शासन करता है किन्तु राज्य नही करता। *यह बात केवल फ्रास के राष्ट्रपति पर ही लागू होती है कि वह न तो राज्य करता है* और न शासन ही करता है।" यद्यपि इस कथन की भाषा कुछ उग्र है तथापि उसमे तृतीय गणतत्र के राष्ट्रपति की स्थिति, जैसी कि वह प्रारभिक वर्षो मे थी और जैसी वह सार रूप मे अन्त तक बनी रही, मोटे तौर से सही रूप मे व्यक्त होती है। चतुर्थ गणतत्र (सन् 1946) के सविधान ने भी राष्ट्रपति की वास्तविक शक्तियों मे कोई मूल परिवर्तन नही किया। तब भी वास्तविक तथ्य यही था कि फ्रास मे राष्ट्रपति नाममात्र का कार्यपालक था न कि वास्तविक।

वास्तविक कार्यपालिका तो एक मन्त्रिमंडल था, जिसका अध्यक्ष प्रधानमंत्री होता था और जो संसद् के प्रति उत्तरदायी था। राष्ट्रपति 'एक नामधारी कार्यकारी था जिसे बड़ी-बड़ी नाममात्र शक्तियाँ प्राप्त थीं परन्तु जिनके प्रयोग पर एक उत्तरदायी संसदीय केबिनेट के कार्य का वास्तविक नियंत्रण था'। वास्तव में, इस प्रणाली के फ्रेन्च आलोचकों की शिकायत थी कि फ्रेन्च राष्ट्रपति केवल *'संसद् और मन्त्रिमंडल का कैदी' था।*

तृतीय एवं चतुर्थ गणतन्त्रों में फ्रान्स के प्रधानमंत्री की स्थिति ब्रिटेन के प्रधानमंत्री से कुछ भिन्न थी। वह मन्त्रियों को नियुक्त एवं पदच्युत कर सकता था परन्तु वास्तव में फ्रेन्च संसद् की विलक्षण दल-प्रणाली के कारण उसे बड़ी सावधानी से कार्य करना पड़ता था। ऐसा कोई सुदृढ़ दल नहीं था जो सदनों में बहुमत दल बन सकता। अतः केबिनेट को अपनी स्थिरता के लिये संसदीय दलों के संयोग के समर्थन पर निर्भर रहना पड़ता था। प्रधानमंत्री को उसका समर्थन तब तक मिलता था जब तक कि वह उसके किसी अंग के मत के विरुद्ध नहीं जाता था। अतएव, उसको सदा यही डर रहता था कि कहीं वह इस प्रकार निर्धारित संकुचित सीमा का उल्लंघन न कर जाए। यही कारण है कि मन्त्रिमंडलों का परिवर्तन ब्रिटेन की अपेक्षा फ्रांस में बहुत अधिक होता था। मन्त्रिमंडलीय संकट के इस प्रश्न को और भी स्पष्ट रूप से समझने की आवश्यकता है। ब्रिटेन में मन्त्रिमंडलीय *संकट का सम्बन्ध सामान्यतया विघटन से होता है, क्योंकि लोकसभा में पराजित मन्त्रिमंडल या तो त्यागपत्र देता है या रानी को लोक-सदन भंग करने का परामर्श* देता है। यदि वह त्यागपत्र देता है तो साधारणतः यह होता है कि नए मन्त्रिमंडल को विद्यमान लोकसभा में पर्याप्त समर्थन नहीं मिल पाता और तब उसे भंग करना अनिवार्य हो जाता है। ऐसी स्थिति में निर्णय निर्वाचकगण के हाथों में होता है। ब्रिटेन में ऐसा बहुत कम हुआ है जब कि संसद ने अपनी पूरी निर्धारित अवधि के अन्त तक कार्य किया हो। क्योंकि कालान्तर में प्रशासन की बागडोर ढीली पड़ने लगती है और उपनिर्वाचनों का निर्णय उसके प्रतिकूल होने लगता है और वह परिस्थिति के और अधिक बिगड़ने से पूर्व ही संसद को भंग करने की सिफारिश करता है। किन्तु फ्रांस में बिलकुल भिन्न प्रकार का क्रम चलता था। तृतीय गणतन्त्र के अधीन फ्रांस में संसद् का कार्यकाल चार वर्ष था, और संविधान *के अनुसार सिनेट की सम्मति से राष्ट्रपति इससे पहले भी संसद् को भंग कर सकता था। किन्तु तृतीय गणतन्त्र के इतिहास में केवल एक बार, राष्ट्रपति* मैकमेहोन के अधीन सन् 1877 में, ऐसा मौका आया जब कि निर्धारित कार्यकाल से पूर्व संसद को भंग किया गया। इसे गणतन्त्र विरोधी चाल, संसद को छकाने के लिए राष्ट्रपति और सिनेट के बीच एक षड्यन्त्र, अर्थात् दो वर्ष पूर्व निर्मित गणतन्त्र को समाप्त करने और एक जनमतीय (Plebiscitary) प्रणाली स्थापित

करने के लिये षडयंत्र समझा गया। यह साधन विचारवान् गणतंत्रवादियों की दृष्टि में इतना अधिक निंदित हो गया कि तृतीय गणतंत्र के दौरान में फिर कभी इसका प्रयोग नहीं किया गया।

फ्रांस में तृतीय गणतंत्र के अधीन किसी मंत्रिमंडल के त्यागपत्र देने पर केवल यही होता था कि सदन में बहुमत का समर्थन प्राप्त करने के लिए दलों का नए सिरे से सयोजन होता था और त्यागपत्र देने वाले मंत्रिमंडल में कोई एक विभाग धारण करने वाला व्यक्ति नए मंत्रिमंडल में भी अक्सर कोई अन्य विभाग धारण करता था। यदि फ्रांस में मंत्रिमंडल में सम्मिलित संसदीय दलों में से किसी एक के उससे अलग हो जाने के कारण मंत्रिमंडल के पतन के प्रत्येक अवसर पर साधारण निर्वाचन की उथल पुथल होती तो संभवतः वहां लोकतंत्र जीवित ही नहीं रह सकता था। किन्तु फ्रांस में मंत्रिमंडलीय शासन जिस दुर्बल दल-प्रणाली पर आधारित था उसने अनेक बुराइयों को जन्म दिया और फ्रांस में संसदीय कार्यपालिका-प्रणाली को बदनाम करने में इसका सबसे अधिक हाथ रहा। अपने उद्गम-स्थान इंगलैंड की तरह एक वास्तविक दल-प्रणाली पर मजबूती के साथ आधारित न होने के कारण फ्रांस में मंत्रिमंडल का निर्माण और पोषण सरकारी पदों के वितरण के द्वारा होता था और प्रधानमंत्री सदा मित्रों की खोज में लगा रहता था जिससे कि वह अपने आपको मंत्रिमंडलीय संकट से बचा सके जो हमेशा उस पर सवार रहता था। फ्रांसीसी मंत्रिमंडलीय प्रणाली की सबसे कड़ी आलोचना कदाचित् यह है कि तृतीय गणतंत्र के अधीन एक मंत्रिमंडल का औसत जीवनकाल केवल दस महीने का रहा।

चतुर्थ गणतंत्र के संविधान के निर्माता फ्रांस में संसदीय व्यवस्था की सुरक्षा के लिए निरंतर मंत्रिमंडलीय संकटों से पैदा होने वाले खतरे के प्रति जागरूक थे और उन्होंने उसके निवारण के प्रयत्न भी किए। इस संविधान के चार अनुच्छेद मंत्रिमंडल पर विश्वास या उसकी निन्दा प्रकट करने के तरीका और परिणामों की व्याख्या करते हैं। ऐसे प्रश्न केवल राष्ट्रीय सभा में ही रखे और विचारे जा सकते थे, उच्च सदन में नहीं। संविधान के अधीन निर्धारित नियमों के अनुसार यदि किसी मंत्रिमंडल के कार्यकाल के पहले अठारह महीनों के बाद किसी अठारह महीनों की अवधि में दो मंत्रिमंडलीय संकट पैदा होते तो मंत्रिमंडल सभा के अध्यक्ष से परामर्श करके सभा को भंग करने का निश्चय कर सकता था, और यदि वह वैसा निश्चय करता तो गणराज्य के राष्ट्रपति का सभा भंग करने की आज्ञप्ति निकालनी पड़ती थी और साधारण निर्वाचन का आदेश देना होता था जो सभा के भंग किए जाने के एक महीने के अन्दर ही हो जाना चाहिए था। इतना एहतियात बरतने पर भी चतुर्थ गणतंत्र के पहले दशक में मंत्रिमंडल का औसत जीवनकाल वास्तव में कम होकर 6 महीने का ही रह गया।

चतुर्थ गणतन्त्र के प्रारम्भिक दिनों में मंत्रिमंडल का निर्माण सभा के तीन मुख्य दलों—समाजवादी, साम्यवादी, और मसीही लोकतन्त्रवादी (Christian Democrats)[1] के सहमेलन द्वारा हुआ, किन्तु कुछ ही समय बाद उसके स्थान पर अन्य ग्रुप बनने लगे। कुछ भी हो, अनेक फ्रांसवासी संसदीय कार्यपालिका के गुणों पर संदेह करते हैं चाहे उसका आधार कितना ही व्यापक क्यों न हो। वे संसद द्वारा निर्वाचित और केवल नाममात्र की शक्तियां वाले राष्ट्रपति पर सिद्धान्तरूप में इस आधार पर आपत्ति करते हैं कि ऐसी प्रणाली देश में शासन की सत्ता और विदेशों में उसकी प्रतिष्ठा को दुर्बल कर देती है। वे लोग अमरीकी प्रणाली[2] को पसन्द करते प्रतीत होते हैं जिसके द्वारा राष्ट्रपति जनता द्वारा निर्वाचित होता है और उसे वास्तविक शक्तियां प्राप्त होती हैं जिन पर विधानमंडल का कोई नियंत्रण नहीं होता। अ-संसदीय अथवा जनमतीय कार्यपालिका की धारणा के प्रति फ्रांसीसियों का यह प्रेम बहुत पुराना है। इसका स्रोत नेपोलियनी परम्परा है। यही राजनीतिक भावना जनरल बूलाजे के उस आंदोलन के पीछे भी थी, जिसके द्वारा उसने जनमतीय कार्यपालिका की पुनः स्थापना के प्रयत्न से सन् 1886 में एक महान् संकट पैदा कर दिया था। गणराज्य की शक्ति ने बूलाजे षड्यन्त्र को कुचल दिया, किन्तु फ्रांस में संसदीय नियंत्रणों से रहित एक लोक-निर्वाचित कार्यपालिका को फिर से स्थापित करने की आशा समाप्त नहीं हुई है। यह बात उस शक्तिशाली समर्थन से सिद्ध होती है जो जनरल डि गॉल को प्राप्त हुआ जब उसने सन् 1947 में 'फ्रांसीसी जन-समारोह'[3] नाम का आंदोलन आरंभ किया।

यह प्रयास एक नये संसदीय दल के निर्माण के लिये उतना नहीं था जितना राष्ट्रीय मत के एक व्यूह के निर्माण के लिये था जिसकी सहायता से डि गॉल ऐसे शासन की स्थापना करने की आशा करता था जिससे चतुर्थ गणतन्त्र की कमजोरियाँ दूर हो सकतीं। किन्तु उस समय यह व्यूह पर्याप्त मात्रा में सुदृढ़ नहीं बन सका और वह सक्रिय राजनीति से हट गया। उसके उपरान्त एलजीरिया की स्थिति से उत्पन्न 1958 के संकट में, जब कि फ्रान्स में गृह-युद्ध छिड़ने की नौबत आ चुकी थी, प्रेसीडेण्ट कोटी ने उसे प्रधान मंत्री का पद स्वीकार कर पुनः राजनीति में प्रवेश करने के लिये राजी कर लिया। सभा ने अच्छे बहुमत से उसे स्वीकार कर लिया और 6 महीनों के लिये आज्ञप्ति (Decree) द्वारा शासन करने के पूरे अधिकार उसे प्रदान कर दिये। इसी बीच संसद ने उसे एक नया संविधान

---

[1] **M R P. — Mouvement Republicain Populaire**

[2] अगले अध्याय में वर्णित

[3] **Rassemblement du Peuple Francais**

तैयार करने का भी अधिकार दिया, जिसे जनमत संग्रह के लिये प्रस्तुत किया जाना था। तदनुसार शासन ने संविधान तैयार किया और संसद-सदस्यो की तदर्थ नियुक्त समिति ने उसपर विचार किया। सितम्बर 1958 मे जनमत-संग्रह मे जनता के विशाल बहुमत ने उसका अनुमोदन किया। उस वर्ष के अन्त के पहले ही नये संविधान के अनुसार डि गॉल राष्ट्रपति निर्वाचित हुआ, संयुक्त सत्र मे संसद के दोनो भवनो द्वारा नही, जैसा पूर्व गणतन्त्रो मे होता था, बल्कि एक ऐसे निर्वाचकमण्डल द्वारा जिसमे सभी संसद सदस्यो के अतिरिक्त फ्रान्स तथा समुद्रपार के प्रदेशों के मेयर एवं स्थानीय परिषदो के प्रत्यायुक्त भी शामिल थे। इन सब की कुल संख्या लगभग 76000 थी।

पंचम गणतन्त्र के संविधान (1958) मे स्पष्ट कहा गया है कि राष्ट्रपति *प्रधान मंत्री को नियुक्त करेगा और प्रधान मंत्री के प्रस्ताव पर शासन के अन्य* सदस्यो की नियुक्ति करेगा (अनुच्छेद 8) और शासन संसद के समक्ष उत्तरदायी होगा (अनुच्छेद 20)। यहाँ तक पंचम गणतन्त्र मे फ्रांस मे संसदीय कार्यपालिका बनी रही। परन्तु पहले की कार्यपालिका से इसमे कई विभिन्नताएँ थी। प्रथम, जैसा हमने बताया है, राष्ट्रपति का निर्वाचन केवल संसद सदस्यो द्वारा ही नही, बल्कि एक निर्वाचकमण्डल द्वारा हुआ जिसमे अन्य लोग संख्या मे संसद सदस्यो से बहुत अधिक थे। द्वितीय यद्यपि केबिनेट संसद के समक्ष उत्तरदायी थी, तो भी मंत्री किसी भी सदन के सदस्य नही हो सकते थे। इस प्रकार वे दलो के अनुशासन और निर्वाचको के दबाव से बचे रहे। तृतीय, राष्ट्रपति को कार्यपालिका का सक्रिय अध्यक्ष बनाया गया और उसे विधानमंडल पर नियंत्रण के व्यापक अधिकार दिये गये। इन अधिकारो मे संसद् को, जिसका सामान्य सत्र वर्ष मे *केवल साढे पाँच महीने का था भंग करने का अधिकार भी शामिल है।* इसका अर्थ यह हुआ कि यदि संसद मे शासन की निन्दा का प्रस्ताव स्वीकृत हो तो राष्ट्रपति सभा को भंग कर नये निर्वाचन करा सकता है। अन्त मे संविधान ने राष्ट्रपति को गणतन्त्र की संस्थाओ, राष्ट्र की स्वतंत्रता, राज्य-प्रदेश की अखण्डता अथवा राज्य के अन्तर्राष्ट्रीय दायित्वो के पालन के लिये खतरा उपस्थित होने की स्थिति का मुकाबला करने के लिये कठोर आपातिकालीन कार्यवाही करने का अधिकार भी दिया। इन बातो को देखते हुए इस नये शासन-संगठन को हम शक्तियो के आंशिक पृथक्करण पर आधारित अर्ध राष्ट्रपति शासन प्रणाली कहें तो शायद अधिक उपयुक्त होगा।

डि गॉल के शासन के प्रथम चार वर्षों मे वास्तव मे, संविधान की भाषा और उसके अधीन अपनी शक्तियो की डि गॉल की व्याख्या मे वर्धमान अन्तर रहा। *अपनी वृद्धावस्था और अपनी हत्या के प्रयत्नो को देखकर डिगॉल ऐसे* भविष्य के बारे मे सोचने लगा कि जब उसके हाथ मे सत्ता नही होगी। अक्टूबर

1962 में एक संकट उपस्थित हुआ जब राष्ट्रीय सभा ने शरद्कालीन सत्र के पूर्व इस बात से संविधान में संशोधन का प्रस्ताव करने की घोषणा की ताकि भावी राष्ट्रपतियों का निर्वाचन संविधान के अनुच्छेद 6 में निर्देशित निर्वाचकमण्डल द्वारा किए जाने के स्थान पर सार्विक मताधिकार द्वारा हो। उसने इस परिवर्तन की स्वीकृति, (संविधान के अनुच्छेद 89 के अनुसार जिसमें संशोधन प्रक्रिया उल्लिखित है) परिवर्तन-सम्बन्धी प्रस्ताव को संसद् के समक्ष प्रस्तुत किए बिना ही, जनमतसंग्रह सम्बन्धी अनुच्छेद 11 का आश्रय लेते हुए 28 अक्टूबर को हुए एक जनमत संग्रह के द्वारा प्राप्त करने का विचार प्रकट किया। इस अत्याचार को देखकर राष्ट्रीय सभा ने शासन के विरुद्ध निन्दा का प्रस्ताव पारित किया। तब राष्ट्रपति ने सभा को भंग कर दिया और उसके बाद होने वाले सामान्य निर्वाचन में द गॉल के समर्थकों को अन्य समस्त दलों को प्राप्त कुल मतों से भी अधिक मत प्राप्त हुए।

इसी बीच अक्टूबर में जनमत संग्रह यथाविधि सम्पन्न हुआ और उसमें राष्ट्रपति के प्रस्ताव को 61 प्रतिशत मत प्राप्त हुए। 1958 के संविधान के राष्ट्रपति के निर्वाचन के सिद्धान्त और प्रक्रिया से सम्बन्धित अनुच्छेद 6 और 7 का संशोधन करने के लिए एक सरकारी विधेयक तैयार किया गया। इस प्रकार, वह अन्त में, संसदीय कार्यपालिका को जनमतीय प्रेसीडेन्सी (Plebiscitary Presidency) में परिणत करने के अपने उद्देश्य में सफल हुआ। संशोधित प्रक्रिया के अनुसार प्रथम राष्ट्रपति निर्वाचन यथाविधि दिसम्बर 1965 में हुआ और डिगॉल सात वर्ष की दूसरी अवधि के लिये निर्वाचित हुआ, हालांकि इसके लिये द्वितीय मतदान की आवश्यकता पड़ी।

6 इटली के गणतंत्र में मंत्रिमंडलीय प्रणाली

इटली के गणतंत्र के संविधान के अधीन मंत्रिमंडलीय उत्तरदायित्व का सिद्धान्त पुनः प्रवर्तित किया गया है। यह सिद्धांत सन् 1848 के सार्डीनियन संविधान में निहित था और इटली राज्य की क्रमिक सरकारों के अधीन उसका विकास तब तक होता रहा, जब तक कि फासिस्ट अधिनायकवाद ने उसे समाप्त नहीं कर दिया। मूल संविधान के अनुच्छेद 65 में कहा गया था कि मंत्रियों को राजा नियुक्त एवं पदच्युत करता है; किन्तु अनुच्छेद 67 में कहा गया था कि मंत्रिगण संसद् के प्रति उत्तरदायी होंगे और कोई भी विधियाँ या सरकारी कार्यवाहियाँ तब तक प्रभावकारी नहीं होंगी जब तक कि उन पर किसी मंत्री के हस्ताक्षर न हों। अनुच्छेद 66 में कहा गया था कि मंत्रियों को प्रतिनिधि सदन या सिनेट में मत देने का अधिकार नहीं होगा जब तक कि वे उनमें से किसी एक के सदस्य न हों; किन्तु उनको दोनों सदनों में प्रवेश का अधिकार होगा और

प्रार्थना किए जाने पर उनको सुना भी जा सकेगा। इस धारा का साधारणतया यह अर्थ लगाया गया कि प्रधानमन्त्री पर यह दायित्व था कि वह किसी सदन का सदस्य न होने वाले मन्त्री को या तो सिनेट का सदस्य नियुक्त करे, या उसे प्रतिनिधि-सदन मे प्रथम स्थान रिक्त होने के अवसर पर उसकी सदस्यता के लिए उम्मीदवार बनाए। इस प्रकार इटली मे संविधानी एकतंत्र के अधीन उस मन्त्रिमंडलीय प्रणाली का उदाहरण विद्यमान था जैसी ब्रिटेन मे प्रचलित है।

अत, जब हम यह देखते हैं कि फासिज्म के सत्तारूढ होने तक इटली के लोगो को 50 वर्ष से भी अधिक का ऐसी सांविधानिक प्रणाली का अनुभव था, तो हमे इस बात पर कोई आश्चर्य नही होता कि अधिनायकवाद और उसके समस्त अनिष्टकर परिणामो की प्रतिक्रिया के रूप मे वे संसदीय कार्यपालिका के सिद्धान्त की पुनरावृत्ति चाहते हो। इटली के नवीन गणतन्त्र मे राष्ट्रपति सात वर्ष के लिए संसद (अर्थात् दोनो सदनो के संयुक्त अधिवेशन) के द्वारा निर्वाचित होता है। इस निर्वाचन मे संसद के साथ प्रत्येक प्रादेशिक परिषद् के तीन प्रतिनिधि भी भाग लेते हैं जिनका चुनाव इस प्रकार किया जाता है कि अल्पसंख्यको का भी प्रतिनिधित्व मिल सके। किन्तु राष्ट्रपति को कोई प्रत्यक्ष राजनीतिक शक्तिया प्राप्त नही हैं क्योकि संविधान के अनुच्छेद 89 और 90 मे स्पष्ट रूप से कहा गया है कि उसका कोई भी कार्य प्रधानमन्त्री या किसी उपयुक्त मन्त्री, जो उत्तरदायित्व ग्रहण करता है, की पुष्टि के बिना मान्य नही होगा और राष्ट्रपति राजद्रोह के अथवा संविधान के उल्लंघन मे किए गए कार्यों के सिवाय किसी बात के लिए उत्तरदायी नही होगा। राजद्रोह और संविधान के उल्लंघन की अवस्था मे उस पर संसद् द्वारा महाभियोग चलाया जा सकता है।

नए गणतन्त्र के संविधान के अध्याय तीन के पाच अनुच्छेद मन्त्रिमंडल अथवा मन्त्रिपरिषद् की हैसियत, उसके स्वरूप और कृत्यो की विवेचना करते हैं। इसमे कहा गया है कि राष्ट्रपति प्रधानमन्त्री का नाम निर्देशन करता है जो मन्त्रियो के नामो को प्रस्तुत करता है और इस प्रकार गठित मन्त्रिमंडल को अपने निर्माण के आठ दिनो के अन्दर निरपेक्ष बहुमत द्वारा संसद् के दोनो सदनो का विश्वास प्राप्त कर लेना चाहिए। दोनो सदन शासन मे अविश्वास या उसकी निन्दा का प्रस्ताव पेश करने के लिए समान रूप से सक्षम हैं। किन्तु दोनो सदनो मे से किसी भी सदन मे विपरीत मत के फलस्वरूप मन्त्रिमंडल त्यागपत्र देने के लिये बाध्य नही हैं। यह व्यवस्था शासन की अस्थिरता की गुंजायश को कम करने के लिये एहतियात के रूप मे की गई है। मन्त्रिगण मन्त्रिमंडल के कार्यों के लिए सामूहिक रूप से उत्तरदायी हैं और प्रत्येक मन्त्री अपने विभाग के कार्यों के लिए उत्तरदायी है। अतएव, यह स्पष्ट है कि इटली के नवीन गणतन्त्र का राष्ट्रपति केवल नाममात्र का कार्यकारी है और वास्तविक कार्यकारी तो प्रधानमन्त्री और

मत्रिमडल है जो ससद के प्रति उत्तरदायी है। दूसरे शब्दो मे, इटली के गणतत्र मे ससदीय कार्यपालिका है और इस सम्बन्ध मे उसका सविधान इटली के प्रारम्भिक सविधानी राज्य और ग्रेट ब्रिटेन के सविधाना के समान ही है।

7 ससदीय कार्यपालिका पर दोनो विश्व युद्धो के प्रभाव

ससदीय कार्यपालिका, जो प्रथम विश्वयुद्ध के छिडने के समय पश्चिमी और उत्तरी योरोप के अधिकतर सांविधानी राज्या मे विद्यमान थी, युद्ध के परिणामस्वरूप पुनर्गठित अथवा निर्मित नए राज्यो के द्वारा सामान्यतया अपनाई गई थी। केबिनेट शासन का सिद्धान्त जर्मनी, आस्ट्रिया, चेकोस्लोवाकिया, पालैंड, फिनलैंड और एस्टोनिया, लटविया तथा लिथुएनिया के तीना बाल्टिक राज्या के युद्धोत्तर सविधानो मे न्यूनाधिक स्पष्ट रूप म समाविष्ट किया गया था। युगोस्लाविया का सविधान युद्ध से पहले क सर्बिया के सविधान का रूपान्तर था और रूमानिया मे युद्ध से पहले का सविधान आवश्यक परिवर्तना के साथ परिवर्धित राज्य को लागू किया गया था। परन्तु हगरी की युद्धोत्तर सांविधानिक स्थिति अत्यन्त अनिश्चित थी।

ये व्यवस्थाएँ युद्ध के तुरन्त बाद के काल के आशावाद के प्रभाव म की गई थी, परन्तु अधिकतर राज्यों मे, विशेषकर हिट्लर द्वारा असीमित सत्ता ग्रहण करने के बाद जर्मनी मे बाद के वर्षों के सामाजिक एव राजनीतिक गडबड के कारण उनका धीरे धीरे मूलोच्छेदन हो गया। ऐसा, उदाहरणार्थ, पोलैण्ड मे हुआ जहाँ 1921 के सविधान के अधीन सिनट और डायट (Diet) के सयुक्त सत्र द्वारा सात वर्ष के लिये निर्वाचित राष्ट्रपति अवर सदन के प्रति उत्तरदायी मत्रियो के द्वारा अपनी कार्यपालिका शक्ति का प्रयोग करता था। किन्तु यह सविधान पहले से कुछ समय से निलम्बित जैसा ही था और 1935 मे उसके स्थान पर एक दूसरा सविधान आगया जिसके अनुसार राष्ट्रपति को अधिनायकवत् सत्ताएँ प्राप्त हो गईं जिनमे सिनेट के एक-तिहाई सदस्यो को नामनिर्देशित करने की सत्ता भी शामिल थी। इसके साथ एक नये निर्वाचन कानून ने सरकारविरोधी दलो को, वास्तविक रूप मे, मताधिकार से वचित कर दिया। इस प्रकार 1939 मे पोलैंड मे हिट्लर का दबाव आरभ होने तक उसकी ससदीय कार्यपालिका प्राय विलुप्त हो चुकी थी।

चेकोस्लोवाकिया मे, 1920 के सविधान के अधीन, ससदीय कार्यपालिका पोलैंड की अपेक्षा कुछ अधिक समय तक चलती रही। प्रेसीडेण्ट का निर्वाचन प्रतिनिधि सदन और सिनेट के सयुक्त अधिवेशन द्वारा सात वर्ष के लिये होता था। एक प्रधान मत्री और मत्रिमडल होता था जो प्रतिनिधि-सदन के प्रति उत्तरदायी होते थे। परन्तु इस कृत्रिम राज्य मे अनेक राष्ट्रजातियो एव राजनीतिक गुटो

के अस्तित्व के कारण संसदीय प्रणाली की स्थिरता बडी कठिनाई से कायम रही। जब चेकोस्लोवाकिया को सितम्बर 1938 मे म्यूनिख के घातक निर्णय के फलस्वरूप स्यूडेटनलैंड का प्रदेश जर्मनी को सौंपना पडा उस समय यह व्यवस्था अत्यन्त निर्बल हो गई और अगले वर्ष मार्च मे जब हिट्लर ने बोहेमिया और मोरेविया के प्रान्त जर्मनी मे सम्मिलित कर लिये तो उसका अन्त हो गया।

द्वितीय विश्वयुद्ध के दौरान ये दोनो राज्य और वे अन्य राज्य जिनकी हमने चर्चा की है, विदेशी आधिपत्य मे रहे। युद्ध की समाप्ति पर उनमे से अधिकाश राज्यो की राजनीतिक सस्थाएँ साम्यवादी ढाचे मे ढाली गईं जिसमे कार्यपालिका प्रणाली उस प्रणाली से बहुत भिन्न थी जिसे उन्होने प्रथम विश्वयुद्ध के बाद पश्चिम से ग्रहण किया था। उदाहरणार्थ, पोलैंड मे 1936 के स्टालिन के सविधान पर आधारित 1952 के सविधान के अनुसार राज्य का नाम बदलकर पोलिश लोकगणराज्य रखा गया और व्यवहार मे कार्यपालिका शक्ति साम्यवादी दल के नेताओ के हाथो मे पहुँच गई। 1959 मे एक नया सविधान प्रख्यापित हुआ। उसकी भाषा मे साम्यवादी दस्तावेज का कोई चिह्न नही था। उदाहरणार्थ, अनुच्छेद 15 मे कहा गया था कि डायट (Sejm) अर्थात् विधानसभा 'राज्य सत्ता का सर्वोच्च अग' है और अनुच्छेद 30 मे कहा गया था कि 'केबिनेट शासन का सर्वोच्च कार्यकारी एव प्रशासनिक अग' है। किन्तु दो ऐसे भी अग हैं जिनका पाश्चात्य सविधानवाद से कोई सम्बन्ध नही है, वे है—प्रथम, राज्य परिषद् (Council of States) जिसके पास विधि-निर्माण मे सूत्रपात करने का प्रभावी अधिकार है और द्वितीय, नियत्रण का सर्वोच्च बोर्ड (Supreme Board of Control) जो आर्थिक नियोजन का सचालन करता है। तिस पर भी ऐसा प्रतीत होता है कि यद्यपि पोलैंड राजनीतिक एव विचारधारा की दृष्टि से 'मॉस्को का अत्यन्त निष्ठावान एव मेधावी मित्र' बन गया, फिर भी पोलैंड के लोगो मे पश्चिम के साथ उनकी पुरानी सास्कृतिक सहानुभूति बहुत कुछ बनी हुई है और उन्होंने किसी भी अन्य साम्यवादी राज्य के लोगो से अधिक सामाजिक स्वतन्त्रता प्राप्त कर ली है।

जिन राज्यो का हमने वर्णन किया है उनमे से, अन्त मे, केवल तीन राज्य साम्यवादी जाल से बच सके और अपनी ससदीय कार्यपालिका को पुन स्थापित कर सके। ये राज्य जर्मनी (हालाकि छिन्न रूप मे), ऑस्ट्रिया और फिनलैंड थे। सन् 1949 मे जर्मनी के सघीय गणतत्र के लिये मूलविधि का प्रारूप तैयार करते समय जर्मन साविधानिक विधिज्ञ के सामने मार्गदर्शक के रूप मे 1919 का वेमर सविधान था जिसे हिट्लर ने समाप्त कर दिया था। उन्होंने कम से कम उसकी भावना को स्वीकार किया। वेमर सविधान के अधीन राष्ट्रपति का निर्वाचन जनता के मत द्वारा सात वर्ष के लिये होता था। बीस या इससे

अधिक आयुवाले समस्त स्त्री-पुरुषों को मताधिकार प्राप्त था। तृतीय फ्रेन्च गणतन्त्र के संविधान के समान इस संविधान ने भी राष्ट्रपति की विशद शक्तियों का उल्लेख किया था जिनका प्रयोग वास्तव में संघीय चांसलर (प्रधान मंत्री) और मंत्रिमंडल करते थे जो शासन का संचालन करते थे और राइखस्टाग के समक्ष उत्तरदायी थे। इस संविधान ने जर्मनी में उसके इतिहास में पहली बार संसदीय कार्यपालिका की स्थापना स्पष्ट रूप में की थी।

सन् 1949 में मूलविधि द्वारा पश्चिमी जर्मनी में संसदीय कार्यपालिका की पुनः स्थापना हुई। इस संविधान के अधीन राष्ट्रपति का निर्वाचन सात वर्ष के स्थान पर, जैसा पहले होना था, पाँच वर्ष के लिये, लोक-मतदान द्वारा वल्कि एक संघीय सम्मेलन (Federal Convention) द्वारा किया जाता था जो एक संयुक्त सभा होती थी जिसमें वण्डेस्टाग (अवर सदन) के सदस्य और आनुपातिक निर्वाचन की पद्धति से राज्यों की प्रतिनिधिक सभाओं द्वारा निर्वाचित उतने ही (वण्डेस्टाग के सदस्यों के बराबर) सदस्य होते थे। परन्तु संघीय शासन चान्सलर और संघीय मंत्रियों के हाथों में है। मूलविधि के 62-69 अनुच्छेदों में स्पष्ट उल्लेख है कि चान्सलर और केबिनेट वण्डेस्टाग के प्रति उत्तरदायी हैं और वे तभी तक पदारूढ़ रह सकते हैं जब तक उन्हें उस सदन के बहुमत का विश्वास प्राप्त रहे।

ऑस्ट्रिया के संघीय गणतंत्र का जन्म जर्मनी के वेमर गणतन्त्र के लगभग साथ ही हुआ था परन्तु यह ऑस्ट्रिया प्रथम विश्वयुद्ध के फलस्वरूप विघटित ऑस्ट्रिया-हंगरी के साम्राज्य का छोटा सा अवशेष मात्र था। उसका संविधान 1920 में प्रख्यापित हुआ था। उसके अधीन राष्ट्रपति का निर्वाचन दोनों सदनों (Nationalrat और Bundesrat) के संयुक्त अधिवेशन में चार वर्ष के लिये होना था। वह वास्तव में कुछ कार्यपालिका-कार्य करता था परन्तु उसके अधिकांश कार्य अवर सदन (Nationalrat) के प्रति उत्तरदायी संघीय मंत्रिमंडल द्वारा सम्पन्न होते थे। सन् 1929 में संविधान का कुछ बातों में संशोधन हुआ परन्तु उसके बाद शीघ्र ही नाजी दबाव का प्रतिरोध करने के प्रयत्नों के सिलसिले में वह धीरे धीरे निर्बल होता गया और 1938 में ऑस्ट्रिया के जर्मनी में सम्मिलित किये जाने के साथ समाप्त होगया।

युद्ध के बाद 1920 का संविधान, 1929 के संशोधित रूप में, नई परिस्थिति में आवश्यक कुछ परिवर्तनों सहित पुनर्जीवित किया गया और 1955 में ऑस्ट्रिया द्वारा प्रभुत्व सम्पन्न स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद से पूर्ण रूप में कार्यान्वित हो रहा है। इस संविधान के वर्तमान रूप के अनुसार राष्ट्रपति समान एवं गुप्त मतदान द्वारा 6 वर्ष के लिये निर्वाचित होता है। कार्यपालिका सत्ता संघीय राष्ट्रपति और संघीय शासन (अर्थात् संघीय चान्सलर और उसके मंत्रिगण) से मिलकर बनती

है। राष्ट्रपति चान्सलर की और उसके सुझाव पर मंत्रियों की नियुक्ति करता है। सविधान की भाषा के अनुसार राष्ट्रपति केबिनेट के मंत्रियों की नियुक्ति करने मे स्वतंत्र है परन्तु चूंकि सघीय चान्सलर और केबिनेट के मंत्री तब तक अपने कार्य नही कर सकते जब तक उन्हें अवर सदन के बहुमत का विश्वास प्राप्त न हो, ऐसे ही व्यक्ति मंत्री बनाये जा सकते हैं जिन्हें ससद् के बहुमत का विश्वास प्राप्त हो। केबिनेट के मंत्री अपने और अपने अधीनस्थ कर्मचारियो के कार्यों के लिये अवर सदन के प्रति उत्तरदायी हैं। सविधान के अनुसार 'जिस मंत्री के विरुद्ध अविश्वास का प्रस्ताव स्वीकृत हो उसे पद से मुक्त कर दिया जाना चाहिये'।[1] स्पष्ट है कि आस्ट्रिया के सघीय गणतंत्र मे ससदीय कार्यपालिका है।

फिनलैंड का गणतंत्र स्वतंत्र प्रभुत्वसम्पन्न राज्य के रूप मे 1919 मे स्थापित हुआ था जब कि वर्तमान सविधान प्रख्यापित किया गया था। सन् 1906 मे, जब फिनलैंड रूसी शासन मे बना हुआ था, फिनलैंड के कुछ मामलो के लिये एक एक-सदनी विधानसभा का निर्माण किया गया था। इस सभा का 1928 के ससद अधिनियम द्वारा रूपान्तरण हुआ जिसके द्वारा वह प्रणाली स्थापित हुई जिसके अनुसार फिनलैंड की वर्तमान एक-सदनी ससद का निर्वाचन होता है और उसकी कार्य-प्रणाली सम्बन्धी नियम बनाये जाते हैं। फिनलैंड के सविधान के अनुसार जो दस्तावेजी है, हालाकि वह खण्डात्मक है, राष्ट्रपति का परोक्ष रूप मे, परन्तु एक असाधारण रूप मे, निर्वाचन होता है। सविधान के अनुच्छेद 23 मे कहा गया है कि जनता 300 राष्ट्रपति-निर्वाचको का चुनाव करेगी। इस चुनाव के लिये मताधिकार वही होगा जो चेम्बर ऑफ डिप्यूटीज के चुनाव के लिये है, अर्थात् सार्विक वयस्क मताधिकार और निर्वाचन आनुपातिक निर्वाचन पद्धति से होगा। तीन सौ निर्वाचक गुप्त रूप मे मतदान करते थे। यदि राष्ट्रपति पद के लिये किसी भी उम्मीदवार को डाले गये मतो मे से आधे प्राप्त नही होते तो द्वितीय मतदान होना आवश्यक था। इस प्रकार निर्वाचित राष्ट्रपति को कुछ वास्तविक शक्तियाँ प्राप्त थी, परन्तु उसके अधिकाश कार्य तभी वैध समझे जा सकते थे जब उन पर किसी मंत्री के प्रतिहस्ताक्षर होते थे और इस मंत्री के लिये यह आवश्यक था कि वह कौंसिल ऑफ स्टेट, या केबिनेट, का सदस्य हो और उसे निर्वाचित सदन का विश्वास प्राप्त हो (अनुच्छेद 36 और 43)। राष्ट्रपति और कौंसिल ऑफ स्टेट के बीच विवाद उपस्थित होने की अवस्था मे, अन्तिम निर्णय कौंसिल का होता था परन्तु तभी तक जब तक वह सविधान के

---

[1] आस्ट्रिया की सरकार की प्रेस और सूचना सेवा, वियना द्वारा प्रकाशित **Austria : facts and figures** (चतुर्थ सस्करण, 1961, अनूदित) से उद्धृत।

अनुकूल कार्य करती थी। सविधान की अन्तिम व्याख्या करने का कार्य सर्वोच्च न्यायालय का था। सन् 1930 के बाद फिनलैंड मे कुछ फासिस्टो के उपद्रव हुए परन्तु वे 1932 मे समाप्त हो गये और उनका केबिनेट प्रणाली पर कोई प्रभाव नही पडा और जब फिन लोगो को जर्मनी के साथ विनाशकारी मैत्री करनी पडी, तब भी नाजियो का फिनलैंड की सरकारी कार्यपद्धति पर कोई विशेष प्रभाव नही पडा। सन् 1944 के बाद रूसी दबाव के फलस्वरूप, कुछ सत्तावादी तत्व प्रकट होने लगे परन्तु 1947 मे उनका निराकरण कर दिया गया और संसदीय कार्यपालिका की कार्यविधि पुन पूर्णरूप से स्थापित हो गई।

यहाँ जापान के विषय मे भी कुछ कहना उचित होगा जहाँ अमेरिका के प्राधान्य के अधीन 1947 मे प्रख्यापित सविधान के द्वारा अधिकाश मे पश्चिमी नमूने पर आधारित ससदीय कार्यपालिका स्थापित की गई थी। प्राविधिक दृष्टि से नया सविधान 1889 के साम्राज्यिक सविधान के सशोधन के रूप मे अगीकार किया गया था परन्तु वास्तव मे उसका पूर्ण रूपान्तरण हो गया था। सम्राट् बना हुआ है परन्तु केवल 'राज्य के एव जनता की एकता के प्रतीक' के रूप मे। ससद् (Diet) मे दो सदन है प्रतिनिधि-सदन (House of Representatives) और पार्षद-सदन (House of Councillors) जिसने हाउस ऑफ पीयर्स का स्थान ग्रहण कर लिया है। दोनो का वयस्क मताधिकार के आधार पर परन्तु भिन्न प्रणालियो से निर्वाचन होता है। प्रधान मत्री का वरण ससद् मे से उसके सदस्यो द्वारा होता है। केबिनेट मे प्रधान मत्री और उसके द्वारा नियुक्त ग्यारह से सोलह तक मत्री होते हैं। कम से कम आधे मत्री ससद मे से लिये जाने चाहिये जिसके प्रति वे सामूहिक रूप मे उत्तरदायी हैं।

इस प्रकार पूर्वी योरोप तथा एशिया मे साम्यवादी प्रणालियो के अतिक्रमण और आइबेरिया (स्पेन तथा पुर्तगाल) मे सत्तावादी शासन के बने रहने के बावजूद अधिकाश महत्वपूर्ण योरोपियन राज्यो मे ससदीय कार्यपालिका बनी हुई है और दो प्रमुख एशियाई राज्यो—जापान और भारतवर्ष—मे स्थापित की गई है। कनाडा, ऑस्ट्रेलिया तथा न्यूजीलैंड मे भी वह जारी है और अफ्रीका के नये स्वतत्र राज्यो मे से कुछ मे स्थिर संसदीय शासन का विश्वसनीय आधार सिद्ध हो सकती है।

12

अ-संसदीय या स्थायी कार्यपालिका

1 सामान्य विचार

'केबिनेट शासन' और 'राष्ट्रपति-शासन' इन पदो का प्रयोग प्राय उस भेद को प्रकट करने के लिये किया जाता है जो 'ससदीय कार्यपालिका' तथा 'अ-ससदीय कार्यपालिका' के प्रयोग से प्रकट होता है, परन्तु यदि इन पदो की सावधानी के साथ परिभाषा न की जाए तो ये भ्रमात्मक हो सकते हैं। जैसा कि हम पहले कह चुके हैं, हो सकता है कि निर्वाचित राष्ट्रपति वास्तविक कार्यकारी न हो और उस दशा मे कार्यपालिका वास्तव मे ऐसे मत्रिमडल के हाथो मे होती है, जिसका अध्यक्ष प्रधानमत्री होता है और जो ससद के प्रति उत्तरदायी होती है। पुन यह आवश्यक नही है कि मन्त्रिमडलीय सरकार एक व्यक्ति के शासन के विपरीत एक निकाय का ही शासन हो। जैसा कि हम बता चुके हैं, इगलैंड का मन्त्रिमडल वास्तव मे प्रधान मन्त्री के द्वारा ही नियुक्त होता है और इस शर्त के अलावा कि उसके मत्रिमडल के समस्त सदस्यो को ससद् के एक या दूसरे सदन का सदस्य होना चाहिए और वे साधारणतया उसके दल के सदस्य होगे, उसकी पसन्द पर कोई और निर्बन्ध नही है। इसके विपरीत राष्ट्रपति शासन प्रणाली मे राष्ट्रपति मे आवश्यक रूप मे अपने केबिनेट अधिकारियो को (Cabinet Officers) जिस नाम से वे सयुक्त राज्य मे पुकारे जाते हैं, चुनने की निर्बाध स्वतत्रता नही होती, वल्कि सयुक्त राज्य मे कार्यपालिका के और न्यायपालिका के बडे महत्वपूर्ण पदो पर राष्ट्रपति द्वारा नियुक्ति के लिये सविधान के अनुसार सिनेट के बहुमत की स्वीकृति आवश्यक होती है। कुछ भी हो, व्यक्तियो के एक निकाय मे कार्यपालिका शक्ति का वितरण बडा कठिन है। कार्यपालिका शक्ति की सम्पूर्ण प्रवृत्ति एक व्यक्ति के हाथो मे केन्द्रीभूत होने की ओर है, और केवल निर्वाचन प्रणाली से इस बात की गारटी नही मिलती कि उसका वितरण होगा। उदाहरण के लिए ब्रिटेन मे चूकि मत्रिमडल के अधिकतर सदस्य लोकसभा के सदस्य होते हैं, इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि मत्रिमडल मे अधिकाश मे जनता के प्रतिनिधि ही होते हैं हालाकि उनका निर्वाचन भावी मत्रियो के रूप मे नही होता। अतएव, इस बात मे मत्रिमडलीय और राष्ट्रपतीय शासन अथवा ससदीय और अ-ससदीय कार्यपालिकाए एक

समान हो सकती है। ऐसे गणराज्यो के भी उदाहरण है, जैसे स्विट्जरलैंड, जहा वास्तव मे विधानमडल के द्वारा ही कार्यपालिका का निर्वाचन होता है, परन्तु ऐसा निर्वाचन ससदीय अथवा अ-ससदीय कार्यपालिका दोनो मे से किसी का भी अन्तर्निहित लक्षण नही है।

अ-ससदीय कार्यपालिका कभी-कभी स्थायी कार्यपालिका कही जाती है और इस अर्थ मे यह बात सही है कि विधानमडल के किसी भी कार्य से वह हटाई नही जा सकती। ऐसी स्थायी कार्यपालिका ऐसे राज्य मे मिलेगी जहाँ एक वशानुगत कार्यपालिका वास्तव मे कार्यपालिका शक्ति का प्रयोग करती है, जैसा पूर्व जर्मन साम्राज्य (1871-1918) मे होता था। परन्तु पाश्चात्य जगत मे ऐसा कोई राज्य आज नही बचा है। एक दूसरे प्रकार की स्थायी कार्यपालिका आजकल के साम्यवादी राज्यो मे दिखाई देती है जहाँ कार्यपालिका निश्चय ही ससदीय नही है, हालाकि उसे अ-ससदीय कहने से गलत धारणाएँ बन सकती हैं। सन् 1936 के स्टालिन सविधान (1947 मे सशोधित)[1] के अनुसार 'यू एस एस आर में राज्य-शक्ति का सर्वोच्च अग-'यू एस एस आर की सर्वोच्च सोवियत' है (अनुच्छेद 30), परन्तु सर्वोच्च सोवियत का अध्यक्षमण्डल (*Presidium*) सर्वोच्च सोवियत के कभी-कभी होनेवाले सत्रो के अन्तर्काल मे अध्यादेश द्वारा विधि-निर्माण कर सकता है। 'राज्य-शक्ति का सर्वोच्च अग (स्टालिन सविधान के अनुसार) यू एस एस आर की मत्रि-परिषद्—कौसिल ऑफ मिनिस्टर्स (जिसका नाम 1946 तक कौंसिल ऑफ पीपुल्स कॉमिसार्स था) है (अनुच्छेद 64)। उसके सदस्यो की नियुक्ति सर्वोच्च सोवियत के द्वारा या सत्रो के अन्तर्काल मे अध्यक्ष-मण्डल द्वारा होती है और सिद्धान्त मे वह सर्वोच्च सोवियत या सत्रो के अन्तर्काल मे अध्यक्षमण्डल के प्रति उत्तरदायी है। परन्तु वास्तव मे, मत्रि-परिषद् के कार्य केवल कार्यपालिका-क्षेत्र तक ही सीमित नही है क्योकि उसे आज्ञप्ति द्वारा विधि-निर्माण की शक्ति प्राप्त है। किसी भी स्थिति मे इन दोनो निकायो को—अध्यक्ष-मण्डल और मत्रिपरिषद्—को कम्यूनिस्ट पार्टी की सेण्ट्रल कमिटी के साथ घनिष्ठ रूप मे मिलकर कार्य करना पडता है क्योकि, जैसा स्टालिन ने स्वय कहा था 'सर्वहारावर्ग (मजदूर वर्ग) का अधिनायक तत्र, सारत मजदूरवर्ग का पथ-प्रदर्शन करनेवाली शक्ति के रूप मे कम्यूनिस्ट पार्टी का अधिनायक तत्र है।'[2]

---

[1] *सन् 1961 से यू. एस. एस. आर के मत्रिमंडल के अध्यक्ष और सोवियत* **यूनियन की कम्यूनिस्ट पार्टी की सेण्ट्रल कमेटी के प्रथम सेक्रेटरी निकिता ख्रुश्चेव ने एक नये सविधान का प्रारूप तैयार करने के लिये एक आयोग नियुक्त किया था परन्तु *1964* से उसके पतन तक कोई रिपोर्ट प्रकाशित नहीं हुई थी।**

[2] **देखिये Leninism (1940)**

परन्तु साविधानिक कार्यपालिका से हमारा आशय यह नहीं है। अत स्पष्ट है कि लोकतन्त्र के उपकरण के रूप मे कार्य करनेवाली अ-ससदीय कार्यपालिका के दृष्टान्त के लिये हमे अन्यत्र देखना चाहिये।

यह लोकतन्त्रात्मक मूल्य, जो असंसदीय कार्यपालिका मे निहित समझा जाता है हमे शक्तियो के पृथक्करण के पुराने सिद्धांत तक पहुचा देता है। इसके लिए यह तर्क दिया जाता है कि यदि राष्ट्रपति कार्यपालिका के कृत्यो को सम्पादित करने के लिए जनता द्वारा निर्वाचित किया जाता है, तो अन्य प्रयोजन के लिए निर्वाचित निकाय के द्वारा उसके कार्यपालीय कृत्य सीमित नही होने चाहिए। कृत्यो का ऐसा निरपेक्ष विभाजन केवल सिद्धान्तरूप मे ही सम्भव हो सकता है, क्योकि कार्यपालिका के कार्य के एक भाग का सम्बन्ध विधायी शक्ति की आज्ञप्तियो के निष्पादन से भी होता है। परन्तु *जहा कार्यपालिका अ-ससदीय होती है*, वहा वे सब शक्तिया, जो कि सविधान के अनुसार कार्यपालिका की होती हैं, वास्तव मे उनके पालन करने के लिए निर्वाचित व्यक्ति के पद की होती हैं। इसके विपरीत, जहा कार्यपालिका ससदीय होती है वहा वे शक्तिया, जो कि सविधान मे कार्य*पालिका के लिए निर्धारित होती हैं, वास्तव मे उस व्यक्ति की नही होती जो उनके* निष्पादन के लिए वशानुगत आधार पर नियुक्त होता है या निर्वाचन द्वारा चुना जाता है।

जिन सविधानो की अब हम इस दृष्टिकोण से परीक्षा करेंगे वे पर्याप्त मात्रा मे विभिन्न हैं। इनमे प्रथम अर्थात् सयुक्तराज्य का सविधान अ-ससदीय कार्यपालिका का यथार्थ उदाहरण है, दूसरा अर्थात् स्विट्जरलैण्ड का सविधान विश्व की साविधानिक प्रणालियो मे एक अनुपम उदाहरण प्रस्तुत करता है; देखने मे उसकी कार्यपालिका ससदीय है, किन्तु व्यवहार मे उसमे कृत्यो का पृथक्करण प्रदर्शित होता है। तृतीय अर्थात् तुर्की गणतत्र की कार्यपालिका एक नए ही प्रकार की कार्यपालिका का उदाहरण है, जिसमे ससदीय और असंसदीय दोनो प्रकार की कार्यपालिकाओ की विशेषताओ का मेल दिखाई देता है।

2 संयुक्तराज्य मे सिद्धान्त का प्रयोग

अमरीका के सयुक्तराज्य मे अ-ससदीय या स्थायी कार्यपालिका के सिद्धान्त का सर्वोत्तम उदाहरण मिलता है। इसके सविधान के निर्माताओ ने विधानमडल से कार्यपालिका की स्वतन्त्रता के सिद्धान्त का चरम व्यावहारिक सीमा तक प्रयोग किया। यद्यपि एक महत्त्वपूर्ण मामले मे, जिस पर हम अभी दृष्टिपात करेंगे, वह प्रणाली, जिसे उन्होने प्रारम्भ मे स्थापित किया था, व्यावहारिक रूप मे रूढि और प्रथा के द्वारा पर्याप्तरूपेण परिवर्तित हो गई है, फिर भी पृथक्करण का सिद्धान्त यथावत् बना हुआ है। सविधान मे कहा गया है कि "कार्यपालिका

शक्ति अमरीका के सयुक्तराज्य के राष्ट्रपति मे निहित होगी" और "समान अवधि के लिए चुने गए उप-राष्ट्रपति के साथ वह अपना पद चार वर्ष की अवधि के लिए धारण करेगा।" इन दोनो पदाधिकारियो के निर्वाचन के लिए प्रारम्भिक व्यवस्था सविधान के अनुच्छेद 2 के खण्ड 1 मे निर्धारित की गई थी; परन्तु सन् 1804 मे बारहवे सशोधन द्वारा उसका अपाकरण कर दिया गया, जिसके अनुसार राष्ट्रपति के पश्चात् अधिकतम सख्या मे मत प्राप्त करने वाले उम्मीदवार को उप-राष्ट्रपति बनाने के बजाय यह व्यवस्था की गई कि इन दोनो पदो मे से प्रत्येक के लिए दो पृथक् मतदान होगे।

जैसा कि हम पहले बता चुके हैं, प्रारम्भिक धारा और सशोधन मे की गई विस्तृत व्यवस्था पर प्रयोग बिलकुल बन्द हो गया और सविधान-निर्माताओ का यह उद्देश्य कि ये निर्वाचन प्रत्यक्ष जन-प्रभाव से मुक्त रखे जाने चाहिए, बुरी तरह निष्फल हुआ। सविधान मे कहा गया है कि प्रत्येक राज्य से उतने निर्वाचक चुने जाएगे जितने कि प्रतिनिधि-सदन और सिनेट मे उसके प्रतिनिधि हो अर्थात् काग्रेस मे उस राज्य के प्रतिनिधियो की सख्या के बराबर। ये निर्वाचक प्रत्येक राज्य मे समवेत होकर राष्ट्रपति और उप-राष्ट्रपति पदो के उम्मीदवारो का नाम निर्देशन करेंगे और उनके लिए मत डालेंगे। ऐसा कर लेने के पश्चात् वे उम्मीदवारो के नामो और उनके द्वारा प्राप्त मतो को सिनेट के अध्यक्ष के पास भेजेंगे, जो कि काग्रेस के दोनो सदनो की उपस्थिति मे मतो को खोलकर उनकी गणना करेगा।

परन्तु व्यवहार मे ऐसा बिलकुल नही होता। वास्तव मे वे दो अवसर ही, जिन पर प्रथम राष्ट्रपति वाशिंगटन का निर्वाचन हुआ था, ऐसे थे जिनमे यह बात हुई। उसके उपरात से तो दलीय सम्मेलन के विकास ने राष्ट्रपति के निर्वाचन को पूर्णरूपेण लोक-निर्वाचन बना दिया है। अब तो वास्तव मे यह होता है कि निर्वाचनो के लिए नियत तारीख से बहुत पहले ही विभिन्न दल अपने अधिवेशन करते है और उनमे से प्रत्येक दल हर एक पद के लिए उम्मीदवार चुनता है। अतएव, जब प्रत्येक राज्य के लोग निर्वाचको का निर्वाचन करते हैं, तो वे यह भी जानते हैं कि वे राष्ट्रपति और उप-राष्ट्रपति पद के लिए किस उम्मीदवार के लिए मतदान कर रहे है, और इस तरह बाद मे उन्ही निर्वाचको का सम्मेलन औपचारिक मात्र ही रह जाता है। प्रत्येक पद का वह उम्मीदवार, जिसको किसी एक राज्य मे बहुमत प्राप्त होता है, उस राज्य का उम्मीदवार होता है, और वह इस भांति उतने निर्वाचक-मत प्राप्त करता है जितने कि उस राज्य के काग्रेस सदस्य होते हैं। इसमे बहुमत की बहुलता या अल्पता का कोई विचार नहीं होता, क्योकि निर्वाचको के निर्वाचन की इस पद्धति मे राज्य मे के समस्त मतदाताओ के उतने ही मत होते है, जितने कि निर्वाचक उस राज्य मे से चुने जाने होते हैं।

इस भांति इस प्रसग मे सम्पूर्ण राज्य निर्वाचन-क्षेत्र बन जाता है, और निर्वाचको का निर्वाचन उस उम्मीदवार के अनुसार, जिसके लिए मत देने को वे प्रतिज्ञाबद्ध होते हैं, सामूहिकरूपेण होता है।

इस योजना का व्यावहारिक रूप दो उदाहरणों से स्पष्ट हो जाएगा। हम दो राज्यो को लेते हैं, एक विशाल जनसख्या वाला राज्य न्यूयार्क और दूसरा अल्प जनसख्या वाला राज्य मेन। कल्पना कीजिए कि राष्ट्रपति पद के उम्मीदवार क और ख हैं तथा उप-राष्ट्रपति पद के उम्मीदवार ग और घ हैं। 1967 की जनगणना के अनुसार न्यूयॉर्क राज्य की जनसख्या लगभग एक करोड सत्तर लाख है और मेन के राज्य की लगभग दस लाख। नई जनगणना के फलस्वरूप 1961 मे स्थानो का पुनर्वितरण हुआ जिसमे न्यूयॉर्क को प्रतिनिधि सभा मे 41 सदस्य मिले और मेन को 2। इनमे सिनेट के दो-दो सदस्य शामिल करने से न्यूयॉर्क 43 राष्ट्रपति-निर्वाचक चुनता है और मेन 4। यदि न्यूयॉर्क राज्य को एक करोड सत्तर लाख व्यक्तियो के मत देने वाले भाग का अधिकाश राष्ट्रपति पद के लिए क को और उप-राष्ट्रपति पद के लिए ग को मत देता है तो क्रमश क और ग को राष्ट्रपति तथा उप-राष्ट्रपति पद के उम्मीदवारो के रूप मे न्यूयॉर्क राज्य के पूरे 43 मत प्राप्त हो जाते हैं। इसी भांति, यदि मेन राज्य के दस लाख मतदाताओं का अधिकाश राष्ट्रपति पद के लिए ख को और उप-राष्ट्रपति पद के लिए घ को मत देता है तो क्रमश ख और घ ही राष्ट्रपति और उप-राष्ट्रपति के पदो के लिए मेन राज्य के समस्त छह मतो को प्राप्त करेंगे। इससे यह समझ लेना कठिन नहीं होगा कि राष्ट्रपति पद के उम्मीदवार के लिए छोटे राज्यो की अपेक्षा बडे राज्यों मे सफलता प्राप्त करना कितना महत्वपूर्ण है। किसी एक उम्मीदवार के लिए वास्तव मे यह सम्भव हो सकता है कि वह सघ के ग्यारह लघुतम राज्यो मे सफलता प्राप्त कर ले, परन्तु उस उम्मीदवार से पराजित हो जाए जिसने न्यूयॉर्क मे सफलता प्राप्त की है।

इस विशिष्ट व्यवस्था का परिणाम बहुधा यह होता है कि प्रारम्भिक जनमतो और अन्तिम परिणाम के बीच भारी अन्तर देखने मे आता है। उदाहरणार्थ, राष्ट्रपति लिंकन को ही लीजिए। सन् 1860 मे उनके विरुद्ध तीन उम्मीदवार थे और उनका निर्वाचन 180 निर्वाचक-मतो से हुआ जब कि उनके तीनो विरोधियो को प्राप्त निर्वाचक-मतो की कुल सख्या 123 थी, परन्तु वे लोग, जिन्होंने उन निर्वाचकों के लिए जो कि लिंकन के पक्ष के थे, मत दिए, सख्या मे 1,860,000 थे, जब कि उनके विरोधियों के लिए मत देने वालो की सख्या 2,810,000 थी। दूसरे शब्दो मे, लिंकन को अपने देश के मतदाताओं के केवल 40 प्रतिशत का ही समर्थन प्राप्त था। सन् 1912 के एक निर्वाचन मे राष्ट्रपति विल्सन को 435 निर्वाचक-मत मिले, जब कि उनके तीन विरोधियो ने मिलकर 96 मत ही

संविधान के निर्माताओं का आशय था, प्रत्यक्ष होता है), परन्तु विश्व के अग्रगण्य राज्यों में यह राज्य ही एक ऐसा उदाहरण[1] है जहा राष्ट्रपति का चुनाव जनता के द्वारा होता है और वह वास्तविक कार्यकारी भी है। इन दोनों तथ्यों से मिलकर एक अ-संसदीय कार्यपालिका अनिवार्य हो जाती है, क्योंकि यदि कांग्रेस स्वेच्छा से राष्ट्रपति को हटा सकती (उसे केवल महाभियोग के द्वारा ही हटाया जा सकता है) तो निर्वाचक व्यवस्था, चाहे संविधान में उल्लिखित मूल रूप में या आजकल के व्यावहारिक रूप में, बिलकुल ही निरर्थक हो जाती।

राष्ट्रपति की शक्तिया बडी वास्तविक हैं, हालाकि उनके प्रयोग में राष्ट्रपति के व्यक्तित्व के अनुसार न्यूनाधिक्य होता रहता है और सकट के समय तो वे और भी अधिक हो सकती हैं। उसका कार्य तो कांग्रेस द्वारा पारित की गई विधियों का निष्पादन करना होता है, किन्तु वह उनके बनाने में कांग्रेस की कार्यवाहियों पर प्रभाव भी डाल सकता है और डालता है। प्रथम, वह कांग्रेस को एक वार्षिक सदेश या तो स्वय या अपने एक प्रतिनिधि के द्वारा, जो कि उसे पढता है, देता है। परन्तु यदि परिस्थितियों की गभीरतावश आवश्यक हो तो वह एक से अधिक बार भी सदेश देने के आशय से कांग्रेस को आमंत्रित कर सकता है। उसके इस अधिकार का विधि निर्माण पर बडा प्रभाव हो सकता है, विशेष रूप से उस समय जब कि उसका प्रयोग किसी सफल वक्ता द्वारा किया जाए जो कि कांग्रेस को स्वय ही सबोधित करना पसन्द करे, जैसा कि, उदाहरणस्वरूप, वुड्रो विलसन और फ्रेंकलिन रूजवेल्ट दोनों ने किया था। दूसरे, राष्ट्रपति कांग्रेस के किसी सदस्य के द्वारा किसी विषय पर अपने विचारों को विधेयक के रूप में प्रस्तुत कर सकता है। परन्तु यह स्मरण रखना चाहिए कि राष्ट्रपति और उसके मन्त्रिमडल के पदाधिकारियों में से कोई भी न तो सिनेट के और न प्रतिनिधिसदन के कार्य में ही भाग ले सकता है, और इस दृष्टि से कांग्रेस को प्रभावित करने की राष्ट्रपति की शक्ति अधिकतर सदनों में दलों की स्थिति पर निर्भर रहती है। जहा राष्ट्रपति का निर्वाचन प्रत्येक चौथे वर्ष होता है, वहा प्रतिनिधि सदन का और सिनेट के तृतीयाश का प्रत्येक दूसरे वर्ष होता है। इसलिए, जहा यह सभव है कि किसी दल की लोकप्रियता, जिसने किसी व्यक्तिविशेष को राष्ट्रपति के पद पर आसीन किया हो, सदनों में उसको बहुमत प्राप्त करा दे, वहा यह भी हो सकता है कि आगामी निर्वाचन पर वह राष्ट्रपति, जिसे दो वर्ष और कार्य करना है, अपना समर्थन खो दे।

फिर भी राष्ट्रपति के पास विधिनिर्माण प्रक्रिया के दूसरे छोर पर एक महत्वपूर्ण शक्ति होती है, जो सदनों में उसके दल के अल्पमत के प्रभाव को आसानी से दूर कर सकती है। कोई भी विधेयक दोनों सदनों में पारित हो जाने के पश्चात्

[1] सन् १९६५ से फ्रान्स को छोड़कर।

भी तब तक विधि नही बन सकता जब तक कि राष्ट्रपति उस पर हस्ताक्षर न कर दे। ऐसे हस्ताक्षर करने से वह इनकार कर सकता है (उसे दस दिनो के भीतर अपनी इनकारी की सूचना देनी चाहिए), और यदि वह ऐसा करे, तो विधेयक फिर काग्रेस को लौटाया जाएगा, और प्रत्येक सदन मे स्पष्ट दो-तिहाई बहुमत से उसका पारित होना आवश्यक होगा। जैसी कि कल्पना की जा सकती है, ऐसा बहुमत प्राप्त करना बहुत कठिन है, जब तक कि राष्ट्रपति का दल अत्यत अल्पसख्यक न हो। व्यवहार मे, राष्ट्रपति के द्वारा निषिद्धविधेयक बाद मे कदाचित् ही आवश्यक बहुमत प्राप्त कर सकता है और इस प्रकार राष्ट्रपति का निषेधाधिकार उसके पास एक बडा शक्तिशाली शस्त्र हो सकता है।

इसके अतिरिक्त, राष्ट्रपति स्थलसेना और नौसेना का सर्वोच्च सेनापति होता है। सघीय शासन की समस्त महत्वपूर्ण नियुक्तिया करना उसी का कार्य है, और विदेशी मामलो का सचालन भी उसके ही हाथ मे होता है, हालाकि सिनेट कुछ नियुक्तियो पर अपनी अनुमति देने से इनकार कर सकती है, और राष्ट्रपति के द्वारा की गई सधि पर भी दो-तिहाई सिनेट के अनुसमर्थन की आवश्यकता होती है। अत मे, युद्ध की घोषणा करने की शक्ति पूर्णरूप मे काग्रेस की है, परतु स्पष्टत कार्यपालिका की कार्यवाही ऐसी अवस्था उत्पन्न कर सकती है कि युद्ध अपरिहार्य हो जाए।

इस भाति, हालाकि सयुक्तराज्य मे कार्यपालिका और विधानमडल के बीच सम्बन्ध विद्यमान रहते है, जिनकी घनिष्टता दलो की शक्ति तथा राष्ट्रपति के व्यक्तित्व पर निर्भर होती है, फिर भी ये दोनो शक्तिया बिलकुल पृथक् है और यह बात निश्चिन्तता के साथ कही जा सकती है कि विश्व के किसी भी सविधानी राज्य मे आज ऐसा कोई भी पदाधिकारी विद्यमान नही है, जिसकी शक्तिया इतनी विस्तृत हो जैसी कि अमरीका के सयुक्तराज्य के राष्ट्रपति की है। यदि वह पुनर्निर्वाचित होना चाहता है[1] तो वह निस्सदेह, जैसे-जैसे निर्वाचन का समय आता जाता है, दल के महान् गुट्टो (Caucuses) के अधीन होता जाता है, जो अमरीका की राजनीति का नियत्रण करते है; परन्तु देश के अन्य किसी राजनीतिज्ञ से अधिक नही। किंतु वास्तविक रूप मे अपने पद के चार वर्षों मे, जब तक कि वह अ-साविधानिक रूप से कार्य नही करता, उसकी शक्ति सिवाय उन बातो के, जिनका हम उल्लेख कर चुके है, अबाधित रहती है और उसकी स्थिति निर्विवाद बनी रहती है। और, अत मे भी, यदि लोकमत उसके साथ

---

[1] कोई भी व्यक्ति दो बार से अधिक निर्वाचित नहीं हो सकता, और यदि उसने किसी दूसरे को निर्वाचित अवधि के दो वर्ष से अधिक पूरे कर लिये हों तो केवल एक बार (बाईसवां संशोधन, 1951)

के लिए सभापतित्व के पद को धारण नही कर सकता। उसे अपने इस पद के वर्ष म अन्य मत्रियो के वेतन से कुछ अधिक वेतन मिलता है। मत्रियो की सघीय परिषद् का यह सभापति बहुधा गणतत्र का राष्ट्रपति कहलाता है, परन्तु अन्य *मत्रियो के ऊपर उसकी प्राथमिकता 'केवल औपचारिक अग्रता है यह किसी भी* अर्थ मे मुख्य कार्यकारी नही है।'

इस भाति, स्विट्जरलैंड की मत्रि-परिषद्, प्रथम दृष्टि मे, अत्यत निश्चित अर्थ मे ससदीय कार्यपालिका है परतु यदि हम उसकी कार्यवाही को अधिक गहराई से देखे तो हमे ज्ञात होगा कि व्यवहार मे यह स्थायी कार्यपालिका है। सदन द्वारा निर्वाचित परिषद् के सातो सदस्यो के लिए, चुने जाने के पूर्व, इन सदनो मे से किसी एक का सदस्य होने की जरूरत नही है, हालाकि वे साधारणतया सदस्य होन है परन्तु यदि वे सदस्य हो, तो जैसे ही उनका परिषद् के लिए निर्वाचन हो जाता है, उन्हें सदन के अपने स्थान से त्यागपत्र देना पडता है। दूसरे शब्दो मे, कार्यपालिका पद पर निर्वाचित होने के साथ विधायी कृत्य से त्यागपत्र देना आवश्यक है। परिषद् के सदस्य अपनी चार वर्ष की अवधि के अवसान पर बहुधा पुनर्निर्वाचित हो जाते है, और उनमे से कुछ तो इस पद पर लगातार चार पाच बार तक रहे है।

परन्तु कार्यपालिका और विधानमडल के सम्बन्ध के विषय मे स्विट्जरलैंड की प्रथा अमरीकी प्रथा के बिलकुल विपरीत है। जहा सयुक्तराज्य मे कार्य-पालिका और विधानमडल के बीच मे एकमात्र सपर्क राष्ट्रपति के सदेश के द्वारा ही होता है, और मत्रियो मे से किसी को भी विधानमडल के किसी भी सदन मे आने की अनुज्ञा नही होती, वहा स्विट्जरलैंड मे मत्रिगण, विभागाध्यक्षो के रूप मे, दोनो मे से किसी सदन की बैठको मे उपस्थित हो सकते और वाद-विवाद मे स्वतत्रतापूर्वक भाग ले सकते हैं। वास्तव मे ससद भी विधियो के पारण के अपने कार्य मे उनके द्वारा पथप्रदर्शन की अपेक्षा करती है। परन्तु फिर भी ये मत्रिगण सदनो के नेता नही होते, उनके सेवक होते है। मत्रिमडल का रूप दलीय नही होता, वह दल से परे होता है, वह दल का काम भी नही करता और न सदन के विभिन्न दलो की नीति का ही निर्धारण करता है। उसका कार्य तो विशुद्ध रूप से प्रशासकीय है। उसका सम्बन्ध मुख्य रूप से ऐसे सघीय कार्यों से होता है, जैसे राष्ट्रीय आय का सग्रहण, अथवा रेलवे जैसे राष्ट्रीय व्यवसायो का प्रबन्ध।

स्विट्जरलैंड मे कार्यपालिका की सबसे महत्वपूर्ण विशेषता उसकी स्थिरता है। जैसा कि हम कह चुके है, यद्यपि मत्रियो का निर्वाचनसदनो के ही द्वारा होता है, परन्तु वे उन्हें निम्न सदन की अवधि के भीतर पदच्युत नही कर सकते और इसके साथ ही, यह प्रथा है कि यदि वे चाहे तो पुनर्निर्वाचित भी कर लिये जाते हैं। यदि राष्ट्रीय परिषद् सामान्य चार वर्ष की अवधि के अन्त के पूर्व ही भग कर दी

जाती है, तो नई राष्ट्रीय परिषद् और राज्य-परिषद् का सर्वप्रथम कर्तव्य संघीय परिषद् का निर्वाचन करना होता है, परन्तु व्यवहार में साधारणतया पिछली संघीय परिषद् के सदस्यों का ही पुनर्निर्वाचन कर लिया जाता है। इस प्रकार संघीय परिषद् का स्थायित्व और उसकी स्थिरता बेलजियम की और कम से कम पूर्व संविधान के अधीन फ्रान्स की मन्त्रिमंडलीय सरकार की अपेक्षा अमरीका की स्थायी कार्यपालिका से अधिक मिलती-जुलती है। हालांकि इसका निर्वाचन संसद द्वारा होता है फिर भी यह संयुक्तराज्य की कार्यपालिका की अपेक्षा अधिक स्थायी है। डायसी ने स्विट्जरलैंड की संघीय परिषद् को ज्वॉइण्ट स्टॉक कम्पनी के निर्देशक मंडल के समान बताया है और कहा है कि यदि वह सामान्य हित के लिए कुशलता के साथ काम कर रही हो तो उसे परिवर्तित करने का कोई कारण नहीं होना चाहिए, जिस प्रकार वैसी ही परिस्थिति में कम्पनी के बोर्ड की सदस्यता में परिवर्तन करने का कोई कारण नहीं होता।

यह कहा जाता है कि कार्यपालिका विभाग में एकमात्र गंभीर सुधार, जो कि स्विट्जरलैंड में सुझाया गया है, यह है कि मन्त्रियों के निर्वाचन का अधिकार राष्ट्रीय सभा से लेकर जनता के हाथों में दे दिया जाना चाहिए। यदि ऐसा हो जाता है तो वह एकमात्र कारण, जिससे हम अब तक स्विट्जरलैंड की कार्यपालिका को संसदीय कहते आए हैं, लुप्त हो जाएगा, क्योंकि ऐसी अवस्था में वह समस्त अभिप्रायों और प्रयोजनों के लिए अमरीकी अर्थ में एक स्थायी कार्यपालिका बन जाएगी, केवल यही फर्क रहेगा कि स्विट्जरलैंड का कठोर गणतन्त्रवाद अपनी कार्यपालिका का बिखरा हुआ स्वरूप बनाए रखेगा और ऐसे एक व्यक्ति के स्थान पर, जो कि अपनी पसन्द का मन्त्रिमंडल बनाए, लोक निर्वाचन के द्वारा एक निकाय का निर्वाचन करेगा। इस भांति, यह संसदीय कार्यपालिका जिसकी कि स्विट्जरलैण्ड का संविधान परिकल्पना करता है, परीक्षा किए जाने पर यारोप के संविधानी राज्यों में किसी भी अन्य कार्यपालिका की तुलना में अपने कार्यचालन में अधिक स्थायी और अ-संसदीय पाई जाती है।

4 तुर्की का रोचक उदाहरण

आधुनिक तुर्की प्रथम विश्वयुद्ध से पूर्व के तुर्की से अत्यन्त भिन्न है। उस युद्ध के फलस्वरूप तुर्की साम्राज्य भंग हो गया था और उसके पूर्ववर्ती बाह्य प्रदेश तुर्की से भिन्न अन्य संरक्षकों के अधीन नए राज्यों में और सफल मित्रराष्ट्रों में से किसी एक के द्वारा शासित प्रादिष्ट क्षेत्र (Mandates) में विभाजित हो गए। आज तुर्की एक काफी सुगठित और लगभग राष्ट्रीय राज्य है। यह बहुत हद तक अपने निकट पूर्वी असली प्रदेश अनातोलिया तक सीमित है और इसकी वास्तविक राजधानी अंगोरा है। परन्तु इससे बढ़कर बात यह हुई है कि वहां प्राचीन निरंकुश

सल्तनत के स्थान पर गणतंत्र शासन स्थापित हो गया है; और मुस्लिम धर्म के प्राचीन प्रधान का पद—खिलाफत—का, जो कि सुल्तान मे विहित था, सुल्तान पद की ही तरह अन्त हो गया है। हालांकि तुर्की के पुराने शासन को हमेशा निरकुश एकतंत्र ही समझा जाता था, फिर भी उसे सविधानी रूप देने के प्रयत्न किए गए थे। सन् 1876 मे द्वितीय अब्दुलहमीद ने, यूरोप की महाशक्तियो के दबाव से, एक सविधान की उद्घोषणा की थी, परन्तु यह तब तक प्रभावहीन रहा जब तक कि सन् 1908 के 'युवा तुर्क आन्दोलन' ने अब्दुलहमीद को सिहासनच्युत नही कर दिया। तब कही जाकर सविधान प्रयोग मे आया। हालांकि इसके पश्चात ससद का अधिवेशन हुआ, फिर भी शासन वास्तव मे निरकुश ही बना रहा और प्रतिनिधि-सभा (Chamber of Deputies) का वास्तव मे कोई नियत्रण नही था। प्रथम विश्वयुद्ध मे "गलत पक्ष की सहायता करने के कारण" तुर्की का रोष, और शांति-वार्ता के दौरान मे उसे जिस प्रकार अपमान सहन करने के लिए बाध्य किया गया था, उसका विरोध करने मे सुल्तान की असमर्थता से चिढकर तुर्कों ने पुन: नई कार्यवाही की। सन् 1919 मे जब सुल्तान ने कुस्तुन्तुनिया मे सेवरे की सधि पर हस्ताक्षर किए, तो तुर्की राष्ट्र ने उसको स्वीकार करने से इनकार कर दिया और अपने नए केन्द्र अगोरा से एक ऐसे बलशाली प्रतिरोध का सगठन किया कि उससे मित्रराष्ट्रो को दो सम्मेलनो के पश्चात् लौजा मे सन् 1922-23 मे नई सधि करने के लिए विवश होना पडा। बाद की इस सधि से तुर्की को कुस्तुन्तुनिया और पूर्वी थ्रेस का प्रदेश वापस मिल गए।

इसी दौरान मे सन् 1908 मे पुनरुज्जीवित सविधान की व्यवस्थाओ के अधीन अगोरा मे एक ससद का अधिवेशन हुआ और उसने सावैधानिक सत्ता ग्रहण कर ली, जिसका उसे अधिकार प्राप्त नही था। उसने प्रत्यक्ष रूप से आधुनिक तुर्की के थोडे-से महान् पुरुषो मे से एक, मुस्तफा कमाल के, (अधीन जो बाद मे कमाल अतातुर्क के रूप मे प्रसिद्ध हुआ कमाल अतातुर्क जिसका अर्थ है पिता तुर्क, तुर्की की सर्वोत्तम सम्मानसूचक उपाधि है),जो एक ऐसा सैनिक और राजनीतिज्ञ था, जिसकी विचारधारा पश्चिमी विचारो से बहुत-कुछ प्रभावित थी, कार्य किया। इस सभा ने मूल सविधान का सशोधन करके वास्तव मे उसको निरस्त कर दिया और एक नया ही सविधान बना दिया। 29 अक्टूबर सन् 1923 को केवल आधे सदस्यो (158) की उपस्थिति मे ही उसने तुर्की गणतंत्र के राष्ट्रपति पद पर कमाल अतातुर्क को सर्वसम्मति से निर्वाचित किया।

उस सविधान के अधीन राष्ट्रपति की 'महा-राष्ट्रीय सभा' (Grand National-Assembly) नामक एकसदनी विधानमडल द्वारा निर्वाचन की व्यवस्था थी और उसकी अवधि महा-राष्ट्रीय सभा की अवधि अर्थात् चार वर्ष की होती थी, परतु उसका पुनर्निर्वाचन भी हो सकता था। उसे एक प्रधानमत्री और

मंत्रिमंडल के द्वारा कार्य करना था जो सभा के प्रति उत्तरदायी थे जिसके सभापति का चयन गणतंत्र का राष्ट्रपति करता था और जिसके विधान-कार्य पर वह अमेरिका के राष्ट्रपति के समान ही निषेधाधिकार का प्रयोग कर सकता था। किन्तु, वास्तव में, सभा में केवल एक ही दल था—पीपुल्स रिपब्लिकन पार्टी जिसका नेता कमाल अतातुर्क था और जो इस कारण सभा को प्रभावित कर सकता था। वास्तव में, चूंकि संविधान का कार्यान्वयन अतातुर्क के अधीन होता था, उसमें चार अध्यक्षों के पद समाविष्ट थे वह गणतंत्र का, मंत्रिमंडल का, सभा का और सभा में एकमात्र दल का अध्यक्ष था। आधुनिक संविधानी राज्य के विकास में ऐसी स्थिति का कोई पूर्वोदाहरण नहीं मिलता।

कमाल अतातुर्क के अधीन, जिसकी मृत्यु सन् 1938 में हुई, तुर्की गणतंत्र यदि अधिनायकवादी नहीं तो प्रबुद्ध निरंकुशवादी तो था ही, और इस संबंध में उसमें कमाल अतातुर्क के उत्तराधिकारी जनरल इस्मत इनोनू के अधीन भी कोई विशेष परिवर्तन नहीं हुआ, हालांकि कमाल अतातुर्क के मुकाबले में उसका व्यक्तित्व कुछ भी नहीं था। दीर्घकाल तक एकदलीय सरकार ही कायम रही, जिसकी वर्धमान प्रवृत्ति समग्रवादी व्यवस्था की ओर थी। इसके परिणामस्वरूप, निर्वाचकों में ऐसी गहन उदासीनता छा गई कि सन् 1930-39 के काल के अंतिम वर्षों में राष्ट्रीय सभा में एक सरकारी विरोधी पक्ष की अनुज्ञा देनी पड़ी। प्रारंभ में विरोधी सदस्यों की संख्या बहुत सीमित रखी गई थी, परन्तु वह बंधन बाद में हटा दिया गया। इस नई स्वतंत्रता ने तुर्की के राजनीतिक जीवन को स्फूर्ति प्रदान की, जैसा कि सन् 1950 के निर्वाचन में सिद्ध हुआ, जब लोकतंत्रवादियों ने जनगणतंत्रीय दल पर, जिसकी स्थापना अतातुर्क ने की थी, असाधारण विजय प्राप्त करके सभा में 434 स्थान प्राप्त कर लिए। इस पर राष्ट्रपति इनोनू ने लोकतंत्रवादियों के नेता के पक्ष में पदत्याग कर दिया। अधिनायकवाद के आधुनिक इतिहास में यह पहला उदाहरण है जब कि अधिनायक ने लोकमत का आदर करते हुए स्वेच्छापूर्वक अपनी शक्ति का समर्पण किया। यह निस्संदेह ही संविधानवाद की मार्के की विजय थी।

सन् 1954 और 1957 के निर्वाचनों में डेमोक्रेट दल को पुनः विजय प्राप्त हुई परन्तु 1960 में सेना ने उसके शासन को पलट कर राष्ट्रीय एकता समिति (Committee of National Union) नाम से एक सैनिक व्यवस्था स्थापित की। डेमोक्रेटिक दल भंग कर दिया गया, उसके नेताओं पर मुकदमा चलाया गया और उनमें से कुछ को मृत्यु दण्ड मिला। इसी बीच, राष्ट्रीय एकता समिति ने चयनात्मक असैनिक प्रतिनिधि-सभा के साथ कार्य करते हुए 1960 में एक संविधान सभा का निर्माण किया जिसने 1924 में कमाल अतातुर्क द्वारा निर्मित संविधान का स्थान ग्रहण करने के लिये एक नये गणतंत्रीय संविधान का प्रारूप

बनाया। नये संविधान मे पहले के एक-सदनी विधानमंडल के स्थान पर ग्राण्ड नेशनल एसेम्बली नामक द्विसदनी विधानमंडल स्थापित करने का प्रस्ताव था जिसमे उच्च सदन सिनेट थी (जिसमे 6 वर्ष के लिये निर्वाचित 150 सदस्य और राष्ट्रपति द्वारा नामनिर्देशित 15 सदस्य होने थे) और अवर सदन (प्रत्यक्ष सामान्य मतदान द्वारा निर्वाचित 450 सदस्यो की) नेशनल एसेम्बली थी। राष्ट्रपति का निर्वाचन ग्राण्ड नेशनल एसेम्बली के 40 वर्षीय और इससे अधिक आयु वाले सदस्यो के दो तिहाई बहुमत से सात वर्ष की अवधि के लिये होना था। (इस अवधि का नवीकरण नही हो सकता था)। संविधान के अनुच्छेद 98 मे स्पष्ट उल्लेख है कि गणराज्य का राष्ट्रपति अपने वक्तव्यो से सम्बद्ध कार्यों के लिये जिम्मेदार नही होगा। यह जिम्मेदारी मंत्री-परिषद् की थी जिसका अध्यक्ष प्रधानमंत्री था और जो ग्राण्ड नेशनल एसेम्बली के समक्ष उत्तरदायी था।

जनमतसग्रह मे निर्वाचको के बहुमत द्वारा अनुमोदित होने पर नया संविधान 1961 मे प्रवर्तन मे आया। बाद के सामान्य निर्वाचन मे, जिसमे चार दलो ने (अविश्वसनीय डेमोक्रेट दल नही) भाग लिया। रिपब्लिकन पीपुल्स पार्टी का अन्य दलो से पृथक् रूप मे बहुमत मिला परन्तु सब दलो के सम्मिलित मतो से अधिक मत उसे प्राप्त नही हो सके। जनरल गुर्सेल, जो सैनिक व्यवस्था के अन्तर्गत अस्थायी राज्याध्यक्ष था, नई ग्राण्ड नेशनल एसेम्बली द्वारा राष्ट्रपति निर्वाचित हुआ। उसने पूर्व राष्ट्रपति इस्मेत इनोनू को प्रधान मंत्री नियुक्त किया और उसने एक सयुक्त मंत्रिमंडल का निर्माण किया। इस प्रकार, अन्त मे शायद तुर्की एक प्रभावी संसदीय कार्यपालिका स्थापित कर सका हो।

5 संसदीय और स्थायी कार्यपालिकाओं के तुलनात्मक लाभ

आधुनिक ससार की मूल रूप से भिन्न दो प्रकार की कार्यपालिकाओ की इस विवेचना से एक-दो ऐसी बाते पैदा होती हैं जिन पर बल देना आवश्यक है। प्रथम, हम देखते है कि जहा कही भी संसदीय प्रणाली है, वहा सामान्य रूप से इगलैंड ही इसका प्रेरक रहा है, और समस्त अन्य देशो की प्रणालियो के लिए यही आदर्श रहा है। अतएव, यह एक बडी रोचक बात है कि इगलैंड मे कार्यपालिका मूल रूप मे *अ-संसदीय* थी और वह *नाम* मे आज भी वैसी ही है, क्योकि प्रत्येक मंत्री मुकुट का सेवक होता है और अब भी उसकी नियुक्ति और पदच्युति *नाम* के लिए उसी के द्वारा होती है। परतु, जैसा कि हम देख चुके हैं, वास्तव मे आधुनिक *लोकतंत्रीय निर्वाचक-समूह प्रधानमंत्री और लोकसभा* इन दोनो का ही निर्वाचन करने लगा है, हालाकि यह भी सच है कि भावी प्रधान मंत्री का निर्वाचन प्रधान मंत्री के रूप मे न होकर संसद के सदस्य के रूप मे होता है, फिर भी संविधान की परम्परा के अनुसार यह सुनिश्चित रहता है कि बहुमत-दल का नेता ही,

वास्तव मे, सरकार का प्रमुख होगा।

तब हम यह पूछ सकते हैं कि कार्यपालिका के इन प्रकारो मे से लोकतत्र के प्रयोजनो और कल्याण के लिए कौन अधिक उत्तम है। जहा तक ससदीय कार्यपालिका का प्रश्न है, चूकि जहा यह वास्तविकतम है, वहा यह दल-प्रणाली पर आधारित है, इस कारण इस बात का भय है कि कही यह विधानमडल का, जो इसका सृजन करता है, दास न बन जाए। इस प्रणाली मे विधानमडल और कार्यपालिका के बीच गम्भीर सघर्ष की सभावना तो नहीं रहती, किन्तु हो सकता है कि *कार्यपालिका विधानमडल की स्थायी इच्छा को ही नहीं, वरन् उसकी बदलती हुई और परिणामस्वरूप निर्वाचक-समूह की और भी अस्थिर भावनाओ को तथा* उत्तेजनाओ का भी प्रतिबिम्बित करने लगे। स्थायी कार्यपालिका से यही लाभ है कि उससे यह डर नहीं रहता, क्योकि प्रथम तो कार्यपालिका की कार्यवाही के लिए बहुधा यह आवश्यक होता है कि राज्य की भलाई के निमित्त, वह निर्वाचित हो, और दूसरे सयुक्तराज्य के राष्ट्रपति के समान पद धारण करनेवाला व्यक्ति ऐसे नियत्रण से मुक्त होने के फलस्वरूप वास्तविक नेता बन सकता है और इस भाति लोकतत्र को उसके सबसे बडे सकट—सपूर्ण लोकतत्र के निकृष्टतम सदस्य के समान हो जाने के भय—से बचा सकता है।[1]

फिर भी जनता द्वारा निर्वाचित स्थायी कार्यपालिका पर, जैसी सयुक्तराज्य मे है, जनता की भावनाओं का प्रभाव विधानमडल पर अवलम्बित कार्यपालिका की अपेक्षा स्पष्टत अधिक रहता है। *किन्तु इसका एक बडा लाभ यह है कि एक बार निर्वाचित हो जाने पर, उसे दलबन्दी की सनका और उप-निर्वाचनो के* परिवर्तनशील परिणामो से कोई बाधा नहीं पहुचाई जा सकती। जैसा कि हम कह चुके हैं, स्थिरता प्राप्त करने के लिए ससदीय कार्यपालिका को सुस्थापित और सुनिश्चित दलीय प्रणाली की आवश्यकता होती है। ब्रिटेन की तरह, जहा पर यह स्थिति विद्यमान है वहा यह प्रणाली अच्छा काम करती है, परन्तु जहा पर ऐसा नहीं होता, उदाहरणार्थ पूर्वकाल मे फ्रास मे, वहा कार्यपालिका के सगठन और उसकी नीति मे बराबर परिवर्तन होते रहते हैं जो कि किसी भी प्रकार की सरकार के लिए बुरा लक्षण है। यह सत्य है कि चतुर्थ फ्रेन्च गणतत्र के सविधान मे मत्रिमडल के अपने अस्तित्व के प्रारम्भिक दिनो मे ही अविश्वास के प्रस्ताव द्वारा भग किये जाने की सभावना के खिलाफ सरक्षण थे। *इस प्रकार का प्रस्ताव प्राय ससदीय दलो के गुट जो केवल मत्रिमडल को त्याग पत्र देने के* लिए विवश करने को ही अस्थायी रूप मे बन जाते हैं, बडे गैर-जिम्मेदाराना ढग से पारित करा लेते थे। घटनाओ ने सिद्ध कर दिया कि यह साविधानिक उपाय

[1] उदाहरण के लिए Emile Faguet का The cult of Incompetence देखिए।

भगुर ग्रुप प्रणाली की अन्तर्निहित कमजोरियो को निष्प्रभाव न कर सका। इसी ग्रुप प्रणाली के कारण तीसरे और चौथे गणतत्रो के अधीन फ्रेञ्च सरकारें अस्थिर रही और उसी के कारण पचम गणतत्र के नये साविधानिक प्रयोग करने पडे।

दोनो विश्वयुद्धो के बीच के योरोप के राजनीतिक इतिहास से यह स्पष्ट है कि एक ऐसी ससदीय कार्यपालिका का, जो सकटकाल के तनावो को सहन करने मे अशक्त होती है प्रयोग अधिनायकतत्र की स्थापना की सोपानशिला के रूप मे हो सकता है। मुसोलिनी ने प्रधान मत्री का साविधानिक पद स्वीकार कर राजनीतिक सत्ता प्राप्त कर लेने के बाद ससद के प्रति उत्तरदायी मत्रिमडल के स्थान पर अपने प्रति उत्तरदायी ग्राण्ड फेसिस्ट कौंसिल स्थापित कर दी और इस प्रकार उसने प्रतिनिधि-सदन के अधिकार को समाप्त कर दिया और अन्त मे उसके स्थान पर अलोकतत्रीय एव दास के समान आज्ञाकारी फेसिओ-सदन (Chamber of Fascios) स्थापित कर उस सदन का ही अन्त कर दिया। इसी प्रकार जर्मनी मे, हिट्लर ने पहले वेमर सविधान के अनुसार चान्सलर का पद ग्रहण किया परन्तु उसके हाथो मे केबिनेट, जो सविधानिक दृष्टि से राइखस्टाग के प्रति उत्तरदायी थी, शीघ्र ही नेता-परिषद् (Council of Leaders) के नाम से कट्टर नात्सियो का एक निकाय बन गई जो केवल हिट्लर के प्रति उत्तरदायी था और राइखस्टाग केवल एक-दलीय सम्मेलन रह गई जिसके अधिवेशन कभी-कभी हिट्लर के आग उगलने वाले भाषणो को चुपचाप सुनने मात्र के लिये होते थे। साविधानिक कार्यपालिकाओ की इसी प्रकार की दुर्गति राष्ट्रपति प्रणाली वाले राज्यो मे भी हुई है जो लेटिन अमेरिकन गणराज्यो के अशान्त इतिहास मे देखी जा सकती है।

इन दृष्टान्तो से मालूम होता है कि यदि नागरिक कार्यपालिका के प्रति निरन्तर सतर्क नही रहते, जो स्वतत्रता का मूल्य है, तो साविधानिक अधिकार बडी सरलता से छिन सकते हैं। यदि ऐसा सुशिक्षित निर्वाचको वाले प्रतिष्ठित सविधानी राज्यो मे हो सकता है तो ऐसे नये राज्यो का, जो प्रत्येक महाद्वीप मे स्थापित होते जा रहे हैं और जहाँ की बहुसख्यक जनता केवल निरक्षर ही नही, राजनीतिक अनुभव से बिलकुल विहीन है, राजनीतिक भविष्य क्या हो सकता है ? इन नये राज्यो की समस्या शासन के ऐसे अधिक से अधिक स्थिर रूप को खोजना है जो अनुभव प्राप्त करने के लिये आवश्यक अवधि मे लोक-अधिकार के वर्धमान प्रयोग के अनुकूल हो। ऐसे राज्यो के शैशवकाल मे स्थिरता ससदीय या अससदीय कार्यपालिका के द्वारा प्राप्त हो सकेगी यह प्रत्येक राज्य की पृष्ठभमि और परिस्थितियो पर निर्भर होगी। जो कुछ हम निश्चयपूर्वक कह सकते हैं वह यह है कि यह प्रश्न आज सर्वोपरि महत्व का है क्योकि इसका सम्बन्ध केवल इन उदीयमान समाजो के कल्याण से ही नही, विश्व की भावी शान्ति एव सरकार से भी है।

क्योकि सांविधानिक सरकार का कारबार इतना जटिल होता है कि प्रत्येक विभाग के क्षेत्र का ऐसी रीति मे निरूपण नही हो सकता कि प्रत्येक विभाग अपनी निर्दिष्ट सीमा मे स्वतन्त्र तथा सर्वोच्च रह सके, क्योकि, जैसा एच जे लास्की का कथन है, 'शक्तियो के पृथक्करण का तात्पर्य शक्तियो का समान सतुलन नही है।" एक सच्चे सांविधानिक राज्य मे अ-ससदीय कार्यपालिका के होते हुए भी विधानमडल को यह सुनिश्चित कर लेना चाहिए तथा वह ऐसा सुनिश्चित करता भी है कि कार्यपालिका के कार्य मोटे तौर से उसकी इच्छा को कार्यान्वित करे। हम यह भी देख चुके है कि फ्रास मे भी, जहा शक्तियो के पृथक्करण का सिद्धान्त उसके प्रथम सविधान का मूल आधार था इस सिद्धान्त मे तब से इतना परिवर्तन हो चुका है कि तृतीय और चतुर्थ *गणतत्रो के सविधान मे ससदीय कार्यपालिका की* प्रणाली का सूत्रपात हो गया जिससे कार्यपालिका विधानमडल का एक भाग—वास्तविक रूप मे उसकी एक समिति—बन गई। इसके अतिरिक्त, सरकार की किसी भी अच्छी प्रणाली मे कार्यपालिका के पास क्षमा अथवा प्रविलम्बन के विशेषाधिकार होने चाहिए तथा होते है जिससे कार्यपालिका न्यायपालिका के अत्यधिक कठोर निर्णयो को रोक सके अथवा निष्फल कर सके। इसके अलावा, अपनी क्षमता की सीमाओ के भीतर विधानमडल का यह सुनिश्चित करना हमेशा ही एक कार्य रहा है कि यदि न्यायपालिका की प्रवृत्ति अच्छी नीति के विरुद्ध *मालूम हो तो वह प्रवृत्ति विधान द्वारा उलट दी जाए।* इन उदाहरणो से इन तीन विभागो का पारस्परिक सम्बन्ध प्रकट होता है।

परन्तु इस व्यापक अर्थ मे कि तीनो शक्तिया पृथक् अधिकारियो के पास होगी, समस्त आधुनिक सविधानी राज्यो को शक्तियो के पृथक्करण के आदर्श के अनुकूल होना चाहिये, क्योकि आज कही भी इनमे से एक कृत्य का सम्पादन करने वाला निकाय अन्य दो कृत्यो का सम्पादन करने वाले निकायो से अभिन्न नही है। जहा तक विधानमडल और कार्यपालिका का प्रश्न है, यह पृथक्करण *अ-ससदीय कार्यपालिका वाले राज्य मे स्पष्टतया विद्यमान होता है।* यह कुछ मात्रा मे उस राज्य मे भी विद्यमान है, जिसकी कार्यपालिका ससदीय प्रकार की है, क्योकि वहा कार्यपालिका विधानमडल का एक भाग है, सपूर्ण विधानमंडल नही। जहा तक कार्यपालिका और न्यायपालिका का सम्बन्ध है, ऐसे एक या दो ही अपवाद हैं जिनका इस मुख्य सत्य पर कोई प्रभाव नही पड़ता कि ये विभिन्न निकाय हैं। उदाहरण के लिए, इगलैंड मे, लॉर्ड चान्सलर जो कि अपने देश का उच्चतम न्यायिक पदाधिकारी होता है, लॉर्ड सभा का पदेन सभापति होने के अतिरिक्त मन्त्रिमडल का सदस्य भी होता है, और इसीलिए सरकार के परिवर्तन के साथ उच्चतम न्यायाधिकारी के पद मे भी परिवर्तन हो जाता है। इसके अतिरिक्त, अपील के लॉर्ड भी हाउस ऑफ लॉर्ड्स के सदस्य होते है, परन्तु यह गौण है

इस कारण ही कि हाउस ऑफ लॉर्ड्स आज भी अपील का अन्तिम न्यायालय बना हुआ है, और जिस भांति एक साधारण पीयर को इस न्यायिक निकाय के कार्य से कोई मतलब नहीं, इसी भांति अपीली लॉर्ड भी सामान्यतया हाउस ऑफ लॉर्ड्स के राजनीतिक कार्य में कोई भाग नहीं लेते। योरुप महाद्वीप के अधिकांश मंत्रिमंडलों में भी न्यायमंत्री होता है, परन्तु वह हमेशा न्यायाधीश नहीं होता। केवल संयुक्तराज्य ही ऐसा है जहां कार्यपालिका में न्यायिक निकाय का कोई भी प्रतिनिधि नहीं होता और इसी भांति न्यायपालिका में कार्यपालिका का कोई प्रतिनिधि नहीं होता। परन्तु ये अपवाद हैं, जो कि नियम को सिद्ध करते हैं और यह संविधानवाद का एक मूल सूत्र है कि न्यायपालिका को स्वयं अपने विभाग में नियंत्रण से मुक्त होना चाहिए, हालांकि यह प्रश्न उठता है कि उस विभाग की सीमाएं क्या हों।

इस स्वतंत्रता-सूत्र के अनुसार अधिकांश सांविधानिक राज्यों में न्यायाधीशों का पद स्थायी होता है, अर्थात् वे तब तक अपने पद पर रह सकते हैं जब तक कि वे 'सदाचारी' रहते हैं—अर्थात् विधि द्वारा उल्लिखित किसी अपराध के दोषी नहीं होते—और इसीलिए उनका पद निर्वाचन के परिणामों के फलस्वरूप परिवर्तनाधीन नहीं होता, जैसा कि शासन के अन्य दो भागों में होता है। इसके दो बड़े अपवाद हैं एक स्विट्जरलैंड, जहां न्यायाधीशों का निर्वाचन दोनों संघीय सदनों के संयुक्त अधिवेशन के द्वारा छह वर्ष के लिए होता है (परन्तु यहां भी अधिकतर उसी न्यायाधीश का बार-बार पुनर्निर्वाचन हो जाता है जिससे व्यावहारिक रूप में पद का स्थायित्व प्राप्त हो जाता है), दूसरा अपवाद संयुक्तराज्य के कुछ विभिन्न अंगभूत राज्य हैं, जहां अवधि विशेष के लिए (कहीं-कहीं दो वर्ष जैसी अल्प अवधि भी होती है) लोक-निर्वाचन की प्रणाली को अपनाया गया है। किन्तु यह बात संयुक्तराज्य की संघीय न्यायपालिका पर लागू नहीं होती, जहां कि राष्ट्रपति सिनेट के परामर्श तथा स्वीकृति से न्यायाधीशों को जीवनभर के लिए नियुक्त करता है।

फ्रांस में न्यायाधीश न्यायपालिका की उच्च परिषद् (High Council of the Judiciary) के परामर्श से नियुक्त किए जाते हैं जो न्यायाधीशों पर अनुशासनिक परिषद् का भी कार्य करती है। ग्रेट ब्रिटेन में न्यायाधीशों की नियुक्ति सैद्धान्तिक रूप में रानी परन्तु व्यवहार में लॉर्ड चान्सलर करता है, और एक्ट ऑफ सेटिलमेंट (सन् 1701) के द्वारा यह निश्चित किया जा चुका है कि जब तक वे सदाचारी रहें तब तक पद को धारण करने का उनका अधिकार बना रहेगा। उनको पद से हटाने का तरीका यही है कि संसद के दोनों सदन उस आशय का निवेदन करें, परन्तु इस अधिनियम के पारित होने के बाद से आज तक ऐसा कोई निवेदन नहीं किया गया, अतएव उनके पद का स्थायित्व स्पष्ट है। संयुक्तराज्य

मे सर्वोच्च न्यायालय के न्यायाधीश कांग्रेस के समक्ष महाभियोग की प्रक्रिया के द्वारा ही हटाए जा सकते हैं।[1]

इस प्रकार यद्यपि अधिकांश मे कार्यपालिका या उसका कोई भाग ही न्यायाधीशो की नियुक्ति करता है तथापि सामान्यतया उनको हटाना विधानमंडल के ही हाथो मे होता है, किसी भी दशा मे यह अधिकार कार्यपालिका के नियंत्रण मे नही है। इस भांति, अधिकांश संविधानी राज्यो मे शासितो के अन्तिम अधिकार दोहरे रूप से सुरक्षित रहते हैं, क्योकि उन न्यायाधीशो की नियुक्ति, जिनके ऊपर अधिकारो की सुरक्षा अन्तत अधिकांश मे अवलम्बित है, उस प्रक्रिया द्वारा नही होती जिसमे लोकतंत्र की कुख्यात चचलता प्रभावी रहती है, और चूंकि उनका कार्यकाल सुरक्षित होता है, इसलिए वे राजनीतिक आवश्यकताओ से ऊपर रहते हैं। यह बताने के उपरान्त कि न्यायपालिका अन्य दो विभागो से किन अवस्थाओ मे स्वतंत्र रहती है, अब हम यह देखेंगे कि न्यायपालिका (1) विधानमडल और (2) कार्यपालिका को किस प्रकार प्रभावित कर सकती है।

2 न्यायपालिका और विधानमंडल

हम यह बता चुके हैं कि विधानमडल का कार्य विधि का निर्माण है, और न्यायपालिका का कार्य "वैयक्तिक मामलो मे विद्यमान विधि के प्रयोग का निश्चय करना" है। परन्तु हम यह भी देख चुके हैं कि अनेक राज्यो मे न्यायाधीश अपने निर्णयों द्वारा भी वास्तव मे विधि का निर्माण करते हैं। यह 'निर्णय विधि' या न्यायाधीश-निर्मित विधि फ्रास के सदृश विशेषाधिकारयुक्त राज्यो की अपेक्षा ग्रेट ब्रिटेन के सदृश 'देश विधि राज्यो' का विशिष्ट लक्षण है (हालाकि यह एक आश्चर्यजनक बात है कि फ्रास मे न्यायिक न्यायालयो से भिन्न रूप मे प्रशासकीय न्यायालय, वास्तव मे, इस प्रक्रिया का उपयोग करते हैं)।

न्यायाधीश-निर्मित विधि का सिद्धात पूर्वदृष्टात के बल पर आधारित है, अर्थात् न्यायाधीशो के पूर्वनिर्णय समान मामलो मे पश्चात्वर्ती न्यायाधीशो को बाध्य करने वाले समझे जाते हैं, हालाकि समय के साथ इन निर्णयो मे परिवर्तन होता जाता है, और पूर्व के निर्णय केवल पथप्रदर्शक के रूप मे रह जाते हैं। इस भांति एंग्लो-सैक्सन राज्यो मे विधानमडल के कार्य से बिलकुल भिन्न रूप मे, पुरानी विधि मे नई विधि जोड दी जाती है। इस प्रकार न्यायाधीश चाहे पूर्वदृष्टात का अनुसरण करे, अथवा स्वयं उसका सृजन करे, उसे उपयुक्त रूप से

---

[1] सन् 1937 मे प्रेसीडेंट रूजवेल्ट ने प्रयत्न किया था कि न्यायाधीशो को निवृत्त होने की आयु 70 वर्ष निश्चित कर दी जाए, किन्तु यह प्रयत्न असफल हुआ। देखिए पूर्व पृष्ठ।

विधिनिर्माता कहा जा सकता है। इसीलिए, महान् अंग्रेज विधिविशेषज्ञ स्वर्गीय प्रोफेसर डायसी ने न्यायाधीशों को 'सारतः विधिनिर्माता प्राधिकारी' कहा है। इसी प्रकार, महान् अमरीकी न्यायाधीश स्वर्गीय जस्टिस होम्स ने भी कहा था कि "न्यायाधीश विधिनिर्माण करते हैं और उन्हें करना ही चाहिए।"

इस निर्णय-विधि में सामान्य-विधि राज्यों की यह महत्वपूर्ण विशिष्टता उपलक्षित है कि ऐसे राज्यों में विधि संहिताबद्ध नहीं होती, अर्थात् विधि की कोई ऐसी संगठित व्यवस्था नहीं होती जिसकी किसी एक समय में ऐसी सीमा निश्चित कर दी गई हो, जिससे परे, विशेष परिस्थितियों को छोड़कर, न्यायाधीश कार्य नहीं कर सकते। परन्तु उन राज्यों में, जैसे अधिकांश योरोपीय राज्यों में, जहां विधि बहुत पूर्व ही संहिताबद्ध हो चुकी है, *न्यायाधीशों द्वारा विधि की रचना* संभव नहीं है। उदाहरण के लिए फ्रांस में ही, जहां नेपोलियन के समय से ही विधि को *संहिताबद्ध किया जा चुका था, न्यायाधीशों को निर्णय विधि के निर्माण के लिए* स्पष्ट रूप से निषेध कर दिया गया है। उनका पथप्रदर्शन करने के लिये संहिता विद्यमान है, और यदि संहिता किसी विशिष्ट मामले के सम्बन्ध में न्यायालय की दृष्टि में त्रुटिपूर्ण हो, तो न्यायाधीश निर्णय दे सकता है, परन्तु वह किसी भी रूप में भावी मामलों में बाध्य नहीं होगा। परन्तु, देश विधि प्रणाली में ऐसा निर्णय भविष्य के लिए उचित विधि समझा जाएगा। इन दोनों प्रणालियों से लाभ भी है और हानि भी। देश विधि राज्यों में पूर्वदृष्टांतों की चर्चा करते समय वकील को अपने आधार का निश्चय होता है, और वह न्यायाधीश की सनक या संहिताबद्ध विधि की संदिग्ध शब्दरचना के अधीन नहीं रहता। दूसरी ओर, पूर्वनिर्णयों का *संकलन इतना उलझा हुआ, भ्रमात्मक और अन्तर्विरोधयुक्त हो गया है* कि वकीलों के लिए यह मालूम कर लेना बहुधा कठिन हो जाता है कि वास्तव में विधि क्या है। संहिताबद्ध विधि वाले राज्यों में न्यायाधीश ब्रिटेन जैसे राज्यों के न्यायाधीशों की अपेक्षा एक अर्थ में अधिक स्वतंत्र है, क्योंकि उन पर पूर्वदृष्टांतों का अंकुश नहीं होता और जब कोई मामला विद्यमान संहिता से परे उपस्थित होता है तो वे अपना ध्यान न्याय करने पर ही केन्द्रित कर सकते हैं, उन्हें इस बात पर ध्यान देने की आवश्यकता नहीं रहती कि किसी विद्वान् पूर्वाधिकारी के पूर्वनिर्णय का अनुसरण हो रहा है या नहीं। इसके साथ ही, ऐसे राज्यों के न्यायाधीश अधिक मर्यादित भी रहते हैं, क्योंकि केवल विधानमंडल ही या तो विशेष विधियों के *पारण के द्वारा या नए संहिताकरण की अनुमति देकर* विधि में परिवर्तन कर सकता है। इसके विपरीत, देश विधि वाले न्यायाधीश अपने तर्कों तथा निर्णयों के द्वारा नई विधि बना सकते हैं, *जब तक कि उनके निर्णय सांविधिक विधि के* प्रतिकूल न हों। किन्तु ये सब बातें किन्हीं भी न्यायाधीशों के, चाहे वे कितने ही प्रख्यात क्यों न रहे हों, किन्हीं भी पूर्वनिर्णयों को, चाहे वे कितने ही श्रद्धेय क्यों

न हो, विधि द्वारा परिवर्तित करने की अथवा किसी विधिसहिता को सशोधित करने की विधानमडल की शक्ति को प्रभावित नही करती, बशर्ते कि विधानमडल सदा ही उन शक्तियो के अन्दर काम करे जो कि उसे सविधान द्वारा प्रदत्त होती है। अत कुछ ऐसे विषयो के सम्बन्ध मे जिनकी हम पहले चर्चा कर चुके हैं— जैसे कि एकात्मक तथा सघीय राज्य, नम्य तथा अनम्य सविधान—न्यायपालिका और विधानमडल के बीच के सम्बन्ध का अध्ययन अत्यन्त लाभदायक होगा।

हम यह बता चुके हैं कि एकात्मक राज्य मे केन्द्रीय विधानमडल केवल उन निर्बन्धो के सिवाय, यदि कोई हो, जो कि सविधान द्वारा उस पर लगाए गए हो, सर्वोच्च होता है, परन्तु सघराज्य मे सघीय विधानमडल सीमित रहता है क्योकि एक तो उसकी शक्तियो के साथ अगभूत राज्यो की भी शक्तिया होती हैं और दूसरे उसका सविधान अनम्य होता है। सविधान के विषय मे हम बता चुके हैं, कि जहा वह नम्य होता है वहा विधानमडल की सर्वोच्चता निर्विवाद रहती है, परन्तु जहा वह नम्य होता है,वहा उसकी सर्वोच्चता, साविधानिक विधिनिर्माण के विषय म उसके ऊपर आरोपित निर्बन्धनो द्वारा मर्यादित रहती है। इन शर्तों का पालन कराने मे न्यायपालिका का क्या कार्य है? एकात्मक राज्यो का परीक्षण करते समय, उदाहरणार्थ इगलैंड के प्रकरण मे,हम देख चुके हैं कि न्यायाधीश ससद द्वारा पारित विधियो को लागू करने को बाध्य है। यदि ससद द्वारा निर्मित विधि देश विधि के प्रतिकूल है तो उस विशेष प्रकरण मे देश विधि को त्याग दिया जाएगा। यह सच है कि न्यायाधीशो को किसी भी विधि के विषय मे व्याख्या करने की शक्ति प्राप्त है, क्योकि 'विधि द्वारा प्रदत्त या स्वीकृत शक्तिया, चाहे वे कितनी भी असाधारण क्यो न हो, वास्तव मे कभी भी असीमित नही होती क्योकि वे स्वय अधिनियम के शब्दो द्वारा मर्यादित रहती हैं",परन्तु न्यायाधीश शब्दो से बाहर नही जा सकते, और यदि शब्द ससद के अभिप्राय को बुरी तरह अभिव्यक्त करते है तो अधिनियम का प्रयोग उसे पारित करने वालो के आशय से बिलकुल भिन्न हो सकता है। इसके अतिरिक्त एकात्मक राज्य मे यह सम्भावना कभी भी नही होती कि न्यायाधीशो को केन्द्रीय ससद और राज्य के अन्तर्गत अन्य निकायो के बीच के विवादो को तय करने को कहा जाए, क्योकि ऐसे अन्य निकायो के पास उन अधिकारो के सिवाय, जो उन्हें केन्द्रीय विधानमडल से प्राप्त होते है, अन्य कोई अधिकार नही होते।

परन्तु सघीय राज्यो मे स्थिति बिलकुल भिन होती है। उनमे से अधिकाश मे न्यायपालिका की शक्ति विधानमडलो की शक्ति की तुलना मे एकात्मक राज्यो की अपेक्षा बहुत अधिक होती है। उदाहरणार्थ, सयुक्तराज्य मे सविधान सर्वोच्च है, विधानमडल नही, और इस तथ्य से न्यायपालिका को एक ऐसी शक्ति प्राप्त होती है जिससे वह विधानमडल तथा कार्यपालिका के समकक्ष हो जाती है।

संघीय न्यायाधीश और राज्यीय न्यायाधीश भी, संविधान की रक्षा करना और कांग्रेस अथवा राज्य के विधानमंडल के ऐसे प्रत्येक विधान कार्य को शून्य मानना जो संविधान से असगत हो, अपना परम कर्त्तव्य समझते है। निस्सदेह वह ऐसी किसी विधि का उन्मूलन नही कर सकते, परन्तु वे उन सब मामलो मे जो कि उनके सामने आए, उसे शून्य समझने को बाध्य हैं। इस भांति सयुक्तराज्य मे शासन के न्यायिक विभाग म यूनाइटेड किंगडम की न्यायपालिका की अपेक्षा बहुत अधिक सक्षमता है।

विभिन्न सघीय राज्यो मे न्यायपालिका की शक्तिया बहुत अशो मे विभिन्न होती हैं। उदाहरणार्थ, आस्ट्रेलिया मे, जहा सघीय न्यायपालिका की स्थिति *सयुक्तराज्य की सघीय न्यायपालिका की स्थिति से बहुत मिलती-जुलती है,* कॉमनवेल्थ और राज्या की अधिकाश शक्तिया समवर्ती हैं, और इसके परिणामस्वरूप उच्च न्यायालय द्वारा निर्णीत साविधानिक विवादो मे से अधिकाश सघीय तथा राज्यीय शक्तियो के बीच सीमा निर्धारण से सम्बन्धित रहते हैं। वास्तव मे, इस सम्बन्ध मे आस्ट्रेलिया और सयुक्तराज्य के बीच मे मुख्य अन्तर यही है कि आस्ट्रेलिया का उच्च न्यायालय राज्यविधिविषयक अपीलो को सुन सकता है, परन्तु सयुक्तराज्य के सर्वोच्च न्यायालय मे ऐसा करने की शक्ति नही है। वेमर गणतन्त्र के अधीन जर्मनी मे सविधान की व्याख्या के सम्बन्ध मे सघीय न्यायाधीशो की शक्तिया लगभग उतनी बडी नही थी जितनी कि वे सयुक्तराज्य और आस्ट्रेलिया मे हैं, क्योंकि उस सविधान के अनुसार सघीय विधि राज्यीय विधि का प्रत्याख्यान करती थी, परन्तु जहा यह प्रश्न उठता था कि क्या कोई *राज्यीय विधि सघीय विधि से असगत थी, वहा सघीय न्यायपालिका के समक्ष* अपील आवश्यक होती थी। जर्मनी के सघीय गणराज्य की मूल विधि (1949) ने सघीय विधि की इस प्रत्याख्यान-शक्ति का निरस्त कर दिया परन्तु जैसा हम पहले बतला चुके हैं उसने एक सघीय सविधानी न्यायालय की सविधान की व्याख्या करने और सघ तथा राज्यो के अधिकारो एव कर्तव्यो के सम्बन्ध मे मतभेद दूर करने के लिये स्थापना की। स्विटजरलैंड मे व्याख्या करने की ऐसी कोई शक्ति विद्यमान नही है, और स्विट्जरलैंड अपनी न्यायपालिका की इस निर्बलता की दृष्टि से सघराज्यो मे अनुपम है।

नम्य सविधानो के विषय मे हम यह बता चुके है कि उनके अधीन विधायी *शक्ति से ऊपर न्यायपालिका की शक्ति के लिए स्थान नही है। ग्रेट ब्रिटेन और* न्यूजीलैंड सदृश राज्यो म ससद का कोई भी अधिनियम अ-साविधानिक नही *हो सकता। अनम्य सविधानो वाले एकात्मक राज्यो मे, ऐसे न्यायालय हो सकते* हैं, जो विधानमडल द्वारा सविधान की शर्तों का उल्लघन किए जाने और ससद द्वारा सविधान मे निर्धारित क्षमता के आगे बढ जाने की अवस्था के विधानमडलो

के अधिनियमो की अ-सांविधानिकता पर निर्णय देने की शक्ति रखते हो। उदाहरणार्थ, इटली मे एक सविधानी न्यायालय है जो *गणराज्य के सविधान के* अनुच्छेद 134 के अनुसार 'विधियों और विधि का प्रभाव रखने वाले अधिनियमो की वैधता से सम्बन्धित विवादो का निर्णय करता है।' इसके विपरीत फ्रान्स मे सांविधानी न्यायालय नही है, परन्तु पचम गणतत्र के अधीन एक सविधानी परिषद् है जिसे निर्वाचनो एव जनमनसग्रहो के अधीक्षण के अतिरिक्त विधान के सम्बन्ध मे परामर्श देने के कुछ अधिकार प्राप्त हैं। सन् 1958 के सविधान के अनुच्छेद 61 की प्रारम्भिक कडिकाओ (पेराग्राफो) मे कहा गया है—

"*प्रख्यापन के पहले सघटनात्मक विधियाँ* (Organic Laws) *और प्रयोग* मे आने के पहले ससदीय सभाओ के विनियम सविधानी परिषद् के समक्ष प्रस्तुत किये जाने चाहिये और वह उनकी सांविधानिकता के सम्बन्ध मे निर्णय देगा।"

"*गणराज्य का राष्ट्रपति, प्रधान मत्री या किसी सदन का अध्यक्ष प्रख्यापन* के पहले विधियों को सविधानी परिषद् के समक्ष प्रस्तुत कर सकता है।"

परन्तु निर्णय देने के बाद परिषद्, स्थिति को नियमित करने के लिये आवश्यक कदम उठाने का कार्य सरकार या ससद के लिये छोड देती है।

उपर्युक्त बातो से निकलने वाले निष्कर्षों को सक्षिप्त करते हुए हम सकते हैं कि समस्त सांविधानिक राज्यो मे न्यायिक निकाय की हैसियत ऐसी है कि वह बेतुके और मनमाने हस्तक्षेप से मुक्त होता है और उसकी अवधि सुरक्षित रहती है जिससे कि वह अपने विवेक के विरुद्ध कार्य करने की आशका के अधीन नही रहता; सघीय राज्यों के सिवाय अधिकाश राज्यो मे सरकार का न्यायिक विभाग विधान विभाग के द्वारा पारित विधियो के आरोपित करने को बाध्य होता है, *और अधिकाश सघीय राज्यो मे उसे या तो सघीय विधानमडल द्वारा* पारित किसी विधि को, जिसे वह उसकी सांविधानिक क्षमता के परे समझता है, आरोपित करने से इनकार करने की, अथवा, उन मामलो मे जहा सघीय और राज्य के विधानमडलो मे विरोध होता है, निर्णय करने की शक्ति होती है। न्यायपालिका और कार्यपालिका के बीच का सम्बन्ध ऐसी सरलता से व्यक्त नही किया जा सकता, जैसा कि अब हम देखेगे।

3 विधि का शासन

पिछले एक अध्याय मे हम बता चुके है कि आग्ल-सेक्सन कहलाने वाले राज्यों—*अर्थात् यूनाइटेड किंगडम, ब्रिटिश स्व-शासी डोमिनियन तथा सयुक्त-राज्य*—के नागरिक जिन आधारभूत कानूनी सुरक्षाओ का उपभोग करते है,उनमे से एक 'विधि के शासन' का सिद्धान्त है। महाविशेषज्ञ डायसी ने कहा है कि इससे किसी भी ब्रिटेन निवासी का तात्पर्य केवल यही नही है कि हममे कोई भी व्यक्ति

विधि से ऊपर नहीं है, परन्तु यह भी है (जो कि एक भिन्न बात है) कि प्रत्येक व्यक्ति, चाहे उसका पद या उसकी अवस्था कुछ भी हो, राज्य की साधारण विधि के अधीन है और साधारण न्यायालयों के क्षेत्राधिकार के अन्तर्गत है।" यह वास्तव में ऐसा अधिकार नहीं है जो सामान्य रूप में समस्त आधुनिक संविधानी राज्यों के नागरिकों को प्राप्त हो, जैसा कि हम इस तथा अगले खंड में बताएंगे। हमने इस *अधिकार का लाभ उठाने वाले राज्यों तथा शेष राज्यों में पहली प्रकार के राज्यों* को 'देश विधि राज्य' और दूसरे प्रकार के राज्यों को 'विशेषाधिकारयुक्त राज्य' कहकर भेद किया है। इन दोनों प्रकार के राज्यों के परीक्षण में हम ब्रिटेन को प्रथम प्रकार के और फ्रांस को द्वितीय प्रकार के उदाहरण के रूप में लेते हैं।

विधि का शासन ब्रिटिश संविधान के मूल में स्थित है, इस कारण नहीं कि संविधान द्वारा इसकी गारंटी दी गई है (जैसे कि प्राय: अधिकार दस्तावेजों में सुनिश्चित किए जाते हैं), बल्कि इस कारण कि संविधान का क्रमिक विकास इसकी *अविरल मान्यता के आधार पर हुआ है। जैसा कि डायसी का कथन है,* "वे नियम जो कि अन्य राज्यों में स्वाभाविकतः सांविधानिक संहिताओं के अंग होते हैं, अंग्रेजी भाषाभाषी राज्यों में व्यक्तियों के न्यायालयों द्वारा परिभाषित और प्रवर्तित अधिकारों के स्रोत न होकर उनके परिणाम होते हैं।" अतः, विधि का शासन न्यायपालिका को कार्यपालिका की ओर से केवल हस्तक्षेप से ही स्वतंत्र नहीं रखता बल्कि उसके व्यक्तिगत सदस्यों के सम्बन्ध में उसे निश्चित वरिष्ठता प्रदान करता है, क्योंकि "प्रधानमंत्री से लेकर पुलिस के सिपाही तक अथवा करों के संग्राहक (कलेक्टर) तक प्रत्येक अधिकारी वैध औचित्य के बिना किए गए प्रत्येक कार्य के लिए उसी भांति उत्तरदायी हैं जैसे कि कोई भी अन्य *नागरिक।" इंगलैंड में कर्मचारीगण न्यायालय के सामने लाये* जा सकते हैं और उन्हें अपनी वैध हैसियत में, परन्तु वैध सत्ता की सीमा से बाहर, किए गए कार्यों के लिए दंड दिया जा सकता है अथवा उनसे हरजाना लिया जा सकता है। यह बात अत्यन्त प्राचीन काल से अंग्रेजों के अधिकारों में उपलक्षित थी। महाधिकार-पत्र (मेग्नाकार्टा) (सन् 1215) में यह बात मोटे तौर से मौजूद है; अधिकार-याचिका (पिटीशन ऑफ राइट्स) (सन् 1628) में और बन्दी प्रत्यक्षीकरण अधिनियम (हेबियस कॉर्पस एक्ट) (सन् 1679) में यह बात और भी *अधिक स्पष्ट है। इसको बारबार प्रतिपादित करने का कारण यह था* कि पूर्वकाल में राजा ने हमेशा देश विधि के प्रतिकूल—अर्थात् न्यायाधीशों के *निर्णयों के विपरीत—एक कार्यकारी विशेषाधिकार* को हस्तगत करने अथवा न्यायाधीशों के कार्यकाल को अपनी इच्छा पर अवलम्बित करने का प्रयत्न किया था। ट्यूडर काल में यह विशेषाधिकार, जिसका कि राजा समय-समय पर दावा करता रहा, राजा के हाथों में रहने दिया गया, परन्तु स्टुअर्ट राजाओं के

उसके दुरुपयोगों के विरोध में ससद अपने परम्परागत अधिकारों की रक्षा में आवाज बुलन्द करने लगी। तृतीय जॉर्ज ने राजा के विशेषाधिकारों को पुनः प्राप्त करने के लिए अन्तिम प्रयत्न किए, परन्तु फिर भी विधि के शासन की स्थापना असदिग्ध रूप से हो गई जब कि सन् 1763 में जॉन विल्स ने, जिसने कि अपने पत्र 'दि नॉर्थ ब्रिटेन' में राजा के भाषण की आलोचना की थी, सामान्य वारण्ट पर अपने दोषपूर्ण बन्दीकरण के कारण गृहमत्री से हरजाने के रूप में 1,000 पौंड प्राप्त किए। इस मामले मे, एक सामान्य नागरिक को सरकारी कर्मचारी की ओर से किए गए मनमाने कार्य के खिलाफ रक्षण ही प्राप्त नही हुआ बल्कि उस सरकारी कर्मचारी ने साधारण विधि की प्रक्रियाओं के विरुद्ध अपने को पूर्णरूपेण अरक्षित पाया, भले ही वह विशुद्ध रूप से अपनी शासकीय हैसियत में या राज्य के हित में कार्य करता हुआ समझा गया हो।

अतएव, उन राज्यो मे, जिनमे विधि का शासन है, ऐसे मामलो मे जो देश विधि, ससद द्वारा निर्मित विधि और (अनम्य सविधानों के अधीन जो इसे एक विभिन्न शाखा बना देते है) सांविधानिक विधि के अधीन पैदा हों, वैयक्तिक अधिकारों के अन्तिम सरक्षक न्यायाधीश ही होते है। कोई भी ऐसी बात, जिसे स्वय कार्यपालिका कर सकती है, राजकीय कर्मचारियों द्वारा विधि के उल्लघन के प्रति न्यायालयो के रुख को प्रभावित नही कर सकती। यह सत्य है कि किसी भी क्षण कतिपय अधिकार, जो तब विद्यमान हों, ससद के अधिनियम द्वारा निराकृत हो सकते है (ऐसा अधिनियम कार्यपालिका की प्रेरणा से ही पारित हो सकता है और सम्भवतया होता है), और तब इस प्रकार निर्मित विधि का प्रवर्तन करना न्यायाधीशों का कर्त्तव्य होगा। यह भी हो सकता है कि ऐसी विधि कतिपय मामलो में कार्यपालिका के कार्यों पर नियत्रण रखने की शक्ति से न्यायाधीशों को वचित कर दे। परन्तु असली बात यह है कि ऐसी विधि के पारित होने के पश्चात् ही, और तब भी केवल विधि में बताए गए कार्यों के विशिष्ट वर्ग के सम्बन्ध में ही, न्यायपालिका की स्वतत्रता कम हो सकती है। विधि के शासन के ऐसे रूपान्तरों के विषय में हम इस अध्याय के अन्तिम खड में विचार करेंगे।

जैसा कि हम प्रकट कर चुके है, विधि का शासन अकेले ब्रिटेन मे ही नही बल्कि स्व-शासी डोमिनियनो और सयुक्तराज्य के अतिरिक्त बेलजियम मे तथा कम-से-कम कागजी रूप में तो लैटिन-अमरीका के अधिकाश राज्यों में भी विद्यमान है। इन समस्त राज्यो में विधि का शासन सविधान के अन्तर्गत है, यद्यपि उन सबके बीच मे महान्तम अन्तर है क्योंकि उनमें से कुछ एकात्मक और कुछ सघीय राज्य है, उनमे सबसे अनम्य सविधान नही हैं और उनमे से कुछ में ससदीय और शेष में असंसदीय कार्यपालिकाएं है। आग्ल-सेक्सन राज्यों मे विधि का शासन इस कारण है कि उनका मूल स्रोत एक ही अर्थात् इगलैंड है। बेलजियम में इसका

विद्यमान होना इस सम्बन्ध मे योरोप के महाद्वीप मे अनुपम बात है,और इसका कारण यह है कि उसकी स्वतन्त्र सत्ता की, जो कि अंतिम रूप मे सन् 1839 मे प्राप्त की गई थी, स्थापना के संकटमय काल मे उस पर इंगलैंड का बड़ा प्रभाव रहा। लैटिन-अमरीकी राज्यो मे इसके अस्तित्व का कारण यह है कि इन राज्यो ने उन लैटिन राज्यों की, जिनसे उनका उद्गम हुआ, परम्पराओं को जीवित रखने की अपेक्षा संयुक्तराज्य का अनुकरण किया। समस्त अन्य राज्यो मे विधि के शासन के अस्तित्व का कारण स्पष्ट है। भूमंडल के विभिन्न भागो मे बसने के लिए जाने वाले मूल अंग्रेज अपने साथ आंग्ल देश विधि की परम्परा को भी ले गए, और यह तथ्य उनके संविधानो के प्रख्यापित होने से बहुत पहले से ही उनके सामाजिक जीवन का एक अंश था। इस भाँति जहाँ महाद्वीपीय राज्यों ने, जो इस विधि के शासन के विषय मे कुछ भी नही जानते थे, अपने संविधानो के द्वारा व्यक्ति के अधिकारों को प्राप्त किया वहाँ इन मूल आंग्ल डामिनियनो को अपने इन अधिकारो के संरक्षण की कोई आवश्यकता प्रतीत नही हुई। इस प्रकार इन बाद मे उल्लिखित राज्यो मे से प्रत्येक मे संविधान ने विधि के शासन को प्रभावित नही किया, और यदि किया तो उसे और भी अधिक सशक्त कर दिया है, जैसा कि, उदाहरण के रूप मे, संयुक्तराज्य मे हुआ जहाँ संविधान मे निश्चयपूर्वक उल्लेख किया गया है कि संविधान के अधीन उत्पन्न होने वाले विधि सम्बन्धी तथा न्याय (Equity) सम्बन्धी सभी मामलो मे न्यायिक शक्ति लागू होगी।

अब हम यह परीक्षण करेंगे कि उन राज्यो मे जहाँ विधि का शासन लागू नही होता—अर्थात् जिन्हें हमने विशेषाधिकारयुक्त राज्य कहा है—एक विशेष प्रकार की विधि राज्य के कर्मचारियो की उनके शासकीय कर्तव्यो के निष्पादन मे किस भाँति रक्षा करती है।

4 प्रशासनिक विधि

अंग्रेजी भाषा मे प्रशासनिक विधि (एडमिनिस्ट्रेटिव लॉ) पद का प्रयोग फ्रांसीसी पद *Droit Administratif* के अनुवाद के रूप मे होता है। असल मे, इस फ्रांसीसी पद का अंग्रेजी मे यथार्थ अनुवाद नही हो सकता है। जैसा कि डायसी ने कहा है, अंग्रेजी मे इसके सच्चे पर्याय के अभाव का कारण स्वयं इस वस्तु को न मानना ही है। इस विषय मे फ्रांसीसी अधिकारियो की भाषा ऐसे तथ्य का वर्णन करती है जिससे एक अंग्रेज बिलकुल ही अनजान है। एक अधिकारी के अनुसार प्रशासनिक विधि नियमो का वह समूह है जो सामान्य नागरिक के प्रति प्रशासकीय प्राधिकारी के सम्बन्धो को विनियमित करता है और राजकीय पदाधिकारियों की स्थिति को तथा राज्य के प्रतिनिधियो के रूप मे इन कर्मचारियो के साथ व्यवहार मे सामान्य नागरिको के अधिकारो तथा दायित्वों को और उस

प्रक्रिया को जिसके द्वारा ये अधिकार और दायित्व कार्यान्वित किए जाते हैं, निर्धारित करता है। संक्षेप मे हम कह सकते हैं कि फ्रास मे सार्वजनिक (Public) तथा वैयक्तिक (*Private*) विधि मे अन्तर है और न्यायपालिका पर विधि के इस विभाजन का प्रभाव यह हुआ है कि सामान्य न्यायालय शासन के कार्यपालिका सम्बन्धी (या प्रशासकीय) विभाग के कार्यों से उत्पन्न मामलो मे कार्यवाही करने के लिए सक्षम नही है, चाहे वे मामले राजकीय कर्मचारियो के अधिकारो और दायित्वो के बारे मे हो या ऐसे कर्मचारियों के साथ, सम्बन्धो के प्रसग मे नागरिक के अधिकारो या दायित्वो के बारे मे हो।

इस प्रणाली का प्रभाव "प्रशासन को स्वय अपने आचरण का स्वच्छद निर्णायक' बनाना है। यह प्रणाली फ्रासीसी इतिहास मे निहित है। अठारहवी शताब्दी मे राजकीय प्रशासन और न्यायालयो के बीच बार-बार ऐसे विवाद उठते रहे कि क्राति के समय तक तो अच्छे शासन की हानि पहुचानेवाले न्यायालयो के हस्तक्षेप को शका की दृष्टि से देखा जाने लगा, और शक्तियो के पृथक्करण के सिद्धान्त के प्रभाव मे क्रातिकाल के विभिन्न सविधानो ने कार्यपालिका और न्यायपालिका के कृत्यो को बिलकुल पृथक् कर दिया तथा न्यायालयो को ऐसा कोई भी कार्य करने का निषेध कर दिया जो कि कार्यपालिका के क्षेत्र मे हस्तक्षेप करता था। नेपोलियन ने इस अन्तर को कायम रखा और कुछ परिवर्तन के साथ वह आज भी विद्यमान है।

इस भाति फ्रांस मे न्यायालय के दो विभिन्न रूप उत्पन्न हो गए न्यायिक न्यायालय और प्रशासनिक न्यायालय। पहले प्रकार के न्यायालय के सामने अपराधिक मामले तथा वैयक्तिक विधि के मामले अर्थात् नागरिको के बीच के मामले आते थे। दूसरे प्रकार के न्यायालय के सामने सार्वजनिक विधि के मामले अर्थात् शासन और उसके कर्मचारियो के बीच या सामान्य नागरिक और सरकारी कर्मचारियो के बीच के मामले आते थे। इससे प्रकट होता है कि सामान्य नागरिक को राजकीय कर्मचारी के मुकाबले मे सरक्षण प्राप्त नही था। किन्तु फ्रास की इस प्रारभिक स्थिति मे कुछ परिवर्तन हो गए हैं, और इस विषय पर लॉवेल के इस कथन को कि "सरकार सर्वदा स्वतत्र है और यदि वह चाहे तो साधारण न्यायालयो के किसी प्रकार के डर के बिना विधि का अतिक्रमण कर सकती है" पूर्णरूपेण स्वीकार नही किया जा सकता। सन् 1872 मे फ्रास मे एक स्वतत्र विवाद न्यायालय (Conflict Court) स्थापित किया गया, जो सदेहास्पद मामलो मे यह तय करता था कि कोई मामला न्यायिक विभाग के क्षेत्राधिकार के अन्तर्गत है या प्रशासनिक विभाग के, ताकि न तो न्यायिक न्यायालय स्वय अपनी सत्ता से प्रशासन का अतिक्रमण कर सके और न प्रशासनिक न्यायालय ही प्रशास-न्यायिक न्यायालय पर हावी हो सके। निष्पक्षता सुनिश्चित करने के लिए विवाद

न्यायालय मे नौ सदस्य रखे गए, जिनमे से तीन का चुनाव उच्चतम न्यायिक न्यायालय (Court of Cassation) द्वारा, तीन का उच्चतम प्रशासकीय न्यायालय (Council of State) द्वारा होता था, और ये छह मिलकर अन्य दो को चुनते थे, और *नवा सदस्य स्वय न्यायमत्री होता था (जो कि मत्रिमडल का सदस्य था)* और जो अध्यक्ष के रूप मे कार्य करता था। ये आठ सदस्य तीन साल तक अपने पद पर रहते थे, परन्तु पुन चुने जाने के योग्य थे और साधारणतया दुबारा चुन भी लिये जाते थे। न्यायमत्री की अवधि, नि सदेह, उस मत्रिमडल की ही अवधि होती थी जिसमे वह मत्री होता था।

प्रशासनिक विधि की यह प्रणाली, जैसा कि हम कह चुके है, योरोप महाद्वीप के अधिकाश राज्यो मे अगीकृत की जा चुकी है और उनकी न्यायपालिकाए इस सम्बन्ध मे न्यूनाधिक रूप मे फ्रासीसी नमूने के ही सदृश हैं। उदाहरण के लिए जर्मनी मे उन पृथक् राज्यो मे से प्रत्येक मे जिन्होने मिलकर साम्राज्य का निर्माण किया था, सरकारी सेवको की रक्षा के लिए प्रशासकीय विधि पहले से ही मौजूद थी और सन् 1871 के साम्राज्यिक सविधान के अधीन तत्कालीन उच्चसदन को ही साम्राज्य की मुख्य प्रशासकीय परिषद् बनाया गया था। वेमर गणतन्त्र के सविधान के अधीन भी प्रशासनिक और न्यायिक न्यायालयो के बीच का अन्तर कायम रखा गया। सघीय गणराज्य की मूल विधि (1956 मे सशोधित) मे भी यह अन्तर कायम रखा गया है। उसके अनुच्छेद 96(3) मे कहा गया है कि 'सघ सघीय नागरिक सेवको एव सघीय न्यायाधीशों के विरुद्ध अनुशासनिक कारवाई के लिये अनुशासनिक न्यायालय स्थापित कर सकता है।" स्विट्जरलैंड मे भी यह अन्तर किया गया है, परन्तु वहा न्यायपालिका, विधानमडल और कार्यपालिका के, पूर्णतया अधीनस्थ है और प्रशासकीय क्षेत्राधिकार सघीय परिषद् (कार्यपालिका) के ही हाथ मे हैं जिसके विरुद्ध अपील सघीय सभा (विधानमडल) के समक्ष होती है। इटली मे भी प्रशासकीय और न्यायिक न्यायालयो मे परम्परागत रूप मे भेद किया गया है, परन्तु वहा यह भेद ऐसा तीव्र नही है जैसा फ्रास मे है।

5 दोनों प्रणालियों के अधीन न्यायपालिकाओं की तुलना

यदि हम इन दोनो कानूनी प्रणालियो का, जैसा कि वे थी और जैसी आज हैं, सूक्ष्म परीक्षण करें तो हम उनकी ऊपरी विभिन्नताओ के साथ ही उनकी कुछ मौलिक समानताओ से उतने ही प्रभावित होते है। समय के प्रवाह और सावैधानिक नियत्रणो की प्रगति के कारण महाद्वीपीय राज्यो के प्रशासनिक न्यायालय, विशेषकर फ्रास मे, अपनी पूर्व की निरकुशता का अधिकाश खो चुके हैं। उदाहरणार्थ, नेपोलियन के अधीन प्रशासकीय मामलो मे निर्णय करने के लिए राज्य-परिषद्

की शक्तियां लगभग निरंकुश-सी ही थी, और सन् 1830 और 1848 की लोकतंत्रीय दिशा में क्रांतियों के होते हुए भी कार्यपालिका की विधि की साधारण प्रक्रियाओं से प्राप्त उन्मुक्ति लगभग अछूती ही रही। परन्तु, द्वितीय साम्राज्य (सन् 1852-71) के पतन के पश्चात् और तृतीय गणतंत्र के अस्तित्व के दौरान में बहुत-कुछ परिवर्तन हुआ। जैसा कि हम बता चुके हैं, विवाद न्यायालय में साधारण न्यायपालिका और प्रशासनिक न्यायपालिका का समान रूप में प्रतिनिधित्व था, हालांकि इस बात से कि उसका अध्यक्ष तत्कालीन शासन का एक सदस्य होता था कार्यपालिका के हितों की रक्षा सुनिश्चित हो गई।

आंग्ल प्रणाली को भी ऐतिहासिक दृष्टि से देखने पर हमें पता चलता है कि सोलहवीं और सत्रहवीं शताब्दियों में प्रचलित विचार ऐसे नहीं थे जो कि विधि की प्रशासनिक प्रणाली से मिलती-जुलती प्रणाली की स्थापना के बिलकुल ही विरुद्ध हों। ट्यूडर और स्टुअर्ट शासकों को उन व्यक्तियों का समर्थन प्राप्त था जो यह प्रतिपादित करने को तैयार थे कि प्रशासन को विवेक की शक्ति प्राप्त है जिस पर किसी भी न्यायालय का नियंत्रण नहीं हो सकता। उदाहरणस्वरूप, स्टार चेम्बर, कौंसिल ऑफ दि नॉर्थ, कोर्ट ऑफ हाई कमीशन जैसे न्यायालय समस्त आशयों और प्रयोजनों के लिए प्रशासनिक न्यायालय ही थे, जो पूर्णतया कार्यपालिका के हाथों में थे और उन दिनों कार्यपालिका वास्तव में राजा ही था। सर फ्रांसिस बेकन जैसे विधिविशेषज्ञ, यदि उन्हें अपनी नीति का अनुसरण करने दिया जाता तो, साधारण विधि से भिन्न प्रशासनिक विधि की इंगलैंड में स्थापना करने में सफल हो जाते। परन्तु उनका उद्देश्य गृहयुद्ध में स्टुअर्टों की पराजय से और विधि के समक्ष समता के सिद्धान्त के प्रति परम्परागत निष्ठा की विजय के फलस्वरूप, जिसकी पुष्टि सन् 1688 की क्रांति से उत्पन्न सांविधिक व्यवस्थाओं द्वारा हुई, असफल हो गया।

हम यह पहले बता चुके हैं कि राष्ट्रीय बीमा जैसी नई सामाजिक सेवाओं को स्थापित करने वाले समष्टिवादी विधान की प्रगति से ब्रिटेन में शासन की कार्यपालिका शाखा को नई शक्ति प्राप्त हो रही है। आधुनिक लोकतंत्र में ऐसा होना अनिवार्य ही है। ब्रिटेन और संयुक्तराज्य जैसे महान् औद्योगिक समाजों के विधानमंडल, जिनके ऊपर सामाजिक विधिनिर्माण का उत्तरोत्तर बढ़ता हुआ भार आरोपित है, ऐसी विधियों का निर्माण नहीं कर सकते जिनमें ब्यौरे की सभी बातें आ जाएं और जिनमें उनके प्रवर्तन के दौरान में उत्पन्न होने वाली प्रत्येक सम्भव आकस्मिकता का सामना करने के लिए व्यवस्था हो। इसका परिणाम यह होता है कि "प्रशासकीय संस्थाएं न्यायिक कर्तव्यों को स्वयं ग्रहण करने को ही नहीं बल्कि उन्हें ऐसी रीति से निष्पादित करने को भी विवश होते हैं कि न्यायालय उनके पालन की छानबीन न कर सकें।' उदाहरणस्वरूप, इंगलैंड में यह निश्चय

हो चुका है कि यदि सविधि मे कोई विशिष्ट पद्धति नही दी गई हो तो इसके निष्पादन से सबद्ध सरकारी विभाग, न्यायालयो के हस्तक्षेप के बिना, जिस प्रक्रिया को वह सर्वोत्तम समझे उसे अगीकार कर सकता है। अथवा जहा कोई पद्धति निर्धारित होती है, वहा भी बहुधा उसका परिणाम कार्यपालिका को न्यायिक हस्तक्षेप से वास्तविक स्वतत्रता ही होता है। उदाहरणस्वरूप, राष्ट्रीय बीमा अधिनियम, सन् 1911 ने (यह इसी प्रकार की अनेक विधियो की श्रृखला मे प्रथम था जिन्होने अत मे सन् 1948 मे प्रभावी होने वाले व्यापक अधिनियम का रूप धारण किया), सरकार द्वारा नियुक्त ऐसे बीमा आयुक्तो के एक निकाय की स्थापना की, जिसे *विनियमो के बनाने की शक्ति तथा न्यायिक सत्ता प्राप्त थी।* इस *अधिनियम* के अधीन किसी भी विवादग्रस्त दावे का निर्णय आयुक्तो द्वारा होता था, जिसकी अपील निर्देशियो (Reperces) के न्यायालय के तथा अन्तिम अपील एक पच (Umpire) के समक्ष होती थी। इस भाति साधारण न्यायालयो का अपवर्जन कर दिया गया था और कोई भी आयुक्त या निर्देशी या पच न्यायाधीश नही होता था। इसी प्रकार सयुक्तराज्य मे उच्चतम न्यायालय द्वारा यह निर्णय किया जा चुका है कि "समस्त आप्रवासन-सम्बन्धी मामलो मे श्रम सचिव (सेक्रेटरी ऑफ लेबर) के *निर्णय अतिम होगे।*"

इस प्रकार का विधान विशिष्ट प्रशासकीय ज्ञान की अपेक्षा करता है और सामान्य न्यायाधीश ऐसे ज्ञान का दावा नही कर सकते, अत उपर्युक्त परिस्थितिया अनिवार्य हैं। इसके अतिरिक्त, प्रशासन द्वारा सम्पादित राज्य के कर्तव्यो के विस्तार के कारण उस विभाग को ऐसी शक्तिया प्रदान करना आवश्यक हो जाता है जिनसे नाना प्रकार के दावो को निपटाने और निर्णय देने मे शीघ्रता की जा सके। विधि के शासन की दुर्बलता, उसकी स्थूलता के कारण, सकटकालीन अवस्थाओ मे भी दृष्टिगोचर होती है जैसा कि दो विश्वयुद्धो के दौरान मे हुआ, जब कि ब्रिटेन मे प्रतिरक्षासम्बन्धी विनियमो के अधीन, न्यायपालिका से परे, अनेक नए न्यायालयो की स्थापना की गई। "निरन्तर विस्तारशील कार्यपालिका के अतिक्रामक स्वभाव" की यह अभिव्यक्ति स्पष्ट ही एक खतरा है, और यदि सावधानी से निगरानी नही की जाएगी तो उसने निश्चय ही स्वतन्त्रता के लिये खतरा उपस्थित हो जाएगा। एक महान् अग्रेज न्यायाधीश स्वर्गीय लॉर्ड सेन्की के कथनानुसार "विशेषाधिकारो के कुए से निकलकर मत्रियो के विनियमो की *खन्दक मे पडना वास्तव मे विचित्र बात होगी।*"

इसके विपरीत, उन राज्यो मे जहा प्रशासनिक और न्यायिक विधि के दोनो विभागो के बीच के अन्तर को स्वीकार किया जाता है, वहा केवल राजकीय पदाधिकारी के लिए ही रक्षण की व्यवस्था नही है बल्कि साधारण नागरिक के लिए भी है, और वह यह भी जानता है कि राजकीय पदाधिकारी के मुकाबले मे उसकी

स्थिति क्या है। कम-से-कम द्वितीय विश्वयुद्ध के प्रारंभ होने तक फ्रांस मे प्रशासनिक न्यायालय मे न्याय प्राप्त करना सस्ता था और वह शीघ्र प्राप्त भी हो जाता था, प्रक्रिया भी सरल थी और ऐसे मामलो मे फ्रांसीसी उसी भांति इसे पसन्द करते थे जैसे कि कोई सैनिक, सैनिक न्यायालय की सीधी तथा शीघ्रकारी पद्धतियो को पसन्द करता है, हालांकि इससे वह जूरी द्वारा विचार का सरक्षण खो बैठता है। आधुनिक परिस्थितियो मे प्रशासनिक विधि वाले राज्य के नागरिक को प्राप्त रक्षण की कमी को बढ़ाकर बताना आसान है। किन्तु फ्रांस मे राजकीय पदाधिकारी के 'सेवा के दोष' और 'वैयक्तिक दोष' के बीच जो अत्यन्त स्पष्ट भेद किया जाता है वह नागरिक को अत्यधिक शासकीय जोश के बुरे परिणाम से बचाता है, और इसके साथ ही राजकीय पदाधिकारी के लिए भी राज्य के एक कुशल सेवक के रूप मे कार्य करने मे डरने का अधिक कारण नही रहता।

इस भांति यह स्पष्ट है कि लोक विधि वाले राज्यो मे आधुनिक सामाजिक विधान के विस्तार के कारण विधि के शासन को शिथिल करना ही होगा। विभागों के अध्यक्षो को न्यायिक शक्तिया प्रदान करने से नागरिक को एक प्रकार की प्रशासनिक विधि की हानिया तो सहन करनी पडती है, परन्तु क्षतिपूर्ति के रूप मे इस विधि तथा न्यायिक विधि के बीच के मान्य अन्तर के सामकारी लाभ उसे प्राप्त नही है। अत, ब्रिटेन मे प्रशासनिक प्रवृत्ति के आलोचको द्वारा सुधार के दो मार्ग सुझाए गए हैं। पहला सुझाव यह है कि प्रशासनिक न्यायालयो को, जहा कही भी उनका होना आवश्यक हो, पूर्णरूप से न्यायिक बना देना चाहिए और उन्हें हर प्रकार से कार्यपालिका से स्वतत्र कर देना चाहिए अर्थात् ऐसे प्रयोजनो के लिए इस भाति के विशेष न्यायालयो की स्थापना की जानी चाहिए जिनके न्यायाधीश सम्बन्धित विषय के विशेषज्ञ हो। दूसरा सुझाव यह है कि कुछ मामलों मे प्रशासनिक न्यायालयो या मत्री के निर्णय की न्यायिक न्यायालय के समक्ष अपील की व्यवस्था होनी चाहिए। इस भांति वैयक्तिक स्वाधीनता के लिए उपस्थित खतरे को, जो विधि के शासन की इन आधुनिक परिसीमाओ मे छिपा रहता है, कम किया जा सकता है।

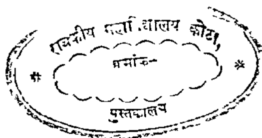
अत, निष्कर्ष यह हुआ कि वैधिक अभिवृत्ति और ऐतिहासिक विकास मे भेद होते हुए भी, सविधानी राज्यो मे आजकल न्यायिक विभाग के माध्यम से नागरिको को प्राप्त अन्तिम अधिकारो के सम्बन्ध मे पहले जैसा अन्तर नही रहा। सभी सविधानी राज्य न्यायाधीश को दलबन्दी की भावना के उतार-चढाव से परे रखकर और अपराध या भ्रष्टाचार की अवस्था मे उसके हटाए जाने को असम्भव बनाए बिना उसकी पदावधि सुरक्षित करते हुए उसकी निष्पक्षता सुनिश्चित कर लेते हैं। लोक विधि पर आधारित विधि प्रणालियो वाले राज्यो मे विधि का शासन कार्यपालिका को अन्य समस्त निकायो की बराबरी मे रखता है तथा उसे

उसके कार्यों के लिए उत्तरदायी बनाता है और कार्यपालिका सम्बन्धी कृत्यो की सफाई मे राज्य के हित की बात स्वीकार नही करता। विशेषाधिकार वाले राज्यो मे, जहा प्रशासनिक विधि होती है, राजकीय कर्मचारी को प्रशासनिक न्यायालय के सामने उत्तरदायी ठहराकर कार्यपालिका को कुछ सीमा तक साधारण न्याय की प्रक्रियाओ से ऊपर स्थान दिया जाता है। परन्तु आधुनिक परिस्थितियो मे समष्टिवादी विधान की आवश्यकताओ के कारण विधि के शासन की प्रणाली को कुछ हानि उठानी पडती है, क्योकि इस तरह के विधान के अन्तर्गत पदाधिकारियो को कुछ ऐसी निरपेक्ष शक्तिया देनी पडती हैं जो व्यवहार मे सरकारी विभाग के अध्यक्षो को विधि के परे कर देती हैं, हालाकि यह बात वही तक लागू होती है जहा तक कि सम्बन्धित विधि उसकी इजाजत देती है। दूसरी ओर, विशेषाधिकार वाले राज्यो मे, यद्यपि एक विशेष प्रक्रिया राजकीय पदाधिकारी का रक्षण करती है परन्तु वह निर्बन्धनो से इतनी जकड दी गई है कि साधारण नागरिक को उसके सम्बन्ध मे जरा भी शिकायत नही रहती है।

सामान्यतया, हम यह कह सकते हैं कि लोक विधि वाले राज्यो मे उन राज्यो की अपेक्षा जहा विधि सहितावद्ध होती है और जहा प्रशासनिक विधि होती है, विधिवाद (Legalism) का अधिक वातावरण रहता है। इसका कारण यह है कि लोक विधि वाले राज्यों मे *न्यायाधीश विधि* का निर्माण कर सकते है, जब कि प्रशासनिक विधि वाले राज्या मे सहिता इस विषय मे न्यायाधीशो पर प्रतिबन्ध लगाती है और प्रशासनिक न्यायालयों मे, जहा न्यायाधीश कार्यपालिका के निर्देशन के अधीन वास्तव मे विधि बनाते हैं, *निर्णय के लिए एक विस्तृत क्षेत्र* छोड देती हैं। इसका परिणाम यह होता है कि विशेपाधिकार वाले राज्यो मे एक प्रकार का न्यायिक विधान होता रहता है जिसे सहिताबद्ध नही किया जा सकता। दूसरे *शब्दो मे हम कह सकते हैं कि न्यायशास्त्र (Jurisprudence) (अर्थात् पूर्वदृष्टात* के आधार पर विधि) सामान्य विधि वाले राज्यो का विशिष्ट लक्षण है और राजनीतिक निर्णयो का (न्यायिक निर्णयो से भिन्न) विशेषाधिकार वाले राज्यो मे *अधिक विस्तृत क्षेत्र* है। *इस प्रश्न का उत्तर देना आसान नहीं है कि न्यायाधीशो* और राजनीतिज्ञो मे कौन लोकतन्त्रीय अधिकारो का अच्छा रक्षक है। जो कुछ हम कह सकते हैं वह इतना ही है कि लोकतन्त्रीय अधिकारो का परिरक्षण *अन्त मे जनता का कार्य है और इन अधिकारो के सरक्षण मे जनता की सहायता के* लिये आधुनिक सविधानी राज्यो मे न्यायाधीशो एव राजनेताओ दोनो की आवश्यकता है।

तृतीय खण्ड

राष्ट्रीयता और अन्तर्राष्ट्रीयता



14

उदीयमान राष्ट्रीयता

1. विषय-प्रवेश

अभी तक हम राज्यो की आन्तरिक सरचना और सगठन पर विचार करते रहे हैं परन्तु अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धो तथा उन्हे जटिल बनानेवाली अवस्थाओ पर कुछ विचार किये बिना साविधानिक राजनीति का कोई भी तुलनात्मक अध्ययन पूरा नही होगा। वास्तव मे जब हम राज्यो के परराष्ट्र-सम्बन्धो पर विचार करते हैं तो हम समसामयिक राजनीतिक सगठन के अत्यन्त महत्वपूर्ण पक्ष की ओर अग्रसर होते हैं। स्पष्ट है कि आधुनिक परिस्थितियो मे किसी भी राष्ट्र के लिये दूसरे राष्ट्रो से सम्बन्ध स्थापित किये बिना अपने कल्याण के लिये प्रयत्न करना व्यर्थ है। क्योकि इतना ही नही है कि राज्य आजकल आर्थिक दृष्टि से अन्योन्याश्रित है, किसी भी समय उनके बीच सघर्ष छिड जाने पर उनकी समस्त आन्तरिक राजनीतिक व्यवस्था खटाई मे पड सकती है।

इसलिये प्रत्येक राष्ट्र का भावी कल्याण अन्त मे अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धो की समस्या के समाधान पर निर्भर है। अत परराष्ट्र-सम्बन्ध के क्षेत्र मे राज्यो के आचरण का विनियमन करने के वास्तविक या सभाव्य तरीको का अध्ययन उनके आन्तरिक राजनीतिक सविधानो के अध्ययन का स्वाभाविक परिणाम है।

बीसवी शताब्दी की वैज्ञानिक एव औद्योगिक (Technological) क्रान्ति निरन्तर दूरियाँ कम करती जा रही है और विश्व के देशो को एक दूसरे के उत्तरोत्तर घनिष्ठ सम्पर्क मे लाती जा रही है। परन्तु इस घनिष्ठ सम्पर्क से आवश्यक रूप मे अन्तर्राष्ट्रीय सामजस्य उत्पन्न नही होता। वास्तव मे, इस युग की तकनीकी प्रगति ने ऐसी स्थिति उत्पन्न करदी है कि किसी दूरस्थ स्थान मे होनेवाली कोई स्थानीय गडबड तुरन्त विश्वभर मे तनाव पैदा कर सकती है जिससे सभ्य समाज का अस्तित्व ही खतरे मे पड सकता है। सक्षेप मे, विश्व का राजनीतिक सगठन विश्व की तकनीकी प्रगति के साथ-साथ नही चलता और विज्ञान की जो शक्ति एकीकरण करने वाली होनी चाहिये वह ससार के राष्ट्रो की पुरानी राष्ट्रीय सकल्पनाओ के प्रति बनी हुई निष्ठा के कारण निष्फल हो रही है।

इस जटिल स्थिति के लिये दोनो विश्वयुद्ध मुख्यत उत्तरदायी है क्योकि

जहां उनके कारण विज्ञान एव औद्योगिकी की बडी तेजी से प्रगति हुई वहां उन्होंने बडे-बडे साम्राज्य नष्ट कर दिय, अधीन लोगो को मुक्त किया और पहले के साम्राज्यो की राजनीतिक एव आर्थिक अवस्था को निर्बल कर दिया। पुरानी विश्व व्यवस्था के इस विघटन के, विशेष कर द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद, बडे दूर-गामी परिणाम हुए। एक ओर नये स्थापित राज्यो के लोग, जैसे वे परतत्रता से निकलकर स्वतत्रता मे प्रवेश करते है, एक नये प्रकार की राष्ट्रीयता से प्रेरित होते हैं। दूसरी ओर, पश्चिमी योरोपीय राज्य, अपने समुद्रपार के साम्राज्यो को खोकर, आर्थिक सयोग के मार्ग से, ऐसे राजनीतिक सघवाद की ओर बढ रहे है जो राष्ट्रीयता की पुरानी सकल्पना का विरोधी है। ये राष्ट्रीयतावादी एव आर्थिक समस्याएँ उन समस्याओ मे से हैं जिन्हे राष्ट्रो को, यदि उन्हें विश्व-नियत्रण की कोई सतोषजनक योजना खोजनी है, हल करना ही होगा। सयुक्त राष्ट्र के सगठन का अध्ययन करने के पहले इन समस्याओ पर गहराई से ध्यान देना लाभ-कारी होगा क्योकि सयुक्त राष्ट्र पर इनका बडा प्रभाव पड रहा है।

2 मध्य-पूर्व में राष्ट्रीयता

हम देख चुके हैं कि प्रथम विश्वयुद्ध के फलस्वरूप आस्ट्रिया-हगरी का साम्राज्य भग हो गया और योरोप मे अनेक नये राज्य बने। ऑटोमन (तुर्की) साम्राज्य के विनाश का भी मध्यपूर्व पर इसी प्रकार का विघटनकारी प्रभाव पडा, जहाँ नवीन तुर्की और अरब प्रदेशो मे एक प्रबल राष्ट्रवादी भावना उदित हुई। स्मरण रहे कि तुर्की गणराज्य बन गया था और लघु एशिया (Asia Minor) तक ही सीमित रह गया था, केवल इस्ताम्बूल और उसके आसपास का छोटासा प्रदेश ही उसके पास योरोप मे बचा था। अरब प्रदेश, जो पहले ऑटोमन साम्राज्य के अन्तर्गत थे, तुर्की के नियत्रण से मुक्त कर दिय गये और उनके पृथक् अस्तित्व को मान्यता प्राप्त हुई, हालाकि कुछ समय के लिये वे राष्ट्र-सघ के प्रादेशो (Man dates) के अधीन रखे गये। ईराक (मेसोपोटानिया), ट्रान्सजोर्डान (बाद मे इसका नाम जोर्डान रह गया) और पेलेस्टाइन के प्रादेश ब्रिटेन के पास थे और सीरिया एव लेबेनान के फ्रान्स के पास। वर्धमान राष्ट्रीय भावना के कारण प्रदेशप्राप्त राज्यो को उन पर नियत्रण रखने मे कुछ कठिनाई हुई। ब्रिटेन ने अन्त मे 1932 मे ईराक छोड दिया। जोर्डान मे वह अधिक समय तक रहा आया और उसे स्वतत्रता 1946 के पहले नही मिल सकी। फ्रान्स ने सीरिया और लेबेनान की स्वतत्रता 1941 मे स्वीकार करली। हेजाज, जो 1916 तक तुर्की साम्राज्य का एक भाग था, बाद मे नेज्द की जागीर मे शामिल कर दिया गया जिसके फलस्वरूप सऊदी अरब के राज्य का निर्माण हुआ जिसकी प्रभुता 1932 मे मान्य हुई। यमन का सलग्न अरब राज्य भी स्वतत्र हो गया।

ब्रिटिश प्रादेश के अधीन पेलेस्टाइन मे एक विशिष्ट समस्या खडी हो गई क्योकि यहाँ राष्ट्रीयता ने बडा प्रचण्ड रूप धारण किया। सन् 1917-18 मे अरब सेनाओ तथा यहूदी स्वयसेवक-सेना की सहायता से अग्रेजो ने तुर्कों से पेलेस्टाइन विजय कर लिया था। नवम्बर 1917 मे ब्रिटिश सरकार ने बालफोर-घोषणा निकाली थी जिसके द्वारा पेलेस्टाइन मे यहूदी राष्ट्रभूमि की स्थापना के लिये सुविधा देने का वचन दिया गया था। इस प्रदेश मे अरबो की सख्या यहूदियो से बहुत अधिक थी। अत इस निर्णय को कार्यान्वित करने से दोनो लोगो मे बडा लम्बा उत्तेजनापूर्ण युद्ध छिड गया। द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद स्थिति और भी बिगड गई जब कि असख्य विस्थापित यहूदियो ने पेलेस्टाइन मे शरण मागी। प्रादेश के अधीन पच्चीस वर्ष तक ब्रिटेन ने शान्ति रखने का प्रयत्न किया और स्वशासन की नीव डाली। किन्तु 1948 मे ब्रिटेन ने प्रादेश को त्यागने का निश्चय किया और वह पेलेस्टाइन छोड गया। इस पर यहूदियो ने, जिन्हें ससार भर के यहूदी (Zionist) सगठनो की सहायता प्राप्त थी और जो अरबो की अपेक्षा अधिक प्रगतिवान एव सुसज्जित थे, तुरन्त ही तेल अवीव मे इजरेल के स्वतत्र राज्य की घोषणा कर दी। अब अरब लोगो ने, जिन्होंने 1945 मे अरब लीग की स्थापना कर ली थी, मिलकर इजरेल पर एक विशाल आक्रमण किया। लडाई जनवरी 1949 तक चलती रही जब सयुक्त राष्ट्र के सरक्षण मे युद्धविराम सन्धि पर हस्ताक्षर हुए और कई समझौते किये गये।

युद्ध विराम के समय जेरुसलेम के 'प्राचीन नगर' समेत पेलेस्टाइन की पूर्वी पट्टी जोर्डान के अरब राज्य की सेनाओ के अधिकार मे बनी हुई थी और दक्षिण-पश्चिम मे मिस्र की सेनाएँ गाज़ा की पट्टी पर अधिकार किये हुए थी। इस प्रकार इजरेल के गणराज्य के हाथो मे अधिकाश पेलेस्टाइन, जिसका क्षेत्रफल 8 000 वर्गमील के लगभग था, रहा। अब गणराज्य का विधिवत गठन हुआ जिसके लिये एक निर्वाचित राष्ट्रपति और एक निर्वाचित विधानसभा के प्रति उत्तरदायी प्रधानमत्री की व्यवस्था की गई। बाद मे (1960 मे) राजधानी तेल अवीव से हटा कर जेरुसलेम के 'नये नगर' मे स्थापित की गई। सन् 1950 मे विधान-सभा ने एक विधि पारित की जिसके द्वारा यह घोषणा की गई कि 'प्रत्येक यहूदी को जो इजरेल में बसना चाहता है आप्रवासी-वीसा (Visa) प्रदान किया जायगा।' इसका परिणाम यह हुआ कि कोई चालीस विभिन्न देशो से हजारो यहूदी आप्रवासियो की बाढ आगई और 1960 तक इजरेल की जनसख्या बीस लाख से भी अधिक हो गई जिसमे 90 प्रतिशत यहूदी थे। अत इसमे कोई आश्चर्य की बात नही है कि युद्ध विराम व्यवस्था के होते हुए भी इजरेल के प्रति अरबो की शत्रुता मे कोई कमी नही आई और सयुक्त राष्ट्र के निरन्तर प्रयत्नो के बावजूद, 1962

के अन्त तक यहूदी इजरेल और उसके अरब पडौसियो के बीच कोई स्थायी सन्धियो पर हस्ताक्षर नही हो सके।

मिस्र (Egypt) भी किसी समय प्राचीन ऑटोमन साम्राज्य का एक अग था और पूर्व की ओर स्थित अरब प्रदेशो के समान दोनो विश्वयुद्धो के फलस्वरूप उसने क्रमागत रूप मे स्वतत्रता प्राप्त की। परन्तु मिस्र में इन घटनाओ की पृष्ठभूमि उसके पूर्वी पडौसियो की पृष्ठभूमि से भिन्न थी। सन् 1882 मे ब्रिटेन ने मिस्र पर अधिकार कर लिया था और वहाँ अनौपचारिक रूप मे सरक्षित राज्य की स्थापना करदी थी, हालाकि तुर्की का अधिराजत्व मान्य बना रहा। सन् 1883 मे ब्रिटेन ने वहाँ एक प्रतिनिधिक सभा स्थापित की जिसकी शक्तियो मे 1913 मे काफी वृद्धि की गई। किन्तु 1914 मे प्रथम विश्वयुद्ध के छिड़ने के कुछ ही समय बाद ब्रिटेन ने औपचारिक रूप मे सरक्षित राज्य की घोषणा की, तुर्की के अधिराजत्व को समाप्त कर दिया और प्रतिनिधि सभा को निलम्बित कर दिया। प्रथम विश्वयुद्ध के बाद मिस्री राष्ट्रीयतावादी लोग (वफद Wafd) अधिकाधिक उग्र होने लगे। सन् 1922 मे ब्रिटेन का सरक्षण समाप्त हुआ, एक सविधानी राजतत्र की स्थापना हुई और खेदिव (सुल्तान) फुआद (Fuad) बादशाह घोषित किया गया। नये सविधान के अधीन बादशाह को एक द्विसदनी ससद् के प्रति उत्तरदायी प्रधानमत्री के द्वारा कार्य करना था। ससद् का उच्च सदन आंशिक रूप मे नामनिर्देशित और आशिक रूप मे निर्वाचित सीनेट था और अवर सदन निर्वाचित प्रतिनिधि-सदन (Chamber of Deputies)।

सन 1936 की एग्लो इजिप्टियन सधि के द्वारा ब्रिटिश अधिकार का अन्त हो गया, केवल सूडान और स्वेज नहर के लिये कुछ सैनिक सुरक्षण बने रहे। कुछ ही दिनो मे द्वितीय विश्वयुद्ध छिड जाने पर मिस्र एक महत्वपूर्ण सामरिक केन्द्र बन गया और ब्रिटिश सेनाएँ वापस लौट आई। युद्ध के बाद अंग्रेजो के विरुद्ध, जिनकी सेनाएँ सूडान और नहर के अचल मे बनी हुई थी और राजतत्र के विरुद्ध राष्ट्रीय भावना भडक उठी। सन् 1952 53 मे एक सैनिक राज्यविप्लव (Military Coup d'etat) ने राजतत्र का अन्त कर गणराज्य की स्थापना की। सन् 1953 मे सूडान के विषय मे समझौता हो गया (जिसे अपने राजनीतिक भविष्य का स्वय निर्णय करना था और जो 1956 मे एक स्वतत्र गणराज्य बन गया)। सन् 1954 मे स्वेज नहर समझौते के द्वारा ब्रिटेन ने बीस महीनो के अन्दर नहर के अचल से समस्त ब्रिटिश सेना हटा लेने का वचन दिया। सन् 1956 मे जब सब ब्रिटिश सेनाएँ हट गईं तो कर्नल नासिर ने, जो एक जनमत सग्रह मे, जिसमे वह अकेला ही उम्मीदवार था, राष्ट्रपति चुना गया था, स्वेज नहर का राष्ट्रीयकरण कर लिया और इस प्रकार एक अन्तर्राष्ट्रीय सकट खडा कर दिया जिसमे से वह अरब ससार का स्व-घोषित नेता बनकर सामने आया।

यद्यपि मिस्र यथार्थ में अरब राज्य नहीं है क्योंकि उसकी मिश्र आबादी में अरबों का संख्या की दृष्टि से दूसरा नम्बर है, फिर भी वह अपने आपको अरब राज्य मानता है और यद्यपि वह मध्य-पूर्व की भौगोलिक सीमाओं में नहीं पडता, फिर भी वह इस प्रदेश की जटिल राजनीति में बुरी तरह उलझा हुआ है। वास्तव में दो प्रकार के अरब राष्ट्रीयतावाद आपस में टकरा रहे हैं। एक ओर प्रत्येक पृथक् राज्य का संकुचित राष्ट्रीयतावाद है और दूसरी ओर विशद राष्ट्रीयतावाद है जिसका प्रतिनिधि अरब लीग है। नासिर ने इसी विशद राष्ट्रीयतावाद से लाभ उठाने का प्रयत्न किया है। वह 1958 में सीरिया को मिस्र के साथ मिलाकर संयुक्त अरब गणराज्य का निर्माण करने के लिए राजी करके इस दिशा में अग्रसर हुआ। परन्तु योजना सफल नहीं हुई। सन् 1961 में संघ टूट गया और नासिर की प्रतिष्ठा को बड़ा धक्का लगा। अरब लीग किसी समय राज्यों के शिथिल संयोग से कुछ अधिक बनना चाहता था परन्तु 1953 और 1958 के बीच लिबिया, सूडान, मोरक्को और ट्यूनिशिया और 1962 में एल्जीरिया को शामिल करके अफ्रीका में पश्चिम और दक्षिण की ओर अपना विस्तार कर लेने के कारण वह संभावना बहुत दूर चली गई है। आज साम्यवादी पूर्व और लोकतन्त्रवादी पश्चिम के प्रभावों के बीच उद्विग्न अवस्था में पड़े हुए ये अरब राज्य निस्संदेह संसार में विक्षोभकारी तत्त्व बने हुए हैं और यदि एक प्रभावी अन्तर्राष्ट्रीय सत्ता स्थापित करनी है तो पहले उनकी समस्या से जूझना और से हल करना पड़ेगा।

3 एशिया से परावर्तन

मिस्र और मध्यपूर्व में युद्धोत्तर काल की राजनीतिक घटनाओं से भी अधिक मार्के की वे घटनाएँ हैं जो एशिया के अन्य भागों तथा अफ्रीका में घट रही हैं। वे भी एक नये राष्ट्रीयतावाद से प्रेरित हैं और उनका भी अन्तर्राष्ट्रीय दृष्टिकोण से कम महत्व नहीं है। अफ्रो-एशियाई राष्ट्रीयतावाद की उठती हुई लहर ने उन पराधीन लोगों को वहाँ कर उस स्थिति में पहुँचा दिया जहाँ वे राजनीतिक स्वतन्त्रता की माँग करने लगे क्योंकि अपने आर्थिक साधनों पर अपना ही नियन्त्रण रखने, जीवन के उच्च मान प्राप्त करने तथा अपनी संस्कृति का व्यापक प्रसार करने का उन्हें यही एकमात्र अपरिहार्य अवस्था दिखाई देती थी। स्वतन्त्रता की प्राप्ति पश्चिमी योरोप की साम्राज्यिक शक्तियों की समुद्रपार के प्रदेशों पर अपना नियन्त्रण कायम रखने की असमर्थता के कारण संभव हो सकी। ये शक्तियाँ दोनों विश्वयुद्धों के सम्मिलित परिणामों के कारण निर्बल हो चुकी थी। इसके परिणामस्वरूप एशिया और अफ्रीका से इन शक्तियों का जो परावर्तन हुआ उसके फलस्वरूप ऐसे परिवर्तन हुए जिनको हम निस्संदेह औपनिवेशिक क्रान्ति कह सकते हैं।

इस विप्लव से सम्बन्धित योरोपीय शक्तियाँ ये थी—ब्रिटेन और फ्रान्स, एशिया और अफ्रीका दोनो म, नदरलैंड एशिया मे और बेलिजयम अफ्रीका मे। जर्मनी तो पहले से ही वर्साई की सन्धि द्वारा अपने उपनिवेशो से वचित किया जा चुका था। इटली को द्वितीय विश्वयुद्ध के दौरान अफ्रीका मे अपने उपनिवेशो से वचित होना पडा और पुर्तगाल, द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद भी, समुद्रपार *की विशेषकर अफ्रीका म, प्रजा की स्वतत्रता की माँग का विरोध करता जा रहा है परन्तु यह विरोध अन्त मे निष्फल ही सिद्ध होगा।*

(अ) ब्रिटेन और भारतवर्ष

विश्व शक्ति-सन्तुलन म इस युद्धोत्तर परिवर्तन के स्वरूप और उसकी शक्ति को समझनेवाला पहला साम्राज्य ब्रिटेन था जो स्वाभाविक रूप मे सबसे अधिक फसा हुआ था और ब्रिटेन के तथ्यो का मुकाबला करने के निश्चय से प्रभावित *होनेवाले उसके समुद्रपार के प्रदेशो मे प्रथम भारतवर्ष था। भारत मे अग्रेजो* का प्रारभिक इतिहास ईस्ट इडिया कम्पनी द्वारा राजनीतिक उत्तरदायित्वो के ग्रहण और धीरे-धीरे उनके अगरेजी सरकार के हाथो मे पहुचने की गाथा है। अगरेज सरकार द्वारा सन् 1600 मे प्रदान किए गए आज्ञापत्र (चार्टर) के अधीन विशुद्ध वाणिज्यिक सस्था के रूप मे आरम्भ होकर ईस्ट इडिया कम्पनी को उन बडी बडी राजनीतिक कठिनाइयो का मुकाबला करना पडा जो मुगल साम्राज्य के विघटन तथा फ्रासीसियो के विरुद्ध *प्राधान्य के लिए सघर्ष के सयुक्त प्रभाव से उत्पन्न हुई थी। सप्त वर्षीय युद्ध (सन् 1756-1763) मे फ्रासीसी शक्ति के* नष्ट हो जाने के पश्चात् ब्रिटिश सरकार को हस्तक्षेप करने को बाध्य होना पडा और दो अधिनियम—नॉर्थ का रेग्यूलेटिंग एक्ट (सन् 1773) और पिट का इडिया एक्ट (सन् 1784)—एक के बाद एक शीघ्रता से पास किए गए। इन दोनो अधिनियमो ने भारत के उन भागो के शासन की, जो उन दिनो तक आग्ल प्रभुसत्ता के अधीन आ चुके थे, *व्यवस्था करने का प्रयत्न किया और भारत के गवर्नर-जनरल के पद की स्थापना कम्पनी के सेवक की बजाय राजकीय* पदाधिकारी के रूप मे की। पिट के अधिनियम ने लन्दन म एक बोर्ड आफ कट्रोल की स्थापना की, जो इडिया आफिस का प्रारम्भिक रूप था।

यह अधिनियम सत्तर वर्ष से अधिक काल तक जारी रहा, जब सन् 1857 म भारतीय गदर के कारण इसका निरसन और आगामी वर्ष मे एक नए अधि*नियम का धारण आवश्यक हो गया। उस अधिनियम ने ईस्ट इडिया कम्पनी* को समाप्त कर दिया, रानी विक्टोरिया को भारत की प्रभु उद्घोषित किया (सम्राज्ञी की उपाधि सन् 1877 तक धारण नही की गई थी), भारत के सचिव

(सेक्रेटरी ऑफ स्टेट फॉर इंडिया) का एक पृथक् पद निर्धारित किया और यह भी व्यवस्था की कि लन्दन स्थित इण्डिया ऑफिस के बोर्ड का एक भारतीय व्यक्ति भी सदस्य हो। बाद में एक अतिरिक्त भारतीय व्यक्ति के लिए और व्यवस्था की गई। उक्त अधिनियम की मुख्य बातें ब्रिटिश भारत की सरकार का आधार बनी रहीं, हालांकि उसमें समय-समय पर पारित अनेक विधियों द्वारा संशोधन किए गए जिनका उद्देश्य धीरे-धीरे एक कम निरंकुश शासन का विकास करना था। आगे चलकर ब्रिटिश भारत के गवर्नर-जनरल और विभिन्न प्रांतों के, जिनमें ब्रिटिश भारत विभाजित किया गया था, गवर्नरों को विधिनिर्माण और प्रशासन तक के कार्य में सहायता के लिए भारतीय समाज के उत्तरोत्तर बढ़ते हुए क्षेत्र से व्यक्ति लिए जाने लगे। सन् 1861, 1892, 1909, और प्रथम विश्वयुद्ध के दौरान में, भारतीय परिषद् अधिनियमों (इंडियन कौंसिल्स एक्ट्स) के द्वारा आंशिक रूप की प्रतिनिधि-सभाओं के माध्यम से भारतीयों द्वारा अपने देश के शासन के कार्य में वाइसराय की परिषद् और प्रांतीय गवर्नरों की परिषदों दोनों में ही भाग लेने की प्रथा क्रमिक रूप से विकसित हुई। इन व्यवस्थाओं ने वाइसराय लॉर्ड चेम्सफोर्ड और राज्यसचिव (सेक्रेटरी ऑफ स्टेट) एडविन मॉण्टेग्यू की सलाह से पारित 1919 के भारत शासन अधिनियम (गवर्नमेंट ऑफ इंडिया एक्ट) का रूप धारण किया।

इस अधिनियम की प्रस्तावना में कहा गया था कि ब्रिटेन का उद्देश्य प्रशासन में भारतीयों का उत्तरोत्तर अधिक सहयोग प्राप्त करना तथा साम्राज्य के अभिन्न भाग के रूप में ब्रिटिश भारत में स्व-शासी संस्थाओं का क्रमिक विकास करना और भारत के प्रांतों को भारत सरकार से अधिकाधिक ऐसे स्वतंत्र अधिकार देना है, जिससे उसके उत्तरदायित्वों का सम्यक् निर्वाह भी होता रहे। केन्द्रीय सरकार के लिये इस अधिनियम द्वारा एक उच्च सदन की स्थापना की गई, जो कि राज्य-परिषद् (कौन्सिल ऑफ स्टेट) कहलाया और जिसमें साठ सदस्य थे, जिनमें से कुछ निर्वाचित होते थे और शेष नाम-निर्देशित (इनमें बीस से अधिक सरकारी सदस्य नहीं हो सकते थे)। इसी अधिनियम द्वारा 140 सदस्यों की एक विधानसभा (लेजिस्लेटिव असेंबली) की स्थापना की गई, जिसके सौ सदस्य निर्वाचित होते थे और शेष नाम-निर्देशित (जिनमें से छब्बीस से अधिक सरकारी नहीं हो सकते थे)। परिषद् की अवधि पांच वर्षों की तथा विधानसभा की अवधि तीन वर्षों की थी, परन्तु उनमें से कोई भी अथवा दोनों ही इससे पूर्व ही वाइसराय के द्वारा विघटित की जा सकती थी। पहले तो उनकी शक्तियां कुछ नाम मात्र थीं। कार्यपालिका परिषद्, जो वास्तविक सत्ता थी और जिसके साथ गवर्नर-जनरल कार्य करता था, उनके प्रति उत्तरदायी नहीं थी, परन्तु उसका प्रत्येक सदस्य राज्य-परिषद् अथवा विधानसभा में अनिवार्य रूप से स्थान ग्रहण करता

था। साधारण विधान दोनों सदनों द्वारा होता था जिसमे वित्तसबधी कुछ विषय भी थे। परन्तु वाइसराय किसी भी ऐसे अधिनियम को बना सकता था, जिसके विषय मे वे अपनी अनुमति देने से इनकार करते, और, साथ ही, वह किसी भी ऐसे अधिनियम को जिसे वे बनाते, निषिद्ध कर सकता था।

सन् *1919 के अधिनियम ने वास्तविक स्व-शासन का सूत्रपात उन आठ* मुख्य प्रांतो मे किया, जिनमे से हर एक मे गवर्नर उन विषयों का प्रशासन करता था, जो गवर्नर-जनरल के हाथो मे नही होते थे। इन प्रांतो मे से हर एक मे उत्तरदायी सरकार का वह सिद्धान्त (हालाकि अपूर्ण रूप मे) अपनाया गया जो कि उन डामिनियनो मे चालू था जिनके सविधानो का हम अध्ययन कर चुके हैं। हर एक प्रात मे एक गवर्नर, एक कार्यपालिका परिषद् और एक विधानपरिषद् होती थी। हर एक विधानपरिषद् के सदस्यो के कम-से-कम 70 प्रतिशत निर्वाचित होते थे *(यह सख्या हर एक प्रात मे विभिन्न थी, बगाल मे 125 थी तो असम* मे 53 ही थी), और शेष सदस्य नाम निर्देशित होते थे। परिषद् की अवधि, यदि वह पहले ही विघटित न कर दी जाती, तीन वर्ष की थी। प्रात के विषय दो प्रकारो मे विभक्त थे रक्षित और हस्तातरित। इनमे से प्रथम प्रकार के विषयो का प्रशासन गवर्नर और कार्यपालिका परिषद् के द्वारा होता था, परन्तु दूसरे प्रकार के विषयो का प्रशासन गवर्नर ऐसे मत्रियो के परामर्श से करता था जो विधानपरिषद् के निर्वाचित सदस्यो मे से लिए जाते थे और उसके *प्रति उत्तरदायी होते थे। इस अधिनियम की अवधि दस वर्ष* की थी, उसके उपरान्त उसके कार्यान्वयन का इस दृष्टि से पुनरीक्षण होता था कि उसे प्रगतिशील दिशा मे किस भाति परिवर्तित किया जा सकता है।

इगलैंड के उदार विचारो वाले पुरुषो तथा महिलाओ को सन् 1919 के भारत शासन अधिनियम मे एक ऐसे बीज के अस्तित्व का दर्शन हुआ, जो अन्त मे उत्तरदायी सघीय सरकार के मनोरम पुष्प के रूप मे प्रस्फुटित हो सकता था। यह सत्य है कि गवर्नर-जनरल की शक्तिया बहुत बडी बनी रही, परन्तु तत्कालीन परिस्थितियो मे उसे एक पूर्णतया निर्वाचित विधानमडल के प्रति पूर्ण उत्तरदायित्व की स्थिति मे रखना, जो स्व शासी डॉमिनियनो मे उत्तरदायी सरकार का सार है, खतरनाक होता। परन्तु भारत उन डॉमिनियनो से बहुत भिन्न था और है। यह केवल देश मात्र ही नही बल्कि एक महाद्वीप है, जिसमे उस समय चालीस करोड से अधिक ऐसे लोग रहते हैं जो सामाजिक, धार्मिक तथा राजनीतिक विरोध की दलदल मे फसे हुए हैं। उसकी जनता का विशाल समुदाय अशिक्षित था, तथा उसमे से कुछ अस्पृश्य थे, जो जाति-प्रणाली के अधीन मनुष्य से हीन

समझे जाते रहे हैं।[1] अत उसमे उन आवश्यक तत्वों का अभाव था, जिनसे एक राष्ट्रीय राज्य का निर्माण होता है।

तो भी ब्रिटिश सरकार सन् 1919 के अधिनियम के पारण से दस वर्षों के भीतर स्थिति का पुनरीक्षण करने के अपने वचन को पूरा करने को तत्पर थी, और सन् 1928 में इस पुनरीक्षण की सभावनाओं की जाँच करने के लिए साइमन कमीशन को भारत भेजा गया। उक्त आयोग के प्रतिवेदन और उसके उपरान्त होने वाले विचार विमर्श के फलस्वरूप एक विशाल जन-समूह के स्व शासन के क्षेत्र में एक नए साहसिक प्रयास का समारम्भ हुआ, जो उस समय ससार के इतिहास में अत्यन्त साहसपूर्ण राजनीतिक प्रयोग प्रतीत होता था। भारत और ब्रिटेन में सात वर्षों के विचार विमर्श के पश्चात् सन् 1935 में एक नया भारत शासन अधिनियम पारित हुआ। यह एक घन छपे हुए लगभग 100 पृष्ठों का विशाल दस्तावेज था। एक ओर इस अधिनियम ने एक बिलकुल ही नवीन प्रयोग का सूत्रपात किया, अर्थात अखिलभारतीय सघ का सिद्धान्त। दूसरी ओर, प्रातों के सबध में, इससे उन राजनीतिक अधिकारों और शक्तियों के विकास और विस्तार की व्यवस्था हुई जो सन् 1919 के अधिनियम के अधीन पहले ही प्रदान किए जा चुके तथा प्रयुक्त हो चुके थे। यह अधिनियम, जहा तक कि उसका सम्बन्ध प्रातीय स्वायत्त शासन से था, सन् 1937 के अप्रैल में प्रवर्तनशील हुआ। जिन प्रातों को स्वायत्त शासन प्रदान किया गया था, वे गवर्नर के प्रात कहलाए (ये उस समय ग्यारह थे)। वे दो वर्गों में विभक्त किए गए। एक वर्ग मद्रास, बम्बई, बगाल, सयुक्तप्रान्त, बिहार और असम का था, और दूसरा वर्ग शेष पाच प्रातों का था। उपर्युक्त छह प्रातों में दो सदन थे एक विधानपरिषद् और दूसरी विधानसभा, और शेष में केवल एक विधानसभा थी। इनमें से हर एक में गवर्नर राजा का प्रतिनिधित्व करता था और उसकी सहायता और परामर्श के लिए एक मत्रिपरिषद् थी जो विधानमडल के प्रति उत्तरदायी थी। गवर्नर को अपने ऐसे मत्री चुनने होते थे जिन्हें उसके विचार में विधानमडल का समर्थन मिलने की सभावना हो। उसको उन विषयों के सिवाय, जिनके लिए वह स्वय सीधे उत्तरदायी था, जैसे कि प्रात की सुरक्षा अथवा गवर्नर-जनरल से प्राप्त वे आदेश, जो कि उसके मत्रिगण के विचारों से मेल न खाते हों, समस्त प्रातीय मामलों में मत्रियों का परामर्श लेना होता था।

इस अधिनियम में यह निर्धारित किया गया था कि प्रातीय विधानसभाएं

---

1 सन् 1950 के भारतसघ के सविधान के अधीन अस्पृश्यता को समाप्त किया जा चुका है और उसके निरन्तर व्यवहार को दडनीय कर दिया गया है।

किस भांति संगठित की जाएगी और निर्वाचकगण कौन होंगे। मुख्यतया संपत्ति पर आधारित कतिपय अर्हताओं से युक्त इक्कीस अथवा इससे अधिक वर्षों की आयु के नर और नारियों का मताधिकार प्रदान किया गया था और प्रत्येक प्रांत में निर्वाचन-क्षेत्रों की इस भांति व्यवस्था की गई थी कि विभिन्न प्रजातियों, जातियों और विशेष हितों को प्रतिनिधित्व मिल सके। इस भांति भारत के तीस करोड़ से अधिक देशवासियों को, जिनमें चालीस लाख से अधिक स्त्रियां भी थीं मताधिकार प्रदान किया गया। इस अधिनियम के अधीन प्रथम सामान्य निर्वाचन सन् 1937 में हुआ, और निर्वाचकगणों की विशाल बहुसंख्या अशिक्षित होते हुए भी निर्वाचन से जनता में भारी उत्साह उत्पन्न हुआ और पचास प्रतिशत से भी अधिक मतदाताओं ने मतदान किया। यह एक ऐसा अनुपात था जो योरोपीय राज्यों के कुछ निर्वाचनों के अनुपात से अधिक था।

स्पष्ट है कि यह योजना सन् 1919 के अधिनियम वाली योजना से बहुत दूरगामी थी। यह उस व्यवस्था के बहुत समीप थी जो डॉमिनियनों में प्रयुक्त उत्तरदायी सरकार के नाम से ज्ञात है। यह बात ध्यान देने योग्य है कि जहां सन् 1919 के अधिनियम के अधीन शक्तियां रक्षित तथा हस्तांतरित में विभाजित थीं, और केवल हस्तांतरित शक्तियां ही उत्तरदायी मंत्रियों के अधिकार में थीं, वहां सन् 1935 के अधिनियम में इन शक्तियों का क्षेत्र बहुत बढ़ गया और उनमें उन विषयों के अतिरिक्त जो गवर्नर के विवेक के लिए सुरक्षित थे, सभी अन्य विषय सम्मिलित हो गए। अतएव, यह स्पष्ट है कि डरहम रिपोर्ट[1] के फलस्वरूप सन् 1840 के पश्चात कनाडा में जैसी मंत्रिमंडलीय सरकार विद्यमान थी, वैसी ही मंत्रिमंडलीय सरकार का प्रारम्भिक रूप यहां स्थापित हो गया, जो सहानुभूतिपूर्ण गवर्नरों की सहायता एवं पथ-प्रदर्शन से तथा विधानमंडल के दलों की सीखने और सहयोग करने की तैयारी होने पर धीरे-धीरे पूर्ण उत्तरदायी शासन के रूप में विकसित हो सकता था।

भारतीय संघ का विचार बिलकुल नया था। इस अधिनियम के अधीन अखिल भारतीय संघ में, गवर्नरों के प्रांत, कमिश्नरों के प्रांत (ऊपर उल्लिखित ग्यारह प्रांतों के अतिरिक्त ब्रिटिश भारत के अन्य भाग) और इसमें सम्मिलित होने में सहमत देशी रियासतें होनी थीं। इस संघ का जन्म राजकीय उद्घोषणा द्वारा सूचित किए जाने वाले दिन होना था और इरादा समस्त देशी राज्यों की संपूर्ण प्रजा के आधे से अन्यून का प्रतिनिधित्व करने वाले राज्यों के शासकों के, जो संघीय विधानमंडल में आधे से अन्यून स्थानों के अधिकारी होते, इसमें सम्मिलित होने के लिए राजी होते ही इस संघीय योजना का समारंभ कर देने का था।

---

1 पूर्व के पृष्ठ 239 240 देखिए।

इस अधिनियम के अधीन सघ-सरकार मे गवर्नर-जनरल और दो भवनो, अर्थात् राज्य-परिषद् और विधानसभा, वाला विधानमडल होना था। उच्च सदन मे ब्रिटिश भारत के 156 प्रतिनिधि, जिनमे से अधिकाश का निर्वाचन लगभग 100,000 व्यक्तियो के निर्वाचक-मडल के द्वारा होना था, और देशी राज्यो के शासको द्वारा नाम निर्देशित 104 से अनधिक प्रतिनिधि होने थे। विधानसभा मे प्रातीय विधानमडलो द्वारा चुने हुए ब्रिटिश भारत के 250 प्रतिनिधि और देशी राज्यो के 125 से अनधिक प्रतिनिधि होने थे और हर एक राज्य या राज्यो के वर्ग के लिए स्थानो का बटवारा उनकी अपनी जनसख्या के अनुपात मे होना था। निम्न सदन के निर्वाचन के लिए मताधिकार, जहा तक कि ब्रिटिश भारत के प्रतिनिधियो से सम्बन्ध था, वास्तविक रूप से प्रातीय विधान मडलो के ही समान था, केवल शैक्षणिक योग्यता ही बढा दी गई थी। इस भाति मताधिकार प्राप्त करनेवाले भारतीयो की सख्या अनेक लाख नर-नारियो तक पहुच गई थी।

इस सघ की कार्यपालिका-शक्ति का प्रयोग सम्राट् के प्रतिनिधि के रूप मे गवर्नर-जनरल के द्वारा होना था, जिसकी सहायता और परामर्श के लिए एक मत्रिपरिषद् थी जो विधानमडल के प्रति उत्तरदायी थी। परन्तु कुछ विभाग—यथा प्रतिरक्षा, वैदेशिक कार्य तथा चर्च-प्रशासन—गवर्नर-जनरल के वैयक्तिक नियत्रण मे रहने थे। इसके अतिरिक्त आन्तरिक शाति को खतरा, वित्तीय स्थिरता, अल्पसख्यको के हित, देशी राज्यो के अधिकारो के सरक्षण और वाणिज्यिक भेदभाव के निवारण जैसे विषयो के सम्बन्ध मे "विशेष उत्तरदायित्व" के निर्वाह का भार भी गवर्नर-जनरल पर था; परन्तु इन मामलो मे भी मत्रिपरिषद् से परामर्श करने से वह तभी इनकार कर सकता था, जब वह अनुभव करता कि ऐसा करना सामान्य हित के विरुद्ध होगा। शेष विषयो के सम्बन्ध मे, सन् 1935 के अधिनियम के अधीन, भारत के सघीय राज्य मे सामान्य अर्थ मे मत्रिमडलीय सरकार को ही काम करना था।

इस भाति आयोजित सघीय प्रणाली की पृष्ठभूमि उस पृष्ठभूमि से बिलकुल विभिन्न थी, जिसपर अन्य सघ, जैसा हम पहले देख चुके है, साधारणतया आधारित हुए हैं। क्योकि सघबद्ध की जानेवाली इकाइयां केवल अपने इतिहास और मौजूदा स्वरूप मे ही बिलकुल विभिन्न नही थी, वरन वे साम्राज्यिक सरकार के साथ अपने सबध मे भी बिलकुल भिन्न थी और जब कि ब्रिटिश भारत के प्रातो की केवल वे ही शक्तिया और कार्य थे जो उन्हें दिए गए थे, देशी राज्यो के ऊपर साम्राज्यिक शक्ति का नियत्रण साधारणतया बाह्य सबधो तक ही सीमित था। वास्तव मे, अखिलभारतीय सघ का अभिप्राय ऐसे उपमहाद्वीप का सगठन था, जो उदाहरणार्थ योरोप के महाद्वीप की तुलना मे भी प्रजाति, इतिहास, भाषा, सस्कृति और धर्म मे अधिक बहुरूपी था।

ब्रिटिश भारत को स्व-शासी डॉमिनियन बनाने की योजना तथा सन् 1935 के अधिनियम में परिकल्पित अखिलभारतीय संघ की स्थापना को कार्यान्वित होना नही बदा था। महायुद्ध के पश्चात् यह योजना पुरानी पड गई तथा उसके स्थान पर और भी अधिक दूरगामी व्यवस्था की माग होने लगी जो वास्तव मे पूर्ण स्वाधीनता से कम मे सन्तुष्ट नही हो सकती थी। यह माग हमेशा ही भारत के उग्र राष्ट्रवादियो के दिमाग मे रही थी, जिन्होने प्रारम्भ से ही सन् 1935 के अधिनियम के द्वारा स्थापित प्रातीय विधानसभाओ का बहिष्कार किया था और द्वितीय विश्वयुद्ध के कारण, जिससे एशिया भर मे राष्ट्रीयता का एक नया उफान आया, वह और भी अधिक प्रबल हो गई।

यह देखकर कि सन् 1935 की योजना पिछड चुकी है, ब्रिटिश सरकार ने सन् 1946 मे भारत को एक केबिनेट मिशन भेजा, जिसने तीन महीनो तक भारत के समस्त दलो के नेताओ के साथ परामर्श करके सिफारिश की कि भारत का भावी सविधान ऐसी सविधान-सभा द्वारा निर्मित किया जाना चाहिए जिसमे ब्रिटिश भारत और देशी राज्यो के समस्त समुदायो एव हितो के प्रतिनिधि हो। ब्रिटेन के इस नए रुख के फलस्वरूप केन्द्र मे एक अन्तरिम सरकार का निर्माण हुआ, जिसमे मुख्य समुदायो के राजनीतिक नेता सम्मिलित थे और जो विद्यमान सविधान के अन्तर्गत विस्तृत शक्तियो का प्रयोग करती थी। इस प्रकार, प्रारभ मे भारतीय लोग भारतीय सरकारो के, जो कि समस्त प्रातो के विधानमडलो के प्रति उत्तरदायी थी, सचालन मे सहयोग देने को तत्पर दिखाई दिए। परन्तु शीघ्र ही दो मुख्य भारतीय दलो—हिन्दू (काग्रेस दल) और मुस्लिम (मुस्लिम लीग) के बीच एक आधारभूत अन्तर प्रकट हुआ। मुस्लिम लीग ने अपने को अन्तरिम सरकार से पृथक् कर लिया और घोषणा की कि वे देश के विभाजन और पृथक् मुस्लिम राज्य (पाकिस्तान) के निर्माण से कम किसी भी बात को स्वीकार नही करेगे ताकि उन क्षेत्रो मे जहा पर कि वे बहुसख्यक हैं, मुसलमानो की स्वतत्रता सुनिश्चित हो जाए। इस पर फर्वरी सन् 1947 मे इगलैण्ड के प्रधान मत्री ने हाउस ऑफ कॉमन्स म यह घोषणा की कि ब्रिटिश सरकार का यह निश्चित इरादा है कि वह "जून सन् 1948 के पूर्व ही उत्तरदायी भारतीयो को शक्ति हस्तातरित करने के लिए आवश्यक कदम उठाएगी।"

इस घोषणा का परिणाम यह हुआ कि भारतीय नेताओ ने अपने मतभेदो को निपटाने मे शीघ्रता की, परतु इसका पूर्णतया अप्रत्याशित परिणाम निकला। उन्होने पूर्ण स्वाधीनता के विचार को छोड दिया और इसके स्थान पर वे इस बात पर राजी हो गए कि देश को अगरेजी ताज के अधीन दो स्व-शासी डॉमिनियनो (भारत और पाकिस्तान) म विभाजित कर लिया जाए। ब्रिटेन की ससद् ने तुरत ही आवश्यक विधान पारित कर दिया और अगस्त सन् 1947 मे ही

दोनो डॉमिनियनो की स्थापना हो गई। अब तात्कालिक प्रश्न यह था कि इस भाति शीघ्रता से सृजित राज्यो मे, जो सविधान से रहित थे, किस भाति साविधानिक प्रक्रिया को प्रारम्भ किया जाए। उस समय केवल दो सविधान-सभाए थी, जिनमे एक सन् 1946 के केबिनेट मिशन द्वारा प्रस्तावित योजना के अधीन भारत के लिए स्थापित सभा थी और दूसरी वह सभा थी जिसकी मुसलमानो ने उस समय रचना की थी जब उन्होने सयुक्त भारत के सृजन म हिन्दुओ के साथ सहयोग न करना निश्चित किया था। इस कठिनाई को इस भाति हल किया गया कि दोनो नए डामिनियनो के वास्ते सन् 1935 के भारत के अधिनियम को आवश्यक परिवर्तनो के साथ अस्थायी तौर पर मूल सविधान के रूप म अगीकार कर लिया गया और दोनो सविधान-सभाओ को ससदो का पद प्रदान कर दिया गया।

भारतीय सविधान-सभा ने जो कि भारत डॉमिनियन की अस्थायी ससद् बन चुकी थी, नए सविधान पर विचार करने मे अधिक समय नहीं लगाया और *नए सविधान का मसौदा नवम्बर सन् 1948 मे सभा मे प्रस्तुत कर दिया गया।* सन् 1949 के शरत्काल मे भारत ने गणतत्र बनने का आशय घोषित किया, हालाकि साथ ही उसने ब्रिटिश राष्ट्रमडल का सदस्य बने रहने की इच्छा भी अभिव्यक्त की, जिस पर ब्रिटिश ससद् ने कोई आपत्ति नही की। फलस्वरूप, *नवम्बर सन् 1949 मे जब नया सविधान अनुमोदित हुआ और जनवरी सन 1950 मे प्रभावशील हुआ,* तो वह राजा का प्रतिनिधित्व करनेवाले गवर्नर-जनरल से युक्त स्व-शासी डामिनियन को लागू न होकर निर्वाचित राष्ट्रपति से युक्त एक स्वतत्र गणतत्र को लागू हुआ। *पूर्व सविधान सभा का अध्यक्ष सर्वसम्मिति से गणराज्य का प्रथम राष्ट्रपति निर्वाचित हुआ और गवर्नर-जनरल का पद समाप्त कर दिया गया।* उसी दिन से ब्रिटिश राष्ट्रमडल का नया स्वरूप बन गया क्योकि भारतवर्ष के उसके सदस्य बने रहने से उसके सदस्यो मे प्रथम बार एक गणराज्य भी शामिल हो गया था।

भारत के गणराज्य मे चौदह राज्य और 6 सघीय प्रदेश (union Territories) हैं।[1] प्रत्येक राज्य मे राष्ट्रपति द्वारा नियुक्त एक राज्यपाल और एक एक-सदनी या द्विसदनी विधानमडल होता है जिसकी शक्तियाँ सविधान मे परिभाषित हैं। सघीय विधानमडल मे एक द्वितीय सदन है, जो राज्यसभा कहलाता है और एक अवर सदन है जो लोकसभा कहलाता है। राज्यसभा मे 250 सदस्य हैं, जिनमे से बारह नामनिर्देशित हैं और शेष का निर्वाचन आनुपातिक रूप से विभिन्न राज्यो के विधानमडलो के द्वारा होना है, हालाकि जहा द्विसदनी विधानमडल

---

[1] आजकल राज्यो की सख्या 17 और सघीय प्रदेशो की सख्या 10 है।

है वहा केवल निम्न सदन के द्वारा ही होना है। यह एक स्थायी निकाय है जिसका विघटन नही होता, और इसके एक तिहाई सदस्य अमरीकी सिनेटरो के समान प्रति दूसरे वर्ष पदमुक्त हो जाते हैं। लोकसभा मे 520 से अनधिक सदस्य हैं जो इक्कीस वर्ष और उससे अधिक आयु के स्त्री और पुरुष मतदाताओ द्वारा निर्वाचित होते है। ऐसे निर्वाचको की सख्या 18 करोड के लगभग अथवा सम्पूर्ण जनसख्या की लगभग आधी है। इस सदन की अवधि पाच वर्ष है।

राष्ट्रपति और उप राष्ट्रपति (जो अमरीका के उप-राष्ट्रपति के समान ही *राज्यसभा का पदेन सभापति है) कार्यपालिका के नाममात्र अध्यक्ष हैं।* राष्ट्रपति का निर्वाचन सघीय तथा राज्यीय विधानमडलो के समस्त सदस्यो से निर्मित निर्वाचक मडल के द्वारा होता है। उसकी *अवधि पाच वर्ष की होती है, परन्तु उसका* पुर्ननिर्वाचन भी हो सकता है। वह प्रधानमत्री तथा मत्रिमडल के माध्यम से कार्य करता है जो निर्वाचित विधानमडल के प्रति उत्तरदायी हैं। सघीय ससद् का प्रथम सामान्य निर्वाचन सन् 1952 मे हुआ था। समस्त देश के कुल 18 करोड मतदाताओ मे से 10 करोड 70 लाख मतदाताओ ने उसमे मतदान किया। सन् 1957 के द्वितीय निर्वाचन मे यह सख्या और भी बडी थी।

भारत के गणराज्य का सघीय स्वरूप सघीय सरकार और राज्यीय सरकारो के बीच शक्ति वितरण मे स्पष्ट दिखाई देता है। वे सविधान की सप्तम अनुसूची मे तीन सर्वांगपूर्ण सूचियो—(1) सघ-सूची, (2) राज्य-सूची और (3) समवर्ती सूची—मे परिगणित हैं। सघ को अखिलभारतीय महत्व के विषयो (सूची मे उनकी सख्या 97 है) पर विधि-निर्माण का एकान्तिक अधिकार हैं। उनमे प्रतिरक्षा, परराष्ट्र-सम्बन्धी मामले, सचार, रेलवे, मुद्रा, बैंकिंग, बीमा और सीमाशुल्क शामिल हैं। राज्य-सूची मे 66 विषय हैं जिनमे, उदाहरणार्थ, पुलिस और सार्वजनिक व्यवस्था, न्याय (राज्य मे), स्थानीय शासन, सार्वजनिक स्वास्थ्य शिक्षा, कृषि और विद्युत शक्ति शामिल हैं। समवर्ती सूची (47 विषय) मे वे सब विषय है जिनमे सघ एव राज्यो का समान हित है। सविधान ने सघ सरकार और राज्यो के बीच उपस्थित होने वाले विवादो के निपटारे के लिये एक सर्वोच्च न्यायालय की स्थापना भी की है।

पाकिस्तानी सविधान सभा ने 1956 मे जाकर अन्तिम रूप मे सविधान प्रस्तुत किया। उसके अनुसार डॉमिनियन एक स्वतत्र सघीय गणराज्य बन गया, परन्तु वह भी, भारत के समान, ब्रिटिश राष्ट्रमण्डल का सदस्य बना रहा।

पाकिस्तान का सघीय स्वरूप भारत के स्वरूप से कम स्पष्ट है, मुख्यत इस कारण कि उसका प्रदेश दो भागो—पश्चिमी पाकिस्तान और पूर्वी पाकिस्तान—मे *विभक्त है जो बीच मे भारत के उत्तरी राज्यो की उपस्थिति के कारण एक दूसरे से* पार हजार मील दूर हैं। सन् 1956 के सविधान के अनुसार, इसी कारण पाकिस्तान

गणराज्य दो प्रान्तों—पश्चिमी पाकिस्तान और पूर्वी पाकिस्तान में विभक्त किया गया। समस्त गणराज्य के लिये नेशनल एसेम्बली नामक 156 सदस्योंवाला एक एक-सदनी विधानमंडल होना था। इसके सदस्यों में से आधे प्रत्येक प्रान्त में लोकतंत्रीय पद्धति से निर्वाचित होने थे। दोनों प्रान्तों में भी प्रान्तीय सभा के नाम से लोकतंत्रीय पद्धति से निर्वाचित एक एक एक-सदनी विधानमंडल होना था। गणराज्य के राष्ट्रपति का निर्वाचन 5 वर्ष की अवधि के लिये राष्ट्रीय और प्रान्तीय सभाओं द्वारा होना था। जिन विषयों के सम्बन्ध में विधि निर्माण का एकान्तिक अधिकार राष्ट्रीय सभा का था वे संविधान की तीसरी अनुसूची में एक लम्बी सर्वांगपूर्ण सूची में परिगणित किये गये थे। अवशिष्ट विषय, जैसे वे रहे, प्रान्तों को मिले। संविधान ने एक सर्वोच्च न्यायालय की भी स्थापना की जिसका क्षेत्राधिकार उन विवादों में था जो सरकारों में से एक और दूसरी सरकारों में से एक या दोनों के बीच ' उपस्थित हों।

परन्तु संविधान कार्यान्वित नहीं हो सका। सन् 1958 में उसका निराकरण कर दिया गया और गणराज्य की विचित्र परिस्थितियों के अधिक अनुकूल नये संविधान के प्रख्यापन तक के लिये देश में मार्शल लॉ जारी कर दिया गया। सन् 1960 में 'एक ऐसे लोकतंत्र को प्र प्त करने जा निरन्तर बदलनेवाली परिस्थितियों के अनुकूल हो और न्याय, समानता एवं सहिष्णुता के इस्लामी सिद्धान्तों पर आधारित हो, राष्ट्रीय एकता को सुदृढ़ करने और एक सुदृढ़ स्थायी शासन प्रणाली सुनिश्चित करने के लिये सर्वोत्तम उपाय सुझाने के लिये' एक संविधान-आयोग की नियुक्ति की गई। उसकी रिपोर्ट 1961 में पेश हुई जिसमें आयोग ने सिफारिश की कि केन्द्रीय तथा प्रान्तीय विधानमंडल कायम रखे जायं और शक्ति-विभाजन इस प्रकार किया जाय कि 'रक्षित' शक्तियाँ प्रान्तों को प्राप्त हों। उसने यह भी सिफारिश की कि सर्वोच्च न्यायालय की सहायता के लिये 'इस्लामी विचारधारा की एक परामर्शदात्री परिषद्' की स्थापना की जाय। रिपोर्ट में अमरीकी नमूने के राष्ट्रपति पद सहित एक असंसदीय कार्यपालिका स्थापित करने का भी सुझाव दिया गया। इसके अतिरिक्त उसका एक सुझाव यह भी था कि नई सूचीस्तंभीय (पिरामिड) निर्वाचन प्रणाली आरम्भ की जाय जिसके अनुसार राष्ट्रपति और संसद सदस्य 'बुनियादी लोकतंत्रों के, जिनका निर्वाचन सार्विक वयस्क मताधिकार द्वारा होगा, निर्वाचित सदस्यों से निर्मित निर्वाचकमण्डल द्वारा निर्वाचित किये जायं'। परन्तु जहाँ पिछला संविधान असफल रहा, वहाँ इन सिद्धान्तों के अनुसार प्रख्यापित संविधान सफल होगा, यह समय ही बतलायेगा।

भारतवर्ष के विषय को समाप्त करने के पहले इस बात का उल्लेख किया जा सकता है कि सन् 1948 में सीलोन एक ब्रिटिश स्वशासी डॉमिनियन बन गया

और तभी से उसी स्थिति मे वर्तमान है और उसी वर्ष ब्रिटेन बर्मा से हट गया जो एक स्वतन्त्र गणराज्य बन गया। सीलोन तो स्वाभाविक रूप मे ब्रिटिश राष्ट्र-मडल का सदस्य बना रहा और भारतवर्ष तथा पाकिस्तान ने उसमे बने रहना पसन्द किया परन्तु बर्मा उससे अलग हो गया।

(आ) ब्रिटेन और मलाया

मलाया दक्षिण-पूर्वी एशिया का एक दूसरा भाग था जहाँ ब्रिटेन की बडी जिम्मेदारियाँ थी। मलाया प्रायद्वीप मे ब्रिटिश सरक्षण के अधीन नौ मलय राज्यो के अतिरिक्त पिनाग और मलाका नामक दो ब्रिटिश बस्तियाँ और सिगापुर का उपनिवेश भी थे। इस प्रायद्वीप के पूर्व मे, मु य कर बोर्नियो के इण्डोनेशियाई द्वीप मे सारावाक और उत्तरी बार्नियो के ब्रिटिश उपनिवेश थे। द्वितीय विश्व-युद्ध के बाद, जब जापानियो के पलायन के बाद वहाँ अराजकता छा गई, तो मलय राज्यो को पिनाग और मलाका के साथ सयुक्त करने के प्रयत्न किये गये और 1948 मे उन्हे मिलाकर मलाया का सघ स्थापित किया गया। सन् 1957 मे ब्रिटेन ने सघ पर से अपनी समस्त शक्तियाँ और अपना क्षेत्राधिकार त्याग दिया और सघ ब्रिटिश राष्ट्रमडल के अन्तर्गत एक स्वतन्त्र राज्य बन गया। उसके सविधान का, जो स्वतन्त्रता दिवस पर कार्यान्वित हुआ, उद्देश्य ग्यारह सघनिर्मात्री इकाइयो को एक मात्रा मे स्थानीय स्वायत्तता सुनिश्चित करते हुए एक सुदृढ सघीय शासन की स्थापना करना था। सघ का सर्वोच्च अध्यक्ष मलाया राजाओ मे से एक होता है जिसका निर्वाचन पाच वर्ष के लिये पिनाग और मलाका के राज्यपालो के साथ नौ राजाओ का एक सम्मेलन करता है। अधिकाश प्रयोजनो के लिये वह एक प्रधान मत्री एव एक मन्त्रिमडल की सलाह से कार्य करता है जो एक द्विसदनी—सीनेट और प्रतिनिधि सदन—विधानमडल के प्रति उत्तरदायी होते हैं। ब्रिटेन के साथ सम्पर्क एक उच्च आयुक्त (High Commissioner) के द्वारा रहता है जो सघीय राजधानी क्वालालुम्पुर मे रहता है।

मूल रूप मे यह सविधान मेलेशिया के सघ को लागू किया गया जिसकी विधिवत् स्थापना सन् 1963 मे मलाया सघ मे सिगापुर, सारावाक और उत्तरी बोर्नियो (जिसका नया नाम सबाह रहा) को शामिल करके की गई। परन्तु मेलेशिया के समन्वय को 1965 मे बडा धक्का लगा जब सिगापुर उससे अलग हो गया। सिगापुर के इस कदम और इण्डोनेशिया की निरन्तरित सशस्त्र शत्रुता के कारण प्रश्न उठता है कि सारावाक और सबाह कब तक सघ मे बने रह सकेंगे।

(इ) फ्रान्स और इण्डो-चीन

एशिया मे फ्रान्स का मुख्य साम्राज्यिक हित इण्डोचीन मे था जिसका

आरम्भ उन्नीसवी शताब्दी के मध्य मे तृतीय नेपालियन द्वारा कोचिन-चीन के समामेलन (साम्राज्य मे मिला लेने) के साथ हुआ था। सन् 1880-89 तक फ्रेन्च सत्ता उन प्रदेशो मे से होकर जिन्हें आजकल कम्बोडिया, वियतनाम और लाओस कहते है, उत्तर की ओर चीन की सीमा तक बढ चुकी थी। द्वितीय विश्वयुद्ध मे इन प्रदेशो पर से फ्रान्स का अधिकार उठ गया और उन पर जापानियो ने अधिकार कर लिया। युद्ध के बाद फ्रान्स ने इण्डोचीन मे फिर से अपनी सत्ता स्थापित करने का प्रयत्न किया परन्तु साम्यवादी दबाव, विशेषकर वियतनाम मे उत्पन्न उलझनो के कारण वह अपनी सत्ता कायम न रख सका। साम्यवादियो के साथ एक लम्बे खर्चीले युद्ध के बाद फ्रान्स हट गया और वियतनाम को दो भागो मे विभक्त छोड गया। उत्तरी भाग मे साम्यवादी शासन कायम हो गया और दक्षिणी भाग मे लोकतन्त्रवत् व्यवस्था स्थापित हुई। लाओस और कम्बोडिया के पडौसी राज्य साम्यवादी घुसपैठ द्वारा अपने मलोच्छेदन के भय से निरन्तर भयभीत अवस्था मे सकटपूर्ण स्वतन्त्रता कायम रखे रहे।

(ई) नेदरलैण्ड्स और इण्डोनेशिया

पूर्वी इण्डीज मे डच सत्ता बहुत पुरानी थी। उसका आरम्भ सत्रहवी शताब्दी मे हुआ था जब कि डच लोगो ने उन द्वीपो मे बस कर धीरे-धीरे पुर्तगालियो को जो उस समय वहाँ प्रधान शक्ति थे, हटाकर उनका स्थान ग्रहण कर लिया और एक बडा समृद्धिशाली वाणिज्यिक साम्राज्य स्थापित कर लिया जिसे वे नेदरलैण्ड्स इण्डिया कहते थे। इस प्रदेश का नाम आजकल इण्डोनेशिया है जिसका तात्पर्य द्वीप समूह के समस्त द्वीपो से है। डच ईस्ट इण्डीज मे उत्पन्न होनेवाले राष्ट्रीयतावादी आन्दोलन ने इस नाम को 'समस्त द्वीपवासियो की एकता सुझाने के' अनुकूल समझकर ग्रहण किया था। द्वितीय विश्व युद्ध मे इस समस्त प्रदेश पर जापानियो ने अधिकार कर लिया और उन्होंने, अपने ही प्रयोजन के लिये, राष्ट्रवादियो को प्रोत्साहित करके 1945 मे इण्डोनेशिया के गणराज्य की घोषणा कर दी। युद्ध के बाद डच लोगो ने गणराज्य को मान्यता देने से इन्कार कर उसके विरुद्ध सैनिक कार्यवाही की। किन्तु 1948 मे सयुक्त राष्ट्र ने हस्तक्षेप किया और नेदरलैण्ड्स की सरकार को न्यूगिनी के डच भाग को छोडकर समस्त डच ईस्ट इण्डियन एम्पायर को इण्डोनेशिया के गणराज्य के रूप मे प्रभुत्वपूर्ण स्वतन्त्र राज्य स्वीकार करने के लिये राजी कर लिया। इस प्रकार नेदरलैण्डस ने विधिवत् अपना प्रभुत्व समर्पित कर दिया और 1950 मे एक नया गणतन्त्रीय सविधान प्रख्यापित किया गया जिसके द्वारा निर्वाचित प्रेसीडेण्ट-पद और एक द्विसदनी विधानमडल स्थापित हुआ।

(उ) यूनाइटेड स्टेट्स और फिलिप्पीन्स

दक्षिण-पूर्वी एशिया पर विचार करते हुए हम फिलिप्पीन द्वीपों की ओर भी दृष्टिपात करना चाहिए जो भौगोलिक दृष्टि में ईस्ट इण्डियन द्वीप समूह का उत्तर की ओर निकला हुआ भाग है। यूनाइटेड स्टेट्स ने फिलिप्पीन्स को 1898 मे स्पेन के साथ युद्ध मे विजय की लूट के एक भाग के रूप मे प्राप्त किया था। वहाँ के निवासियो के विद्रोह को दबाने के बाद उसने उनके प्रति एक प्रगतिशील उदार नीति अपनाई। सन 1907 मे इन द्वीपो को एक मात्रा मे स्थानीय स्वशासन प्रदान किया गया जिसका 1916 म विस्तार किया गया। सन् 1935 मे फिलिप्पीन्स को 'कॉमनवेल्थ हैसियत' के अधीन एक संविधान प्रदान किया गया जिसके अनुसार एक राष्ट्रपति और एक राष्ट्रीय सभा की व्यवस्था की गई ,अमरीकी नाविक अड्डो के लिय सुरक्षण की व्यवस्था रही और 1946 मे पूर्ण स्वतत्रता प्रदान का वचन दिया गया। उस वर्ष, द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद, जिसके दौरान जापानियो ने इन द्वीपो पर अधिकार कर लिया था, अमेरिका ने अपना वचन पूरा किया और अब फिलिप्पीन्स यूनाइटेड स्टेट्स के नमूने के संविधान के अधीन एक पूर्ण स्वतत्र गणराज्य है।

4. अफ्रीका मे औपनिवेशिक क्रान्ति

द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद से जो परिवर्तन अफ्रीका मे हो रहे हैं वे आधुनिक इतिहास के अत्यन्त गतिशील परिवर्तनो मे से हैं। यदि हम निम्नलिखित बातो का स्मरण करें तो हम समझ सकेंगे कि घटनाचक्र कितनी तेजी से चला है। उन्नीसवी शताब्दी के मध्यकाल तक भी अफ्रीका के अन्दरूनी भाग यूरोपियनो को प्राय बिलकुल ज्ञान नही था, सन् 1885 मे अफ्रीका मे जल्दी स भूमि प्राप्त करने के प्रयत्नो ने ऐसी छीना-झपट का रूप धारण कर लिया कि उन्हें विवश हो एक सन्धि करनी पडी जिसके द्वारा उन्होने महाद्वीप का आपस मे बँटवारा कर लिया और अपने-अपने प्रभावक्षेत्रो की सीमाएँ निर्धारित कर ली, सन् 1939 तक भी अफ्रीका मे केवल तीन स्वतत्र राज्य थे—लिबेरिया का गणराज्य, दक्षिणी अफ्रीका का सघ तथा मिस्र का राज्य। युद्धोत्तर औपनिवेशिक क्रान्ति पाश्चात्य विचारो एव व्यवहार के प्रभाव, अफ्रीकी राष्ट्रीयतावाद के उदय और कुछ साम्राज्यिक शक्तियो की उसकी मांगो को स्वीकार करने की इच्छा के सम्मिलित प्रभावो का परिणाम थी। जिन आन्दोलनो ने अफ्रीका का राजनीतिक स्वरूप बदल डाला है उनमें सबसे महत्वपूर्ण, हालांकि नाटकीय नही, भाग लेनेवाली सम्बन्धित शक्ति ब्रिटेन थी। इसलिये फ्रान्स और बेल्जियम की इन बदलती हुई अवस्थाओ की ओर कैसी प्रवृत्ति रही यह देखने के पहले हम ब्रिटिश नीति के स्वरूप और परिणामो का अध्ययन करेंगे।

(अ) ब्रिटिश अफ्रीका मे परिवर्तन

अफ्रीका के जिन प्रदेशो मे ब्रिटेन की अभिरुचि रही है वे सारे महाद्वीप—पूर्व, पश्चिम और दक्षिण मे बिखरे हुए है। इन प्रदेशा मे, जो विभिन्न कालो और विभिन्न परिस्थितियो मे हस्तगत किये गये थे, पृष्ठभूमि, आर्थिक साधनो और राजनीतिक सभाव्यताओ एव उनकी आबादियो के जातीय गठन से सम्बन्धित अनेक विशिष्ट भेद दिखाई देते हैं। एक बात जो इन सभी प्रदेशो के लोगो मे सामान्य रूप से मिलती है वह है स्वय अपने एक राज्य के गठन और उसके सफल सचालन की क्षमता मे उनका अटूट विश्वास। यह ऐसा विश्वास है जिसका लिहाज करने मे ब्रिटेन ने सर्वाधिक तत्परता प्रदर्शित की है। यह बात उन साविधानिक प्रयोगो से स्पष्ट हो जाती है जो उसने अफ्रीकियो को विधान सभाओ मे, जिनकी स्थापना वह अपने अधिकाश अफ्रीकी प्रदेशो, किसी-किसी प्रदेश मे तो उन्नीसवी शताब्दी के मध्य मे ही, कर चुका था, राजनीतिक अनुभव प्राप्त कराने के लिये किये हैं। इन सभाओ की स्थापना का उद्देश्य पहले श्वेत वासियो को वेस्टमिन्स्टर की सरकार से यथासभव स्वतन्त्र रूप मे अपने आर्थिक, वैधानिक एव प्रशासनिक मामलो की व्यवस्था करने के लिये प्रोत्साहित करना था। धीरे-धीरे इन विधान-सभाओ मे अफ्रीकी प्रतिनिधि भी लिये जाने लगे यहाँ तक कि अन्त मे वे बहुसख्यक हो गये। इस प्रकार अफ्रीकी जातियाँ ब्रिटिश राष्ट्रमडल के अन्तर्गत राष्ट्रीय स्वतन्त्रता प्राप्त करने के लिये तैयार की गई। बहुतसी जातियाँ अब तक स्वतन्त्रता प्राप्त कर भी चुकी है।

पश्चिमी अफ्रीका मे तीन मुख्य प्रदेश गोल्डकोस्, नाईजीरिया और सियरा लिओन थे। अन्तर्युद्ध काल में, इन तीनो प्रदेशो मे विधान परिषदो मे अफ्रीकियो के वर्धमान प्रतिनिधित्व के द्वारा काफी साविधानिक प्रगति हुई थी और दूसरे विश्वयुद्ध के बाद प्रगति तेज हो गई। सन् 1946 मे गोल्ड कोस्ट को एक नया सविधान प्रदान किया गया जिसके द्वारा वह परिषद् मे अफ्रीकी बहुमतवाला पहला उपनिवेश बन गया। सन् 1957 मे वह स्वशासी डॉमिनियन के रूप मे पूर्ण स्वतन्त्र हो गया और उसने अपना नाम बदलकर घाना रख लिया। सन् 1960 मे उसने एक गणतन्त्रीय सविधान स्वीकार किया जिससे निर्वाचित राष्ट्र-पति-पद और नेशनल एसेम्बली नामक दस महिलाओ सहित 114 सदस्यवाले एक एक-सदनी विधानमडल की स्थापना हुई। किन्तु वह ब्रिटिश राष्ट्रमडल का सदस्य बना रहा।

नाइजीरिया मे राजनीतिक स्थिति उसके तीन—पश्चिमी, पूर्वी और उत्तरी प्रदेशो मे, जो विकास के विभिन्न स्तर पर थे, विभक्त होने के कारण जटिल थी परन्तु सघवाद की युक्ति से यह कठिनाई दूर हो गई। सन् 1945 मे समस्त देश

के लिये एक विधान परिषद् की स्थापना हुई जिसमे गैर-सरकारी सदस्यो की बहुसख्या थी और प्रत्येक प्रदेश के लिये एक पृथक् परिषद् भी स्थापित की गई। *सन् 1954 मे इन तीनो प्रदेशो ने मिलकर नाइजीरिया के सघ का निर्माण किया* और 1957 और 1959 के बीच प्रत्येक प्रदेश को स्थानीय स्वशासन के अधिकार प्रदान किये गये। सन् 1960 मे सघ पूर्ण स्वतत्र राज्य और 1962 मे राष्ट्रमडल के अन्तर्गत एक गणराज्य बन गया। सविधान के अनुसार सघीय ससद् *मे सीनेट और प्रतिनिधि-सभा है जिसके प्रति मत्रिमडल उत्तरदायी है।* उसके हाथो मे परराष्ट्र सम्बन्ध, प्रतिरक्षा, पुलिस, यातायात एव सचार समेत बडी व्यापक शक्तिया हैं। प्रत्येक प्रदेश मे हाउस ऑफ एसेम्बली के प्रति उत्तरदायी कार्यपालिका परिषद् है और प्रादेशिक मामलो के लिये विधिनिर्माण और उनके *प्रशासन के लिये एक हाउस ऑफ चीफ्स* (House of Chiefs) है।

सियरा लियोन ने जो दीर्घकाल से ब्रिटेन के अधिकार मे रहा, द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद से बडी त्वरित सांविधानिक प्रगति की है। सन् 1948 मे एक नय सविधान द्वारा काफी अफ्रीकी प्रतिनिधित्वयुक्त एक विधान परिषद् की स्थापना हुई। सन् 1958 मे परिषद् पूर्णतया निर्वाचित हो गई, उसमे केवल दो नामनिर्देशित सदस्य रह गये। गवर्नर जनरल को विधान परिषद् के प्रति उत्तरदायी प्रधान मत्री और मत्रिमडल परामर्श देते हैं। इस सविधान के अधीन, 1961 मे *सियरा लिओन ब्रिटिश राज्यमडल के अन्तर्गत एक पूर्ण स्वतत्र राज्य बन गया।*

पूर्वी अफ्रीका मे जिन तीन प्रदेशो पर मुख्य रूप से ध्यान देना है वे टेनगेनिका, युगाण्डा और केन्या है। टेनगेनिका पहले जर्मन उपनिवेश था जो प्रथम विश्वयुद्ध के बाद से राष्ट्रसघ के प्रादेश के अधीन ब्रिटेन द्वारा शासित था और 1946 म *सयुक्त राष्ट्र के अधीन एक न्यस्त प्रदेश (Trust territory) के रूप मे ब्रिटेन के पास* रहा। युगाण्डा 1890 से ब्रिटिश सरक्षित प्रदेश था। वहा के 62 लाख निवासियो मे केवल 11,000 योरोपियन है। केन्या मे जो 1895 मे ब्रिटिश अधिकार मे आया और 1920 मे विधिवत् उपनिवेश के रूप मे साम्राज्य मे शामिल कर लिया गया, *मिश्र जनसख्या है और वहाँ पूर्वी अफ्रीका के ब्रिटिश प्रदेशा मे* योरोपियनो का सबसे अधिक अनुपात है (65 लाख निवासियो मे से 68,000)। द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद इनमे से प्रत्यक प्रदेश के लोगो को विधान परिषद् मे उत्तरोत्तर बढता हुआ प्रतिनिधित्व प्राप्त हुआ और जब स्वशासन के प्रश्न पर विचार करने का समय आया तो यह सुझाया गया कि इस समस्या का हल तीनो प्रदेशो का एक सघ निर्माण करके निकाला जा सकता है। परन्तु इन प्रदेशो के निवासियो के बडे जातीय भेद थे। केन्या मे अपेक्षाकृत योरोपियन लोग अधिक सख्या *मे थे। अत मुख्यकर युगाण्डा मे केन्या के साथ सघ मे शामिल होने के परिणाम* भयावह दिखाई देते थे और इसी कारण इस योजना का परित्याग करना पडा।

अन्त मे, मई 1961 मे टेनगेनिका को काफी मात्रा मे स्वशासन प्रदान किया गया और 1962 के अन्त तक वह राष्ट्रमडल के अन्तर्गत पूर्ण स्वतत्र गणराज्य बन गया। सन् 1964 मे जेजीबार का पूर्व ब्रिटिश सरक्षित प्रदेश टेनगेनिका मे शामिल हो गया और उन दोना से मिलकर एक नया राज्य बना जिसका नाम टेनजानिया का सयुक्त गणराज्य रखा गया । युगाण्डा 1962 मे स्वतत्र हो गया और 1965 मे गणराज्य बन गया। किन्तु केन्या मे जातीय विरोध, जो एक बडी विकट सामाजिक समस्या बनी हुई थी, और अफ्रीका की प्रचण्ड राष्ट्रीय भावना के कारण अन्य दो प्रदेशा की अपेक्षा, साविधानिक प्रगति धीमी रही। परन्तु जून 1963 मे प्रगति की ओर एक बडा कदम उठाया गया जब कि इस उपनिवेश को पूर्ण आन्तरिक स्वशासन प्राप्त हो गया। 6 महीने बाद केन्या स्वतत्र राज्य और दिसम्बर 1964 मे गणराज्य बन गया । य तीनो राज्य राष्ट्रमडल के सदस्य बने रहे।

अन्त मे, मध्य-अफ्रीका म तीन सलग्न प्रदेश थे—दक्षिणी रोडेशिया, उत्तरी रोडेशिया और न्यासालैंड—जिनका साविधानिक महत्व इस बात मे था कि द्वितीय विश्वयुद्ध के दौरान अनेक असमानताओ के होते हुए भी उनका एक सघ बना दिया गया था। दक्षिणी रोडेशिया अपने दोना उत्तरवर्ती पडौसिया की अपेक्षा राजनीतिक विकास मे काफी आगे बढा हुआ था। जिन प्रदेशा का सेसिल रोड्ज ने विकास किया था उनमे अधिक दक्षिणवर्ती होने के कारण उसकी ओर बहुत से योरोपीय अधिवासी आकर्षित हुए जो आजकल वहा की जनसख्या के तेरहवे भाग के लगभग है। सन् 1923 मे यह एक स्वशासी उपनिवेश बन गया था जिसमे 30 सदस्यो की एक ससद् और 6 सदस्या का एक मत्रिमडल था जो अपने अनक स्थानीय कृत्यो के लिये वेस्टमिन्स्टर मे स्थित सरकार के प्रति उत्तरदायी था। उत्तरी रोडेशिया और न्यासालैंड दोनो सरक्षित राज्य थे। उन दोनो मे से प्रत्येक मे दक्षिणी रोडेशिया की अपेक्षा योरोपीय लोगो का अनुपात बहुत कम था। इन सरक्षित राज्यो मे कुछ साविधानिक प्रगति हो चुकी थी। उत्तरी रोडेशिया मे दस और न्यासालैंड मे नौ सदस्यो की कार्यकारिणी परिषद् थी और दोना परिषदो मे दो-दो अफ्रीकी होते थे। प्रत्येक मे एक आशिक रूप मे निर्वाचित विधान परिषद् भी थी। उत्तरी रोडेशिया मे 22 निर्वाचित सदस्यो मे से 8 अफ्रीकी होते थे, न्यासालैण्ड मे तेरह निर्वाचित सदस्यो मे से सात अफ्रीकी थे।

इन राजनीतिक भेदा के होते हुए भी यह भावना उत्पन्न हुई कि इन तीनो प्रदेशा के साधनो का सयुक्त रूप मे विकास होना चाहिये और इस आर्थिक लाभ को प्राप्त करने का सबसे सुनिश्चित ढग उनका एक राजनीतिक सघ निर्माण करना है। इसलिये सन् 1953 मे बडे वादविवाद के बाद रोडेशिया और न्यासा-

लैंड का संघ स्थापित हुआ। संविधान ने यह व्यवस्था की कि गवर्नर-जनरल तीनों इकाइयों और उनमें बसनेवाली विभिन्न जातियों का आनुपातिक प्रतिनिधित्व करनेवाली एक एक-सदनी फेडरल एसेम्बली के प्रति उत्तरदायी संघीय मंत्रि-मंडल के सहयोग से कार्य करेगा। किन्तु दुर्भाग्यवश अफ्रीकी जनता के असन्तोष के कारण यह योजना सफल नहीं हुई। सन् 1960 में, उसी स्थान पर ही समस्या पर विचार करने के लिये लन्दन से भेजे हुए एक विशिष्ट आयोग ने संघीय योजना के आमूल संशोधन की सिफारिश की, परन्तु इसके लिये कोई सूत्र नहीं मिल सका और 1963 में संघ भंग कर दिया गया। सन् 1964 में ब्रिटेन ने न्यासालैंड (अब उसका नाम मलावी हो गया) को और उत्तरी रोडेशिया (अब उसका नाम जेम्बिया हो गया) को स्वतन्त्रता दे दी पर दोनों राज्य राष्ट्रमंडल में बने रहे। जिन शर्तों पर रोडेशिया स्वतन्त्र हो सकता था उन पर 1965 में विचार चल ही रहा था कि रोडेशिया की सरकार ने स्वतन्त्रता की एकपक्षीय घोषणा कर दी। यह कार्य अवैध था और ब्रिटेन ने उसे स्वीकार नहीं किया।

(आ) फ्रान्स और अल्जीरिया

उन्नीसवीं शताब्दी में फ्रान्स ने उत्तरी, मध्य और पश्चिमी अफ्रीका के बड़े विस्तृत प्रदेशों पर दक्षिणपूर्वी त' के निकट मेडेगास्कर के द्वीप पर अधिकार कर लिया था। अल्जीरिया को छोड़ सभी फ्रेन्च उपनिवेश उष्ण कटिबन्ध में स्थित थे। इनमें सेनिगाल, चाड, कांगो, सूडान (आजकल माली), नाईजर और गबून शामिल थे। इन प्रदेशों में फ्रान्स ने धीरे धीरे स्थानीय स्वशासन की व्यवस्था स्थापित की जिसका चतुर्थ गणतन्त्र के अधीन स्थानीय विधानमंडलों की स्थापना द्वारा अधिक मात्रा में स्वायत्तता प्रदान करके विस्तार किया गया। सन् 1958 में जनरल डिगॉल ने घोषणा की कि पंचम गणतन्त्र के संविधान के लिये होनेवाले जनमतसंग्रह में ये उपनिवेश फ्रेन्च राज्य परिवार के सदस्य बने रहना स्वीकार करें तो उन्हें स्वतन्त्रता प्रदान किये जाने पर उससे अलग हो जाने की स्वतन्त्रता रहेगी। इस समझौते से सब उपनिवेश फ्रेन्च राज्य परिवार में शामिल होने के लिये सहमत हो गये और 1960 में स्वतन्त्र गणराज्य बन गये। तब से उनमें से दो—माली और नाइजर—ने अलग हो जाने का निश्चय कर लिया है। मेडेगास्कर जो 1890 से ही फ्रेन्च संरक्षित प्रदेश था, 1960 में (मलागासी के नाम से) स्वतन्त्र गणराज्य घोषित कर दिया गया परन्तु एक विशिष्ट प्रतिरक्षात्मक समझौते की शर्तों के अधीन फ्रेन्च राज्य परिवार का सदस्य बना रहा।

अल्जीरिया की पृष्ठभूमि और हैसियत फ्रेन्च अफ्रीकी साम्राज्य के अन्य प्रदेशों से बहुत भिन्न थी। सन् 1848 में उसे विधिवत फ्रेन्च प्रदेश घोषित किया गया था। धीरे धीरे वहाँ अधिकाधिक फ्रेन्च अधिवासी आकर्षित होने लगे

जिनकी संख्या द्वितीय विश्वयुद्ध के आरम्भ तक दस लाख तक पहुँच गई थी। वे अल्जीरिया को फ्रान्स का ही भाग मानते थे और उसे इसी रूप में बनाए रखने के लिये दृढ़ संकल्प थे। युद्ध के बाद मुस्लिम राष्ट्रीय आन्दोलन अत्यन्त उग्र हो गया। फ्रेञ्च उपनिवेशियों और मुस्लिम राष्ट्रीयतावादियों के परस्पर विरोधी राजनीतिक उद्देश्यों का परिणाम वह आतंकवाद और रक्तपात हुआ जिसके फलस्वरूप 1958 में चतुर्थ गणतन्त्र का पतन हुआ, जनरल डिगॉल पुनः सत्तारूढ़ हुआ और पंचम गणतन्त्र की स्थापना हुई। इस समस्या का हल तभी हुआ जब जनरल डिगाल ने अल्जीरिया को अपने राजनीतिक भविष्य का स्वयं निर्णय करने का अधिकार देने का निश्चय किया जिसका वास्तविक अर्थ था फ्रान्स के साथ सहयोग सहित अल्जीरिया की स्वतन्त्रता। फ्रेञ्च निर्वाचकमण्डल के 91 प्रतिशत ने जनमतसंग्रह में इस निर्णय का अनुमोदन किया। तदनुसार एक अल्जीरियन अस्थायी कार्यपालिका की स्थापना की गई। जिसे जुलाई 1962 में, जब राष्ट्रपति ने अल्जीरिया की स्वतन्त्रता की विधिवत् घोषणा की, प्रभुता हस्तान्तरित कर दी गई इसके बाद सांविधानिक परीक्षा का काल आया क्योंकि, एक अधिकारी के कथनानुसार, अल्जीरियन राष्ट्र ने ऐसे विचार की लहर में स्वतन्त्रता प्राप्त की है जिसे अभी व्यावहारिक राजनीति के रूप में परिणत करना है।

(ङ) बेल्जियम और कांगो

बेल्जियम का हित कांगो में केन्द्रित था। यह भूमध्यरेखीय अफ्रीका के मध्य में एक विशाल प्रदेश है जिसके मूल निवासियों की संख्या एक करोड़ चालीस लाख के लगभग है। सन् 1880 के बाद अधिकृत यह प्रदेश पहले राजा द्वितीय लिओपोल्ड के व्यक्तिगत शासन के अन्तर्गत रखा गया था और कांगो का राज्य कहा जाता था परन्तु 1908 में लियोपोल्ड ने अपने निरंकुश अधिकार समर्पित कर दिये और यह राज्य बेल्जियम उपनिवेश बन गया। बेल्जियम के लोग निरन्तर बढ़ती हुई संख्या में इस देश में बसते रहे, परन्तु किसी भी समय योरोपीय अधिवासियों का अनुपात एक प्रतिशत तक भी नहीं पहुँचा।

दोनों विश्वयुद्धों के बीच के काल में कांगो में काफी तकनीकी प्रगति और प्राथमिक शिक्षा की व्यवस्था सहित कुछ सामाजिक सुधार भी हुए। परन्तु राजनीतिक अधिकार प्रदान करने में बेल्जियम की सरकार बड़ी धीमी और कृपण रही, यहाँ तक कि स्वतन्त्रता के पहले यहाँ थोड़ी सी निर्वाचित नगर-परिषद् मात्र ही थी। कांगो के लोग यह समझते थे कि ब्रिटेन और फ्रान्स द्वारा शासित प्रदेशों में उनके साथी अफ्रीकियों के अधिकारों की तुलना में उनके सामाजिक एवं राजनीतिक अधिकार बहुत थोड़े थे। अतः राजनीतिक दलों का उदय हुआ जो उन्नत अवस्थाओं, अधिक शक्तियों और अन्तिम स्वतन्त्रता की माँग करने लगे।

सन् 1959 के आरम्भ मे यह असतोष भयकर दगो के रूप मे भडक उठा। तब बेल्जियम की सरकार ने मूल सुधारो की योजना घोषित की जिसका उद्देश्य काँगोलियो को स्वतन्त्रता के लिये प्रशिक्षित करना था। जब इन सुधारो के लिये तैयारियाँ हो ही रही थी बेल्जियम की सरकार ने फर्वरी 1960 मे यकायक घोषणा कर दी कि काँगो चार महीने बाद पूर्ण रूप मे स्वतंत्र हो जायगा।

तदनुसार जून 1960 मे बेल्जियम अपनी राजनीतिक कलाबाजी समाप्त करके और काँगोलियनो को ऐसी स्थिति मे छोडकर, जिसका वे सयुक्त राष्ट्र की सेनाओ की सहायता के बिना मुकाबला नही कर सकते थे, काँगो से जल्दी से हट गया। राजनीतिक गुटो मे सघर्ष 1961 तक चलता रहा जब एक अस्थायी सरकार की स्थापना हुई और सिद्धान्त के रूप मे यह समझौता हुआ कि काँगो गणराज्य एक कॉनफेडरेशन का रूप धारण करे। सन् 1962 मे एक सघीय सविधान का प्रारूप तैयार किया गया और प्रधान मत्री ने उसे गणराज्य के प्रस्तावित इक्कीस प्रान्तो के प्रतिनिधियो के समक्ष प्रस्तुत किया। परन्तु सविधान सफल नही हुआ और अभी तक स्थिर शासन का कोई आधार प्राप्त नही हुआ है।

5. केरिबियन मे संघोय प्रयोग

ससार का एक दूसरा भाग जिस पर उदीयमान राष्ट्रीयतावाद और उप-निवेशवाद के पतन का गहरा प्रभाव पडा है, केरिबियन (सागर) है। सयुक्त राज्य के अतिरिक्त फ्रान्स और बेल्जियम के भी इस क्षेत्र मे हित हैं। परन्तु साविधानिक दृष्टि से इस क्षेत्र के साथ ब्रिटेन का सम्बन्ध सर्वाधिक महत्व का है। ब्रिटेन ने सत्रहवी शताब्दी से समय-समय पर कई वेस्ट इण्डियन द्वीपो पर अधिकार कर लिया था। इनमे बेरबेडॉस, जमैका, लीवर्ड और विण्डवर्ड द्वीप, ट्रिनिडाड और टोबेगो शामिल थे। इनमे से प्रत्येक मे ब्रिटेन ने एक कार्यपालिका परिषद् और एक विधान परिषद् स्थापित करके धीरे-धीरे उनमे वेस्ट इण्डियन लोगो को उनके कार्य मे भाग लेने के लिये स्थान दिया। द्वितीय विश्वयुद्ध के अन्त तक साविधानिक प्रगति, विशेषकर जमैका और बेरबेडॉस मे, हो चुकी थी। उस समय तक इन दोनो उपनिवेशो मे एक विधान परिषद् और एक पूर्णतया निर्वाचित विधान सभा युक्त एक द्विसदनी विधानमडल था। इसके अतिरिक्त, प्रत्येक सभा मे, अधिकतर एक सशक्त मजदूर आन्दोलन के विकास के कारण वेस्ट इन्डियनो की बहुसख्या हो गई थी। इससे आगे बढकर साविधानिक कदम उस समय उठाया गया जब वेस्ट इण्डियन द्वीपो का सघ बनाने का प्रस्ताव सामने आया।

इस सभावना पर सर्व प्रथम विचार 1947 मे जमैका मे एक सम्मेलन मे हुआ था। उस समय तो उसका कोई परिणाम नही निकला परन्तु 1956 मे लन्दन मे एक

सम्मेलनमे उसपर फिर विचार हुआ और इसबार कुछ दृढ निर्णय किय गये। पार्लाका आवश्यक समर्थकारी अधिनियम (Enabling Act) पारित किया गया और मेट एक सपरिषद रानी के आदेश (Order-in-Council) के अनुसार 1958 मे वेस्ट इण्डीज के सघ (Federations of the West Indies) की स्थापना की गई। सघ का निर्माण करनेवाली इकाइयाँ दस उपनिवेश थे जो उपरिलिखित द्वीपो एव द्वीप समूहो मे शामिल थ जिनकी भूमि का क्षेत्रफल 8,000 वर्गमील और जनसख्या तीस लाख से कुछ अधिक थी। सविधान के अनुसार एक द्विसदनी सघीय विधानमडल की स्थापना हुई-गवर्नरजनरल द्वारा नामनिर्देशित सिनेट और प्रत्येक सघनिर्माती इकाई की जनसख्या की अनुपातिक सख्या मे निर्वाचित प्रतिनिधि-सभा। ब्रिटिश सरकार ने प्रतिरक्षा, परराष्ट्र सम्बन्ध और आर्थिक स्थिरता के सम्बन्ध मे ऑर्डर्स इन कौंसिल द्वारा विधि-निर्माण का अधिकार अपने लिय सुरक्षित रखा। शेष सब विषय सघीय सरकार के जिम्म रहे (इस जिम्मेदारी मे प्रादेशिक विधानमडल भी जो स्थानीय मामलो की व्यवस्था करते रह, भाग लेते थे) और इस प्रयोजन के लिये गवर्नरजनरल को परामर्श देने के लिय एक प्रधान मत्री और कैबिनेट की व्यवस्था की गई जो विधानमडल के प्रति उत्तरदायी थे।

दुर्भाग्यवश, यह साहसिक सघीय प्रयोग सफल न हो सका। जमैका को सघ मे प्राप्त प्रतिनिधित्व से और जो अधिकार उसे सघीय सत्ता को सौपने पडे थे उनके बलिदान से बडा असन्तोष रहा। सन् 1961 मे जमैका मे किये गये जनमतसग्रह मे सघ से हट जाने के पक्ष मे निर्णय हुआ। शीघ्र ही इसी प्रकार का निर्णय ट्रिनिडाड और टोबैगो (सयुक्त) मे भी हुआ। फलत इनमे से प्रत्येक प्रदेश ब्रिटिश राष्ट्रमडल के अन्तर्गत एक स्वतत्र डॉमिनियन बन गया। इन प्रदेशो के अलग हो जाने से सघ कमजोर हो गया और उसके भग होने की नौबत आ गई। तब यह अनुभूति हुई कि सम्बद्ध पक्षो के लिये दो ही सभाव्य उपाय है-या तो सघ के अवशिष्ट सदस्य दृढता के साथ मिल कर एक एकात्मक राज्य के निर्माण का निश्चय करे और उस रूप मे पूर्ण स्वतत्रता प्राप्त करें, या सब अलग-अलग हो जायँ और जमैका, ट्रिनिडाड तथा टोबैगो के समान पृथक् स्वतत्रता प्राप्त करने का प्रयत्न करे। इस प्रयोग की असफलता उस सत्य का, जिस पर हमने पहले बल दिया है, ज्वलत प्रमाण है कि एक सघ तभी सफल हो सकता है जब कि इकाइयाँ सयोग की इच्छा करें।

6. उपनिवेशवाद और न्यासित्व

युद्धोत्तर औपनिवेशिक क्रान्ति के दौरान जहाँ तक उसकी प्रगति हुई है, एक अरब के लगभग लोग-ससार की जनसख्या की एक-तिहाई के लगभग-साम्राज्यिक

आधिपत्य से मुक्त हो गये है। जैसा हम देख चुके है, इस विशाल आन्दोलन के पीछे प्रेरक शक्ति एक नये प्रकार का राष्ट्रीयतावाद रहा है जिसका उदय ठीक उस समय हुआ जब कि प्राचीन योरोपियन राष्ट्रीयतावाद स्पष्ट रूप से निर्बल हो रहा था। फिर भी यह बात ध्यान देने योग्य है कि कम से कम अफ्रीका मे इस नये राष्ट्रीयतावाद ने दो रूप धारण किय है—प्रथम, सकुचित रूप जिसमे समस्त ध्यान पहले ही से निर्मित राष्ट्र-राज्य को तुरन्त सुदृढ बनाने पर लगाया गया है और द्वितीय, एक विस्तृत आन्दोलन, जिसे अखिल-अफ्रीकीवाद (Pan-Africanism) कहते हैं, जो समस्त महाद्वीप के राज्यो के एक हो जाने का स्वप्न देखता है। वास्तव म, घाना गणराज्य के दस्तावेजी सविधान (1960) मे इस आदर्श का स्पष्ट शब्दो मे निरूपण किया गया। सविधान के अनुच्छेद 2 मे अफ्रीकी एकता की उपलब्धि नामक शीर्षक के अन्तर्गत कहा गया है—

'इस विश्वास मे कि शीघ्र ही वह समय आएगा जब प्रभुता अफ्रीकी राज्यो एव प्रदेशो के सघ को समर्पित होगी, जनता ससद् को घाना की समस्त प्रभुता अथवा उसका कोई भी भाग समर्पित करने की व्यवस्था करने का अधिकार देती है।

पुराना उपनिवेशवाद यदि मृतक नही तो मृतप्राय है परन्तु इसका यह अर्थ नही है कि ससार के अधिक उन्नत देशो को भविष्य मे अल्पविकसित देशो की, जिनमे वे देश भी शामिल है जिन्होने स्वतन्त्रता प्राप्त करली है, सहायता के लिय कुछ करना शेष नही रहा। अफ्रीकी लोग एक अखिल-अफ्रीकी राज्य का स्वप्न देख सकते है परन्तु इसी बीच मे जो राज्य बन गय है उनमे स्थिर सरकार स्थापित करने, अपने प्राकृतिक साधनो का विकास करने, रोग, गदगी और निरक्षरता से सघर्ष करने की आवश्यकता है। अल्पविकसित देशो की सहायता करने के लिये ब्रिटिश कॉलोनियल डेवलपमेंट कॉर्पोरेशन, अन्तर्राष्ट्रीय कोलम्बो प्लान एव अनेक अमेरिकन सगठन जैसी कई एजेन्सियाँ कार्य कर रही हैं। इनके अतिरिक्त सयुक्त राष्ट्र की विशिष्ट एजेन्सियाँ है जो सयुक्त राष्ट्र की आर्थिक एव सामाजिक परिषद् के साथ (जिसका वर्णन आगे एक अध्याय मे किया गया है) मिलकर कार्य कर रही हैं। परन्तु यदि इन नये मुक्त लोगो के सविधानिक दावे उचित सिद्ध होते है तो अभी बहुत कुछ करना शेष है।

यदि ये बाते उन लोगो के विषय मे ठीक हैं जो स्वतन्त्र हो चुके है तो उनके विषय मे वे कितनी सत्य होगी जिन्हें अभी अपना लक्ष्य प्राप्त करना है। उनके भविष्य की सुरक्षा उन लोगो के हाथो मे है जिनके सरक्षण मे वे रह रहे है। इन सब मामलो मे उपनिवेशवाद के पुराने विचारो के स्थान पर न्यासिता के सिद्धान्त की प्रतिष्ठा होनी चाहिये। इस सिद्धान्त का प्रतिपादन राष्ट्रसघ की प्रसविदा मे किया गया था जिसने प्रादेश पद्धति (Mandates System) प्रवर्तित की थी।

इस समस्या पर सयुक्त राष्ट्र के चार्टर मे तीन अध्याय है। उनमे से प्रथम अध्याय स्वशासन रहित प्रदेश सम्बन्धी घोषणा से प्रारभ होता है जिसमे कहा गया है कि सयुक्त राष्ट्र के जिन सदस्यो पर उन प्रदेशो के प्रशासन का उत्तरदायित्व है जिनके लोगो को अभीतक पूर्ण स्वशासन प्राप्त नही हुआ है, उन्हें स्वीकार करना चाहिये कि 'इन प्रदेशो के निवासियो के ही हित सर्वोपरि है' और उन्हें चाहिये कि वे उनके हित की अभिवृद्धि के कर्तव्य का एक पवित्र न्यास के रूप मे ग्रहण करे।' इसी अनुच्छेद मे आगे कहा गया है कि ऐसे सदस्य तदनुसार, अन्य बातो के साथ-साथ प्रत्येक प्रदेश और उसके लोगो की विशिष्ट परिस्थितियो और प्रगति की विभिन्न अवस्थाओ के अनुसार उनमे स्वशासन का विकास करने, उनकी राजनीतिक आकाक्षाओ का उचित ध्यान रखने और उनकी स्वतत्र राजनीतिक सस्थाओ के क्रमिक विकास मे उनकी सहायता करने का कार्य, ग्रहण करते है।

सयुक्त राष्ट्र के चार्टर मे निरूपित न्यास-सिद्धान्त ने उन्नत दशा के अल्पाधिकार युक्त लोगो के साथ सम्बन्धो की सकल्पना को विश्व की सार्वजनिक विधि मे एक बिलकुल ही नये स्तर पर रख दिया है। इस प्रयोजन के लिये सयुक्त राष्ट्र ने एक न्यास परिषद् (Trusteeship Council) की स्थापना की है। परन्तु इस सिद्धान्तो को व्यावहारिक रूप देने के लिये केवल उपकरण मात्र ही पर्याप्त नही है। अन्ततोगत्वा न्यासिता के विचार की सफलता या असफलता एक अन्त-र्राष्ट्रीय सस्था के अस्तित्व पर, जो नैतिक प्रभाव डालने और मानवजाति के कल्याण एव विश्व शान्ति के भविष्य के इस महत्वपूर्ण पक्ष पर ध्यान केन्द्रित करने से अधिक कुछ नही कर सकती, उतनी निर्भर नही है जितनी कम विकसित लोगो को स्वशासन की विभिन्न अवस्थाओ मे से गुजरते हुए अन्त मे स्वतन्त्रता तक पहुचने के लिये प्रोत्साहित करने की अधिक शक्तिशाली एव समृद्धिशाली राष्ट्रो की इच्छा पर निर्भर है।

15

राज्य का आर्थिक संगठन

1. लोकतन्त्र : राजनीतिक एवं आर्थिक

हमने अब तक सविधानी राज्य के राजनीतिक अवयवो की ही चर्चा की है, किन्तु उसके आर्थिक सगठन के विषय मे विचार करना अभी बाकी है जो आधुनिक काल मे राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय दोनो समस्याओ पर महत्वपूर्ण प्रभाव डालता है। *यहा हमारा आशय आर्थिक समस्याओ का गहन अध्ययन करना नही,* किन्तु केवल यह बताना है कि सविधानी राज्य मे वास्तविक आर्थिक लोकतन्त्र की स्थापना के लिए क्या किया गया है और क्या किया जा सकता है। आर्थिक लोकतन्त्र से हमारा तात्पर्य जीवन की भौतिक परिस्थितियो को राजनीतिक लोकतन्त्र के द्वारा *नियन्त्रित करने के प्रयत्न से ही नही,* वल्कि राजनीतिक प्रयोजनो के लिए पहले से ही विद्यमान अवयवो के समान आर्थिक नियन्त्रण के अवयवो के गठन से भी है। जहा तक यह साविधानिक प्रश्न से परे है—और कई दृष्टियो से उसका ऐसा होना स्वभावत अनिवार्य है—वहा तक उसकी चर्चा हमारे क्षेत्र से बाहर है। किन्तु *जहा तक यह व्यावहारिक साविधानिक राजनीति के कार्यक्षेत्र के या तो अन्दर है* या अन्दर लाया जा सकता है वहा तक इसकी विवेचना करना हमारे लिए आवश्यक है।

आधुनिक राज्य के प्रारम्भिक दिनो मे शासन के आर्थिक कृत्यो को पूरी तरह *मान्यता दी जाती थी और राजमर्मज्ञ राष्ट्रीय शक्ति के लिए विधियो और विनि*यमो के द्वारा समाज के आर्थिक कार्यकलापो को नियन्त्रित करना अपना कर्त्तव्य समझते थे। इसे 'वाणिज्य प्रणाली (Mercantile System) कहते थे और यह इस विश्वास पर आधारित थी कि सम्पत्ति के अन्तर्गत केवल धन या बहुमूल्य धातुए *ही होती हैं जिन पर अधिकार होना राष्ट्रीय शक्ति का द्योतक है।* सत्रहवी शताब्दी से आगे पाश्चात्य योरोप मे यह विचारधारा सर्वमान्य-सी हो गई थी और उन दिनो लगभग समस्त राजनीतिक कार्य की मुख्य प्रेरक यही थी। बाह्य राजनीति मे इस विचारधारा के फलस्वरूप योरोपीय और औपनिवेशिक युद्ध हुए जिनमे अठारहवी शताब्दी व्यस्त रही और आन्तरिक राजनीति मे उसके कारण व्यापार और उद्योग पर अनेक प्रतिबन्ध लगाए गए जिनसे कि राज्य

भारग्रस्त रहा। तब शताब्दी के अन्तिम चरण मे इस विचारधारा पर वह घातक प्रहार आरम्भ हुआ जिसका आरम्भ एडम स्मिथ ने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक '**राष्ट्रो की सम्पत्ति** (Wealth of Nations) मे किया। उसकी इस युक्ति का प्रतिरूप, कि व्यक्ति ही अपने आर्थिक हितो का सर्वोत्तम निर्णायक है, अठारहवीं शताब्दी के अन्तिम और उन्नीसवी शताब्दी के प्रारम्भिक दिनो के राजनीति-दर्शन मे प्रकट हुआ। अमरीकी और फ्रासीसी क्रांतियो के सिद्धान्तवादियो और टॉमस पेन, जेरेमी बैन्थम और विलियम वॉन हम्बोल्ट जैसे प्रसिद्ध लेखको ने अपने अलग-अलग तरीको पर यह कल्पना की कि शासन एक अनिवार्य बुराई है। अतएव, उन्होने यह दलील दी कि व्यक्ति के मामलो मे उसका हस्तक्षेप न्यूनतम होना चाहिए और सच तो यह है कि उसका एकमात्र कर्तव्य व्यक्ति को हिंसा और कपट से बचाना है। इन विचारको का कहना था कि शासन तो न्याय करने का एक यंत्र मात्र है, इसलिए उसके किसी प्रकार के भी आर्थिक कार्य बिलकुल ही अनुचित हैं।

ये सिद्धान्त तत्कालीन परिस्थितियो के अनुरूप प्रतीत होते थे। इगलैण्ड मे औद्योगिक क्रांति की विघटनकारी शक्ति ने, जिसका गम्भीर प्रभाव उन्नीसवी शताब्दी के प्रारम्भ मे होने लगा था, समस्त राज्य-विनियमो को अनुपयुक्त बना दिया और नेपोलियनी युद्ध एव तज्जनित परिस्थितियो के फलस्वरूप उत्पन्न होने वाली टोरी प्रतिक्रियावाद के पश्चात् सुधारो का युग आरम्भ हुआ जिसके परिणामस्वरूप उपर्युक्त समस्त विनियम समाप्त हो गए और समाज के आर्थिक क्रियाकलाप मे राज्य द्वारा हस्तक्षेप न करने (Laissezfaire) की नीति का समारम्भ हुआ। व्यापक रूप से यह युग सन् 1825 से 1870 तक रहा, जिसे डायसी ने '**बैन्थमी व्यक्तिवाद का युग**' कहा है। उन्नीसवी शताब्दी के इस व्यक्तिवाद ने मुख्य रूप से उस राजनीतिक सविधानवाद के द्रुत विकास को प्रेरित किया जिसकी हमने इन पृष्ठो मे चर्चा की है। किन्तु इस 'अहस्तक्षेप' नीति के प्रयोग से इस काल मे इतना अनर्थ हुआ कि अन्त मे राज्य के आर्थिक कृत्यो के सम्बन्ध मे एक नई धारणा का अभ्युदय हुआ और यह विश्वास दृढ हो गया कि सरकारो को समाज के आर्थिक हित को व्यवस्थित करने मे अधिकाधिक भाग लेना चाहिए क्योंकि इन सब मामलो मे समाज स्वय ही व्यवस्था करने के अयोग्य सिद्ध हुआ है। इस प्रकार उस नीति का आरभ हुआ जिसे सामान्यतया '**समष्टिवाद**' कहते हैं। प्रथम दृष्टि मे ऐसा जान पडता है मानो यह पहले के राजनीतिक व्यवहार की एक प्रतिक्रिया हो और पहिये ने पूरा चक्कर लगा लिया हो। किन्तु यह समानता देखने मे ही है, यथार्थ मे नही, चूंकि इस नीति को केवल मानवता की भावनाओ से प्रेरणा ही नही मिली, जिससे निश्चय ही वाणिज्य प्रणाली का कोई सम्बन्ध नही था, बल्कि इसका ऐसे प्रयत्नो के प्रसग मे निरन्तर विस्तार भी हो रहा है

जिनका उद्देश्य राज्य को ऐसी शक्तियों द्वारा (जो इससे पहले के युग में अज्ञात थी) नष्ट होने से बचाना है, जो राजनीतिक लोकतंत्र को अपने-आपमें निरर्थक और जनता के वास्तविक भौतिक हितों की प्राप्ति के अयोग्य इसलिए समझती हैं कि वह अपने स्वरूप से ही उन आर्थिक हितों के द्वारा पहले से ही नियंत्रित होता है जिनका मुकाबला केवलमात्र मतदान-व्यवस्था से नहीं किया जा सकता।

इस समष्टिवाद की नीति के, जिसका साररूप में तात्पर्य समुदाय के आर्थिक हितों के लिए राज्य के दमनकारी यंत्र का उपयोग है, फलस्वरूप शासन के अवयवों की संख्या बहुत बढ़ गई है, क्योंकि इसके परिणामस्वरूप उसके कृत्यों का भारी विस्तार हुआ है। यही कारण है कि आधुनिक विश्व के प्रत्येक प्रगतिशील राज्य में ब्रिटेन में विद्यमान विभागों के समान अनेक नए सरकारी विभाग जैसे कृषि, श्रम स्वास्थ्य खाद्य, ईंधन एवं विद्युत विभाग खुल गए हैं। अब सभी राजनीतिक दल समष्टिवाद को न्यूनाधिक रूप में कार्य का सिद्धान्त मानते हैं। इस विषय में संविधानवादियों में मतभेद केवल इस बात पर है कि समष्टिवादी नीति को किस हद तक ले जाना चाहिए। पुरानी विचारधारा को माननेवाले राजनीतिक दल इस सम्बन्ध में राज्य द्वारा कुछ हद तक कार्यवाही किये जाने की बात को मानते हुए भी अपने मुख्य सिद्धान्तों में व्यक्तिवादी ही हैं और इस सिद्धान्त को मानने से इन्कार करते हैं कि राज्य को उत्पादन के साधनों का स्वामित्व ग्रहण कर लेना चाहिए। दूसरी ओर, समाजवादियों का विश्वास है कि ऐसा किया जाना चाहिए और राज्य के संविधान में, जिस रूप में हम उसे जानते हैं, मूलभूत परिवर्तन किए बिना ही ऐसा करना सम्भव है। इसके अतिरिक्त, समाजवादियों का यह भी कहना है कि यदि संवैधानिक राज्य इस आर्थिक मांग को जो उत्तरोत्तर बढ़ती जाएगी और आग्रहपूर्ण होती जाएगी, पूर्ति करने में असमर्थ सिद्ध होता है तो उसका स्थान किसी अन्य प्रकार के दमनकारी सामाजिक संगठन को ग्रहण कर लेना चाहिए।

राज्य व आर्थिक संगठन का उग्रतम रूप रूस के साम्यवादी शासन के अधीन रूस के पिछलग्गू राज्यों में और उससे भी अधिक लाल चीन में पाया जाता है। वास्तव में, लेनिन के मूल सोवियत संविधान का राज्य के राजनीतिक संगठन की अपेक्षा आर्थिक संगठन से अधिक सम्बन्ध था। किन्तु इस कारण वह कम दमनकारी नहीं था। लेनिन के कथनानुसार रूसी क्रांति ने समाजवाद अथवा लोकतंत्र की स्थापना नहीं की थी, बल्कि सर्वहारा वर्ग के अधिनायकत्व के द्वारा पोषित एक संक्रान्तिकालीन सर्वग्रवादी राज्य की स्थापना की थी जो क्रांति के उद्देश्यों की क्रमिक प्राप्ति के साथ-साथ लुप्त हो जायगा। लेनिन का कहना था कि अन्तत एक ऐसा वर्गहीन समाज स्थापित हो जाएगा जिसमें किसी भी प्रकार का राज्य अनावश्यक हो जाएगा। किंतु स्पष्ट है कि यह अवस्था अभी तक नहीं आ पाई

है, क्योकि रूस मे साम्यवादी व्यवस्था का समग्रवाद आज भी लेनिन के समय से कम स्पष्ट नही है।

2. आर्थिक परिषदें और सोवियतें

जिन पाश्चात्य संविधानी राज्यो की हमने चर्चा की है उनकी एक सामान्य बात यह है कि उनकी सभी निर्वाचन-प्रणालिया का आधार प्रादेशिक निर्वाचन-क्षेत्र है। इसी बात को सुधारको ने अधिकतर राजनीतिक लोकतंत्र की एक कमजोरी माना है और उनमे से कई का यह विचार है कि यदि इसके स्थान पर नही तो कम-से-कम पूरक रूप मे इसके साथ वृत्तिक या व्यावसायिक निर्वाचन क्षेत्र होने ही चाहिए। ऐसी प्रणाली के अधीन निर्वाचक आज की तरह निवास स्थान के जिले की जगह अपने व्यवसाय या वृत्ति के आधार पर मतदान करेगा। इस प्रकार इस प्रणाली के आधार पर आर्थिक हितो का ऐसा प्रतिनिधित्व प्राप्त हो जाएगा जैसा केवल क्षेत्र विभाजन के आधार पर कभी नही हो सकता। इस उद्देश्य की प्राप्ति के लिए एक तरीका यह सुझाई देता है कि द्वितीय सदन को नया रूप देना चाहिए, जिसमे वह व्यावसायिक निर्वाचन-क्षेत्रो से सदस्य लेकर राष्ट्रीय जीवन के इस पक्ष का प्रतिनिधित्व कर सके और अवर सदन मे आज की तरह प्रादेशिक निर्वाचन-क्षेत्रो से निर्वाचित सदस्य भी पहुचते रहें। जैसा कि हम देख चुके हैं, सन् 1937 के संविधान के अधीन आयर मे इस विचार को आशिक रूप मे स्वीकार किया गया था और सिनेट मे वृत्तिक एवं व्यावसायिक समुदायो के प्रतिनिधियो के प्रत्यक्ष निर्वाचन की व्यवस्था की गई थी।

इसी उद्देश्य की प्राप्ति एक और तरीके से अर्थात् आर्थिक परिषदो द्वारा हो सकती है जिनकी आयरिश स्वतंत्र राज्य (सन् 1922) के मूल संविधान के अधीन और वेमर गणतंत्र (सन् 1919) मे परीक्षा की गई थी और जैसी फ्रास मे चतुर्थ गणतंत्र के संविधान के अधीन स्थापित की गई थी और जो पचम गणतंत्र मे भी बनी हुई हैं।

आयरिश स्वतंत्र राज्य के संविधान के अनुच्छेद 45 मे कहा गया है कि संसद्—

> "राष्ट्र के सामाजिक और आर्थिक जीवन की शाखाओ का प्रतिनिधित्व करने वाली वृत्तिक या व्यावसायिक परिषदो की स्थापना के लिए उपबन्ध कर सकेगी।" परन्तु बाद मे इस योजना का परित्याग कर दिया गया और उसके स्थान पर उन हितो को सिनेट मे प्रतिनिधित्व दिया गया।

वेमर संविधान इससे भी आगे बढ गया। उसके अनुच्छेद 165 मे कहा गया है कि मजदूरो को व्यक्तिगत व्यवसायो की मजदूर परिषदो मे और आर्थिक जिलो के अनुसार एकीकृत जिला मजदूर परिषदो मे तथा राज्य की मजदूर

परिषद म प्रतिनिधित्व प्राप्त होना चाहिए। इन परिषदो को मालिका के प्रतिनिधियो के साथ मिलकर, जिला आर्थिक परिषदो और राज्य की आर्थिक परिषद् का निर्माण करना चाहिये।

सामाजिक और आर्थिक विधायन के विषयो से सम्बन्धित सभी महत्वपूर्ण विधेयको को ससद् मे प्रस्तुत किए जाने से पूर्व, आर्थिक परिषद् के पास भेजने की व्यवस्था की गई थी और आर्थिक परिषद् को स्वय भी ऐसे विधान का प्रस्ताव करने का अधिकार था। जिस समय हिट्लर ने वेमर सविधान के साथ आर्थिक परिषद् को भी समाप्त कर दिया उस समय तक इस योजना ने कुछ प्रगति करली थी। सन् 1949 के सघीय सविधान मे उसे स्थान नहीं मिला परन्तु 1921 मे पारित एक विधि ने 'सह प्रबन्ध' (Co-Management) या 'सह-निर्धारण' (Co-determination) के सिद्धान्त की पुष्टि की जिसके द्वारा मजदूरा को समस्त अधिक बडे उद्योगो एव व्यवस्थाओ के प्रबन्ध मे भाग मिला और जो विशेषकर कोयले, लोहे और फौलाद के उत्पादन को लागू की गई। पश्चिमी जर्मनी के आश्चर्यजनक युद्धोत्तर आर्थिक पुनरुत्थान मे इस योजना ने निस्सन्देह बडा महत्व पूर्ण भाग लिया है।

फ्रान्स मे सन् 1946 के सविधान द्वारा एक आर्थिक परिषद् की स्थापना हुई जिसका कार्य आर्थिक क्षेत्र से सम्बन्धित विधियो की उन योजनाओ पर विचार करना और परामर्श देना था जो वहस के पूर्व राष्ट्रीय सभा उसके पास भेजती थी। सन् 1958 के सविधान ने भी ऐसी ही एक सभा स्थापित की और उसका नाम आर्थिक एव सामाजिक परिषद् रखा जिसका कार्य प्रस्तावित विधेयको पर, 'जब कभी सरकार माँगे', अपनी राय देना था।

इस प्रकार यह महान् समस्या हमारे सम्मुख उपस्थित होती है कि क्या राज्य की प्रभुसत्ता को इस प्रकार विभाजित करना सम्भव है। एक लेखक ने स्पष्टतापूर्वक कहा है कि राज्यसमाजवाद और सघाधिपत्यवाद (Syndicalism) के बीच का कोई मार्ग नही है, अर्थात् प्रभुसत्ता अविभाज्य है, और इसलिए वह अपनी इच्छा या तो एक राजनीतिक अवयव के रूप मे ससद् के द्वारा क्रियान्वित करेगी जो आर्थिक सस्थाओ द्वारा किसी भी प्रकार का हस्तक्षेप सहन नही करेगी, हा, जहा तक उसने उन्हें स्वेच्छा से स्वीकार कर लिया हो, वह बात अलग है, या फिर पूर्ण शक्तियोवाली उद्योग ससद् (Parliament of Industry) द्वारा कार्य करेगी जो सघाधिपत्यवाद का सार है। यही प्रश्न दो सदनों—एक राजनीतिक और एक आर्थिक—के सम्बन्ध मे भी पैदा होता है—अर्थात्, क्या ये वास्तव मे परस्पर समकक्ष निकाय हो सकते हैं ? इस प्रकार प्रश्न यह है कि क्या सविधानी राज्य स्वेच्छा से अपनी प्रभुसत्ता म एक समान सत्ता को भागीदार बना सकता है, और यदि वह हिंसा के आगे आत्मसमर्पण कर देता है तो क्या फिर भी यह

विरोधी सिद्धान्त के विरुद्ध अपना लिया था, जिसे (निरन्तर क्रांति के सिद्धान्त को) लेनिन की मृत्यु के पश्चात् त्रात्स्कीवादियों ने अपनाया था और स्टालिन ने 'बोल्शेविज्म से असगत' घोषित किया था। किन्तु तब से कम्यूनिस्ट रूस की आसपास के राष्ट्रों के राजनीतिक और आर्थिक सगठन को प्रभावित करने की शक्ति बहुत अधिक और इस प्रकार बढ़ गई है कि जिसकी समाजवादी राज्य के संस्थापक कल्पना भी नहीं कर सकते थे। इसका मुख्य कारण द्वितीय विश्वयुद्ध में उसकी विजय है। यद्यपि रूस ने इस विजय के लिए जन, धन और साधनों के रूप में भारी मोल चुकाया, किन्तु, चाहे यह अच्छा हो या बुरा अब रूस पूर्वी योरोप के राज्यों पर हावी है जो आर्थिक पुनर्निर्माण के साधन के रूप में राजनीतिक यंत्र का प्रयोग करने की अपनी आवश्यकता के सिलसिले में पाश्चात्य संविधानवाद और सोवियत् समग्रवाद के विरोधी तरीकों के बीच फंसे हुए हैं।

3. निगम-राज्य

अब एक और प्रकार का राजनीतिक-आर्थिक सगठन शेष है जिसकी हमको विवेचना करनी है। यह फासिस्ट इटली में मुसोलिनी द्वारा और पुर्तगाल में सालाज़ार द्वारा स्थापित निगम राज्य का प्रयोग है। मुसोलिनी की योजना यद्यपि उसके साथ ही समाप्त हो गई और सन् 1947 के इटली के गणतंत्र के संविधान में उसके किसी भी तत्व का समावेश नहीं किया गया है, फिर भी उसकी कई बातें लोकतंत्रवादियों द्वारा अध्ययन के अयोग्य नहीं हैं, हालांकि उसके निर्माण में मुसोलिनी का उद्देश्य लोकतंत्रविरोधी था। निगम राज्य उस सिद्धान्त पर आधारित था जिसे मुसोलिनी 'राष्ट्रीय सघाधिपत्यवाद' कहता था और इसमें कोई सन्देह नहीं कि राजनीतिक शक्ति प्राप्त करने से पूर्व के दिनों में सघाधिपत्यवादियों के साथ उसका सहयोग इस सकल्पना के लिए उत्तरदायी था, हालांकि उसका उद्देश्य *सघाधिपत्यवाद के अनुसार उद्योग के क्षेत्र में स्व-शासन की स्थापना* नहीं बल्कि उद्योग का राष्ट्रीय नियंत्रण था।

व्यावहारिक रूप में इस योजना का आरम्भ सन् 1924 में हुआ था जब कि इसकी सम्भावनाओं पर विचार करने के लिए एक विशेष आयोग नियुक्त किया गया था। इस आयोग ने अपनी रिपोर्ट में औद्योगिक समस्याओं को हल करने के लिए अन्य राज्यों द्वारा प्रयुक्त पद्धतियों—ब्रिटेन के मजदूरसघवाद, सयुक्तराज्य की न्याय-व्यवस्था, रूसी साम्यवाद में प्रयुक्त मार्क्सवादी सिद्धान्त, वेमर गणतंत्र के संविधान के अधीन जर्मनी में स्थापित आर्थिक परिषदों और उदार लोकतंत्रवाद—की परीक्षा की। रिपोर्ट के अनुसार इन सब पद्धतियों में एक सामान्य खराबी यह थी कि उनमें राज्य की सर्वोच्चता को क्षीण करने की प्रवृत्ति थी जिस प्रवृत्ति को कि नए निगम-राज्य को हर हालत में रोकना चाहिए। उसमें

आगे कहा गया था कि इटली के पुराने सघाधिपत्यवादी केवल सर्वहारा वर्ग के हितो की ही उन्नति और सुरक्षा चाहते थे, जब कि पूजीपति लोग, हाथ से काम करने वाले मजदूर तथा बुद्धिजीवी श्रमिक वर्ग अपने-आपको पृथक् एव परस्पर विरोधी और राज्य से ऊपर नही तो उसके बाहर के तत्व समझते थे। राष्ट्रीय फासिस्ट सघाधिपत्यवाद इन तीनो वर्गों को समान रूप से राष्ट्रीय हित के अधीन करके इस विरोध को समाप्त कर देगा। किन्तु यह दावा नहीं किया गया कि राज्य मे उत्पादन को स्वय सभाल लेने की योग्यता है। समाज की आर्थिक प्रगति के लिए पूजीवाद और निजी उद्यम का अस्तित्व आवश्यक समझा गया था, किन्तु उसके अधिकारो और स्वतत्रता को भी राज्य की सर्वोच्चता के अनुकूल बनाया जाना आवश्यक समझा गया।

इस रिपोर्ट के आधार पर एक नई सघाधिपत्यीय अथवा मजदूर सघ विधि (Syndical or Trades Union Law) पारित की गई और वह अप्रैल सन् 1926 मे प्रवर्तित हुई। इसके पश्चात्, जुलाई सन् 1926 मे, एक आज्ञप्ति जारी की गई जिसने नए अधिनियम की ब्यौरे वार व्यवस्थाओ की पूर्ति की। अन्त मे अप्रैल सन 1927 मे एक श्रम अधिकार पत्र प्रकाशित किया गया। विधि तीन भागो मे विभाजित की गई। पहले भाग से तीन प्रकार के, अर्थात् मालिको, हाथ से काम करने वालो और बौद्धिक कार्यकर्त्ताओ के, सिंडीकेटो या सघो (Syndicates or Unions) के गठन और नियत्रण की व्यवस्था की गई। अधिनियम के दूसरे भाग के द्वारा विशेष न्यायालय स्थापित किए गए जो 'श्रम न्यायालय' (Magistracy of Labour) कहलाते थे और समस्त विवादग्रस्त मामलो को उसके समक्ष प्रस्तुत करना अनिवार्य था। अधिनियम के तीसरे भाग के द्वारा समस्त हड़तालो और तालाबन्दियो का निषेध कर दिया गया, जिसके उल्लघन के लिए कठोर-से-कठोर दड की व्यवस्था की गई।

जुलाई सन् 1926 की आज्ञप्ति मे कहा गया था कि अठारह वर्ष से अधिक की आयु का कोई भी व्यक्ति सिंडीकेट मे सम्मिलित हो सकता है, "यदि उसका नैतिक और राजनीतिक आचरण अच्छा हो।" अप्रैल सन् 1927 मे जारी किये गये श्रम अधिकार-पत्र (Charter of Labour) मे यह भी कहा गया था कि 'वृत्तिक या सिंडिक सगठन स्वतत्र हैं, किन्तु मालिको और कर्मचारियो का वैध रूप से प्रतिनिधित्व करने का, अपनी श्रेणी के कर्मचारियो के लिए सामूहिक श्रम-सविदाए करने का और उन पर चदा आरोपित करने का अधिकार केवल राज्य के नियत्रणाधीन और मान्यीकृत सघ को ही है।"

इस प्रकार सन् 1927 तक नए आर्थिक सगठन की नीव अच्छी तरह और वास्तव मे रख दी गई थी और ऊपरी ढाचा बनाना ही रह गया था। इस ढाँचे का निर्माण तीन मजिलो मे हुआ। प्रथम, 1926 की विधि के अधीन स्थापित

मालिकों के सिंडीकेटों और नौकरों के सिंडीकेटों के बीच राष्ट्रव्यापी सम्बन्ध स्थापित करने के लिये निगम (Corporations) स्थापित किये गये। इनका गठन बाईस राष्ट्रव्यापी आर्थिक कार्यों के मालिकों और कर्मचारियों की समान संख्या से होना था। *प्रत्येक निगम मे किसी भी संस्थान मे उत्पादन के क्रम से सम्बद्ध* सभी लोग—अर्थात् मालिक और नौकर, कच्चे माल के उत्पादक, उद्योगों के मालिक और मजदूर, निर्मित माल के व्यापारी, और प्रौद्योगिक एवं वैज्ञानिक विशेषज्ञ—आ जाते थे। इन बाईस निगमों की परिषदें नवम्बर सन 1934 मे स्थापित हुई। निगम-राज्य की रचना मे अन्तिम कदम सन् 1939 मे उठाया *गया जब कि प्रतिनिधि-सदन को समाप्त कर दिया गया और उसके स्थान पर* 'फासियों और निगमों का सदन' बना दिया गया। इसमे 682 सदस्य थे, जिनके दो तिहाई से कुछ अधिक निगमों के प्रतिनिधि होते थे, जो साधारणतया सिंडीकेटों के प्रमुख अधिकारी होते थे। बाकी सदस्य फासिस्ट पार्टी के अधिकारी होते थे। सदन के लिए किसी प्रकार का निर्वाचन नही होता था, अधिकतर सदस्य पदेन सदस्य होते थे , हालाकि ड्यूची (मुसोलिनी) द्वारा उन सब का अनुमोदन आवश्यक था और इसका काम केवल परामर्श देना था।

मुसोलिनी के निगम-राज्य की सफलता या असफलता को आकने का अवसर *नहीं मिला, क्योंकि जिस वर्ष अंतिम रूप मे उसकी स्थापना हुई उसी वर्ष शेष योरोप* की तरह इटली भी हिटलर के युद्ध मे फस गया। किन्तु इसमे सन्देह नही कि वह इटली को पतन से बचाने के लिए कुछ भी नही कर पाया। मुसोलिनी के निगम-राज्य का, दुर्बल लोकतंत्र की अव्यवस्थाओं को दूर करने के लिए रामबाण के रूप मे तथा दुनिया के लोकतंत्रीय राज्यों के लिए अपनी संस्थाओं के नवीकरण के लिए प्रेरणा के रूप मे, स्वागत किया गया था। ये बातें सही सिद्ध नही हुई, किन्तु योजना मे कुछ रचनात्मक बातें *अवश्य* थी। राजनीतिक लोकतंत्र की कमजोरी, जैसी हम पाश्चात्य संसार मे देखते है, यह है कि वह समाज के आर्थिक ढाचे को अधिकतर स्वयं अपना काम करने के लिये छोड देता है, और जहा बडे पैमाने पर आर्थिक आयोजन का कार्य भी किया जाता है, जैसा, उदाहरणार्थ, द्वितीय विश्वयुद्ध के पश्चात् ब्रिटेन मे हुआ, वहा विद्यमान राजनीतिक अवयवों का ही प्रयोग किया जाता है। मुसोलिनी की योजना की विशेषता यह थी कि उसने आर्थिक हितों के प्रतिनिधित्व को कम से कम राष्ट्रीय सभा मे पहुँचा दिया। *यह सच है कि फासियों और निगमों के सदन को कोई वास्तविक विधायी शक्ति* प्राप्त नही थी, किन्तु प्रादेशिक निर्वाचन-क्षेत्रों की अपेक्षा वृत्तिक हितों के आधार पर निर्वाचित सदन को ऐसी शक्ति से वंचित रखना उस योजना का सार नही है। *वास्तविक शक्ति वाले इस प्रकार के किसी सदन की योजना मे ऐसी व्यवस्था,* जो केवल आर्थिक पहलू पर ही बल देती है, और संसदीय व्यवस्था के जो आर्थिक

प्रतिनिधित्व की बिलकुल ही उपेक्षा करती है, बीच का मार्ग प्राप्त हो सकता है

इटली मे निगम राज्य समाप्त हो गया है, किन्तु पुर्तगाल मे वह अब भी विद्यमान है, जहा वह एण्टानियो सालाजार द्वारा जो 1932 मे प्रधानमत्री बना, विकसित एक प्रकार के अधिनायकत्व से भी सम्बद्ध है। सन् 1959 मे सशोधित सन् 1933 के सविधान के अधीन राष्ट्रपति सात वर्ष के लिए निर्वाचित किया जाता है और प्रधानमत्री सिद्धान्त की दृष्टि से उसके प्रति उत्तरदायी है। एक सौ बीस सदस्यो का एक एक-सदनी (नशनल एसेम्बली) विधानमडल है। इसके अतिरिक्त एक निगम-सदन (Corporative Chamber) भी है, जिसमे स्थानीय प्राधिकारियो तथा नैतिक सास्कृतिक एव आर्थिक हितो के प्रतिनिधि होते है। इस सदन वास्तव मे द्वितीय सदन नही है, क्योकि उसके पास कोई विधायी शक्ति नही है, किन्तु सविधान के अधीन यह व्यवस्था है कि समस्त विधेयक, राष्ट्रीय सभा द्वारा उन पर अन्तिम मत दिए जाने से पूर्व, उसके पास उसकी राय के लिए भेजे जाने चाहिए।

व्यवहार मे होता यह है कि ससदीय उम्मीदवार केवल वही होते है जिन्हे सरकारी दल खडा करता है, और राष्ट्रीय सभा के अधिवेशनो के बीच के लम्बे विश्रामकाल मे स लाजार के निरकुश प्रभाव के अधीन सरकार आज्ञप्ति के द्वारा विधान बनाती है। सालाजार के निगम-राज्य के सिद्धान्त के बारे मे यह कहा जाता है कि वह मार्क्सवादी साम्यवाद और उदार लोकतन्त्रवाद के बीच सरकार के सामान्य निरीक्षण के अधीन वृत्तिक समूहो के द्वारा एक मध्यमार्ग निकालने का प्रयत्न है। हडतालो और तालाबन्दियो का निषेध कर दिया गया है, किन्तु दूसरी ओर पुर्तगालियो को श्रमसबधी ऐसी विधिया प्राप्त है जिनका उन्होने पहले कभी भी अनुभव नही किया था। दूसरे शब्दो मे, मजदूरसघवाद और सामूहिक सौदे की व्यवस्था का समारम्भ किया गया है, किन्तु यह एक ऐसी अधिनायकवादी सत्ता के अधीन किया गया है जिसे पाश्चात्य योरोप के अधिकतर राज्यो के मजदूर कभी भी सहन नही करेंगे।

4. योरोपीय आर्थिक मण्डल

आज ससार मे राष्ट्रो की निरन्तर वर्धमान अन्योन्याश्रितता आर्थिक क्षेत्र मे सर्वाधिक दिखाई देती है। कोई भी आधुनिक सभ्य समाज बिलकुल आत्मपर्याप्त नही हो सकता और कोई राज्य कितनी ही कडाई से अपनी आन्तरिक अर्थ-व्यवस्था का सगठन एव नियत्रण क्यो न करे, वह विश्व आर्थिक शक्तियो की परस्पर क्रिया की उपेक्षा नही कर सकता। कोई राज्य कहाँ तक आत्मपर्याप्त हो सकता है,

यह बात मुख्यकर उसके आकार एव प्राकृतिक साधनो, उन साधनो के विकास *के लिये उसके तक्नीकी कौशल एव उपकरण और उसकी राजनीतिक स्थिरता* पर निर्भर है। समसामयिक ससार मे जो दो राज्य अन्य राज्यो की अपेक्षा आत्मपर्याप्तता की अवस्थाओ के अधिक निकट पहुँच गये हैं वे दो महान् अति-शक्तियाँ है—अमेरिका का सयुक्त राज्य और सोवियत समाजवादी गणतत्र सघ। उनकी *शक्ति इन मूल तथ्यो के कारण है कि दोनो विशाल महाद्वीपीय भू-भाग पर फैले* हुए हैं जिसमे तदनुसार विशाल एव विविध साधन हैं, जिनका विकास करने के लिये उनके पास साधन है और दोनो ही राजनीतिक सघ हैं जो एक ऐसी आर्थिक इकाई है जिसके भीतर कोई व्यापार रोध नही है।

उपर्युक्त बातो से द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद योरोपीय आर्थिक मण्डल (*European Economic Community*) या सामान्य बाजार (Common Market) के उदय को समझने की कुजी मिल जाती है। दोनो विश्वयुद्धो का इकट्ठा परिणाम, जैसा हमने पहले बतलाया है, विश्व शक्ति के केन्द्रो का स्थानान्तरण और पश्चिमी *योरोप को उसके पूर्ववर्ती राजनीतिक एव आर्थिक प्राधान्य से वचित करना* रहा है। पश्चिमी योरोप का द्वितीय विश्वयुद्ध के विनाशकारी प्रभावो से प्रत्युद्धार 1948 म आरम्भ हुआ जब यूनाइटेड स्टेट्स ने मार्शल सहायता की व्यवस्था की जिसके परिणामस्वरूप अनेक आर्थिक, राजनीतिक एव सैनिक सगठन बने जिनमे *योरोपीय आर्थिक प्रत्युद्धार के लिये सगठन* (*Organisation for European* Economic Recovery) भी शामिल है जो प्रत्युद्धार के कार्यक्रम की व्यवस्था करने के लिये निर्मित 16 राज्यो का एक सगठन है। तब 1950 म फ्रान्स के विदेश-मत्री रॉबर्ट शूमाँ ने 'एक ऐसे सगठन के ढाचे के अन्तर्गत, जिसमे योरोप *के अन्य देश भी भाग ले सकें, जर्मनी और फ्रान्स के कोयले और फौलाद के उत्पादन* को एक सामान्य उच्च सत्ता (Common High Authority) के अधीन रखने' की एक योजना प्रस्तुत की। सन् 1952 मे 6 राज्यो—बेल्जियम, फ्रान्स, इटली, लुक्समबर्ग, नैदरलैण्ड्स और पश्चिमी जर्मनी—ने एक सन्धि पर हस्ताक्षर किये *जिसके द्वारा योरोपीय कोयला और फौलाद मण्डल* (*European Coal and* Steel Community) स्थापित किया गया जिसम इन वस्तुओ के लिय सभी सदस्य-राज्यो के बीच समस्त व्यापार रोधो को धीरे धीरे हटा देना था।

इस कोयला और फौलाद मण्डल की सफलता से प्रभावित होकर छहो राज्य *उसके कार्य-क्षेत्र का विस्तार करने का विचार करने लगे और 1957 मे उन्होने* रोम की सन्धि पर हस्ताक्षर किये जिसके द्वारा योरोपीय आर्थिक मण्डल की स्थापना हुई। हस्ताक्षरकर्ता राज्यो ने क्रमिक रूप मे सीमाशुल्क कम करके व्यापारिक निर्बन्धन समाप्त करके, आर्थिक एव सामाजिक कार्यो मे तालमेल बिठाकर और *एक सामान्य कृषि-नीति के लिय कार्य करके अपने राज्यो के बीच*

वर्तमान आर्थिक अवरोधो को दूर करने का वचन दिया। इस सम्बन्ध मे जो विचार-विमर्श हुआ उसके फलस्वरूप एक दूसरी सन्धि से उसी वर्ष योरोपीय आणविक शक्तिमण्डल (Euratom) की स्थापना की गई। इसका उद्देश्य बडे पैमाने पर आणविक शक्ति के उत्पादन एव न्यूक्लीयर अनुसधान को प्रोत्साहित करने और उसमे समन्वय स्थापित करने के लिये आवश्यक तकनीकी एव औद्योगिक अवस्थाओ का निर्माण करना था।

रोम की सधि के हस्ताक्षरकर्ताओ को आशा थी कि मण्डल के सदस्यो की सख्या 6 से बढ जायगी और अन्य योरोपीय राज्य भी उसमे सम्मिलित हो सकेंगे। इस सम्बन्ध मे यह बात ध्यान मे रखनी चाहिये कि 1959 मे सात अन्य योरोपीय राज्यो ने एक शिथिल आर्थिक सगठन बनाया जिसका नाम योरोपीय निर्बाध व्यापार समुदाय (European Free Trade Association) था। उसमे ऑस्ट्रिया, ब्रिटेन, डेन्मार्क, नॉर्वे, पुर्तगाल, स्वीडन और स्विट्जरलैंड शामिल थे। यद्यपि इस सगठन को 'बाहरी सात' कहा जाता था तो भी वह सामान्य बाजार के 'छ' का विरोधी नही बल्कि पूरक ही था। ऐसा कोई अन्तर्निहित कारण नही था कि उनमे से कोई या सभी अन्त मे योरोपीय आर्थिक मण्डल मे सम्मिलित नही हो जायेंगे, हालाकि प्रवेश की शर्तों की ब्यौरे की बाते तै करना कठिन हो सकता था, जैसा ब्रिटेन के मामले मे सिद्ध हुआ जिसने 1961 मे प्रवेश के लिये आवेदन किया पर जिसे 1963 में 'छ' से वार्ता बन्द कर देनी पडी।

रोम की सन्धि का तात्कालिक प्रयोजन हस्ताक्षर करनेवाले राज्यो का एक सीमा कर सघ (Customs Union or Zollverein) स्थापित करना था। परन्तु सन्धि की भाषा मे कुछ राजनीतिक उद्देश्य उपलक्षित थे जो बहुत गहरे थे। 1950 मे अपनी योजना की रूपरेखा प्रस्तुत करते हुए रॉबर्ट शूमाँ ने कहा था—'कोयले और फौलाद के उत्पादन के एकत्रीकरण से योरोप के सघ के निर्माण की दिशा मे प्रथम कदम के रूप मे आर्थिक विकास के लिये सामान्य आधारो को प्रस्तुत करने की तात्कालिक व्यवस्था होगी। यह चरम राजनीतिक लक्ष्य योरोपीय आर्थिक मडल के विकास की विभिन्न अवस्थाओ मे स्पष्ट होता रहा है। वास्तव मे, उसके आर्थिक कार्यों के कुशल निष्पादन के लिये उसने राष्ट्रीय राज्यो की सरकारो के तीन विभागो—कार्यपालिका, विधानमडल और न्यायपालिका—के अनुरूप स्थायी सस्थाए स्थापित करली हैं। प्रथम, एक मन्त्रिपरिषद् (Council of Ministers) है जिसमे प्रत्येक सदस्य राज्य का एक प्रतिनिधि होता है और जिसका कार्य मडल और सदस्य-राज्यो की आर्थिक नीतियो मे समन्वय स्थापित करना है। द्वितीय, एक ससदीय सभा (Parliamentary Assembly) है जिसका निर्वाचन सदस्य राज्यो की ससदे विभिन्न अनुपातो मे करती है और जो सामान्य विचार-विमर्श एव नियत्रण के लिये एक यत्र का

काम करती है। तृतीय, एक न्यायालय है जिसमे प्रत्यक सदस्य-राज्य के न्यायाधीश होते है और जिसका कार्य मडल-सन्धियो के प्रयोग एव उनकी व्याख्या मे विधि का सुरक्षण करना है।

स्पष्ट है कि यह सगठन ऐसा है जो राजनीतिक प्रयोजनो के अनुकूल बनाया जा सकता है जैसा 1961 मे फ्रेन्च सरकार द्वारा प्रार्थित 'योरोपीय राज्यो के सघ' की स्थापना के निमित्त प्रस्तावित सधि मे दृष्टिगोचर हुआ था। यही सामान्य बाजार का चरम लक्ष्य है। वह इतिहास मे एक ऐसे आर्थिक सघ का प्रथम दृष्टान्त नही होगा जिसमे सघ-राज्य के लिये सारभूत आधार प्राप्त होता है और यदि योरोपीय आर्थिक मडल मे से स्थायी सघ का प्रादुर्भाव हो सका तो उससे पश्चिमी योरोप को अपनी खोई हुई प्रतिष्ठा पुन प्राप्त करने मे सहायता मिलेगी और इस प्रकार वह विश्व शान्ति को कायम रखने मे सच्चे अर्थ मे रचनात्मक योगदान करेगा।

16

संयुक्त राष्ट्र का चार्टर

1 अन्तर्राष्ट्रीयता की योजनाएँ

प्रेसीडेंट विल्सन ने मई सन् 1917 में रूस की अस्थायी सरकार को प्रेषित अपने सदेश में यह आशा प्रकट की थी कि उस समय हो रहे युद्ध के फलस्वरूप मानव-भ्रातृत्व का सिद्धान्त केवल एक सुन्दर किन्तु खोखला शब्द न रहकर एक शक्तिशाली और वास्तविक तथ्य हो जाए। जनवरी सन् 1918 में विल्सन ने अपने चौदह सूत्रों की घोषणा की। चौदहवें सूत्र में एक राष्ट्रसंघ बनाने अर्थात् अन्तर्राष्ट्रीय शांति के आदर्श को स्थायी अवयवों वाली संस्था में मूर्त रूप देने की अर्थात् संक्षेप में, एक राज्य के अन्दर शासन और शासितों के बीच संबंधों को निरूपित करने वाले जिन राजनीतिक संविधानों की हमने अभी परीक्षा की है उनके समान ही विभिन्न राज्यों के बीच संबंधों को समायोजित करने वाले एक राजनीतिक संविधान का निर्माण करने की माग की गई थी। राष्ट्रसंघ का प्रयोग असफल रहा। किन्तु दूसरे विश्वयुद्ध के दौरान इस प्रकार के एक अन्तर्राष्ट्रीय संविधान के लिये योजनाएं प्रस्तुत हुईं जिनके अधिक सफल होने की आशा थी। इसी प्रयत्न के फलस्वरूप संयुक्त राज्य का जन्म हुआ। किन्तु पिछले राष्ट्रसंघ की तरह संयुक्त राष्ट्रों की योजना भी अन्तर्राष्ट्रीयता की योजनाओं के युगों से चल रहे विकास की केवल एक अवस्था है। सच तो यह है कि एकता और भाई-चारे का आदर्श पाश्चात्य सभ्यता के मूल में निहित दो परम्पराओं, अर्थात् रोमन साम्राज्य की वास्तविक एकता तथा 'विश्व में शांति, मानवों के प्रति सद्भाव' के प्रेरक मसीही संदेश से व्युत्पन्न होता है। इस प्रकार हम देखते हैं कि जब से राज्यों की आधुनिक प्रणाली का प्रादुर्भाव हुआ है तब से प्रत्येक बड़े संघर्ष के पश्चात् युद्ध के निवारण के लिए साधनों के निर्माण की माग बराबर होती रही है। सामान्यतया, इस माग का सार यही है कि जिस प्रकार छोटी राजनीतिक इकाइयाँ (राज्यों) में व्यक्तिगत नागरिक साधारण विधि और व्यवस्था के अधीन होते हैं, उसी प्रकार विभिन्न राज्यों को आपस में विधि और व्यवस्था की ऐसी ही प्रणाली के अधीन होना चाहिए। आरम्भ में ऐसे सिद्धान्त कुछ बुद्धिजीवियों की पुस्तकों के पृष्ठों से आगे नहीं बढ़े, और कई लेखक ऐसे हुए हैं जिन्होंने ऐसे उद्देश्यों

की प्राप्ति के लिए कागजी योजनाएं बनाईं, उदाहरणार्थ, चौदहवीं शताब्दी में पियर डुबॉय, सोलहवीं शताब्दी में इरास्मस, सत्रहवीं शताब्दी में हेनरी ऑफ नवारे, अठारहवीं शताब्दी में एबे द सेंट पियर, रूसो और काट। नेपोलियनी युद्धों के पश्चात् दूसरी मंजिल आई जो वास्तविकता के अधिक समीप थी, और अन्तर्राष्ट्रीय सगठन की व्यावहारिक योजनाएं कुछ आदर्शवादियों तक सीमित न रहकर प्रभावशाली व्यक्तियों और शक्तियों के अधीन पहुंच गईं।

इस प्रकार योरोपीय राज्यमण्डल का प्रादुर्भाव हुआ। उसका आरंभ रूस के सम्राट् की प्रेरणा से, पवित्र मैत्री (Holy Alliance) के नाम से, सम्राटों के ईसाई भ्रातृत्व के रूप में हुआ, किन्तु चूंकि यह आस्ट्रिया, रूस और प्रशा इन तीन शक्तियों तक ही सीमित था, अतः, वह विकृत होकर योरोप के छोटे राज्यों में उदीयमान उदारवाद को कुचलने के लिए एक यंत्र मात्र बन गया। किन्तु जिस रूप में ब्रिटेन के विदेशमंत्री कैसलरी ने इसका जोरदार समर्थन किया था उस रूप में यह योरोपीय राज्यमंडल बड़ी शक्तियों के सामयिक सम्मेलनों की व्यवस्था के द्वारा शांति बनाए रखने का कहीं अधिक प्रभावपूर्ण साधन बन सकता था। यह योजना सन् 1814 से लेकर सन् 1822 तक चली, किन्तु अन्त में ब्रिटेन को इससे अलग हो जाना पड़ा, क्योंकि मेटरनिख इसका अपने निरकुश प्रयोजनों के लिए प्रयोग करने पर तुला हुआ था और इस प्रकार वीरोना के सम्मेलन और कैनिंग के विदेशमंत्री बन जाने के साथ ही सम्मेलनों के युग का अन्त हो गया और उसके साथ ही किसी-न-किसी प्रकार के योरोप का संघ बनाने की यत्किंचित् आशा भी समाप्त हो गई। किन्तु योरोपीय राज्यमंडल इस प्रारंभिक काल के पश्चात् भी जीवित रहा, हालांकि उसका स्वरूप बहुत क्षीण हो गया था और समय-समय पर पूर्वीय प्रश्न जैसी समस्याओं से, विशेष रूप से सन् 1878 में, निपटने के लिए सम्मेलन होते रहे। किन्तु सन् 1914 के युद्ध के आरम्भ होने से पूर्व के दिनों में जब कि इसकी अत्यन्त आवश्यकता थी और जब कि निरन्तर राजनयिक संघर्ष चल रहा था, उसे पुनर्जीवित करना कठिन था, क्योंकि वह बिलकुल ही निष्क्रिय हो चुका था।

इस बीच शस्त्रों के स्थान पर राजनय से काम लेने की एक और कोशिश हो चुकी थी और इस बार भी यह प्रयत्न रूस के एक जार के द्वारा हुआ था। यह प्रयत्न हेग सम्मेलनों द्वारा हुआ। सन् 1899 में 26 राज्यों के दूतों का हेग में सम्मेलन हुआ जिसका उद्देश्य शस्त्रों को सीमित करना, युद्ध के नियमों को मानवीय बनाना, और अन्तर्राष्ट्रीय विवादों के पक्षों द्वारा मध्यस्थता एवं पच-निर्णय के साधनों को अपनाना आदि प्रश्नों पर विचार करना था। इस सम्मेलन में तीन अभिसमय (Conventions) तैयार किये गये जिनका सभी बड़ी शक्तियों ने विधिपूर्वक अनुसमर्थन किया। द्वितीय हेग सम्मेलन सन् 1907 में हुआ, जिसमें 54 राज्यों के प्रतिनिधि उपस्थित थे। इस सम्मेलन ने पहले सम्मेलन

द्वारा प्रस्तुत विधान (यदि उसे ऐसा कहा जाए) की व्याख्या की और स्मृतिपत्रों और करारों का एक विशाल संकलन प्रस्तुत किया। हेग सम्मेलन निस्सदेह ही भावी आन्दोलन के अग्रदूत की तरह लाभकारी रहे, किन्तु उनके निर्णयों में प्रभावकारिता का अभाव था और शस्त्रों की टक्कर में उनके नियम प्रभावशून्य रहे। संक्षेप में, हेग सम्मेलनों का कोई संविधान नहीं था। इसके अतिरिक्त ये सम्मेलन ऐसे समय में शांति का भवन निर्मित करने का प्रयत्न कर रहे थे जब कि राजनय ने एक अन्य योजना—शक्ति-संतुलन—पर विश्वास करना आरम्भ कर दिया था, जिसने अन्त में युद्ध अनिवार्य कर दिया क्योंकि उसका आधार विरोधी मैत्रियों वाली अभिशप्त प्रणाली थी।

प्रथम विश्वयुद्ध के फलस्वरूप अन्तर्राष्ट्रीय योजनाओं के विकास में एक तीसरी मंजिल आई। पहली मंजिल में इस उद्देश्य की प्राप्ति के सारे प्रयत्न कुछ आदर्शवादियों तक तथा दूसरी में प्रमुख व्यक्तियों तक ही सीमित थे, किन्तु युद्ध के कारण और उसके पश्चात आने वाली इस तीसरी मंजिल में एक वास्तविक विश्व-संगठन की स्थापना प्रत्येक प्रगतिशील राज्य के अधिकाधिक नागरिकों का उद्देश्य बन गया। युद्ध के उत्तरार्द्ध के दौरान ऐसी योजनाएं प्रस्तुत करने का क्रम जोरों से चलता रहा, जिनका उद्देश्य तब तक प्रस्तुत की गई योजनाओं के अन्तर्गत प्रस्तुत शांति-साधनों से अधिक स्थायी और प्रभावी शांति-साधन निर्मित करना था। इस प्रकार शांति के अभिन्न अंग के रूप में ऐसे साधन की स्थापना का निर्णय किया गया।

2 राष्ट्रसंघ

राष्ट्रसंघ की प्रसंविदा में 26 अनुच्छेद थे और उसे विजयी मित्रराष्ट्रों तथा जर्मनी और उसके साथ ही पराजित हुए देशों के बीच होनेवाली वर्साई की तथा अन्य संधियों में पहला स्थान दिया गया था, जिससे कि संधि पर हस्ताक्षर करने वाला प्रत्येक राज्य संघ का समर्थन करने के लिए बाध्य था। प्रसंविदा पर आरंभ में 27 राष्ट्रों ने हस्ताक्षर किए और वह जनवरी सन् 1920 में प्रवृत्त हुई। सन् 1921 में संघ के सदस्य राज्यों की संख्या 48 थी, और उस समय से लेकर सन 1939 में द्वितीय विश्वयुद्ध के छिड़ने तक सदस्य देशों की संख्या नए राज्यों के सम्मिलित होने तथा पुरानों के अलग होने के अनुसार घटती-बढ़ती रही। उदाहरणार्थ, जर्मनी सन् 1926 में, तुर्की 1932 में, सोवियत् संघ 1934 में और मिस्र 1937 में सदस्य बने, दूसरी ओर जर्मनी और जापान 1933 में, इटली 1937 में, हंगरी और रूस (रूस और फिनलैंड के बीच युद्ध छिड़ने पर) 1939 में संघ से अलग हो गए। प्रेसीडेंट विल्सन के समर्थन के बावजूद संयुक्तराज्य उसका सदस्य नहीं बना और उसने संधि तथा प्रसंविदा दोनों को नहीं माना।

किन्तु अमरीका के सदस्य बनने से इन्कार करने के बावजूद राष्ट्रसंघ समय-समय पर 50 राज्यों अर्थात् विश्व की कुल जनसंख्या के लगभग 75 प्रतिशत तथा पृथ्वी के भू-खंड के लगभग 65 प्रतिशत के अन्तर्राष्ट्रीय कल्याण से सम्बद्धित रहा।

प्रसंविदा के अनुच्छेद 1 में सदस्यता के नियम बताए गए हैं। किसी भी पूर्णत स्व-शासी राज्य या डोमिनियन को सभा अपना सदस्य बना सकती थी, बशर्ते कि वह विहित गारंटी दे सके। दो से लेकर सात तक के अनुच्छेदों और अनुच्छेद 14 में संघ के अवयवों की चर्चा की गई है, चूंकि ये अवयव आज के संयुक्तराष्ट्रसंघ के अवयवों के पूर्वज हैं, अत उनकी विस्तारपूर्वक परीक्षा करना लाभदायक होगा। राष्ट्रसंघ के चार मुख्य अवयव इस प्रकार थे सभा, परिषद्, सचिवालय और स्थायी अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय। ये अवयव मोटे तौर से शासन के तीन आवश्यक अंगों से मिलते-जुलते थे, जिनकी हम चर्चा कर चुके हैं और जो विधानमंडल, कार्यपालिका, और न्यायपालिका कहलाते हैं। सभा एक प्रकार की अन्तर्राष्ट्रीय संसद् थी, हालांकि उसका साधारणतया वर्ष में केवल एक अल्पकालीन अधिवेशन होता था। परिषद् की मंत्रिमंडल से तुलना नहीं की जा सकती यद्यपि उसके कुछ कार्यकारी कृत्य होते थे। वह तो एक प्रकार की विचार-विमर्श करनेवाली संस्था थी, जिसके अधिवेशन सभा की अपेक्षा आसानी से किए जा सकते थे। सचिवालय काफी हद तक राज्य की असैनिक सेवा से मिलता-जुलता था और वह पदाधिकारियों का एक स्थायी निकाय था। स्थायी न्यायालय कम-से-कम असैनिक विधि के क्षेत्र में राज्य की न्यायपालिका से लगभग उतना ही मिलता-जुलता था जितना वास्तविक या सम्भाव्य अन्तर्राष्ट्रीय विधि के प्रसंग में सम्भव हो सकता था।

सभा में प्रत्येक सदस्य राज्य के अधिक-से-अधिक तीन प्रतिनिधि होते थे, हालांकि किसी भी मामले पर उस राज्य की ओर से केवल एक प्रतिनिधि मत दे सकता था। उसकी बैठक साल में कम-से-कम एक बार कोई तीन सप्ताह के लिए होती थी (आवश्यकता पड़ने पर अधिक बैठकें भी की जा सकती थीं)। सभा में संघ के कार्यक्षेत्र के अन्तर्गत विश्वशांति को प्रभावित करने वाले किसी भी विषय पर बहस की जा सकती थी। परिषद् में पांच स्थायी और नौ अस्थायी सदस्य होते थे (किन्तु ये दोनों संख्याएं संघ की बदलती हुई सदस्यता के अनुसार बदलती रहती थीं)। स्थायी पांच सदस्य बड़ी शक्तियों का और अस्थायी सदस्य छोटे राष्ट्रों का प्रतिनिधित्व करते थे। अस्थायी सदस्यों का तीन वर्ष के लिए निर्वाचन होता था। परिषद् की बैठकें आवश्यकतानुसार कभी भी की जा सकती थीं, किन्तु व्यवहार में साधारणतया एक वर्ष में चार बैठकें होती थीं। परिषद् की शक्तियां सभा की शक्तियों के ही समान थीं, परन्तु वास्तव में, चूंकि उसकी बैठकें

अधिक होती थी और आसानी से हो सकती थी इस कारण वह बाद मे सभा के समक्ष रखे जानेवाले मामलो पर विस्तारपूर्वक विचार किया करती थी।

सचिवालय, सघ के स्थायी स्थान जेनेवा मे, स्थायी रूप से नियुक्त वैतनिक पदाधिकारियो का एक पूर्णत अ राजनीतिक निकाय था। महासचिव (Secretary General) समेत सचिवालय के समस्त सदस्य अपने-अपने राज्यो के प्रतिनिधि न होकर सघ के सेवक होते थे। प्रशासन के प्रयोजनो के लिए सचिवालय तीन मुख्य शाखाओ मे विभक्त था। विशेष कार्यों से सबद्ध अनेक उप-महासचिवो सहित सामान्य सचिवालय (General Secretariat), सूचना, परिवहन और सचार जैसे विषयो से सबध रखने वाले टेक्निकल विभाग, वित्त, पुस्तकालय और रजिस्ट्री से सबद्ध प्रशासनिक विभाग। सचिवालय के मुख्य कार्य थे, समस्त सभ्य राज्यो से समान हित रखने वाले विषयो की छानबीन करना, स्थायी प्रकार के प्रलेखो (documents) का निर्माण करना, और परिषद् तथा सभा के समक्ष रखने के लिए प्रतिवेदन तैयार करना।

स्थायी अतर्राष्ट्रीय न्यायालय का सगठन प्रसविदा के अनुच्छेद 14 मे दिए गए निर्देश के अनुसार किया गया था। उसका सविधान प्रसविदा से सलग्न एक लम्बे सलेख मे निर्धारित किया गया था, और वह सन् 1921 मे स्थापित हुआ। इसमे 11 न्यायाधीश होते थे, जिनमे से 5 न्यायाधीश लैटिन राज्यो का, 3 जर्मन और स्कैंडिनेवियाई समूह के राज्यो का, 2 लोक विधि वाले राज्यो (ब्रिटेन, ब्रिटिश डॉमिनियन, और सम्मिलित होने की अवस्था मे सयुक्तराज्य) का प्रतिनिधित्व करते थे और एक एशिया के लिये था। प्रसविदा के अनुच्छेद 13 के अनुसार यह न्यायालय केवल ऐसे विवादो को तय करने के लिये सक्षम था जो उसके समक्ष पेश किए जाए, हालाकि वह पक्षो की प्रार्थना पर मध्यस्थता भी कर सकता था। न्यायालय का स्थायी कार्यालय सघ के मुख्य कार्यालय जेनेवा मे न होकर पुराने हग सम्मेलन द्वारा स्थापित स्थायी न्यायालय के परम्परागत स्थान हेग मे था।

एक अन्य सस्था जो सघ के ढाचे के भाग के रूप मे स्थापित की गई थी और जेनेवा मे उसके अन्य अवयवो के साथ-साथ काम करती थी, अन्तर्राष्ट्रीय श्रम सस्था थी। ऐसे अन्तर्राष्ट्रीय सगठन की योजना श्रम अधिकार-पत्र (Labour Charter of Rights) से उत्पन्न हुई, जो कि सघ की प्रसविदा की तरह ही वर्साई की सधि का एक अग बना दिया गया था। इस प्रकार इतिहास मे यह पहला अवसर था जब कि राष्ट्रीय सरकारो के दूतो के सम्मेलन मे समस्त विश्व मे श्रम के दावो और स्थायी शाति मे उसके सहयोग का महत्व स्वीकार किया। सघ की सभा की ही तरह अन्तर्राष्ट्रीय श्रमसस्था भी ऐसे प्रस्ताव निर्मित करने के लिए प्रत्येक वर्ष समवेत होती थी, जो बाद मे सघ के सदस्य राज्यो के विचार और

अनुमोदन के लिए भेजे जाते थे। हालाकि अन्तर्राष्ट्रीय श्रमसस्था विभिन्न राज्यो के अन्तर्गत श्रम और उद्योग की दिन प्रतिदिन की समस्याओ से बहुत दूर प्रतीत होती थी, फिर भी उसने *अन्तर्राष्ट्रीय समस्या के आर्थिक पहलू से सबद्ध सूचना* एकत्रित करने और वितरित करने का महत्वपूर्ण काम किया। वास्तव मे, यह सस्था इतनी सक्रिय और सजीव हो गई थी कि द्वितीय विश्वयुद्ध के छिडने पर भी उसका अस्तित्व बना रहा और सन् 1940 मे अपना मुख्यालय हटाकर मॉण्ट्रीयल ले गई। युद्ध के बाद से उसका सयुक्तराष्ट्रसघ से सम्बन्ध स्थापित कर दिया गया है और वह अपने मूल स्थान जेनेवा मे लौट आई है।

रोमन साम्राज्य के पतन के पश्चात् से विश्वशाति बनाए रखने के लिए किसी भी *अन्य व्यावहारिक योजना* के मुकाबले मे राष्ट्रसघ के *सविधान* की सफलता की आशा इस बात मे थी कि उसके अवयवो की स्थायी रूप से स्थापना की गई थी, क्योकि उसके निर्माता इस बात का अनुभव करते थे कि शाति केवल अभावात्मक नही है, जो अन्तर्राष्ट्रीय सघर्षों के बीच के काल में होती है, बल्कि एक भावात्मक मनोवृत्ति है जिसका विश्व के राष्ट्रो में धीरे-धीरे और प्रयत्न के साथ निर्माण करना चाहिए। सघ के सविधान ने ऐसे साधन की व्यवस्था कर दी थी, उसको *क्रियान्वित करना राष्ट्रो के हाथो मे था।*

अपने जीवन के पहले दस वर्षो मे राष्ट्रसघ ने अत्यन्त बहुमूल्य कार्य किया और अन्तर्राष्ट्रीय बीच-बचाव और सहायता के एक साधन के रूप मे उसने बडी प्रतिष्ठा प्राप्त की। सन् 1923 मे उसने इटली और यूनान के बीच एक विवाद का निर्णय किया, जो अन्यथा सरलता से युद्ध मे परिणत हो सकता था।* उसी वर्ष इसने आस्ट्रिया और हगरी के आर्थिक पुनरुद्धार मे ठोस सहायता की, जिनको सधियो ने पुराने *'जीर्ण-शीर्ण साम्राज्य' के अवशिष्ट भाग* से और एक-दूसरे से जबरदस्ती अलग कर दिया था। इसके अतिरिक्त, सन् 1923 मे सघ ने एशिया माइनर से आए शरणार्थियो को लौसाँ की सधि की शर्तों के अनुसार यूनान मे बसाने के जटिल कार्य का निरीक्षण किया। सन् 1925 मे इसने यूनान और बलगेरिया के बीच एक सीमा सबधी झगडे को तय किया। इसी दौरान उसने सधि के अधीन अन्य दायित्वो को भी पूरा किया, जैसे प्रादेशाधीन प्रदेशो को, जो पहले के जर्मन उपनिवेश थे, विभिन्न राज्यो मे बाटना और उनकी देख-रेख रखना, तथा डाजिग के स्वतत्र नगर के जैसे अन्तर्राष्ट्रीय शासनो का सगठन करना। इस बीच सचिवालय भी श्रम और स्वास्थ्य जैसे प्रश्नो के अन्तर्राष्ट्रीय पहलुओ से सम्बद्ध सूचना एकत्र करने और श्वेत-दास व्यापार तथा अपकारक औषधियो के क्रय विक्रय को रोकने या विनियमित करने के लिए नियम बनाने के अपने कार्य मे शीघ्रता के साथ आगे बढा। सक्षेप मे, राष्ट्रसघ तथ्यो का भडार और वास्तविक अन्तर्राष्ट्रीय मामलो के बारे मे विचारधाराओं के *आदान-प्रदान* का अनुपम

साधन बन गया। इस कार्यक्षेत्र मे योरोप एव समस्त विश्व के लिए उसके अत्यधिक लाभदायक सिद्ध होने की आशा थी।

युद्ध के निवारण के लिए प्रस्तुत की गई सर्वाधिक विवादास्पद योजना अनुच्छेद 16 मे प्रस्तुत की गई थी। यह इतनी महत्वपूर्ण है कि इसका पूरा उद्धरण करना अधिक उपयुक्त होगा

"यदि सघ का कोई सदस्य 12, 13 या 15 अनुच्छेदो के अधीन प्रसविदाओ की अवहेलना करते हुए युद्ध करेगा तो वस्तुत यह समझा जाएगा कि उसने सघ के समस्त अन्य सदस्य-देशो के विरुद्ध युद्ध की कार्यवाही की है और वे सदस्य-देश इसके द्वारा यह वचन देते हैं कि वे उसके साथ समस्त व्यापारिक या वित्तीय सम्बन्ध तोड देंगे, अपने राज्यक्षेत्रो मे रहने वाले व्यक्तियों और प्रसविदा भग करने वाले देश के व्यक्तियो के बीच किसी भी तरह के समागम का निषेध करेंगे, और प्रसविदा भग करनेवाले राज्य के क्षेत्र मे रहने वाले व्यक्तियो और किसी अन्य राज्य मे,चाहे वह सघ का सदस्य हो या न हो, रहनेवाले व्यक्तियों के बीच किसी भी प्रकार का वित्तीय, वाणिज्यिक या वैयक्तिक समागम रोक देंगे।

"इस बात का निर्णय कि प्रसविदा का भग हुआ है या नही, परिषद् करेगी। परिषद् मे इस प्रश्न पर विचार करते समय सघ के उन सदस्यो के,जिन पर युद्ध करने का आरोप होगा, और, उन सदस्यो के जिनके विरुद्ध ऐसी कार्यवाही की गई होगी, मत नही माने जाएगे।

"परिषद् सघ के सब सदस्यो को उस तारीख की सूचना देगी जिस तारीख से कि वह इस अनुच्छेद के अधीन आर्थिक दबाव लागू करने की सिफारिश करेगी।

"किन्तु परिषद् किन्ही विशिष्ट सदस्यो के मामले मे इनमें से किसी भी कार्यवाही के प्रवर्त्तन को किसी उल्लिखित अवधि के लिए स्थगित कर सकती है यदि उसे विश्वास हो कि ऐसे स्थगन से उन उद्देश्यों की, जो पूर्व-गामी पैरा मे उल्लिखित हैं, प्राप्ति मे आसानी हो जाएगी या वैसा करना ऐसे सदस्य-देशो को होने वाली असुविधा और हानि को कम करने के लिए आवश्यक है।"[1]

सघ के उद्देश्य की सचाई और उसकी शक्ति की वास्तविकता की अग्नि-परीक्षा तब हुई जब कि उसके समक्ष अपने एक सदस्य को दूसरे सदस्य के आक्रमण से बचाने की समस्या उपस्थित हुई। ऐसे दो अवसर आए और इन दोनो मे सघ

---

1 ये उद्धरण सन् 1922 मे परिषद् और सभा द्वारा सशोधित मूल पाठ ो से किए गए हैं।

बिलकुल असफल रहा। सबसे पहला अवसर सन् 1931 में आया जब जापान ने चीन के मंचूरिया प्रांत पर कब्जा कर लिया,हालांकि उस समय जापान और चीन दोनों देश संघ के सदस्य थे। चीन ने संघ से सहायता की मांग की, किन्तु संघ कुछ न कर सका और मंचूरिया जापान के पास ही बना रहा। दूसरा अवसर सन् 1935 में आया जब कि मुसोलिनी ने अबीसीनिया पर हमला कर दिया। ये दोनों देश संघ के सदस्य ही नहीं थे बल्कि अबीसीनिया को सदस्य बनाने का प्रस्ताव स्वयं इटली ने किया था। हमला होने पर संघ ने अबीसीनिया की अपील सुनी और इटली को हमलावर घोषित किया, किन्तु वह अनुच्छेद 16 के अधीन आर्थिक अनुशास्तियों को प्रवर्तित करने के प्रयत्न में बिलकुल असफल हो गया। इटली द्वारा इथिओपिया पर किए गए बलात्कार के सम्बन्ध में कुछ न कर सकने से संघ की प्रतिष्ठा को जो धक्का पहुंचा उससे वह कभी भी संभल न सका। इसके पश्चात् प्रसंविदा को सुधारने की कुछ कोशिशें की गई,किन्तु दिन-प्रति-दिन बिगड़ती हुई अन्तर्राष्ट्रीय स्थिति की ठोस वास्तविकताओं के मुकाबले में, जिनके फलस्वरूप अन्त में सन् 1939 में फिर युद्ध भड़क उठा, इस सम्बन्ध में पारित प्रस्तावों का महत्व केवल सैद्धान्तिक ही रहा।

संघ के और सामूहिक सुरक्षा की जिस व्यवस्था को निर्मित करने के लिए उसने इतना महत् परिश्रम किया उसके पतन और अवसान के कारण स्पष्ट हैं। अपने आरम्भ से ही संघ के समक्ष संयुक्तराज्य की सदस्यता के अभाव की अलंघनीय बाधा रही, जिसके सहयोग के बिना वह कभी भी वास्तविक रूप में प्रभावी नहीं हो सकता था। इसके अतिरिक्त तीन बड़ी शक्तियों—जापान, जर्मनी और इटली—के उससे अलग हो जाने से (हालांकि इस बीच रूस उसमें सम्मिलित होगया था) वह अपने मूल रूप का छिन्नावशेष मात्र, वास्तव में, युद्ध पर तुले हुए राष्ट्रों के एक गुट्ट के विरुद्ध शांति चाहनेवाले राष्ट्रों का एक समूह मात्र रह गया। संघ के पास धन एकत्रित करने की शक्ति नहीं थी और वह सदस्य-देशों के दान पर निर्भर रहता था। उसके अधीन कोई सैनिक बल नहीं था और वह अपने वायदों को पूरा करने में सदस्यों की मरजी पर निर्भर रहता था। उसकी विधि को, अन्तिम विश्लेषण में, केवल नैतिक सत्ता प्राप्त थी, और ज्यों ही बड़े राज्य उस नैतिक सत्ता की अवहेलना करने को तत्पर हो जाते थे त्यों ही समस्त योजना खंडित हो जाती थी। दूसरे शब्दों में, संघ के पास प्रभुसत्तात्मक शक्ति का अभाव था, जो अक्षुण्ण रूप में उसके प्रत्येक सदस्य-देश के पास बनी हुई थी।

3 संयुक्त राष्ट्र के अवयव

संयुक्त राष्ट्र का आरम्भ द्वितीय विश्वयुद्ध के मित्रराष्ट्र मैत्री (सन्धि) के रूप में हुआ। 'संयुक्त राष्ट्र' शब्द का औपचारिक प्रयोग पहली बार एक

अन्तर्राष्ट्रीय करार में किया गया। यह संयुक्त राष्ट्रों की संयुक्त घोषणा थी, जिस पर युद्धरत 26 राष्ट्रों ने जनवरी सन् 1942 में वाशिंगटन में हस्ताक्षर किए। इस वाशिंगटन घोषणा पर हस्ताक्षर करने वाले देश, इससे पहले अगस्त में समुद्र में किए गए अपने एक सम्मेलन के पश्चात्, ब्रिटेन के प्रधानमंत्री और अमरीका के प्रेसीडेंट द्वारा जारी किए गए अटलांटिक चार्टर में उल्लिखित उद्देश्यों और सिद्धांतों को स्वीकार करने के लिए सहमत हुए। अटलांटिक चार्टर में आठ बातें थीं और यह घोषणा की गई थी कि अमरीका और ब्रिटेन अपना विस्तार नहीं चाहते, ऐसे प्रादेशिक परिवर्तन नहीं चाहते जो सम्बद्ध जन-समुदाय की इच्छा के अनुकूल न हों, समस्त जन-समुदायों के अपनी इच्छा के अनुरूप अपनी सरकारें बनाने के अधिकारों का सम्मान करते हैं, इस बात का भरसक प्रयत्न करेंगे कि सब लोग समानता के आधार पर विश्व के व्यापार में भाग ले सकें और कच्चा माल प्राप्त कर सकें, समस्त संसार में श्रमिकों के लिए अधिक अच्छा स्तर प्राप्त करने का प्रयत्न करेंगे, नाजी आतंक को नष्ट करने के पश्चात् ऐसी शांति स्थापित करने की कामना रखते हैं जिससे समस्त राष्ट्रों को शांति और सुरक्षा के साथ रहने की आशा हो सके और सब लोगों को समुद्रों में बिना रोक-टोक आने-जाने का अधिकार प्राप्त हो सके, तथा अपनी सारी शक्ति लगाकर यह प्रयत्न करेंगे कि अन्तर्राष्ट्रीय झगड़ों को निपटाने के साधन के रूप में आक्रमण और बलप्रयोग का लोप हो जाए।

वाशिंगटन घोषणा के पश्चात् अक्तूबर सन् 1943 में मॉस्को में एक सम्मेलन हुआ, जिसमें रूस, संयुक्तराज्य, ब्रिटेन और चीन के प्रतिनिधियों ने मास्को घोषणा के नाम से ज्ञात एक अभिसमय पर हस्ताक्षर किए। इस घोषणा के अनुच्छेद 4 में कहा गया था कि "चारों देश अन्तर्राष्ट्रीय शांति और सुरक्षा बनाए रखने के लिए एक ऐसे सामान्य अन्तर्राष्ट्रीय संगठन की यथाशीघ्र स्थापना की आवश्यकता को स्वीकार करते हैं, जिसका आधार समस्त शांतिप्रिय राज्यों की प्रभुसत्तात्मक समानता का सिद्धांत हो और जो ऐसे समस्त राष्ट्रों के लिए खुला हो। लगभग एक वर्ष पश्चात् नवम्बर सन् 1944 में अमरीका में डम्बर्टन ओक्स में इन्हीं चार देशों के प्रतिनिधियों के एक सम्मेलन में प्रस्तावित संगठन का वास्तविक ढांचा अनौपचारिक रूप से तैयार किया गया और यह तय किया गया कि प्रस्तावों को चार्टर के नाम से ज्ञात एक संधि का रूप दिया जाए और संगठन का नाम 'संयुक्त राष्ट्र' रखा जाए। डम्बर्टन ओक्स में निरूपित सिद्धान्त फर्वरी सन् 1945 में याल्टा (क्रीमिया) में स्टालिन-रूजवेल्ट-चर्चिल वार्ता में कुछ संशोधनों के साथ स्वीकार किए गए और अन्त में मूल रूप में कोई खास परिवर्तन किए बिना इन्हें एक चार्टर का रूप दिया गया, जिस पर उसी वर्ष में अप्रैल से जून तक समवेत सान फ्रांसिस्को सम्मेलन में सम्मिलित होने वाले

50 राष्ट्रोंके प्रतिनिधियों ने हस्ताक्षर किए। (इक्यावनवें राष्ट्र पोलैण्ड ने अक्टूबर मे हस्ताक्षर किये)।

सयुक्त राष्ट्रो का चार्टर, जो 27 जून सन् 1945 को प्रकाशित किया गया था, एक लम्बा दस्तावेज है, जिसमे एक प्रस्तावना और 19 अध्यायो के अन्तर्गत 111 अनुच्छेद हैं। प्रस्तावना इस प्रकार है

"हम सयुक्त राष्ट्रो के लोग, युद्ध के अभिशाप से, जिसने हमारे जीवनकाल मे दो बार मानव-समुदाय को अवर्णनीय दुख से सन्त्रस्त किया है, आने वाली पीढ़ियो का बचाने के लिए, और

"मानव के मूल अधिकारो, मनुष्य के गुणो एव उनकी गरिमा, तथा स्त्री-पुरुषो एव छोटे-बड़े राष्ट्रो के समान अधिकारो पर विश्वास को पुन सुदृढ करने के लिए, और

"ऐसी परिस्थितिया स्थापित करने के लिए जिनमे सधियो एव अन्तर्राष्ट्रीय विधि के अन्य स्रोतो से उत्पन्न दायित्वो के प्रति श्रद्धा बनी रहे, और

"सामाजिक प्रगति का तथा व्यापक स्वतन्त्रता के अन्तर्गत जीवन-स्तर का उन्नयन करने के लिए, तथा इन उद्देश्यो की प्राप्ति के निमित्त,

"सहनशीलता का व्यवहार करने और एक-दूसरे के साथ अच्छे पडोसियो की भाति शातिपूर्वक रहने के लिए, और

"अन्तर्राष्ट्रीय शाति एव सुरक्षा बनाए रखने के हेतु अपनी शक्ति का एकीकरण करने के लिए, और

'सिद्धातो की स्वीकृति और उपयुक्त साधनो की स्थापना द्वारा यह सुनिश्चित करने के लिए कि समान हित के प्रयोजन के अतिरिक्त अन्य किसी भी अवस्था मे सशस्त्र बल का प्रयोग न होगा, और

"समस्त लोगो के आर्थिक एव सामाजिक विकास के उन्नयन के निमित्त अन्तर्राष्ट्रीय सस्था का प्रयोग करने और इन उद्देश्यो की प्राप्ति के लिए अपने प्रयत्नो का समायोजन करने का सकल्प करते हैं।

"तदनुसार हमारी सरकारें, सनफ्रासिस्को नगर मे समवेत प्रतिनिधियो के द्वारा, जिन्होने अपनी पूरी शक्तियो को अच्छे और समुचित रूप मे प्रदर्शित किया है, सयुक्त राष्ट्रो के वर्तमान चार्टर से सहमत है और एतद्द्वारा एक अन्तर्राष्ट्रीय सगठन की स्थापना करते हैं, जो 'सयुक्त राष्ट्र' के नाम से ज्ञात होगा।"

अनुच्छेद 1 मे सगठन के चार उद्देश्य बताए गए हैं, जो इस प्रकार हैं प्रभावपूर्ण सामूहिक उपायों द्वारा अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति और सुरक्षा बनाए रखना, सब लोगो के आत्मनिर्णय और समान अधिकारो के सिद्धान्त के प्रति आस्था के आधार पर राष्ट्रो के बीच मित्रतापूर्ण सम्बन्धो का विकास करना, आर्थिक, सामाजिक, सास्कृतिक एव मानविक प्रकार की अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओ को हल करने के लिए

अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग प्राप्त करना, और इन समान उद्देश्यो की प्राप्ति के लिए विभिन्न राष्ट्रो के कार्यों मे समन्वय स्थापित करने के लिए केन्द्र बनाना।

अनुच्छेद 2 मे कहा गया है कि सगठन अपने सब सदस्य-देशो की प्रभुसत्तात्मक समानता के सिद्धात पर आधारित है, और, ऐसी अवस्था के सिवाय जिसमे (चार्टर के अध्याय 7 मे वर्णित) बाध्य करनेवाले कार्य शाति के हित मे आवश्यक हो जाए अन्य किसी भी अवस्था मे चार्टर की कोई बात सयुक्तराष्ट्र को ऐसे मामलो मे जो सारत किसी राज्य के अधिकार-क्षेत्र के अन्तर्गत हैं, हस्तक्षेप करने के लिए अधिकार नही देगी। इन उद्देश्यो की प्राप्ति के हेतु छह मुख्य अवयव गठित किए जाएग जो इस प्रकार हैं (1) महासभा, (2) सुरक्षा परिषद्, (3) आर्थिक और सामाजिक परिषद्, (4) न्यास परिषद्, (5) अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय, और (6) सचिवालय।

सयुक्त राष्ट्र के सगठन ने पिछले राष्ट्रसघ से जो कुछ ग्रहण किया है वह स्पष्ट है। जैसा हम देख चुके हैं, पिछले राष्ट्रसघ मे एक सभा, एक परिषद्, एक अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय, और एक सचिवालय था। उसमे आज के सयुक्तराष्ट्रसघ के जिन अवयवो का अभाव था वे आर्थिक और सामाजिक परिषद् तथा न्यास परिषद् है, हालाकि एक अर्थ मे ये भी उन विशिष्ट निकायो के विकसित रूप हैं जिनको पिछले राष्ट्रसघ ने या तो अनुप्रेरित किया था या विकसित किया था, अर्थात् अतर्राष्ट्रीय श्रमसस्था (यद्यपि यह नई परिषद के साथ-साथ, जिसके कृत्य अधिक व्यापक हैं, अब भी विशेष प्रयोजनो के लिए वर्तमान है), और प्रादेशो के लिये विशिष्ट आयोग।

1 **महासभा**—महासभा, जिसके गठन और कृत्यो का अधिकार-पत्र के 9 से लेकर 22 तक अनुच्छेदो मे पूरी तरह वर्णन किया गया है, शक्ति के सम्बन्ध मे पिछले राष्ट्रसघ की सभा के समान ही है, हालाकि वह गठन मे वैसी नही है। कोई भी सदस्य-राज्य अधिक-से-अधिक पाच प्रतिनिधि भेज सकता है, किन्तु मतदान केवल एक ही प्रतिनिधि कर सकता है। महत्वपूर्ण प्रश्नो पर महासभा के निर्णय के लिए उपस्थित और मत देने वाले सदस्यो का दो तिहाई बहुमत आवश्यक है, किन्तु साधारण मामलो पर सामान्य बहुमत पर्याप्त होता है। साधारणतया महासभा का वर्ष मे एक अधिवेशन होता है, किन्तु सुरक्षा परिषद् अथवा सदस्य-देशो के बहुसख्या की प्रार्थना पर विशेष अधिवेशन किए जा सकते हैं। पुराने राष्ट्रसघ की सभा के समान ही वर्तमान महासभा मे भी शाति और सुरक्षा बनाए रखने से सम्बन्धित किसी प्रश्न पर जो उसके समक्ष सुरक्षा परिषद् या किसी भी देश द्वारा रखा जाए चाहे वह सदस्य हो या नही, विचार किया जा सकता है। महासभा मे शस्त्रास्त्रो से सम्बन्धित और किसी अतर्राष्ट्रीय प्रयोजन के लिए सहयोग बढाने के विषय मे किसी भी प्रश्न पर विचार किया जा सकता

है। महासभा, आर्थिक एवं सामाजिक परिषद् तथा न्यास परिषद्, दोनों के कार्यों पर नियंत्रण रखती है, सुरक्षा परिषद् से वार्षिक प्रतिवेदन लेती है तथा संस्था के बजट को स्वीकार करती है।

2 **सुरक्षा परिषद्**—सुरक्षा परिषद् (अनुच्छेद 23-54) पिछले राष्ट्र-संघ की परिषद् से व्युत्पन्न है, *किन्तु इसका कार्यक्षेत्र अधिक विशाल और इसकी शक्तियां अधिक व्यापक हैं।* इसमें ग्यारह सदस्य होते हैं जिनमें पांच, अर्थात ब्रिटेन, संयुक्तराज्य, सोवियत् रूस, फ्रांस और चीन स्थायी सदस्य हैं[1]। बाकी छह सदस्य महासभा द्वारा दो वर्षों की अवधि के लिए निर्वाचित किए जाते हैं, जिनमें से तीन प्रत्येक वर्ष रिटायर हो जाते हैं और तुरन्त ही पुनर्निर्वाचन के पात्र नहीं होते। प्रत्येक सदस्य देश का केवल एक प्रतिनिधि और केवल एक मत हो सकता है। सुरक्षा परिषद् में प्रक्रिया सम्बन्धी समस्त मामलों में किसी भी निर्णय के लिए ग्यारह में से कम-से-कम सात सदस्यों का स्वीकारात्मक मत आवश्यक होता है, किन्तु अन्य समस्त विषयों पर सात स्वीकारात्मक मतों के अन्तर्गत पांचों स्थायी सदस्यों के सम्मतिसूचक मत भी होने चाहिए, हालांकि किसी भी विवाद-सम्बन्धी निर्णय के बारे में मत देने में उस विवाद से सम्बद्ध पक्ष को भाग लेने का अधिकार नहीं है। प्रक्रियासम्बन्धी विषयों से भिन्न विषयों के बारे में इस निर्बन्ध-कारी धारा का प्रभाव यह होता है कि यद्यपि कोई स्थायी सदस्य अन्तर्राष्ट्रीय शांति को खतरा पैदा करने वाले किसी विवाद की सुरक्षा परिषद् द्वारा बहस का निषेध नहीं कर सकता, *तथापि बहस के बाद की समस्त अवस्थाओं में, जैसे विवाद की जांच, परिषद् द्वारा बाध्यकारी कार्यवाही की सिफारिश और बल का वास्तविक प्रयोग आदि में, निषेधाधिकार का प्रयोग किया जा सकता है।*

चार्टर द्वारा सुरक्षा परिषद् को 'अन्तर्राष्ट्रीय शांति और सुरक्षा के अस्तित्व को खतरे में डालने की सम्भावना रखने वाले" किसी विवाद पर विचार करने का उत्तरदायित्व प्राप्त हुआ है, और सदस्य देश चार्टर के अनुसार परिषद् द्वारा किए गए निर्णयों को स्वीकार और निष्पादित करने का दायित्व ग्रहण करते हैं। सुरक्षा परिषद् इस उद्देश्य के लिए कार्यवाही करने के लिए 'संयुक्त राष्ट्रों' से प्रार्थना कर सकती है, और संघ के सदस्य-देशों के बीच यह निर्देश करने के लिए, कि वे परिषद् को अपने उद्देश्य की सिद्धि के निमित्त कितना सैन्यबल देंगे, विशेष करार किये जाएंगे।

अतएव यह कहा जा सकता है कि योजना का सार "संगठित प्रतिरक्षा और संयोजित कार्यवाही" है। इस उद्देश्य की प्राप्ति के लिए प्रस्तावित उपायों में ही

---

1 **अस्थायी सदस्यों की संख्या अब बढ़ाकर १० करदी गई है। इस प्रकार अब सुरक्षा परिषद् में 15 सदस्य हैं।**

सयुक्तराष्ट्रो की नई योजना और पिछले राष्ट्रसघ की पुरानी योजना के बीच मूलभूत अन्तर दिखाई देता है। इस महत्त्वपूर्ण कार्य मे सुरक्षा परिषद् की सहायता एव सैनिक कर्मचारी समिति करेगी जिसमे परिषद् के स्थायी सदस्य राज्यो के सेना-प्रमुख होगे। सम्मिलित सेना के लिए प्रत्येक सदस्य राष्ट्र कितनी और किस प्रकार की जल, थल और वायु सेना देगा, इसके विषय मे विशिष्ट प्राविधिक परामर्श देना इस समिति का कर्तव्य होगा। किन्तु नई विश्वसस्था की कठिनाई केवल यही नही है कि वह उपेक्षा करने वाले राष्ट्रो पर अपना निर्णय लागू करने के लिए पर्याप्त सशस्त्र शक्ति की उपलब्धि किस प्रकार सुनिश्चित करे बल्कि यह भी है कि उस शक्ति की किस प्रकार व्यवस्था की जाए जिससे कि जहा कही भी खतरा पैदा हो वहा उससे तुरन्त ही और प्रभावपूर्ण रूप से काम लिया जा सके। इस दोहरी आवश्यकता की पूर्ति के लिए योजना मे केवल एक विश्वव्यापी सगठन की ही परिकल्पना नही की गई है बल्कि उसके अन्दर प्रादेशिक प्रतिरक्षा के लिए सस्थाओ और इस प्रादेशीकरण के साथ ही समस्त विश्व मे सयुक्त नियत्रण के अधीन अड्डो की एक अविच्छिन्न शृखला स्थापित करने की भी कल्पना की गई है।

3 **आर्थिक और सामाजिक परिषद्**—61 से लेकर 74 तक के अनुच्छेद आर्थिक और सामाजिक परिषद के स्वरूप और उसके कृत्यो की विवेचना करते है। इसका महासभा द्वारा निर्वाचन होता है और उसमे 18[1] सदस्य-देश होते है, जिनमे से प्रत्येक का एक मत होता है। प्रत्येक वर्ष छह सदस्य तीन वर्ष की अवधि के लिए निर्वाचित किए जाते है, हालाकि निवृत्त होनेवाले सदस्य तुरन्त ही पुन निर्वाचित भी हो सकते है। परिषद् मे निर्णय, उपस्थित और मत देने वाले सदस्यो के, साधारण बहुमत से किए जाते हैं। परिषद् के अधिवेशन आवश्यक होने पर कभी भी अथवा सदस्यो की बहुसख्या की प्रार्थना पर किए जा सकते है। परिषद् के कृत्य बडे व्यापक और जटिल है। उसका कर्तव्य समस्त विश्वभर मे सयुक्तराष्ट्रो से सम्बन्धित समस्त आर्थिक, सामाजिक, सास्कृतिक एव शिक्षात्मक प्रश्नो तथा स्वास्थ्य एव सम्बद्ध विषयो का अध्ययन करना और महासभा के समक्ष उनके बारे मे प्रतिवेदन प्रस्तुत करना है। उसे महासभा के अनुमोदन से अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलनो को आमत्रित करने और सदस्य-राज्यो की माग पर विशिष्ट जाच-पडताल करने का अधिकार है।

राजनीति और शस्त्रो से परे ऐसे बहुत कम अन्तर्राष्ट्रीय प्रश्न है, जिनसे आर्थिक और सामाजिक परिषद् का प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से सम्बन्ध न हो। यह बात इतनी सत्य है कि चार्टर ने इस परिषद् को विभिन्न प्रसविदाओ द्वारा आर्थिक और सामाजिक प्रयोजनो के लिए पहले से ही स्थापित तथा सयुक्तराष्ट्रसघ

---

1 यह सदस्य-सख्या बढाकर 27 करदी गई है।

की कार्यवाहियों से घनिष्ठ रूप से सम्बन्धित अन्तर्राष्ट्रीय अभिकरणों (एजेन्सियों) के साथ सभा के अनुमोदन से करार करने की सत्ता प्रदान की है। इन तथाकथित विशिष्ट अभिकरणो के अन्तर्गत खाद्य एव कृषि सगठन (Food and Agriculture Organization), विश्वस्वास्थ्य सगठन (World Health Organization), सयुक्तराष्ट्रो का शैक्षणिक, वैज्ञानिक एवं सास्कृतिक सगठन (United Nations Educational, Scientific and Cultural Organization), और अन्तर्राष्ट्रीय श्रम सगठन (International Labour Organization), भी हैं। ऐसे करारो का उद्देश्य युद्ध के पश्चात् के इस विशाल क्षेत्र मे काम करने वाले विभिन्न अभिकरणो के कार्य को समन्वित करना है। आर्थिक और सामाजिक परिषद् के मानवीय कार्यक्षेत्र को अनिर्बन्धित रखने की दृष्टि से यह भी व्यवस्था की गई है कि परिषद् सयुक्तराष्ट्र के किसी सदस्य-देश के प्रतिनिधियो को अथवा पूर्वोक्त विशिष्ट अभिकरणो मे से किसी के प्रतिनिधियो को अपनी बहस आदि मे मताधिकार के बिना भाग लेने के लिए आमत्रित कर सकती है या उन विशिष्ट अभिकरणो मे से किसी की बहस आदि मे भाग लेने के लिए अपने प्रतिनिधि नियुक्त कर सकती है।

4 न्यास परिषद—न्यास परिषद् (अनुच्छेद 75-91) मे सुरक्षा परिषद् के पाच स्थायी सदस्य, न्यासाधीन प्रदेशो का प्रशासन करने वाले सदस्य-देश, और महासभा द्वारा तीन वर्ष के लिए निर्वाचित इतने सदस्य-देश होते हैं जितने यह सुनिश्चित करने के लिए आवश्यक हो कि परिषद् के सदस्यो की कुल सख्या न्यासाधीन प्रदेशो का प्रशासन करने वाले सयुक्तराष्ट्र के सदस्यो और ऐसा न करने वाले सदस्यो के बीच समान रूप से विभाजित रहे। प्रत्येक सदस्य-देश परिषद् मे अपना प्रतिनिधित्व करने के लिए किसी विशिष्ट योग्यता वाले व्यक्ति को निर्दिष्ट करता है। परिषद् के प्रत्येक सदस्य का एक मत होता है और निर्णय उपस्थित तथा मत देने वाले सदस्यों के बहुमत से किए जाते हैं। परिषद् का अधिवेशन आवश्यकतानुसार कभी भी हो सकता है किन्तु सदस्यो की बहुसख्या द्वारा प्रार्थना किए जाने पर अवश्य होना चाहिए।

न्यास परिषद् का सम्बन्ध ऐसे प्रदेशो से है जो स्व-शासी नही है। इनमे पिछले राष्ट्रसघ के प्रादेशाधीन प्रदेश या द्वितीय विश्वयुद्ध के फलस्वरूप शत्रु-देशो से पृथक् किए गए प्रदेश अथवा ऐसे प्रदेश भी हो सकते है जिन्हे उनके प्रशासन के लिए उत्तरदायी राज्य स्वेच्छा से इस परिषद् को सौंप दें। जैसा कि हम पहले देख चुके हैं, ऐसे प्रदेशो के लिए उत्तरदायी सदस्य-राज्यो का यह कर्तव्य है कि वे वहा के निवासियो के हितो को सर्वोपरि समझें और यथाशक्ति उनके कल्याण की वृद्धि का आभार स्वीकार करें। न्यास-व्यवस्था के मूल उद्देश्य हैं : अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति और सुरक्षा की वृद्धि करना, न्यासाधीन प्रदेशो के निवासियो की

राजनीतिक, आर्थिक, सामाजिक और शैक्षणिक प्रगति को बढाना और स्व-शासन अथवा स्वतन्त्रता की दिशा मे उनका प्रगतिशील विकास करना; मानव-अधिकारो के लिए और जाति, लिंग, भाषा या धर्म पर आधारित किसी प्रकार के भेद-भाव के बिना सबके लिए मूलभूत स्वतन्त्रताओ के प्रति सम्मान की भावना को प्रोत्साहन देना, तथा सयुक्त राष्ट्रो के समस्त सदस्यो और उनके नागरिको के लिए सामाजिक, आर्थिक एव वाणिज्यिक विषयो मे समान व्यवहार सुनिश्चित करना। न्यासाधीन प्रदेश का प्रशासन करने वाली शक्ति को महासभा के समक्ष वार्षिक प्रतिवेदन प्रस्तुत करना पडता है। महासभा चाहे तो न्यास परिषद् के माध्यम से न्यासाधीन प्रदेशो को समय-समय पर पर्यवेक्षणार्थ अपने प्रतिनिधि भेजने अथवा ऐसे प्रदेशो से याचिकाए ग्रहण करने की व्यवस्था कर सकती है।

5 *अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय*—अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय (अनुच्छेद 92-96) सयुक्त राष्ट्र का मुख्य न्यायिक अवयव है। यह एक सविधि के अनुसार कार्य करता है, जो राष्ट्रसघ के अधीन स्थायी न्यायालय की सविधि पर आधारित है और सयुक्त राष्ट्र के चार्टर का एक अभिन्न अग है। किन्तु जो राज्य सदस्य नही है वे भी सुरक्षा परिषद् की सिफारिश पर महासभा के अनुमोदन से उसके पक्ष बन सकते है। सयुक्तराष्ट्रसघ का प्रत्येक सदस्य किसी भी मामले मे, जिसका वह एक पक्ष है, अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय के निर्णय को मानने के लिए वचनबद्ध है और यदि वह वैसा नही करता है तो सुरक्षा परिषद् निर्णय को कार्यान्वित कराने के लिए समुचित कार्यवाही कर सकती है। किन्तु चार्टर मे ऐसी कोई बात नही है जिससे सदस्य-देशो के लिए अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय से काम लेना अनिवार्य हो या जो उन्हे अपने मतभेदो को पहले से विद्यमान या भविष्य मे बनाए जाने वाले अन्य न्यायाधिकरणो के समक्ष प्रस्तुत करने से रोके। महासभा या सुरक्षा परिषद् या सयुक्तराष्ट्रसघ के अन्य अवयव अथवा कोई विशिष्ट अभिकरण न्यायालय से किसी ऐसे विधि सम्बन्धी प्रश्न पर, जो इन निकायो की कार्यवाहियो के अन्तर्गत हो, परामर्शात्मक राय देने के लिए प्रार्थना कर सकते है।

6 *सचिवालय*—सचिवालय के कर्तव्यो और गठन की रूपरेखा चार्टर के 97 से लेकर 101 तक के अनुच्छेदो मे दी गई है। सघ का मुख्य प्रशासनिक पदाधिकारी पिछले राष्ट्रसघ के समान ही महासचिव होता है, जो सुरक्षा परिषद् की सिफारिश पर महासभा द्वारा नियुक्त किया जाता है। महासचिव अपनी इस हैसियत मे महासभा, सुरक्षा परिषद्, आर्थिक और सामाजिक परिषद्, तथा न्यास परिषद् के सब अधिवेशनो मे कार्य करता है और उसे सारे सघ के कार्य के बारे मे महासभा को एक वार्षिक प्रतिवेदन देना होता है। वह किसी भी ऐसे विषय को जिससे उसकी राय मे शाति और सुरक्षा को खतरा पहुचने की सम्भावना हो, सुरक्षा परिषद् के समक्ष रख सकता है। महासचिव और उसके

कर्मचारी अन्तर्राष्ट्रीय पदाधिकारी हैं। वे संघ के प्रति उत्तरदायी हैं और उससे बाहर की किसी सत्ता से अनुदेश न तो माँग सकते हैं और न ग्रहण कर सकते हैं। प्रत्येक सदस्य-देश सचिवालय के अनन्य अन्तर्राष्ट्रीय स्वरूप का सम्मान करने के लिए वचनबद्ध है। महासचिव अपने कर्मचारियों को महासभा के विनियमों के अधीन नियुक्त करता है। इन विनियमों का उद्देश्य कार्यपटुता और ईमानदारी का सर्वोच्च स्तर सुनिश्चित करना तथा यथासम्भव अधिक-से-अधिक व्यापक भौगोलिक आधार पर भरती करना है।

चार्टर द्वारा गठित संयुक्तराष्ट्रसंघ के अवयव उपर्युक्त प्रकार के हैं। इनके गठन में संशोधन की सम्यक् प्रक्रिया के अतिरिक्त अन्यथा कोई परिवर्तन नहीं किया जा सकता। संशोधन की शर्तें चार्टर के अनुच्छेद 108 और 109 में उल्लिखित हैं। चार्टर के संशोधन सब सदस्य-देशों के लिए उसी समय प्रवर्तित हो सकते हैं जब कि महासभा के सदस्यों के दो-तिहाई मत द्वारा उनका अनुमोदन हो जाए और सुरक्षा परिषद् के सब स्थायी सदस्यों सहित संयुक्त राष्ट्र के दो तिहाई सदस्य-देशों द्वारा अपनी-अपनी सांविधानिक प्रक्रियाओं के अनुसार उनका अनुसमर्थन प्राप्त हो जाए। चार्टर पर पुनः विचार करने के प्रयोजनों के लिए संयुक्त राष्ट्र का सामान्य सम्मेलन ऐसी तारीख और स्थान पर किया जा सकता है जैसा महासभा के सदस्यों के दो तिहाई मत द्वारा तथा सुरक्षा परिषद् के किन्हीं सात सदस्यों के मत द्वारा नियत किया जाए। ऐसे सम्मेलन में प्रत्येक सदस्य राज्य का एक मत होगा। किन्तु अधिकार-पत्र को अत्यधिक स्थिर और परिवर्तनशील परिस्थितियों के अनुकूल न होने से बचाने के लिए यह विशेष उपबन्ध किया गया है कि यदि चार्टर के प्रवर्तित होने के पश्चात् महासभा के दसवें वार्षिक अधिवेशन से पूर्व ऐसा कोई सामान्य सम्मेलन न हुआ हो तो उसके लिए एक प्रस्ताव महासभा के उस अधिवेशन की कार्यसूची में रखा जाना चाहिए और यदि सभा के सदस्यों के बहुमत द्वारा तथा सुरक्षा परिषद् के सात सदस्यों के मत द्वारा निश्चय किया जाए तो सम्मेलन किया जाना चाहिए।

4. संयुक्तराष्ट्र संघ के कार्य

सन् 1945 में द्वितीय विश्वयुद्ध की समाप्ति के पश्चात् जटिल अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओं के कारण संसार जिस कूटनीतिक झमेले में फँसा हुआ था उसके बावजूद संयुक्तराष्ट्रसंघ की स्थापना हो गई और युद्ध की समाप्ति के कुछ ही महीनों के अन्दर उसने अपना काम आरम्भ कर दिया। महासभा का पहला अधिवेशन जनवरी और फर्वरी सन् 1946 में लंदन में हुआ और उसने बहुत कुछ प्रारम्भिक कार्य किया। उसने सुरक्षा परिषद् के अस्थायी सदस्यों का चुनाव किया और आर्थिक और सामाजिक परिषद् का निर्माण भी किया। महासचिव और अन्त-

राष्ट्रीय न्यायालय के निर्वाचन के कार्य मे भी उसने भाग लिया। इसके अतिरिक्त, शरणार्थियो और युद्ध-अपराधियो जैसे अनेक विकट युद्धोत्तर प्रश्नो के विषय मे समुचित कार्यवाही के सम्बन्ध मे भी उसने करार किए। उसने सघ के लिए स्थायी स्थान खोजने के प्रश्न पर भी विचार किया और अन्त मे यह निश्चय किया कि उसका स्थान सयुक्तराज्य मे होना चाहिए।

सुरक्षा परिषद् का पहला अधिवेशन भी जनवरी सन् 1946 मे लन्दन मे ही हुआ और उसके समक्ष युद्ध से पैदा होने वाली सबसे अधिक महत्वपूर्ण समस्याए तुरत ही उपस्थित हुई। सुरक्षा परिषद् मे स्थायी सदस्यो का कार्य निर्णायक हो यह स्वाभाविक है। किन्तु प्रत्येक बडी समस्या पर ब्रिटेन और अमरीका ने रूस को अपने विरुद्ध पाया। चूकि निषेधाधिकार द्वारा कोई भी स्थायी सदस्य किसी भी निर्णय को रोक सकता है, अतएव यह सघ के अस्तित्व के लिए एक निरन्तर खतरा बना हुआ है। परन्तु क्योकि निषेधाधिकार केवल सुरक्षा परिषद् मे ही प्रयुक्त हो सकता है, महासभा मे नही जहा रूस और उसकी नीतियो के विरुद्ध हमेशा बहुमत प्राप्त होने की सम्भावना है, इसलिए सुरक्षा परिषद् के अधिवेशनो मे ही निर्णायक सघर्ष होता रहता है। इस बाधा से बचने के लिये 1950 मे एक साहसिक प्रयत्न किया गया जब कि महासभा ने यह निणय किया कि यदि सुरक्षा परिषद् शान्ति अथवा सुरक्षा के किसी मामले म कोई निर्णय करने मे असमर्थ हो तो महासभा का एक विशेष सम्मेलन बुलाया जाय जो दो-तिहाई बहुमत से सिफारिश करे।'

यह सच है कि सयुक्तराष्ट्रसघ अपने से पहले के राष्ट्रसघ के समान अपने समस्त सदस्य-देशो की समान प्रभुसत्ता के सिद्धात पर आधारित है और इस सीमा तक प्रत्येक सदस्य-राज्य की प्रभुसत्ता अखड है। परन्तु, जहा पिछले राष्ट्र-सघ का प्रत्येक सदस्य-देश इस बात का निर्णय स्वय करता था कि वह अनुशास्तिया लागू करने के बारे मे सभा या परिषद् की सिफारिश को स्वीकार करे या न करे, वहा सयुक्तराष्ट्रसघ के चार्टर के अधीन प्रत्यक सदस्य-देश इस बात के लिए अपने-आपको वचनबद्ध करता है कि वह सुरक्षा परिषद् द्वारा माग किए जाने पर तुरन्त ही आर्थिक अनुशास्तिया आरोपित करेगा और अपने सशस्त्र बलो का भाग करार के अनुसार देगा। सामूहिक सुरक्षा के इस नए उपकरण की प्रभावकारिता की परीक्षा कई बार हो चुकी है जब कि सयुक्तराष्ट्र ने आक्रमण को पराजित करने एव व्यवस्था स्थापित करने के लिये सशस्त्र हस्तक्षेप किया है जैसे 1949 मे मध्यपूर्व मे, 1950 मे कोरिया मे, 1956 मे मिस्र मे, 1960 मे कागो मे और 1965 मे काश्मीर मे। कम से कम प्रत्येक अवस्था मे आक्रामक राष्ट्रीयता के विरुद्ध सगठित अन्तर्राष्ट्रीयता के सिद्धान्त का औचित्य प्रमाणित हुआ।

एक दूसरी महत्वपूर्ण बात और है जिसमे सयुक्त राष्ट्र का चार्टर राष्ट्रसघ

की प्रवविदा से काफी आगे बढ़ा हुआ है। समस्त चार्टर में जन-समाजों के लिये उतनी ही चिन्ता उपलक्षित होती है जितनी देशों की सरकारों के लिये। राष्ट्र-संघ की प्रसविदा में 'उच्च संविदाकर्ता पक्षों' की चर्चा है, किन्तु संयुक्त राष्ट्रों के चार्टर का आरम्भ इन शब्दों के साथ होता है—'हम संयुक्त राष्ट्र के लोग' जो स्पष्ट ही *अमरिका के संविधान से लिए गए हैं जिसके प्रारंभिक शब्द हैं—* 'हम संयुक्त राज्य के लोग'। चार्टर की समस्त प्रस्तावना में यह मानवीय भावना परिव्याप्त है और विशेषकर अनुच्छेद 13 में जिसमें अन्य बातों के साथ कहा गया है कि 'महासभा आर्थिक, सामाजिक, सांस्कृतिक, शैक्षणिक एवं स्वास्थ्य के क्षेत्रों में अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग को प्रोत्साहित करने और जाति, लिंग, भाषा या धर्म के भेद के बिना सब के लिये मानव-अधिकारों एवं आधारभूत स्वतन्त्रताओं की प्राप्ति में सहायता करने के प्रयोजन के लिये अनुसंधान आरम्भ करेगी और सिफारिश करेगी।' यही भावना संयुक्त राष्ट्र के दो महत्वपूर्ण अवयवों को—आर्थिक और सामाजिक परिषद् और न्यास परिषद्—को तथा चार विशिष्ट एजेन्सियों—अन्तर्राष्ट्रीय श्रम संगठन (ILO), संयुक्त राष्ट्र का शैक्षणिक, वैज्ञानिक एवं सांस्कृतिक संगठन (UNESCO), विश्व स्वास्थ्य संगठन (WHO) और खाद्य और कृषि संगठन (FAO)—को, जो उन परिषदों के साथ बड़े सामंजस्यपूर्ण ढंग से काम कर रही हैं—अनुप्राणित करती है। मानव अधिकारों की घोषणा भी, जिसका महासभा ने 1948 में सर्वसम्मति से समर्थन किया था, ऐसे ही प्रयोजन से प्रेरित है।

संयुक्त राष्ट्र के कार्य अल्पविकसित देशों के लोगों के कल्याण से सम्बन्धित हैं। ज्यों ज्यों ये अल्पाधिकारयुक्त देश परतन्त्रता से मुक्त होकर स्वतन्त्र होते जाते हैं, संयुक्त राष्ट्र के सदस्य बनते जाते हैं और उसके विचारविमर्श में भाग लेने लगते हैं त्यों त्यों संयुक्त राष्ट्र के कार्य की इस शाखा पर माँगें अधिकाधिक मुखर होती जा रही हैं। एक बात नहीं भूलनी चाहिये कि 1945 में उसके जन्म के समय से संयुक्त राष्ट्र की रचना में बड़ा भारी परिवर्तन हो गया है। वास्तव में, उसकी सदस्य-संख्या दुगनी से भी अधिक हो गई है। 1945 में उसके 51 सदस्य थे पर 1965 में उनकी संख्या बढ़ कर 117 हो गई।[1] जो 66 सदस्य बढ़े हैं उनमें से 30 तो अफ्रीका के नए स्वतन्त्रता प्राप्त राज्य हैं और 11 एशिया के हैं। इसके अतिरिक्त, इन 41 अफ्रीका-एशियाई राज्यों में से 28 तो 1960 और 1965 के दौरान सदस्य बने हैं। इससे संयुक्त राष्ट्र में एक नये तत्व का समावेश हो गया है जिससे उसके विचार विमर्श के सन्तुलन में परिवर्तन हो रहा है। यह एक ऐसी घटना है जिसका अपने शैक्षणिक कार्य के अंग के रूप में संयुक्त राष्ट्र को

---

[1] यह संख्या बढ़ कर 127 तक पहुँच गई है।

ध्यान रखना है क्योंकि सयुक्त राष्ट्र की सफलता अन्त मे व्यापकतम अर्थ मे शिक्षा के क्षेत्र मे उसके कार्य पर अधिकतर निर्भर होगी।

इसमे कोई सदेह नही कि सयुक्त राष्ट्र, जिसके समारभ के समय जो बडी-बडी आशाएँ उससे की गई थी उन्हे पूरी नही कर सका है। परन्तु उस समय कोई भी यह नही सोच सकता था कि ससार इस प्रकार विभक्त हो जायगा जिससे उसका कार्य इतना कठिन हो गया है और उसकी प्रतिष्ठा को ऐसे घातक धक्के लग रहे हैं। फिर भी, हालाकि विश्व सुरक्षा से सम्बन्धित उसके बहुत से कार्य प्रादेशिक सगठनो ने सम्हाल लिये हैं, उसका केन्द्रीय ढाचा अक्षुण्ण रूप मे विद्यमान है। आखिर, सयुक्त राष्ट्र एक विश्व राज्य तो है नही, केवल 'प्रभुत्वसम्पन्न स्वतत्र राज्यो का एक ऐच्छिक समुदाय' है। अत उसकी सफल होने की इच्छा उसके विधायक अगो के उसे सफल बनाने के सकल्प से अधिक नही हो सकती। परन्तु यदि विश्व के राज्य इस न्यूक्लीय युग मे विश्व शान्ति के प्रवर्तन के लिये किसी सामान्य सगठन मे मिलकर कार्य करने मे अन्त मे असफल रहते है तो यह निश्चय है कि कोई राष्ट्रीय सविधान जीवित नही रह सकेगा।

17

संविधानवाद का भविष्य

प्रथम विश्वयुद्ध के तुरन्त पश्चात् राजनीतिक संविधानवाद का भविष्य बड़ा उज्ज्वल प्रतीत होता था। वास्तव में दुनिया में शायद ही कोई सभ्य राज्य होगा जिसने किसी-न किसी रूप में राष्ट्रीय लोकतंत्रात्मक संविधान को न अपना लिया हो। किन्तु इस परिस्थिति से उत्पन्न आशावाद की भावना अनेक घटनाओं के फलस्वरूप नष्ट हो गई, क्योंकि कुछ ही समय पश्चात् योरोप के बहुत-से भागों में शासन के सांविधानिक स्वरूपों के विरुद्ध प्रतिक्रिया हुई। रूस में क्रांतिकारी सत्ता की सफलता, जिसने उदार अस्थायी शासन को हिंसात्मक रीति से समाप्त कर दिया था, प्रतिक्रांति पर उसकी विजय से पहले ही सुनिश्चित हो चुकी थी। उसके पश्चात् इटली में फासिस्ट विद्रोह, जर्मनी में नाजी विप्लव, स्पेन में फ्रांको की विजय, और पोलैंड, रूमानिया, यूनान तथा पूर्वी योरोप के अन्य राज्यों में अधिनायकतंत्र जैसे शासनों की स्थापना हुई। किन्तु यह सब होते हुए भी सामान्यतया पश्चिमी राज्यों में द्वितीय विश्वयुद्ध में जर्मन आक्रमण तक राजनीतिक संविधानवाद चलता रहा, हालांकि फ्रांस और बेलजियम में इसका रूप कुछ अनिश्चित-सा रहा।

महाद्वीपीय योरोप में द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद की स्थिति प्रथम विश्वयुद्ध के बाद की स्थिति से बिलकुल भिन्न थी। बेलजियम, हॉलैंड और स्कैंडिनेविया के राज्य जर्मन आधिपत्य के दिनों में निलम्बित संविधानों को पुनः काम में लाने लगे। फ्रांस ने अपने चतुर्थ गणतंत्र के संविधान में तृतीय गणतंत्र के संविधान की मुख्य बातें पुनः स्थापित कीं, हालांकि उसने बाद में पंचम गणतंत्र में अर्ध-राष्ट्रपति प्रणाली स्वीकार कर ली। इटली ने गणतांत्रिक संविधान प्रख्यापित करते हुए अपनी प्रणाली में से फासिस्ट विष को स्पष्टतः निकाल दिया। स्वीडन और स्विट्-जरलैंड ने, जो युद्ध में तटस्थ रहे थे, अपने मूल संविधानों को बनाए रखा। फिनलैंड युद्धकालीन संकटों में से अपने संविधान को अक्षत रूप में बचा सका और पश्चिमी जर्मनी में 1949 में संघीय गणराज्य की स्थापना के साथ संसदीय लोकतंत्र का उद्धार हुआ। महाद्वीप के शेष भाग में संविधानवाद का भविष्य अत्यन्त अन्धकारमय था। पूर्व में, सोवियत रूस के आधिपत्य में कई राज्यों में

साम्यवादी शासन दृढ़तापूर्वक स्थापित कर दिये गये थे। दक्षिणपश्चिम मे, स्पेन और पुर्तगाल मे फ्रांको और सालाजार के अधिनायकतन्त्र अपना प्राधान्य कायम रखे हुए थे।

लोकतन्त्रीय और सत्तावादी प्रणालियो का यह मुकाबला ससार के अन्य भागो मे भी दिखाई देता है, उदाहरणार्थ सुदूरपूर्व मे। वहाँ जापान 1947 ने संविधान के अधीन एक संशोधित संसदीय प्रणाली प्रवर्तित किये हुए है और फिलिपीन्स के गणराज्य ने, जिसे 1946 मे सयुक्त राज्य ने पूर्ण स्वतत्रता प्रदान की थी, अमेरिका के नमूने पर राष्ट्रपति-प्रणाली स्वीकार की है। इसके साथ ही, चीन ने उग्र साम्यवादी शासन स्थापित किया है और कोरिया मनमाने ढग से दो भागो मे विभक्त कर दिया गया है। वहाँ उत्तरी भाग मे साम्यवादी शासन है और दक्षिणी भाग मे एक प्रकार का ससदीय शासन। एशिया और अफ्रीका के अन्य भागो मे भी जहाँ योरोपीय साम्राज्यो के भग्नावशेषो पर नये स्वतन्त्र राज्यो का निर्माण हो रहा है, राजनीतिक स्थिति बडी उलझी हुई है। इनमे से कुछ राज्यो को जिन्होने ससदीय सविधान प्रख्यापित किये हैं, आरभ से ही व्यावहारिक कठिनाइयो का सामना करना पड रहा है और उनमे से कुछ तो किसी न किसी प्रकार के अधिनायकतत्र की ओर अग्रसर होने लगे है। अन्य राज्यो मे साम्यवाद विजयी हो चुका है और कुछ राज्य ऐसे भी है जो अपने आपको असलग्न मानते है परन्तु जहाँ स्थिर शासन को साम्यवाद की उन्नति से निरन्तर खतरा बना रहता है।

इस अनिश्चित स्थिति मे कम से कम एक बात स्पष्ट है और वह यह है कि राष्ट्रीय लोकतन्त्रात्मक सविधानवाद अब भी परीक्षण की अवस्था मे ही चल रहा है और यदि उसे जीवित रहना है तो उसे अपने-आपको परिवर्तनशील समय और परिस्थितियो के अनुकूल बनाने के लिए तैयार रहना चाहिए। जैसा हम देख चुके हैं, राजनीतिक सविधानवाद एक अर्थ मे बहुत पुराना है, किन्तु लोकतन्त्र के साधन के रूप मे वह अपेक्षाकृत नया है। ब्रिटेन मे भी, जो उसका जन्मस्थान है, पुराने संविधान का लोकतन्त्रीयकरण पिछले सौ वर्षो के दौरान ही हुआ है। अतएव, यह समझने का कोई कारण नही है कि वह परिवर्तन की सीमा पर पहुच गया है। इसलिए, उन तरीको की जाच करना लाभदायक होगा जिनसे वह अपनी वर्तमान दुर्बलताओ को, जो उसमे निश्चित रूप मे है, दूर कर सके और भविष्य मे अपने समक्ष निश्चय ही प्रस्तुत होनेवाली समस्याओ का समाधान कर सके। आधुनिक ससदीय प्रणालियो की सबसे अधिक स्पष्ट कमजोरी यह है, जैसा हम पहले बता चुके है, कि उनकी केन्द्रीय सस्थाओ के पास जितने वे उचित रूप से निभा सकती हैं उनसे अधिक काम है। इसके अतिरिक्त, जैसा हम पहले भी बता चुके है, उनके समक्ष प्रस्तुत नई समस्याए मुख्यत आर्थिक है, क्योंकि

अधिकतर सामाजिक सुधारवादियो के कार्यक्रमो मे राज्य की आर्थिक कार्यवाहियो का बहुत अधिक विस्तार परिकल्पित है। इन दो बातो के साथ-साथ हमे इस बात पर भी विचार करना है कि राजनीतिक लोकतन्त्र का यह सूत्र कि प्रत्येक नागरिक *एक माना जाएगा*, एक से अधिक नही, *सामान्य राज्य* मे श्रमिक-समूह को सतुष्ट करने मे अधिकतर असफल रहता है, हालाकि यह पद्धति उन्ही के हित के लिए आविष्कृत मानी जाती है।

यह अतिम बात पूर्ववर्ती दोनो बातो मे उलझन पैदा कर देती है, क्योकि जहा समाज के कम उन्नत अग के आर्थिक हित के लिए यह आवश्यक है कि राज्य के केन्द्रीय अवयवो को और अधिक कर्तव्य सौंपे जाए, हालाकि उनके पास पहले से ही इतने अधिक कर्तव्य हैं कि वे उनका उचित रूप से निष्पादन कठिनाई से ही कर सकते हैं, वहा मतदान की आधुनिक प्रणाली के अधीन गठित ससद् मे श्रमिको को बहुमत प्राप्त करने मे कठिनाई का अनुभव होता है और ऐसी परिस्थिति मे यह सम्भव है कि हताश होकर वे अ-साविधानिक मार्गो को अपनाने के लिए बहकाए जा सकें। साविधानिक राज्य को इस कठिनाई का सामना करना पडेगा, क्योकि औद्योगिक श्रमिक यदि बहुमत में नही हैं तो भी उनका कम-से-कम ऐसा पर्याप्त बलशाली अल्पमत तो है ही जो अपनी मागो की पूर्ति के लिए कुछ न किए जाने पर समाज को पगु बना सकता है और राज्य मे फूट पैदा कर सकता है। अत हमे यह देखना चाहिए कि इस जटिल समस्या को हल करने मे सविधान-वाद क्या कर सकता है।

ऐसी किसी भी चर्चा के मूल मे मुख्य बात राज्य की प्रभुसत्ता है। कोई भी राज्य, यदि उसे अराजकता से बचना है, प्रभुसत्तात्मक शक्तियो को अपने पास सुरक्षित रखने के लिए बाध्य है। इसके साथ ही यह भी स्मरण रखना चाहिए कि स्त्री और पुरुष किसी भी समाज के सदस्य उसके हित के लिए नही बल्कि स्वय अपने हित के लिए होते है। राज्य को उस जन समुदाय को सतुष्ट करना चाहिए जिसके सर्वोत्तम हितो की सुरक्षा करना ही उसका प्रयोजन है (उसका कोई अन्य उद्देश्य नही हो सकता), और वह यत्र जिसके माध्यम से राज्य कार्य करता है—अर्थात् सविधान—इस उद्देश्य को सुनिश्चित करने के योग्य बनाया जाना चाहिए। यही कारण है कि आधुनिक सविधानवाद का विकास इस धारणा के आधार पर हुआ है कि प्रभुसत्ता जनता की है। अधिकतर क्रातिकारियो की दलील भी यही है। वास्तव मे वे मुख्य रूप से इस कारण क्रातिवादी हैं कि उनका विश्वास है कि आधुनिक राज्य-तत्र जनता की प्रभुसत्ता को प्रभावकारी नही बना सकता। इसके विपरीत, मुसोलिनी के अनुसार फासिस्ट सिद्धात लोक-प्रभुत्व के मत को अस्वीकार करता है जो उसके कथनानुसार जीवन की वास्तविकताओ से मिथ्या सिद्ध हो चुका है। मुसोलिनी ने यह भी कहा था कि "हम केवल राज्य

के प्रभुत्व के सिद्धात की घोषणा करते हैं जो राष्ट्र का वैध सगठन तथा उसकी ऐतिहासिक आवश्यकताओं की अभिव्यक्ति है।"

शिक्षित समाज मे नागरिक समूह प्रभुत्वसम्पन्न राज्य को स्वीकार कर सके इसके लिये राज्य को उन्हें विश्वास दिलाना चाहिये कि अपने राजनीतिक भाग्य का अन्तिम नियत्रण उन्ही के हाथो मे है। ऐसा होना आधुनिक समाज की जटिल अवस्थाओ मे कठिन हो सकता है। विशेषकर ब्रिटेन और सयुक्त राज्य जैसे तकनीकी दृष्टि से उन्नत देशो मे, जहां उद्योगपतियो, पूजीपतियो, तकनीशियनो आदि के अ-राजनीतिक समुदाय सार्वजनिक कार्यों पर प्रभाव डालने की स्थिति मे हैं। इन तथाकथित दबाव-गुटो' (*Pressure Groups*) की गतिविधि 'शक्ति के गलियारा' (Corridors of Power) मे होती है। सयुक्त राज्य मे, वे थोडे से चुने हुए लोग जो इस प्रकार का दबाव डालने की अत्यन्त सुदृढ स्थिति मे है, 'शक्तिधर विशिष्ट वर्ग' (*Power Elite*) कहलाते हैं। हालाकि इस आलोचना का बहुत कुछ अश निश्चय ही ठीक है, परन्तु इसमें अतिशयोक्ति हो सकती है। एक औद्योगिक समाज जो अनेक दिशाओ मे अपनी शाखाएँ फैलाता रहता है, अनिवार्य रूप मे नये प्रकार के नेता पैदा करता है। इसका उसके राजनीतिक विकास पर प्रभाव अवश्य होगा, परन्तु एक स्वस्थ लोकतन्त्र मे इन नये नेताओ द्वारा शक्ति के दुरुपयोग को रोकने और इसके साथ ही सामाजिक प्रगति मे उनके योगदान का सर्जनात्मक उपयोग करने की क्षमता होनी चाहिये।

प्रभुसत्ता को इस प्रकार प्रयुक्त और सतुलित करना चाहिये कि वैयक्तिक अधिकारो को उससे अनुचित रूप मे क्षति न पहुचे। इस प्रकार अधिकारो के उपभोग को सुनिश्चित करने के लिये राज्य के अवयवो की ऐसी व्यवस्था होनी चाहिये जिससे यह निश्चित हो सके कि समाज के बहुजन उनको केवल समझेंगे ही नही, बल्कि उनके गठन और विकास मे सक्रिय अभिरुचि भी रखेंगे। ऐसी सक्रिय अभिरुचि को सुनिश्चित करने के लिये ऐसे सुधार सहायक हो सकते है जैसे द्वितीय सदन का नये ढग से निर्माण और उसमे नये प्रकार का प्रतिनिधित्व, और जनमतसग्रह, उपक्रम और प्रत्याह्वान जैसे प्रत्यक्ष लोक-नियत्रण का विस्तार आदि, परन्तु इन उपायो मे प्रभुत्व सम्बन्धी कोई गभीर प्रश्न नही उठते।

यह स्वीकार कर लेना कि, अन्तिम वैध अर्थ मे, प्रभुत्व अविभाज्य होती है इस बात को अस्वीकार करना नही है कि वह सुनम्य भी होती है। यह बात सघ राज्यो के अस्तित्व से ही सिद्ध होती है। सघीय सविधानो मे जिस प्रकार शक्ति-वितरण होना है उससे कुछ एकात्मक राज्यो मे सुधार का एक सभव तरीका सूझता है। यदि राज्य का समस्त भू-क्षेत्र इतना बडा है कि उसका एकमात्र विधानमडल अपने निर्वाचको से दूर पड जाता है या घनी आबादीवाले क्षेत्र के लिये विधिनिर्माण के कार्य से विधानमडल का कार्यभार बहुत बढ जाता है तो यह

निश्चित है कि जनता अपने प्रतिनिधियो की कार्यवाहियो मे दिलचस्पी नही लेगी, विधानमडल का उन क्षेत्रो से सम्पर्क टूट जाएगा जिनका कि वह प्रतिनिधित्व करता है, प्रतिनिधित्व प्रणाली अवास्तविक एव अप्रतिष्ठित हो जाएगी और अमाविधानिक प्रकार की अन्य पद्धतियो के प्रयोग के लिए मार्ग खुल जाएगा। ब्रिटेन जैसे घनी आबादी वाले क्षेत्र को ऐसा ही खतरा है। जैसा हम बता चुके हैं, ब्रिटेन एकात्मक राज्य है। लोकतन्त्रात्मक प्रगति के अनिवार्य परिणामस्वरूप दिन प्रति-दिन बढ़ते हुए *सामाजिक विधान का केन्द्रीय विधानमडल पर इतना* अधिक दबाव पड रहा है कि उसमे सरकार द्वारा प्रस्तुत कार्य के अतिरिक्त और किसी भी कार्य पर उचित रूप से विचार करने का अवसर नहीं मिला। ऐसी स्थिति मे यह पूछा जा सकता है कि इतने अधिक प्रतिनिधियो को निर्वाचित करने और सार्वजनिक निधि मे से उनको वेतन देने से क्या लाभ है जब कि उनका एकमात्र और वास्तविक काम सरकारी प्रस्तावो को स्वीकृत या अस्वीकृत करना भर रह गया है।

ऐसी स्थिति मे सुधार का एक तरीका सघवाद का है। सघराज्यो के सर्वोत्तम उदाहरण वे हैं जो पहले से अलग-अलग अनेक समुदायो से विकसित हुए हैं। किन्तु ऐसा कोई कारण नही है कि एकात्मक राज्य भी अपने को अनेक छोटे राजनीतिक निकायो म इस प्रकार क्यो न विभाजित कर लें जिसमे उनके पास केन्द्रीय *प्रयोजनो के लिए केवल वे ही शक्तिया रह जाए जो सामान्य हित के लिए आवश्यक* हो। यह योजना अन्तरण (Devolution), सत्तान्तरण या विकेन्द्रीकरण कहलाती है। ब्रिटेन मे एक बार आयरलैंड के प्रश्न से उत्पन्न कठिनाइयो के समाधान के रूप मे ऐसा सुझाव दिया गया था। उस समय 'सर्वत्र गृहशासन' का नारा लगा था। योजना यह थी कि इगलैंड, वेल्स, स्कॉटलैंड और आयरलैंड अशत स्वशासी इकाइया बन जाए और ससद् इन सबके समान हिता से सम्बद्ध विषयो पर विचार करने के लिए वेस्टमिस्टर मे कार्य करती रहे। ऐसी योजना के अधीन विभाजन (यह आवश्यक नही है कि उपर्युक्त विशिष्ट विभाजन ही हो) प्राप्त कर लेने के पश्चात् सघीय सविधानो की तरह का एक सविधान तैयार किया जा सकता था जिसमे या तो कुछ शक्तिया इकाइयो को देकर शेष केन्द्रीय ससद् के लिए छोडी जा सकती थी या फिर केन्द्रीय सत्ता के अधिकारो को स्पष्टत परिगणित करके *शेष शक्तिया इकाइयो के पास छोडी जा सकती थी।*

इसका तात्पर्य एकात्मक राज्य से सघीय राज्य का सृजन करना है जिस दिशा मे पहला कदम विकेन्द्रीकरण होगा। ऐसे सुधार का प्रभाव यह होगा कि प्रथम, ब्रिटेन के जैसे केन्द्रीय विधानमडल पर आजकल लदा हुआ लगभग असहनीय बोझ हलका हो जाएगा, द्वितीय, कार्यपालिका के कार्य पर और अधिक सतर्क निरीक्षण सम्भव बनाकर नौकरशाही के खतरे को कम किया जा सकेगा, और, तृतीय—

यह बात सबसे अधिक महत्वपूर्ण है—राजनीति सजीव बनाई जा सकेगी, स्थानीय विधान के ऐसे मार्ग खोले जा सकेंगे जो इस समय सम्भव नहीं हैं और निर्वाचक तथा प्रतिनिधि के बीच वास्तविक एवं निरन्तर सम्पर्क स्थापित रखा जा सकेगा। यह बात स्पष्ट हो जानी चाहिए कि स्व-शासन की ऐसी इकाइयां केवल स्थानीय शासन की संस्थाएं नहीं होंगी बल्कि केन्द्रीय संसद् के साथ-साथ प्रभुसत्ता में हिस्सा बटानेवाली कई प्रभुक्त निकाय होंगी। निस्सन्देह इस योजना में अनम्य संविधान की आवश्यकता होगी जिसका संशोधन किसी विशेष उपकरण के ही द्वारा किया जा सकेगा और जिसकी पवित्रता अन्ततः सर्वोच्च न्यायालय जैसी किसी सत्ता के द्वारा सुरक्षित होगी।

यदि संघवाद के तरीके से प्रभुसत्ता का इस प्रकार राजनीतिक दृष्टि से विभाजित करना व्यावहारिक रूप में सम्भव हो तो इसके पश्चात् यह प्रश्न उठता है कि क्या उसे कार्य की दृष्टि से विभक्त करना भी संभव नहीं होगा ? इस प्रकार की संघीय योजना समाज को प्रादेशिक इकाइयों—प्रांतों या राज्यों या केन्द्रों के संघ के रूप में नहीं बल्कि आर्थिक, धार्मिक और सामाजिक सभी प्रकार की संस्थाओं के, जिनमें स्त्री-पुरुष अपने-आपको सामान्य राजनीतिक संगठन की अपेक्षा और अधिक पूर्णरूप से अभिव्यक्त करते हैं, संघ के रूप में माना जाएगा। इसका अर्थ है अपने कार्यक्षेत्र के अन्दर निश्चित अधिकारों वाले अर्द्ध-प्रभुसत्तात्मक निकायों की स्थापना, जो अधिकार अमरीका और आस्ट्रेलिया जैसे संघों में संघबद्ध होने वाली इकाइयों द्वारा उपभोग किए जाने वाले वर्तमान अधिकारों के समान होंगे, अन्तर केवल इतना ही होगा कि इन अर्द्ध-प्रभुसत्तात्मक निकायों के कार्य राजनीतिक नहीं बल्कि आर्थिक या धार्मिक या सामाजिक होंगे। इन नए अंगों को समन्वित करने तथा उनमें व्यवस्था बनाए रखने के लिए राज्य निश्चय ही विद्यमान रहेगा। किन्तु इस अवस्था में राज्य एक प्रकार से ऐसे हितों की संस्था का रूप धारण कर लेता है जिन्हें प्रत्येक नागरिक समझ सकता है। ऐसी अवस्था में प्रभुसत्ता एक नया रूप धारण करने लगती है। वह एक अचल वैध कल्पना के स्थान पर लोगों के कल्याण के लिए एक सम्य साधन बन जाती है। एक बार उसके विषय में ऐसा अनुभव हो जाने पर राष्ट्रीय अथवा अन्तर्राष्ट्रीय दृष्टि से सांविधानिक विकास की संभावनाओं की कोई सीमा नहीं रहती।

वर्तमान राज्यों के अन्तर्गत प्रभुसत्ता में आवश्यकतानुसार हेरफेर करने की सम्भावना के सम्बन्ध में जो कुछ हमने कहा है वह समान रूप से, बल्कि और भी अधिक प्रभावपूर्ण रूप से, अन्तर्राष्ट्रीय संगठन पर भी लागू होता है। यह स्पष्ट है कि पाँच शताब्दियों के विकास के बाद प्रभुत्वसम्पन्न राज्य का जो स्वरूप है वह समकालिक आवश्यकताओं एवं अवस्थाओं से अधिकाधिक विसंगत होता जा रहा है। फ्रान्स और जर्मनी ने जिनमें युगों से शत्रुता चली आ रही थी, चार अन्य

राज्यो के साथ एक सीमाशुल्क सघ का निर्माण कर लिया है जो राजनीतिक सघ की भी दिशा मे पहला कदम है और इस प्रवृत्ति से कालान्तर मे एक अधिक विस्तृत योरोपीय सघीय समाज का निर्माण अवश्य होगा। यदि योरोप मे पृथक् राज्यो के एक वर्ग मे सघवाद कार्यान्वित किया जा सकता है, जैसा वह पहले से सयुक्त राज्य, कनाडा और आस्ट्रेलिया मे कार्यान्वित हो रहा है, तो वह ससार के नये राज्यो के *वर्गों म भी स्थिर शासन का व्यवहार्य आधार सिद्ध हो सकता है।* वास्तव मे, उदाहरणार्थ, अफ्रीका के अग्रदर्शी नेता, अपनी जटिल राजनीतिक एव आर्थिक समस्याओ के समाधान के एक तरीके के रूप मे उस पर विचार कर रहे हैं। यथार्थ मे, सघवाद केवल एक सफल प्रादेशिक सगठन की ही कुजी नही, बल्कि एक सर्वमान्य विश्वसत्ता की स्थापना की भी कुजी मालूम होती है।

कोई भी सही ढग स सोचनेवाला व्यक्ति इस बात से इन्कार नही करता कि उस अन्तर्राष्ट्रीय अराजकता का, जिसके फलस्वरूप दो विनाशकारी विश्वयुद्ध हुए और जो, यदि उसे रोका न गया, हमारी सभ्यता का अन्त करके ही रहेगी, एकमात्र इलाज किसी प्रकार की विश्वसत्ता की स्थापना ही है। परन्तु इस सत्ता के रूप के विषय म मतभेद है। कोई इसकी ऐसे विश्वराज्य के रूप मे कल्पना करते हैं जिसमे समस्त राष्ट्रीय व्यक्तित्व विलीन हो जायगा। निस्सदेह इस प्रयोजन के लिये एक चार्टर बनाना सभव है परन्तु कोई भी ऐसा सविधान, जिसका अभिप्राय चाहे कितना ही गंभीर और जिसका रूप चाहे कितना ही निर्दोष क्यो न हो, यदि वह उन लोगो की जिनके लिय वह अभिप्रेत है, इच्छा के अनुकूल न हो तो वह केवल कागज का एक टुकडामात्र रह जाता है। यदि बात ऐसी है तो यह निश्चित है कि ऐसे विश्वराज्य के निर्माण मे शासन का जो अत्यधिक केन्द्रीयकृत और अवैयक्तिक रूप उपलक्षित है वह बिल्कुल काम नही देगा। वह केवल *अन्तर्राष्ट्रीय युद्ध क खतरे के स्थान पर गृह-युद्ध के उसी प्रकार के भयकर खतरे* को उत्पन्न कर देगा। और शान्ति एव सुरक्षा की उपलब्धि के लिये इस प्रकार का केन्द्रीयकृत विश्वराज्य आवश्यक भी नही है।

सत्य बात यह है कि विश्व नियत्रण के लिये देशो का पूर्ण एकीकरण उतना आवश्यक नही है जितना कृत्यो का आशिक सहसम्बन्ध आवश्यक है। इस सहसम्बन्ध की उपलब्धि अन्तर्राष्ट्रीय मामलो म सघवाद के भावनापूर्ण प्रयोग द्वारा पूर्ण रूप मे हो सकती है। परन्तु सघवाद प्रगतिशील राजनीतिक सगठन है जिससे अभिलाषानुसारी विचार द्वारा या सन्दिग्ध सैद्धान्तिक प्रयत्न द्वारा इस अन्तर्राष्ट्रीय कार्य को पूरा नही कराया जा सकता। अत अधिक उन्नत राष्ट्रो को अनुकूलन की प्रक्रिया का धैर्यपूर्वक पोषण एव निर्देशन करना पडेगा ताकि सयुक्त-राष्ट्र की सारभूत निर्बलता सदा के लिय मिटाई जा सके। जैसा हम देख चुके हैं, वह निर्बलता यह है कि चार्टर मे सदस्य-राज्यो की प्रभुता का सिद्धान्त विशिष्ट

रूप मे रक्षित है। परन्तु यदि जिस रूप मे हम सयुक्तराष्ट्र को जानते है वह रूप कुछ समय और बना रहे तो शायद ससार के राष्ट्र, अवसर निकल जाने के पहले ही, विश्व-नागरिकता के लिय केवल जो ही सच्ची एव स्थायी शान्ति का एकमात्र असदिग्ध आधार है, शिक्षा म एक स्थायी उपकरण का निर्माण कर सकें।

इस प्रकार अन्तिम उद्देश्य एक अन्तर्राष्ट्रीय नही बल्कि अतिराष्ट्रीय सत्ता की स्थापना होगा, जिसको सब राष्ट्र अपनी बाह्य प्रभुसत्ता सौप देंगे। राष्ट्रीय राज्य की प्रभुता अधिक-से-अधिक एक भ्रान्तिपूर्ण शस्त्र है। राजनीतिक अनुभव और सुख का एक ऐसा व्यापक क्षेत्र है जिसका उसके बिना उपभोग किया जा सकता है। सच तो यह है कि राष्ट्रीय राज्य को उतनी जरूरत प्रभुता की नही है जिसका बाह्य रूप से मतलब अपने पडोसियो के प्रति अपनी इच्छानुसार व्यवहार करना है, जितनी कि स्वायत्तता की है जिसका अर्थ अपने विशुद्ध स्थानीय मामलो पर नियत्रण रखने का अधिकार है। अत, निष्कर्ष के रूप मे हम उचित रूप म दो बाते कह सकते हैं प्रथम यदि राष्ट्रीय लोकतन्त्रात्मक सविधानवाद को जीवित रखना है तो हमे यह स्वीकार करने के लिए तैयार रहना चाहिए कि लोक-तन्त्र के अनेक रूप हो सकते है और उसके आदर्श रूप को पाने के लिए कदाचित् बहुत अधिक प्रयोग आवश्यक हो, द्वितीय, राष्ट्रवाद के भले और बुरे दोनो पहलू हैं और उसकी कुछ बुराइयो का त्याग करना सम्भव होना चाहिए जिससे सीमित राष्ट्रीय राज्य के माध्यम से मानव-समुदाय को लाभ प्रदान करने की उसकी शक्ति को किसी भी प्रकार कम किए बिना स्थायी अन्तर्राष्ट्रीय शाति प्राप्त की जा सके।

निबन्ध के विषय

अध्याय 1

राजनीतिक सविधान वाद का अर्थ

1 सामाजिक विज्ञान के विभागो का वर्णन कीजिए और प्रत्येक के क्षेत्र का विवेचन कीजिए।

2 समाज और राज्य मे क्या अन्तर है?

3 प्राचीन और वतमान अर्थो मे राज्य की परिभाषा कीजिए।

4 विधि कितने प्रकार की होती हैं? आधुनिक राज्य मे उनका किस प्रकार विकास हुआ है?

5 'प्रभुत्व' का अर्थ और उसका महत्व समझाइए।

6 शासन को राज्य का यत्र कहना कहा तक उपयुक्त है?

7 "शासन, अतिम विश्लेषण मे, सगठित बल है।" वर्तमान राज के सदर्भ मे इस उक्ति का विवेचन कीजिए।

8 शासन के तीन बडे विभाग क्या हैं? प्रत्येक का क्षेत्र समझाइए।

9 राजनीतिक सविधान क्या है? क्या आप राजनीतिक निकाय के स्वस्थ जीवन के लिए उसे आवश्यक समझते हैं?

10 यह कहना कहा तक उचित है कि आधुनिक राजनीतिक सविधानवाद की पृष्ठभूमि राष्ट्रीय है और उसकी वृत्ति लोकतत्रीय है?

अध्याय 2

सविधानी राज्य की उत्पत्ति और उसका विकास

1 यूनानी लोगो को नगर-राज्य का विचार क्यों प्रिय था?

2 रोमन साम्राज्य किस अर्थ मे एक विश्वराज्य था?

3 रोमन साम्राज्य के पतन और आधुनिक राज्य के उदय के बीच एक सक्रमण कालीन व्यवस्था के रूप मे 'सामन्तवाद (फ्यूडलिज्म)' की विवेचना कीजिए।

4 पुनरुत्थान के पूर्व पश्चिमी योरोप मे क्या साविधानिक प्रगति हो चुकी थी? पुनरुत्थान के राजनीतिक पहलुओ का कुछ वर्णन कीजिए।

5 'धर्मसुधार' के राजनीतिक परिणामो पर प्रकाश डालिए।
6 राज्य की उत्पत्ति के सिद्धात के रूप मे सामाजिक सविदा के सिद्धात की समीक्षा कीजिए।
7 स विधानवाद के इतिहास मे अमेरिका के स्वातत्र्य-युद्ध तथा फ्रेंच क्राति का महत्व समझाइए।
8 औद्योगिक क्राति के राजनीतिक पहलुओं पर अपने विचार प्रकट कीजिए।
9 योरोप मे प्रथम विश्वयुद्ध का सवैधानिक विकास पर क्या प्रभाव पडा ?
10 द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद के काल मे योरोप की सवैधानिक स्थिति पर प्रकाश डालिए।

अध्याय 3

सविधानो का वर्गीकरण

1 अरस्तू ने अपने समय के राजनीतिक सविधानो का किस प्रकार वर्गीकरण किया था ? वह वर्गीकरण आज किन बातो मे पुराना पड गया है ?
2 सविधानो का आधुनिक परिस्थितिओ के अनुकूल वर्गीकरण कीजिए।
3 आधुनिक राज्यों के सम्बन्ध मे युक्त 'एकात्मक' और 'सघीय' शब्दों की परिभाषा कीजिए।
4 आधुनिक सविधानो मे लिखित एव अलिखित सविधानो को वर्गीकृत करने मे क्या दोष है ?
5 सविधानो के सम्बन्ध मे युक्त 'नम्य' और 'अनम्य' शब्दो का क्या तात्पर्य है ?
6 आधुनिक राज्य मे विधानमडल के निर्माण के सम्बन्ध मे निर्वाचित-यत्र का क्या महत्व है ?
7 'मताधिकार' तथा 'निर्वाचन-' से आप क्या समझते हैं ? ससदीय प्रतिनिधियो के निर्वाचन मे वे क्या भाग लेते हैं ?
8 आधुनिक राज्य मे कितने प्रकार के द्वितीय सदन विद्यमान हैं ? प्रत्येक के उदाहरण दीजिए।
9 'ससदीय' और 'असससदीय' अथवा 'स्थायी' कार्यपालिका मे क्या भेद है ?
10 'विधि के शासन' से आप क्या समझते हैं ? उन राज्यों की जिनमे इस 'प्रकार का शासन' होता है, अन्य राज्य की विधि व्यवस्थाओ से किस प्रकार भिन्न होती हैं ?

अध्याय 4

एकात्मक राज्य

1 'प्रभुत्व' से आप क्या समझते हैं ? आन्तरिक और बाह्य प्रभुत्व मे अन्तर समझाइए ।

2 आधुनिक राज्य के विकास मे समाकलन (Integration) की दोनो प्रक्रियाए समझाइए ।

3 'ससद' की सर्वोच्चता की परिभाषा कीजिए। एकात्मक राज्य मे यह सर्वोच्चता कहा तक विद्यमान रहती है ?

4 ग्रेट ब्रिटेन के एकात्मक राज्य के रूप मे विकास पर प्रकाश डालिए।

5 'ब्रिटेन के साम्राज्यवादी विकास से ब्रिटिश राज्य का एकात्मक रूप नष्ट नहीं हो सका है।" इस उक्ति की यथार्थता प्रमाणित कीजिए।

6 एकात्मक राज्य के उदाहरण के तौर पर दक्षिणी अफ्रीका के यूनियन (गणतन्त्र) की परीक्षा कीजिए।

7 सन 1931 के वेस्टमिन्स्टर स्टेट्यूट का महत्व समझाइए।

8 फ्रास को आधुनिक ससार मे एकात्मक राज्य का पूर्णतम उदाहरण बताना कहा तक युक्तियुक्त है ?

9 इटली के एकीकरण के विकास का क्रम समझाइए और बताइए कि इटली एकात्मक राज्य की जगह सघीय राज्य भी कैसे बन सकता था ?

10 फ्रांस के चतुर्थ एव प्रथम गणतन्त्र तथा इटली के गणतन्त्र मे विकेन्द्रीकरण सिद्धान्त का कहा तक लिहाज रखा गया है ?

अध्याय 5

सघराज्य

1 कॉनफ्डरेशन और सघीय राज्य मे क्या भेद है ?

2 "सघीय राज्य, राज्यो के अधिकारो का राष्ट्रीय एकता तथा शक्ति के साथ समन्वय करने वाला एक राजनीतिक उपाय है।" इस परिभाषा की विवेचना कीजिए।

3 यह कहना किस अर्थ मे सत्य है कि सच्चे सघीय राज्य मे प्रभुत्व का निवास संविधान मे होता है।

4 'अवशिष्ट शक्तियों' से क्या तात्पर्य है ? एक सघीय राज्य मे सघीय तथा राज्यीय सरकारो के बीच शक्ति वितरण किस-किस प्रकार हो सकता है ?

5. अमरीका के संयुक्तराज्य की संघीय व्यवस्था समझाइए।
6. स्विट्‌जरलैंड मे संघवाद के इतिहास पर प्रकाश डालिए और उसके वर्तमान रूप की संयुक्तराज्य के रूप से तुलना कीजिए।
7. आस्ट्रेलिया की कॉमनवेल्थ तथा कनाडा की डोमिनियन की संघीय व्यवस्थाओ की समानताए तथा उनके भेद समझाइए।
8. जर्मनी मे संघवाद के इतिहास का वर्णन कीजिए। द्वितीय महायुद्ध के बाद के जर्मनी के संघीय गणतंत्र मे वेमर गणतंत्र का संघीय संगठन कहा तक स्थापित किया गया है।
9. सन 1946 के संविधान के अधीन युगोस्लाविया के लोकगणराज्य के विधान के संघीय तत्वो की सन 1936 के संविधान के अधीन रूस के संविधान के संघीय तत्वो से तुलना कीजिए।
10. लैटिन-अमरीका के कुछ राज्यो मे संघवाद के अस्तित्व के क्या कारण हैं ? वहा यह राजनीतिक स्थिरता उत्पन्न करने मे कहा तक सफल हुआ है ?

अध्याय 6

नम्य संविधान

1. दस्तावेजी संविधान से क्या आशय है ? ऐसे संविधान का निर्माण करने का क्या प्रयोजन होता है ? किस-किस ढग से उसका निर्माण हो सकता है ?
2. डी० टोकविल के इस कथन की कि "ब्रिटिश संविधान का कोई अस्तित्व नहीं है" समीक्षा कीजिए।
3. समाज मे विधि का विकास किस प्रकार होता है ? उसकी शक्ति की रिवाजो की शक्ति से तुलना कीजिए।
4. 'संविधान विधि' की परिभाषा कीजिए। वह दूसरे प्रकार की विधियो से किस प्रकार भिन्न होती है ?
5. नम्य संविधान के मुख्य लक्षण समझाइए और बताइए कि वे आधुनिक संसार मे इस प्रकार के किसी एक संविधान मे किस प्रकार प्रकट हैं ?
6. ब्रिटिश संविधान के विकास पर प्रकाश डालिए और उसके इतिहास के आधार पर समझाइए कि उसे नम्य कहना कहां तक उचित है ?
7. "सन् 1911 के संसद् अधिनियम के फलस्वरूप ब्रिटिश संविधान अंशत लिखित संविधान बन गया है।" इसकी समीक्षा कीजिए।
8. यूनाइटेड किंगडम के वर्तमान संविधान की विधियो तथा उसकी प्रथाओ में भेद समझाइए।

9. ब्रिटिश राजनीतिक सस्थाओ के सम्बन्ध मे निम्नलिखित कथन की सत्यता प्रमाणित कीजिए :—"उनका विशिष्ट स्थायित्व इस कारण है कि उनका विकास सूक्ष्म सिद्धान्तो की अपेक्षा अनुभव के आधार पर हुआ है।"

अध्याय 7

अनम्य सविधान

1. *सावैधानिक सशोधन से आप क्या समझते हैं ?*
2. अनम्य सविधान की पहचान आप कैसे करेंगे ? नम्य सविधान से उसका भेद कैसे किया जाता है ?
3. अनम्य सविधानो के सशोधन मे काम आनेवाली पद्धतियो को सविस्तार समझाइए।
4. चतुर्थ और पञ्चम फ्रेञ्च गणतन्त्रो के सविधानो की प्रस्थापना किन-किन परिस्थितियो मे हुई ? उनमे से प्रत्येक की अनम्यता का वर्णन कीजिये।
5. दक्षिणी अफ्रीका मे सविधान की सशोधन-पद्धति की आयर की पद्धति से तुलना कीजिए।
6. आस्ट्रेलिया और कनाडा के सविधान किस अर्थ मे अनमनीय हैं ?
7. स्विस कॉनफेडरेशन के सविधान मे सशोधन-सम्बन्धी कौन-से मुख्य विशिष्ट लक्षण हैं ?
8. सयुक्तराज्य मे सावैधानिक संशोधनो का प्रस्ताव करने तथा उन्हें पारित करने की प्रक्रियाओ मे अन्तर बताइए।
9. सयुक्तराज्य का सविधान आस्ट्रेलिया के सविधान की अपेक्षा किस प्रकार अधिक अनम्य है ?
10. पूर्व वेमर गणतन्त्र के तथा जर्मनी के सघीय गणतन्त्र के सविधानो के सशोधन प्रक्रियाओ का वर्णन कीजिए और उनकी तुलना कीजिये।

अध्याय 8

विधानमंडल

1. आधुनिक काल मे राजनीतिक प्रजातन्त्र के विकास का वर्णन कीजिए।
2. "अभी कुछ पहले तक पुरुष-मताधिकार लैटिन-यौरोप की विशेषता थी।" इस कथन की विवेचना कीजिए।

3 ब्रिटन मे राजनीतिक मताधिकार के इतिहास पर प्रकाश डालिए। आजकल वहा क्या स्थिति है ?

4 सयुक्तराज्य के सविधान के उन्नीसवें सशोधन का महत्व समझाइए।

5 निर्वाचन-क्षेत्र की परिभाषा कीजिए और बताइए कि आधुनिक राज्यो मे उसके रूप किस प्रकार विभिन्न होते हैं ?

6 आनुपातिक निर्वाचन के विचार का प्रादुर्भाव कैसे हुआ ? उसके मुख्य लक्षण समझाइए।

7 किसी भी योरोपीय राज्य मे, जहा उसका प्रयोग होता हो, आनुपातिक निर्वाचन कैसे क्रियान्वित होता है, समझाइए।

8 आनुपातिक निर्वाचन के पक्ष तथा विपक्ष मे क्या तर्क दिए जाते हैं ?

9 "समान मतदान सिद्धात मे ही गलत है।" जान स्टुअर्ट मिल की इस उक्ति पर विचार कीजिए।

10. ब्रिटिश निर्वाचन प्रणाली मे किस प्रकार सुधार हो सकता है।

अध्याय 9

विधानमडल (द्वितीय सदन)

1 आज के विश्व मे द्विसदनी विधानमडल का क्या महत्व है ?

2 'यह कल्पना करना कि सत्ता महत्त्वपूर्ण विषयो मे अपने-आपको निर्बल सत्ता द्वारा नियत्रित होने देगी व्यर्थ है।' गोल्डविन स्मिथ की यह बात द्वितीय सदनो के आधुनिक इतिहास को देखते हुए कहा तक युक्तियुक्त है ?

3 ब्रिटिश हाउस ऑफ लॉर्ड्स के इतिहास की रूपरेखा प्रस्तुत कीजिए और उसकी वर्तमान शक्तियो की व्याख्या कीजिए।

4 कनाडा मे नाम निर्देशित सिनेट का गठन किस प्रकार होता है ?

5 स्पेन मे सन 1876 के सविधान के अधीन मूल सिनेट के गठन के अध्ययन का ब्रिटेन के निवासी के लिए क्या महत्व है ?

6 दक्षिणी अफ्रीका के विधानमडल मे नाम निर्देशित सदस्योकी उपस्थिति का क्या महत्व है ?

7 यह कथन कहा तक सच है कि विश्व के द्वितीय सदनो मे अमरीका की सिनेट सबसे अधिक शक्तिशाली है ?

8 आस्ट्रेलिया और आयर की सिनेटों की रचना और शक्तियो की तुलना कीजिए।

9 द्वितीय सदन मे (1) तृतीय गणतंत्र और चतुर्थ गणतंत्र के संविधानो की तुलना मे पंचम गणतंत्र के अधीन फ्रांस मे, और (2) नृपतंत्र और गणतंत्र के अधीन इटली मे जो परिवर्तन हुए हैं उनकी व्याख्या कीजिए।

10 सोवियत् समाजवादी गणतंत्र संघ मे 1947 मे संशोधित सन् 1936 के संविधान के अधीन राष्ट्र-परिषद (Sovi t of Nationalitics) और युगोस्लाविया मे सन 1946 के संविधान के अधीन राष्ट्र-परिषद (Council of Nationa it es) की रचना किस प्रकार होती है ? उनके स्वरूप और कृत्यो की स्विटजरलैंड की राज्य-परिषद् और जर्मनी के संघीय गणतंत्र की राज्य परिषद (Bundesrat) के स्वरूप और कृत्यो से तुलना कीजिए।

अध्याय 10

विधान मंडल [३]

1 अतीत मे फ्रास की आन्तरिक राजनीति मे लोक निर्देश (Plebiscite) या जनमत संग्रह (Referendum) प्रणाली का प्रयोग किस प्रकार किया गया था ? वैसे ही प्रयोजनो के लिये उसका आजकल क्या महत्व है ?

2 प्रथम विश्वयुद्ध के अन्त मे प्रेबिसिट का प्रयोग किस प्रकार किया गया था और उसका क्या प्रभाव हुआ ?

3 हिटलर ने लोकतंत्र का दुरुपयोग करते हुए और निरकुशतंत्र की स्थापना के रूप मे जनमत-संग्रह का शताब्दी के चतुर्थ दशक मे किस प्रकार प्रयोग किया ?

4 स्विट्जरलैंड मे जनमत संग्रह किस प्रकार व्यवहार मे लाया जाता है ?

5 यूनाइटेड स्टेटस मे जनमत संग्रह का किस सीमा तक योग किया जाता है ?

6 कतिपय स्व-शासी डॉमिनियनो मे जनमत संग्रह के योग को देखते हुए ब्रिटेन मे उसके योग की संभावना पर विचार कीजिए।

7 उपक्रम का क्या उद्देश्य है और जिन राज्यो ने इसको अपनाया है उनमे यह उद्देश्य कहा तक पूरा हुआ है ?

8 आधुनिक लोकतंत्रात्मक राज्यो मे शासन के तीनो विभागो से त्याह्वान प्रणाली को लागू करने से क्या लाभ या हानियां होंगी ?

9 जनमत संग्रह और उपक्रम का सांविधानिक संशोधनो के संबंध मे योग करने से और साधारण विधियो के सम्बन्ध मे योग करने से क्या लाभ हो सकते हैं ? उनकी तुलना कीजिए।

10 यह कहा तक सच है कि प्रत्यक्ष लोक-साधन युक्तियो के लाभ नाममात्र के हैं न कि वास्तविक ?

अध्याय 11

ससदीय कार्यपालिका

1 'प्रत्येक स्वतत्र समुदाय मे महान सर्वोपरि शक्ति'। आधुनिक राज्य मे कार्यपालिका की तुलना मे विधान मडल के सम्बन्ध मे उस उक्ति की विवेचना कीजिये।

2. वशानुगत अथवा निर्वाचित किसी भी प्रकार की नाममात्र और वास्तविक कार्यपालिकाओ का अन्तर समझाइए।

3 'शक्तियो के पृथक्करण' के सिद्धान्त की विवेचना कीजिए। आधुनिक राज्यो मे कार्यपालिका के विकास पर उसका क्या प्रभाव पड़ा ?

4 ससदीय कार्यपालिका के मुख्य लक्षण क्या हैं ?

5 ब्रिटेन मे मन्त्रिमडल (केबिनेट) प्रणाली के इतिहास की रूपरेखा प्रस्तुत कीजिए।

6 ब्रिटेन के वर्तमान मन्त्रिमडलीय शासन के मुख्य लक्षण का सक्षेप मे वर्णन कीजिए।

7 मन्त्रिमडलीय शासन के सिद्धान्त को ब्रिटेन की स्वशासी डामिनियनो पर लागू करने का महत्व समझाइए।

8 फ्रास के चतुर्थ गणतत्र की तुलना मे पचम गणतत्र की कार्यपालिका-प्रणाली मे मन्त्रिमडल का क्या महत्व है ?

9 इटली के नए गणतन्त्र मे मुसोलिनी के अधिनायकतत्र से पूर्व की मन्त्रिमडलीय प्रणाली को कहा तक पुन स्थापित किया गया है ?

10 जिन राज्यो ने प्रथम विश्वयुद्ध के पश्चात् मन्त्रिमडलीय प्रणाली को अपनाया, उनमे से कुछ के उदाहरण दीजिए और यह बताइए कि इस सबध में उनमे द्वितीय विश्वयुद्ध के पश्चात् क्या हुआ है।

अध्याय 12

अ—ससदीय या स्थायी कार्यपालिका

1 "स्थायी कार्यपालिका की प्रवृत्ति लोकतन्त्रीय अथवा निरकुश, किसी भी प्रकार की हो सकती है।" व्याख्या कीजिए।

2. संयुक्त राज्य के संविधान ने राष्ट्रपति के निर्वाचन की जो प्रणाली प्रारम्भ में निर्धारित की थी, उसमें व्यावहारिक रूप में रूढ़ि और प्रथा में क्या परिवर्तन कर दिए हैं ?
3. संयुक्तराज्य के राष्ट्रपति की शक्तियां बताइए। वह किस अर्थ में वास्तविक कार्यकारी है ?
4. "अमरीका का राष्ट्रपति यदि चाहे तो कांग्रेस के मत के विरुद्ध भी जा सकता है।" इस कथन की व्याख्या कीजिए।
5. विकीर्ण कार्यपालिका शक्ति का क्या तात्पर्य है ? समझाइये कि यह कार्य किसी आधुनिक राज्य की अपेक्षा स्विट्ज़रलैंड में किस प्रकार अधिक सफल हुआ है।
6. आधुनिक राज्यों की कार्यपालिकाओं में स्विट्ज़रलैंड की कार्यपालिका किस माने में अद्वितीय है ?
7. 1923 के अन्त तक के संविधान के अधीन तुर्की गणतंत्र के राष्ट्रपति की शक्तियों की 1961 के संविधान के अधीन शक्तियों से तुलना कीजिये।
8. ब्रिटेन में मंत्रिमण्डल-शासन की अमरीका के राष्ट्रपति शासन से तुलना कीजिए।
9. फासिस्ट और नाजी अधिनायकतंत्रों ने किन अर्थों में स्थायी कार्यपालिका की स्थापना की ?
10. संसदीय और अ-संसदीय, इनमें से किस प्रकार की कार्यपालिका को आप लोकप्रभुता के अधिक अनुकूल समझते हैं ?

अध्याय 13

न्यायपालिका

1. "शक्तियों के पृथक्करण का तात्पर्य शक्तियों का समान सन्तुलन नहीं।" शासन के न्यायिक विभाग की अन्य दो विभागों से तुलना करते हुए उक्त कथन की विवेचना कीजिए।
2. यह नियम क्यों अच्छा समझा जाता है कि न्यायाधीश अपने पद पर तब तक रह सकते है जब तक कि वे 'सदाचारी' रहते हैं ?
3. "न्यायाधीश विधि-निर्माण करते हैं और उन्हें करना ही चाहिए।" यह उक्ति आंग्ल-सेक्सन राज्यों पर कहां तक लागू होती है ?
4. सामान्य एकात्मक राज्य और सामान्य संघीय राज्य की न्यायपालिकाओं की शक्तियों की तुलना कीजिए।

'Rule of law'

5. 'विधि के शासन' का क्या अर्थ है ? ब्रिटेन, स्व-शासी डॉमिनियनो और सयुक्तराज्य मे इसके प्रवर्तन पर प्रकाश डालिए।
6 "संविधान के अधीन उत्पन्न होनेवाले सभी विधि तथा न्याय सबधी मामलो मे न्यायिक शक्ति लागू होगी।" सयुक्तराष्ट्र के सविधान के इन शब्दो का क्या महत्व है ?
7 'प्रशासनिक विधि' पद को परिभाषा कीजिए और उसके प्रवर्त्तन पर प्रकाश डालिए।
8 क्या कारण है कि ब्रिटेन मे प्रशासनिक विधि को लागू करने के प्रयत्न सदा असफल रहे जब कि फ्रांस मे यह प्रणाली अब भी विद्यमान है ?
9 आधुनिक सामाजिक विधान की आवश्यकता के कारण आंग्ल-सेक्सन विधि-प्रणाली मे प्रशासनिक विधि के तत्वों के समाविष्ट होने की सम्भावना किस प्रकार पैदा हो रही है ?
10 'विधि के शासन' और 'प्रशासनिक विधि' के गुण-दोषो की तुलना कीजिए।

अध्याय 14

उदीयमान राष्ट्रीयता

1 मध्यपूर्व की राजनीतिक स्थिति पर दोनो विश्वयुद्धो के सम्मिलित परिणामो का वर्णन कीजिये। आज उस प्रदेश के राज्यो के लिये शासन की पाश्चात्य साविधानिक प्रणालिया कहाँ तक उपयुक्त है ?
2 मिस्र पर पूर्ववर्ती ब्रिटिश सरक्षण के स्वरूप की विवेचना कीजिये और ब्रिटिश परावर्तन के बाद उस देश की साविधानिक घटनाओ का वर्णन कीजिये।
3. इजरेल के गणराज्य के उदय और उसके सविधान का कुछ वर्णन कीजिये और बाद की घटनाओं के प्रकाश मे, बतलाइये कि पेलेस्टाइन मे 'यहूदी राष्ट्रभूमि' स्थापित करने का 1917 का निर्णय कहाँ तक बुद्धिमत्ता पूर्ण था।
4 एशिया और अफ्रीका मे राष्ट्रीयतावाद के उदय और इन महाद्वीपो से साम्राज्यिक परिवर्तन के सम्मिलित परिणामो को औपनिवेशिक क्रान्ति कहना कहाँ तक उचित है।
5. सन् 1919 और 1935 के अधिनियमो के अनुसार स्वशासन की कितनी-कितनी मात्रा भारतवर्ष को प्रदान की गई ? भारतवर्ष और पाकिस्तान के गणराज्यो को किन साविधानिक कठिनाइयो का सामना करना पड रहा है ?

6 मलाया मे ब्रिटेन की, इण्डो-चीन मे फ्रान्स की तथा इण्डोनेशिया मे डच लोगो की पूर्ववर्ती साम्राज्यिक स्थिति की तुलना कीजिये। प्रत्येक प्रदेश पर योरोपियन उपनिवेशी सत्ताओ के परावर्तन के क्या राजनीतिक परिणाम हुए ?

7 उन कदमो का वर्णन कीजिये जिनके द्वारा ब्रिटेन अब तक अफ्रीका से हटा है और उन पूर्ववर्ती ब्रिटिश औपनिवेशिक प्रदेशो की जो स्वतत्र हो गये हैं या होने वाले हैं, सावैधानिक स्थिति का सक्षेप मे वर्णन कीजिये।

8 अल्जीरिया मे फ्रान्स के और कागो मे बेल्जियम के उपनिवेशी पद्धतियो की तुलना कीजिये। प्रत्येक अवस्था मे बताइये कि उन देशो ने अपनी साम्राज्यिक जिम्मेदारी किस स्थिति मे छोडी और उसके क्या परिणाम हुए।

9 वेस्टइण्डीज की स्थापना के पहले के सावैधानिक विकास का सक्षिप्त विवरण दीजिये। वह क्यो असफल रहा ?

10 राजनीतिक दृष्टि से अविकसित लोगो मे स्वशासन के विकास के साधन के रूप मे सयुक्त राष्ट्र का न्यासित्व सिद्धान्त राष्ट्र सघ की प्रादेश पद्धति से किन बातो मे प्रगतिशील है ?

अध्याय 15

राज्य का आर्थिक सगठन

1. इस कथन की व्याख्या कीजिए कि राजनीतिक लोकतत्र अपने-आपमे निरर्थक है।

2. आधुनिक समष्टिवाद के विकास पर प्रकाश डालिए और उन परिस्थितियो का वर्णन कीजिए जिनमे उसने धीरे धीरे अहस्तक्षेप की नीति का स्थान ग्रहण किया।

3 आधुनिक राज्य मे द्वितीय सदनो को आर्थिक हितो का प्रतिनिधित्व करने के योग्य किस प्रकार बनाया जा सकता है ?

4 जर्मनी के सन 1919 के सविधान मे आर्थिक परिषदो की स्थापना के प्रस्तावो पर प्रकाश डालिए और आयरिश स्वतत्र राज्य के और फ्रास के चतुर्थ एव पचम गणतत्रो के सविधानो मे इस प्रकार के दिए गए प्रस्तावो से उनकी तुलना कीजिए।

यह कहना कहा तक सच है कि रूसी क्राति ने आर्थिक लोकतत्र को उपलब्धि कर ली है ?

6 "राज्य-समाजवाद और संघादिपत्यवाद के बीच का कोई मार्ग नहीं है।" राजनीतिक संसद् के समकक्ष शक्तियां वाली एक औद्योगिक-संसद् की स्थापना के लिए प्रस्तुत प्रस्तावों के प्रसंग में उक्त कथन पर प्रकाश डालिए।

7 मुसोलिनी द्वारा परिकल्पित निगम-राज्य की योजना की व्याख्या कीजिए और यह बताइए कि लोकतन्त्रवादियों को उससे क्या शिक्षा मिल सकती है?

8 पुर्तगाल में सालाजार की स्थिति और उसकी निगम प्रणाली पर प्रकाश डालिए।

क्या आप यह समझते हैं कि आज के अधिकतर संविधानी राज्यों में प्रचलित प्रादेशिक निर्वाचन-क्षेत्र प्रणाली के स्थान पर व्यावसायिक निर्वाचन-क्षेत्र प्रणाली को लागू करना संभव है?

10 उन परिस्थितियों का वर्णन कीजिये जिनमें योरोपीय आर्थिक मंडल का निर्माण हुआ। उसके संगठन का वर्णन कीजिये और उस संघ के संभाव्य परिणामों की विवेचना कीजिये जिसका उसमें से प्रादुर्भाव हो सकता है।

अध्याय 16

संयुक्त राष्ट्र का चार्टर

1 सन 1914 से पूर्व अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों के समन्वय के लिए प्रस्तुत योजनाओं के इतिहास पर प्रकाश डालिए।

2. प्रथम विश्वयुद्ध के पश्चात् स्थापित राष्ट्रसंघ के अवयवों के गठन और कृत्यों की व्याख्या कीजिए।

3. राष्ट्रसंघ की असफलता के कारण बताइए।

4 संयुक्तराष्ट्रसंघ के अवयवों के स्वरूप और कृत्यों पर प्रकाश डालिए।

5 जिन परिस्थितियों में संयुक्त राष्ट्र का चार्टर लिखा गया था उनकी उन परिस्थितियों से तुलना कीजिए जिनमें राष्ट्रसंघ की प्रसंविदा तैयार की गई थी और राष्ट्रसंघ के मुकाबले में संयुक्त राष्ट्रों के अधिक सफल होने की संभावना पर प्रकाश डालिए।

6 संयुक्तराष्ट्र संगठन अटलांटिक चार्टर में निर्धारित सिद्धान्तों के परिपालन के लिए समुचित साधनों का निर्माण करने में कहां तक सफल हुआ है?

7 यह कहना कहां तक ठीक है कि राष्ट्रसंघ की प्रसंविदा की अपेक्षा संयुक्त राष्ट्र का चार्टर एक अधिक मानवीय दस्तावेज है?

8. संयुक्त राष्ट्र की सुरक्षा परिषद् की शक्तियां राष्ट्रसंघ की परिषद की शक्तियों से किन अर्थों में बड़ी हैं?

9 अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय का क्या महत्व है और स्थायी शांति की स्थापना में वह क्या भाग ले सकता है ?

10 "यदि संयुक्तराष्ट्रसंघ के राजनीतिक अवयवों और शस्त्र बल से हम यह सीख सकते हैं कि मृत्यु से किस प्रकार बचा जा सकता है, तो संयुक्त राष्ट्र के शिक्षा, विज्ञान एवं संस्कृति संगठन से हम यह सीख सकते हैं कि जीवित किस प्रकार रहा जा सकता है ?" विश्व नागरिकता के विकास के लिए मूल पाठ के रूप में उक्त कथन की विवेचना कीजिए।

अध्याय 17

संविधान वाद का भविष्य

1 'प्रभुसत्ता अविभाज्य है," इस कथन की व्याख्या कीजिए।

2 ब्रिटेन के संविधान के सुधार के लिए अन्तरण या विकेन्द्रीकरण की योजना का कहां तक उपयोग किया जा सकता है ?

3 आधुनिक सांविधानिक राज्य को उसके आर्थिक लाभ की दृष्टि से किस प्रकार संघीय रूप दिया जा सकता है ?

4 अरस्तू के इस सिद्धान्त के प्रसंग में कि मनुष्य स्वभाव से राजनीतिक प्राणी है, आधुनिक लोकतंत्रीय विकास की विवेचना कीजिए।

5 "स्वतन्त्रता और समता परस्पर विरोधी हैं," इस सूत्र के सांविधानिक राज्य के भविष्य पर प्रभाव का विवेचना कीजिए।

6 रूसो का कहना था कि मनुष्य जन्म से स्वतंत्र है किन्तु सर्वत्र जंजीरों से जकड़ा हुआ है। यदि यह सच है तो इन जंजीरों को सहन करने योग्य बनाने के लिए राष्ट्रीय लोकतंत्रात्मक संविधानवाद क्या कर सकता है ?

7 "शासन की प्रत्येक नई योजना मानव के राजनीतिक साधनों की अनुपम अभिवृद्धि है।" राजनीतिक संविधानवादियों के लिए एक आदर्श वाक्य के रूप में इस कथन की विवेचना कीजिए।

8 अरस्तू के कथनानुसार राज्य, का अस्तित्व जीवन को संभव बनाने के लिए ही नहीं बल्कि जीवन को सुन्दर बनाने के लिए है। आधुनिक राष्ट्रीय लोकतंत्रात्मक राज्य के बारे में यह बात कहां तक सच है ?

9 क्या आप राष्ट्रवाद को विश्व राजनीतिक संगठन की किसी भी वास्तविक योजना का अनिवार्य आधार समझते हैं ?

10. राष्ट्रीय अधिकारों का ध्यान रखते हुए विश्वराज्य की स्थापना के साधन के रूप में संघीय योजना पर प्रकाश डालिए।